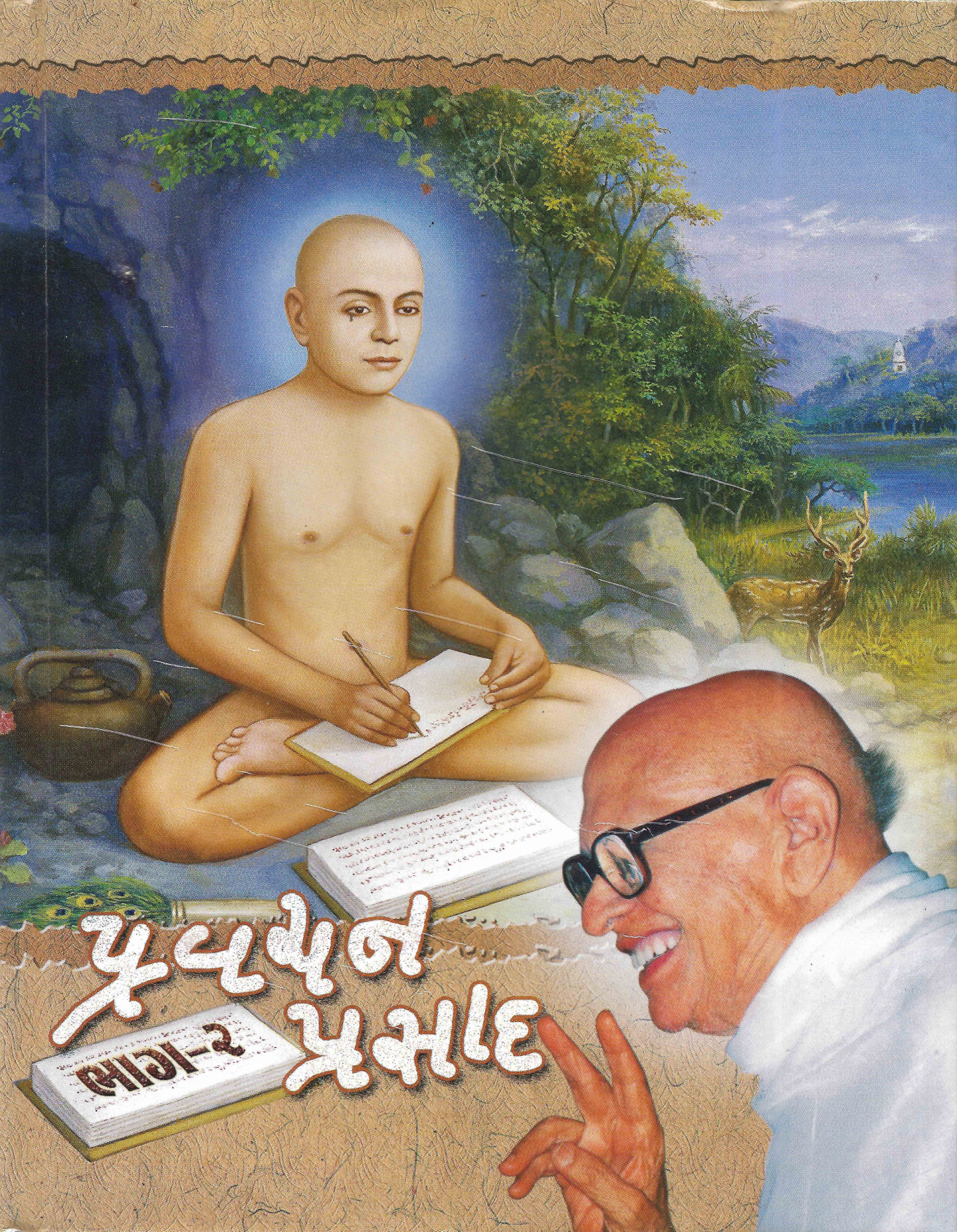
પ્રૂવ્યેજ
ભાગ-૨
પ્રમાદ

ॐ

श्री वीतरागाय नमः

पंचास्तिकाय प्रवचन प्रसाद

(भाग - 2)

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत **श्री पंचास्तिकायसंग्रह** ग्रन्थ पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अध्यात्मरस पूरित
मंगल प्रवचन (गाथा 105 से 173 तक)

: गुजराती संकलनकार :

श्री अमृतलाल नरसीभाई सेठ

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250

फोन : 02846-244334

: सह-प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

विक्रम संवत
2082

वीर संवत
2551

ई. सन
2025

—: प्रकाशन :—

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की
मंगल जन्मजयन्ती के अवसर पर
वैशाख शुक्ल 2 (मंगलवार, 29 अप्रैल 2025)

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250 फोन : 02846-244334

2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046
www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग :
विवेक कम्प्यूटर
अलीगढ़।

ॐ
सहज चिदानन्द

प्रकाशकीय

सद्धर्म तीर्थ स्तम्भरूप भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव की आम्नाय-अन्तर्गत वर्तमान धर्म तीर्थ प्रवर्तित है। जिनके द्वारा प्ररूपित श्री पंचास्तिकायसंग्रह नामक परमागम द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सर्वोत्कृष्ट आगमों में से एक है। इस ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य भगवन्त के हार्द प्रकाशक महान समर्थ टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्य इस परमागम की प्रशस्ति में गाथा 103 की टीका करते हुए फरमाते हैं कि : 'वास्तव में समस्त ही (द्वादशांगरूप से विस्तीर्ण) प्रवचन, कालसहित पंचास्तिकाय से अन्य कोई भी प्रतिपादित करता नहीं...' तथा इस ग्रन्थ की तात्पर्यवृत्ति टीकाकार महान तपोधन श्री जयसेनाचार्यदेव फरमाते हैं कि '**पंचास्तिकायसंग्रह नाम संज्ञां ग्रन्थं-किं विशिष्टम् ? प्रवचनसारं...**' तथा पूज्य गुरुदेवश्री ने कहा है कि : 'पंचास्ताय भेदज्ञान का कारण है।' 'पाँच अस्तिकाय का स्वरूप जानने का फल वीतरागता है।

ऐसे इस पंचास्तिकायसंग्रह की गाथा 105 से 173 पर अध्यात्म युगप्रवर्तक, प्रत्यक्ष परमोपकारी मंगलमूर्ति पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों के संकलनरूप प्रस्तुत **श्री पंचास्तिकाय प्रवचन प्रसाद, भाग-2** नामक इस ग्रन्थ का प्रकाशन करते हुए हम अत्यन्त हर्षित हैं।

प्रस्तुत प्रवचनों में पूज्य गुरुदेवश्री ने प्रत्येक द्रव्य की स्वयंसिद्धता, निरपेक्षता, अहेतुकता, परिपूर्ण स्वतन्त्रता, अनन्त विभूता और ऐश्वर्यतादि का सिंहनाद करके आत्मार्थी मुमुक्षुओं पर अनुपम उपकार किया है, जिसका प्रतिउपकार करने में कोई समर्थ नहीं है। जो आत्मार्थी जीव स्वावलम्बन द्वारा स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप को स्वीकार करे, तो उसका भवच्छेद हो जाये, यह निःसंशय है; इसलिए यह प्रवचन परम अमृततुल्य है।

वर्तमान अध्यात्मयुग में पूज्य गुरुदेवश्री एक अजोड़ युगपुरुष हुए, जिनके प्रभावनायोग में महत्वपूर्ण योग है, ऐसे पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के प्रति उपकार अंजलि व्यक्त करते हैं, जिनकी अन्तर्बाह्य दशा आत्मार्थी जगत को अतुल आदर्शरूप है।

सुज्ञ पाठकों की सुविधा हेतु प्रस्तुत ग्रन्थ में क्रमशः मूलगाथा, संस्कृत छाया, हिन्दी पद्यानुवाद, अन्वयार्थ, समयव्याख्या टीका अनुवादसहित प्रकाशित की गयी है। तत्पश्चात् पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत प्रवचनों का संकलन स्वर्गीय आत्मार्थी श्री अमृतलाल नरसीभाई सेठ ने अकथ्य परिश्रम से किया है जो तत्कालीन प्रकाशित होनेवाली 'सद्गुरु प्रवचन प्रसाद' नामक दैनिक पत्रिका में प्रकाशित हुए हैं। उनका यह प्रयास उनके अन्तरंग में विद्यमान गुरुभक्ति को प्रदर्शित करता है, उनके इस महान प्रयास का फल था कि मुमुक्षुओं को प्रतिदिन होनेवाले गुरुदेवश्री के प्रवचनों का लाभ इस पत्रिका के माध्यम से प्राप्त होता रहा, जो सन् 1950 से 1956 तक नियमितरूप से प्रकाशित हुआ, इस महान कार्य के लिये मुमुक्षुगण उनके चिरऋणी हैं। हम उनके प्रति भी आभार व्यक्त करते हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इसी ग्रन्थ पर गुरुदेवश्री के उपलब्ध सी.डी. प्रवचनों का प्रकाशन पंचास्तिकाय संग्रह प्रवचन भाग 1 से 4 तथा पंचास्तिकाय प्रकाश भाग 1 से 4 तक पूर्व में इसी ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किये जा चुके हैं। अब प्रस्तुत संकलित प्रवचनों का प्रकाशन होने से पंचास्तिकायसंग्रह के हमारी जानकारी के अनुसार उपलब्ध सभी प्रवचनों का प्रकाशन पूर्ण हो चुका है।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां द्वारा किया गया है।

सभी आत्मार्थीजन प्रस्तुत प्रवचन संग्रह का स्वाध्याय कर निज आत्महित साधें, इसी भावना के साथ –

ट्रस्टीगण,
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विलेपार्ला, मुम्बई

अध्यात्मयुगसर्जक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक – इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको निःशंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अतः अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर**' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से)

आत्मधर्म नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन

तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज

परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

श्लोक / गाथा	पृष्ठ क्रमांक
गाथा १०५	०१
गाथा १०६	०६
गाथा १०७	१८
गाथा १०८	२७
गाथा १०९	३८
गाथा ११०	४१
गाथा १११	४६
गाथा ११२	४९
गाथा ११३	५३
गाथा ११४	५५
गाथा ११५	५७
गाथा ११६	५९
गाथा ११७	६१
गाथा ११८	६३
गाथा ११९	६७
गाथा १२०	७०
गाथा १२१	७४
गाथा १२२	७७
गाथा १२३	८२
गाथा १२४	८६
गाथा १२५	८८
गाथा १२६-१२७	९०
गाथा १२८-१३०	९६

श्लोक / गाथा	पृष्ठ क्रमांक
गाथा १३१	१०४
गाथा १३२	१०८
गाथा १३३	११४
गाथा १३४	११८
गाथा १३५	१२४
गाथा १३६	१२६
गाथा १३७	१३३
गाथा १३८	१३८
गाथा १३९	१४१
गाथा १४०	१४४
गाथा १४१	१५१
गाथा १४२	१५८
गाथा १४३	१६४
गाथा १४४	१६६
गाथा १४५	१८७
गाथा १४६	१९१
गाथा १४७	१९८
गाथा १४८	२०१
गाथा १४९	२०६
गाथा १५०-१५१	२१२
गाथा १५२	२२६
गाथा १५३	२२९
गाथा १५४	२३५

श्लोक / गाथा	पृष्ठ क्रमांक
गाथा १५५	२४६
गाथा १५६	२५२
गाथा १५७	२५६
गाथा १५८	२५८
गाथा १५९	२६२
गाथा १६०	२७३
गाथा १६१	२८६
गाथा १६२	२९७
गाथा १६३	३०३
गाथा १६४	३११

श्लोक / गाथा	पृष्ठ क्रमांक
गाथा १६५	३१८
गाथा १६६	३२३
गाथा १६७	३२९
गाथा १६८	३३२
गाथा १६९	३३८
गाथा १७०	३४३
गाथा १७१	३५१
गाथा १७२	३६०
गाथा १७३	४२७

ॐ

श्री वीतरागाय नमः

पंचास्तिकाय प्रवचन प्रसाद

(भाग २)

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्रीपंचास्तिकायसंग्रह ग्रन्थ पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अध्यात्मरस पूरित मंगल प्रवचन

नौ पदार्थपूर्वक
मोक्षमार्ग प्रपंच वर्णन

गाथा - १०५

(प्रथम, श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव पहले श्रुतस्कन्ध में क्या कहा गया है और दूसरे श्रुतस्कन्ध में क्या कहा जाएगा, वह श्लोक द्वारा अति संक्षेप में दर्शाते हैं –)

द्रव्यस्वरूपप्रतिपादनेन
शुद्धं बुधानामिह तत्त्वमुक्तम्।
पदार्थभङ्गेन कृतावतारं
प्रकीर्त्यते संप्रति वर्त्म तस्य।

श्लोकार्थ :– यहाँ (इस शास्त्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में) द्रव्यस्वरूप के प्रतिपादन द्वारा बुद्ध पुरुषों को (बुद्धिमान जीवों को) शुद्ध तत्त्व (शुद्धात्मतत्त्व) का उपदेश दिया गया। अब पदार्थ भेद द्वारा उपोद्घात करके (–नव पदार्थरूप भेद द्वारा प्रारम्भ करके) उसके मार्ग का (–शुद्धात्मतत्त्व के मार्ग का अर्थात् उसके मोक्ष के मार्ग का) वर्णन किया जाता है।।७।।

(अब इस द्वितीय श्रुतस्कन्ध में श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचित गाथासूत्र का प्रारम्भ किया जाता है–)

अभिवंदिऊण सिरसा अपुणब्भवकारणं महावीरं।
तेसिं पयत्थभंगं मग्गं मोक्खस्स वोच्छामि ।।१०५।।

अभिवंद्य शिरसा अपुनर्भवकारणं महावीरम्।
तेषां पदार्थभङ्ग मार्गं मोक्षस्य वक्ष्यामि ।।१०५।।

आप्तस्तुतिपुरस्सरा प्रतिज्ञेयम्। अमुना हि प्रवर्तमानमहाधर्मतीर्थस्य मूलकर्तृत्वेनापुनर्भव-कारणस्य भगवतः परमभट्टारकमहादेवाधिदेवश्रीवर्द्धमानस्वामिनः सिद्धिनिबंधनभूतां भावस्तुतिमासूत्र्य, कालकलितपञ्चास्तिकायानां पदार्थविकल्पो मोक्षस्य मार्गश्च वक्तव्यत्वेन प्रतिज्ञात इति ।।१०५।।

मुक्तिपद के हेतु से शिरसा नमू महावीर को।
पदार्थ के व्याख्यान से प्रस्तुत करूँ शिवमार्ग को।।१०५।।

अन्वयार्थ :- [अपुनर्भवकारणं] अपुनर्भव के कारण [महावीरम्] श्री महावीर को [शिरसा अभिवंद्य] शिरसा वन्दन करके, [तेषां पदार्थभंगं] उनका पदार्थभेद (-काल सहित पंचास्तिकाय का नव पदार्थरूप भेद) तथा [मोक्षस्य मार्गं] मोक्ष का मार्ग [वक्ष्यामि] कहूँगा।

टीका:-यह आप्त की स्तुतिपूर्वक प्रतिज्ञा है।

प्रवर्तमान महाधर्मतीर्थ के मूल कर्तारूप से जो *अपुनर्भव के कारण हैं ऐसे भगवान, परम भट्टारक, महादेवाधिदेव श्री वर्धमानस्वामी की, सिद्धत्व के निमित्तभूत भावस्तुति करके, कालसहित पंचास्तिकाय का पदार्थभेद (अर्थात् छह द्रव्यों का नव पदार्थरूप भेद) तथा मोक्ष का मार्ग कहने की इन गाथासूत्र में प्रतिज्ञा की गई है।।१०५।।

---

* अपुनर्भव=मोक्ष। (परम पूज्य भगवान श्री वर्धमानस्वामी, वर्तमान में प्रवर्तित जो रत्नत्रयात्मक महाधर्मतीर्थ उसके मूल प्रतिपादक होने से, मोक्षसुखरूपी सुधारस के पिपासु भव्यों को मोक्ष के निमित्तभूत हैं।)

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण १३, मंगलवार

प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ। उसमें छह द्रव्य स्वतन्त्र बतलाये। अब इस द्वितीय श्रुतस्कन्ध में नौ पदार्थ का भेद से कथन करते हैं।

मैं, कुन्दकुन्दाचार्य मोक्ष के कारणभूत वर्धमान तीर्थंकर भगवान को मस्तक द्वारा नमस्कार करके मोक्ष के कारणस्वरूप इन छह द्रव्यों के नौ पदार्थरूप भेद को कहूँगा।

यहाँ निमित्तकारण की व्याख्या की है। भव के अभाव का कारण तो अपना स्वभाव है। ऐसी जिसे रुचि हुई है, उसे भगवान निमित्त है, इसलिए उनकी स्तुति करते हैं। जिसे भव की रुचि है, उसे सर्वज्ञ की रुचि नहीं। और सर्वज्ञ की रुचि है, उसे भव की रुचि नहीं। चाहे जो भव हों। सर्वार्थसिद्धि का भव हो या तीर्थंकर का भव हो। किसी भी भव की रुचि धर्मी को नहीं होती। जिस भाव से भव मिले, वह भाव आकुलता है। भवजन्य दु:ख है, ऐसी आकुलतारहित अकेला ज्ञायकस्वभाव जिन्हें रह गया, और जो पूर्ण दशा प्राप्त हुए और जिनके ज्ञान में तीन लोक ज्ञात हुए, ऐसे सर्वज्ञदेव अपुनर्भव का कारण है। मोक्ष का कारण तो आत्मा है, परन्तु भगवान को उसमें निमित्त कारण कहा है।

जो कोई ऐसा कहता है कि यहाँ से छूटकर महाविदेह में जाया जायेगा और देव में जाया जायेगा, और वहाँ से भगवान की वाणी सुनने जायेंगे और वहाँ धर्म होगा।— वह जीव वीतरागदेव, शास्त्र और धर्म को नहीं मानता है। क्योंकि उसे अभी भव की रुचि रही हुई है। और कोई कहे कि मुझे भले एकाध भव हो, परन्तु जगत का कल्याण होता हो तो कर देना।—ऐसा माननेवाले जीव को भी भव की रुचि है। भवरहित स्वभाव की रुचि नहीं है, इसलिए उसे भगवान की वाणी की भी रुचि नहीं है। धर्मी जीव को शुभराग आता है, परन्तु वह समझता है कि मेरे स्वभाव का स्वाद मुझमें है, श्रवण कराने का विकल्प उठा है, वह मेरे कारण से है, उस विकल्प से दूसरे को लाभ नहीं तथा अपने को लाभ नहीं। अपने को अपने स्वभाव से लाभ है, ऐसा जो निश्चित करता है, उसे भगवान धर्म में निमित्त है।

जो जीव राग से लाभ मानकर राग में रुका है, अपना कल्याण पर के कारण अटका हुआ मानता है, निमित्त को तथा राग को साधन मानकर अटका है, वह भगवान को निमित्त नहीं बना सकता। अज्ञानी परजीव की दया और सेवा में धर्म मानकर अटक जाता है। पर के लिये सेवा करता हूँ, ऐसा मानता है, परन्तु वह सब अभिमान है।

मेरा स्वभाव भवरहित है, ऐसा भगवान ने कहा है। भगवान कोई भव का स्थापन नहीं करते, परन्तु शुद्धस्वभाव का स्थापन करते हैं। यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य भगवान को विकल्प उठा है, इसलिए कहते हैं कि हे नाथ! संसार के अभाव-स्वभावरूपी पर्याय प्रगट होने का कारण तो हम हैं। परन्तु उसमें आप निमित्त हो, इसलिए आपको वन्दन करता हूँ। जो भव का अभाव बतावे और स्वभाव का माहात्म्य बतावे और उसमें लीनता करने का उपदेश करे, वे वन्दनीय हैं।

जो कोई भव के कारणरूप रागादि को अनुमोदन दे, उसे वन्दन करनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है। देव-गुरु-शास्त्र के राग को भी आदरणीय माने, वह मिथ्यादृष्टि है। और स्वर्ग में जाने से अथवा महाविदेह में जाने से लाभ होगा, ऐसा कहे परन्तु वस्तुस्वभाव से लाभ होगा, ऐसा न कहे तो वह वन्दनीय नहीं है। लुटेरे को मदद करनेवाला जिस प्रकार गुनहगार गिना जाता है, उसी प्रकार शुद्ध चैतन्यस्वभाव से विरुद्ध कहनेवाले को पुष्टि देना, वह लुटेरे को मदद देने के समान है।

हे नाथ! आपकी वाणी और आपके शास्त्र तो प्रत्येक द्रव्य की पृथक्ता बतलाते हैं। साधकदशा में राग आता है, परन्तु मैं उसका अनुमोदन नहीं करता। समय-समय में जीव में नयी-नयी पर्याय का उत्पाद होता है। यदि उस पर्याय का लक्ष्य बाहर में जाता है तो संसार है और अन्तरस्वभाव का झुकाव करे तो मोक्षमार्ग है।

शरीर, मन, वाणी इत्यादि पर की रुचि करके जो पर्याय उत्पन्न होती है, उसने मोक्षमार्ग में शील लगायी है और जो पर की तथा राग की रुचि छोड़कर स्वभाव की रुचि करके जो पर्याय उत्पन्न होती है, उसने मोक्षमार्ग को खोल दिया है और जितनी शुद्धता प्रगट हुई, वह द्रव्य के साथ अभेद होती है, परन्तु जितना राग रहा है, वह शरणभूत नहीं है, ऐसा धर्मी मानता है।

यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य महाराज को शुभविकल्प उठा है, तथापि कहते हैं कि मेरा कर्तव्य तो शुद्धस्वभाव सन्मुख ढलना, वही है। अपुनर्भव का कारण आत्मा है, उस पर वजन है, इसलिए अपुनर्भव (मोक्ष) होगा ही, परन्तु अभी राग रहा है और विकल्प उठा है, इसलिए वन्दन करता हूँ परन्तु उस पर वजन नहीं है। वजन तो अपुनर्भव के कारण (रूप) शुद्धस्वभाव पर है। भगवान की स्तुति के समय भगवान के प्रति राग होने पर भी हम आपको विकल्प में निमित्त नहीं कहते। हम आपको ज्ञायकस्वभाव में निमित्त कहते हैं। इस प्रकार अपुनर्भव का कारण अपना आत्मा है और उसमें निमित्त महावीर भगवान हैं, ऐसा कहकर निश्चय-व्यवहार दोनों बतलाते हैं।

इस प्रकार मोक्ष के कारणभूत वर्धमान तीर्थंकर भगवान को मस्तक से नमस्कार करके मोक्षमार्ग अथवा उसके कारणस्वरूप छह द्रव्यों के नौ पदार्थरूप भेदों को कहूँगा, ऐसा आचार्य कहते हैं। मोक्षमार्ग कहाँ चलता होगा? आत्मा का मोक्षमार्ग अन्तर्दिशा में है। स्वरूप में अन्तर्मुख एकाग्र होना, वह मोक्षमार्ग है। उस मोक्षमार्ग के कारणस्वरूप छह द्रव्य हैं, जो भगवान की वाणी में आये हैं, तत्प्रमाण ही है। इन छह के भेद करके नौ की व्याख्या कहूँगा।

भावार्थ - वर्तमान पंचम काल है, उसमें धर्मतीर्थ के कर्ता भगवान परम भट्टारक देवादिदेव श्री वर्धमानस्वामी हैं। जिन पात्र जीवों ने अपने स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके अपने में धर्मतीर्थ प्रगट किया, ऐसे जीवों को धर्म प्रगट करने में, भगवान निमित्त थे, इसलिए भगवान धर्मतीर्थ के कर्ता कहलाते हैं।

और भगवान देव के देव हैं। गणधरदेव के देव हैं, चक्रवर्ती के देव, देवादिदेव हैं। उनकी स्तुति करता हूँ - ऐसा कहना, वह व्यवहार है। वास्तव में तो अन्तर में एकाग्रता होती है, वह भावस्तुति है और विकल्प उठा है, वह द्रव्यस्तुति है। इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य भगवान ने महावीर भगवान की स्तुति करके मोक्षमार्ग को बतलानेवाले छह द्रव्यों के भेदरूप नौ तत्त्व कहने की प्रतिज्ञा की है। ●●

गाथा - १०६

सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहीणं।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं।।१०६।।

सम्यक्त्वज्ञानयुक्तं चारित्रं रागद्वेषपरिहीणम्।
मोक्षस्य भवति मार्गो भव्यानां लब्धबुद्धीनाम्।।१०६।।

मोक्षमार्गस्यैव तावत्सूचनेयम्। सम्यक्त्वज्ञानयुक्तमेव नासम्यक्त्वज्ञानयुक्तं, चारित्रमेव नाचारित्रं, रागद्वेषपरिहीणमेव न रागद्वेषापरिहीणम्, मोक्षस्यैव न भावतो बंधस्य, मार्ग एव नामार्गः, भव्यानामेव नाभव्यानां, लब्धबुद्धीनामेव नालब्धबुद्धीनां, क्षीणकषायत्वे भवत्येव न कषायसहितत्वे भवतीत्यष्टधा नियमोऽत्र द्रष्टव्यः ।।१०६।।

सम्यक्त्व ज्ञान समेत चारित राग-द्वेष विहीन जो।
मुक्ति का मारग कहा भवि जीव हित जिनदेव ने।।१०६।।

अन्वयार्थ :— [सम्यक्त्वज्ञानयुक्तं] सम्यक्त्व और ज्ञान से संयुक्त ऐसा [चारित्रं] चारित्र— [रागद्वेषपरिहीणम्] कि जो रागद्वेष से रहित हो वह, [लब्धबुद्धीनाम्] लब्धबुद्धि [भव्यानां] भव्य जीवों को [मोक्षस्य मार्गः] मोक्ष का मार्ग [भवति] होता है।

टीका :— प्रथम, मोक्षमार्ग की ही यह सूचना है।

सम्यक्त्व और ज्ञान से ही युक्त—न कि असम्यक्त्व और अज्ञान से युक्त, चारित्र ही —न कि अचारित्र, रागद्वेषरहित हो ऐसा ही (चारित्र)—न कि रागद्वेषसहित हो ऐसा, मोक्ष का ही—[१]भावतः न कि बन्ध का, मार्ग ही—न कि अमार्ग, भव्यों को ही—न कि अभव्यों को, [२]लब्धबुद्धियों को ही—न कि अलब्धबुद्धियों को, [३]क्षीणकषायपने में ही होता है—न कि कषायसहितपने में होता है। इस प्रकार आठ प्रकार से नियम यहाँ देखना (अर्थात् इस गाथा में उपरोक्त आठ प्रकार से नियम कहा

१. भावतः= भाव अनुसार; आशय अनुसार। ('मोक्ष का' कहते ही 'बन्ध का' ऐसा भाव अर्थात् आशय स्पष्ट समझ में आता है।)
२. लब्धबुद्धि=जिन्होंने बुद्धि प्राप्त की हो ऐसे।
३. क्षीणकषायपने में ही=क्षीणकषायपना होते ही; क्षीणकषायपना हो तभी।

है, ऐसा समझना)॥१०६॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण १३, मंगलवार

अब मोक्षमार्ग का संक्षेप कथन करते हैं।

सम्यक्त्व अर्थात् श्रद्धान और वस्तु के यथार्थ ज्ञानसहित जो आचरण है, वह मोक्ष का मार्ग है। अर्थात् सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र, इन तीनों का जब साथ परिणमन होता है, तब ही मोक्षमार्ग होता है। कैसा है दर्शन-ज्ञानसहित का चारित्र? इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेषरहित समतारस गर्भित है। ऐसा मोक्षमार्ग किसे होता है? जिसे स्व-पर भेदविज्ञान बुद्धि प्राप्त हुई है और जो मोक्षमार्ग के सन्मुख है, उस जीव को मोक्षमार्ग होता है।

यह गाथा बहुत सरस है!

यहाँ चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है, क्योंकि चारित्र, वह साक्षात् धर्म है और वह मोक्षमार्ग केवलज्ञान का कारण है। वह चारित्र कैसा है? सम्यग्दर्शन और ज्ञान से युक्त है। अज्ञानी जीव व्रत, तप को चारित्र कहते हैं परन्तु वह चारित्र नहीं है। अनादि से अज्ञानी को पुण्य से धर्म मानने का शल्य पड़ा है, इसलिए भटकता है। यहाँ कहते हैं कि धर्म में जवाबदारी अपनी है। दूसरे के आधार से काम नहीं आता, अर्थात् कि स्वयं ही यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान करना चाहिए।

यहाँ कहते हैं कि यथार्थ श्रद्धान और यथार्थ वस्तु के ज्ञानसहित जो आचरण है, वह मोक्षमार्ग है। तीनों की एकता से मोक्षमार्ग होता है। सम्यग्दर्शन, वह साक्षात् धर्म नहीं परन्तु धर्म का मूल है। साक्षात् धर्म तो चारित्र है, वह चारित्र, सम्यग्दर्शन बिना नहीं होता।

[सम्यक्त्वज्ञानयुक्त चारित्र—जो कि रागद्वेषरहित हो; वह लब्धबुद्धि भव्य जीवों को, क्षीणकषायपना होते ही, मोक्ष का मार्ग होता है।]

कैसा है वह सम्यग्दर्शन-ज्ञानयुक्त चारित्र ? इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेषरहित समतारस गर्भित है। यहाँ चारित्र की बात करते हैं। ऐसी अद्‌भुत स्वतन्त्रता बतलानेवाली वाणी निकलती है, तथापि यह जीव क्यों नहीं मानता ? इस विरोधी ने सच्चे मार्ग का विलोप कर दिया, इस प्रकार के विकल्प चारित्रवन्त को नहीं उठते। जो कुछ यश हो तो मेरे स्वभाव के कारण है और अपयश हो तो मेरी पर्याय में है। बाहर के कारण से राग-द्वेष होते हैं, ऐसा सम्यग्दृष्टि नहीं मानता। तदुपरान्त अपनी शिथिलता के कारण 'ऐसा क्यों ?'—ऐसा विकल्प भी चारित्रवन्त को नहीं होता। वह विचारता है कि कौन किसका माने ? कोई किसी का मानता नहीं, ऐसा विचारकर मुनि अन्तर में स्थिर हो जाते हैं। जितनी शिथिलता है, उतना चारित्र नहीं है। कौन किसे सुधारे और कौन किसे बिगाड़े ? ऐसी वृत्ति उठती नहीं। मेरे स्वभाव का आदर, वह मान है और स्वभाव का अनादर वही अपमान है। ऐसा समझकर बाहर के मान-अपमान के ओर की निर्बलता की वृत्ति तोड़कर अन्तर में स्थिर हो जाना, वह चारित्र है। उसे इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेषरहित समता प्रगट हुई है। ऐसा मोक्षमार्ग किसे होता है ? जिसे स्व-परविवेक—भेदविज्ञान बुद्धि प्रगट हुई है और जो मोक्षमार्ग के सन्मुख है, उसे चारित्र अथवा मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

भावार्थ - चारित्र वह है कि जो दर्शन-ज्ञानसहित है। स्वरूप का आचरण, स्वभाव का अनुष्ठान, स्वभाव में रमणता वह चारित्र है। और वह दर्शन-ज्ञानसहित होता है।

बालक के हाथ में से चूसनी लेकर पेड़ा दिया जाये तो भी वह कलह नहीं छोड़ता। समझेगा नहीं। उसी प्रकार अज्ञानी को खोटे क्रियाकाण्ड छोड़ने का कहकर सच्चा चारित्र बताओ तो भी वह समझेगा नहीं। जो भगवन्त सर्वज्ञदशा को प्राप्त हुए, वे अपने में स्थिर रहकर भगवान हुए हैं, बाहर से हुए नहीं। जो पूर्णानन्ददशा को प्राप्त हुए, वे सिरसावंद्य है, वे बड़े हैं, उन्होंने अपने स्वभाव के आश्रय से वीतरागता और सर्वज्ञता प्रगट करके राग-द्वेष का अभाव कर दिया। उन्होंने जो अभाव किया, उसे अभाव करने जैसा मान और उन्होंने जो रखा है, उसे तू स्वभाव के आश्रय से रख तो तूने सिद्ध को माना है। इस प्रकार अपने स्वभाव की अन्तर्दृष्टि बिना चारित्र प्रगट नहीं होता, आत्मा के श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक आचरण, वह चारित्र है।

अब नास्ति से बात करते हैं। दर्शन-ज्ञान बिना जो चारित्र है, वह मिथ्याचारित्र है। आत्मा के ज्ञान बिना और नौ तत्त्व की यथार्थ समझ बिना महाव्रतादि का पालन करे, वह मिथ्याचारित्र है। पाँच महाव्रत का राग आस्रव है। वह आत्मा की दशा को बिगाड़नेवाला है। अन्तरस्वभाव से लाभ होता है, ऐसा माने बिना आचरण नहीं होता।

कोई कहे कि सम्यग्दर्शन हो, इसकी खबर नहीं पड़ती - तो वह बात मिथ्या है। आत्मा में प्रमेयत्व नाम का एक गुण है। **जहाँ श्रद्धा की पर्याय है, वहाँ प्रमेयत्व भी है। इसलिए उसमें ज्ञात होने की योग्यता है और ज्ञान ज्ञेय को जान ले, ऐसा ज्ञान का स्वभाव है। अज्ञानी को भान नहीं, इसलिए सम्यग्दर्शन नहीं होता। आत्मद्रव्य के ज्ञान बिना राग और स्वभाव के बीच विवेक बिना स्वभाव की अन्तर रमणता नहीं होती।**

जो जीव कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानता है, उसे अभी गृहीतमिथ्यात्व का त्याग किस प्रकार होता है? इसकी भी खबर नहीं। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र और प्रतिमा कैसे होते हैं, ऐसी व्यवहार की खबर नहीं, उसे गृहीतमिथ्यात्व है और अगृहीत तो पड़ा हुआ है ही। जिसे व्यवहार का विवेक नहीं, उसे निश्चय का विवेक तो है ही नहीं, उसे महाव्रत नहीं होते।

यहाँ तो कहते हैं कि सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को व्यवहार से मानने के पश्चात् व्रत, तप, दया, दानादि को धर्म का साधन माने तो वह मूढ़ है—उसे चारित्र नहीं होता।

जो चारित्र है, वही चारित्र है, जो रागरहित ज्ञानस्वभाव में झूलता है। चिदानन्द शक्ति को प्रस्फुटित कर आनन्द का अनुभव करता है, वह चारित्र है। छठवें गुणस्थान में भावलिंगी मुनि को अट्ठाईस मूलगुण का, महाव्रतादि का विकल्प उठता है, वह चारित्र नहीं, तो फिर मिथ्यादृष्टि का चारित्र, चारित्र हो सकता ही नहीं।

और चारित्र वही है कि जो राग-द्वेषरहित समतासहित है, बाहर में मान-अपमान हों, अन्याय होता हो तो भी मुनि आत्मा के भानसहित वीतरागी समता धारण करते हैं और अन्तर आनन्द में झूलते हैं। जैनधर्म सच्चा है और अन्यमत मिथ्या है, ऐसा विकल्प भी नहीं उठता। परन्तु समता में झूलते हैं, वह चारित्र है। अज्ञानी मानता है कि 'हमें शत्रु ने बहुत लकड़ियाँ मारीं तो भी हमने समता रखी।'—भाई! यह समता नहीं है। पर के लक्ष्य से होनेवाली कषाय मन्दता, वह समता नहीं है। उसे राग का आंशिक

भी अभाव नहीं होता। स्वभाव की यथार्थ दृष्टि बिना राग यथार्थरूप से घटता नहीं है। आत्मा का भान वर्तता है, ऐसे मुनि को सत् के स्थापन का और असत् के उत्थापन का विकल्प नहीं उठता, वह समता है। शास्त्र लिखने का विकल्प उठता है, वह चारित्र नहीं है, जो कषायरस गर्भित है, वह चारित्र नहीं है, परन्तु संक्लेशरूप परिणाम है। महामुनियों को शास्त्र लिखने का विकल्प उठता है, वह संक्लेशरूप है, चारित्र नहीं, समताभाव नहीं; पीछे अकषाय परिणति रही हुई है, वह चारित्र और वह मोक्ष का कारण है।

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण १४, बुधवार

भावार्थ - (१) यह अधिकार मोक्षमार्ग का है। आत्मा का स्वभाव शुद्ध है, पर्याय में राग-द्वेष है, उससे मुक्ति होना और शक्तियों की पूर्ण व्यक्तता होना, उसे मोक्ष कहते हैं। उसका मार्ग, वह मोक्षमार्ग है और वह चारित्र है। आत्मा पर में और संकल्प-विकल्प में अटकता है, वह बन्धमार्ग है। विभावरहित होकर स्वभाव में स्थिरता करना, वह चारित्र है। स्वरूप में चरना, रमना, वह चारित्र है।

चारित्र वही है जो दर्शन-ज्ञानसहित है। दर्शन-ज्ञान बिना जो चारित्र है, वह मिथ्याचारित्र है। जो शान्ति प्रगट होती है, वह चारित्र है, जो सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित है। आत्मपदार्थ पर से रहित और संकल्प से रहित है, ऐसा पदार्थ माने बिना, उसमें स्थिर कैसे होगा? जो जीव पैसा, इज्जत, शरीर इत्यादि में सुख मानकर अटका है, वह स्व में स्थिर किस प्रकार होगा? स्व का माहात्म्य आये बिना लीनता कहाँ से होगी? यहाँ सम्यग्दर्शन और ज्ञान दोनों साथ में लिये हैं, वे हों तो चारित्र होता है। शरीर, मन, वाणी आत्मा से भिन्न है। उसमें मैं नहीं रह सकता, वह भिन्न तत्त्व है, ऐसी रुचि और ज्ञान करता है, उसे चारित्र होता है। नहीं तो चारित्र नहीं होता। दर्शन-ज्ञान बिना का चारित्र, मिथ्याचारित्र है। स्वभाव के माहात्म्य बिना चारित्र नहीं होता। शुभाशुभभाव आकुलतावाले हैं। उस आकुलतारहित निराकुलस्वभाव में सुख है, यह भान बिना चारित्र नहीं होता। पश्चात् त्यागी हो और व्रत-तप करे और लोग उसे चारित्र कहे तो भी वह चारित्र नहीं है।

(२) 'जो चारित्र है, वही चारित्र है। मिथ्याचारित्र, वह चारित्र नहीं है। आत्मा चैतन्य भूमिकावाला है। पुण्य-पापवाला नहीं। चैतन्यमय आत्मा की प्रतीति और ज्ञान वर्तता है, उसे चारित्र है। मिथ्याचारित्र, वह चारित्र नहीं। व्रत पाले, वह चारित्र नहीं, धर्म नहीं। चिदानन्दस्वभाव के भान बिना के मिथ्याचारित्र को चारित्र नहीं कहते।

(३) और चारित्र वही है जो राग-द्वेषरहित समतारससंयुक्त है। जो कषायरस गर्भित है, वह चारित्र नहीं, संक्लेशरूप है।' राग-द्वेषरहित समतास्वभाव पर्याय में प्रस्फुटित हुआ, वह चारित्र है। बाहर में अनुकूलता के प्रति राग नहीं, प्रतिकूलता के प्रति द्वेष नहीं। राग-द्वेषरहित स्थान में समता है। इस समतासंयुक्त को चारित्र कहते हैं। कोई भी पदार्थ हो, वह क्रिया सम्पन्न है और वह उसकी क्रियासहित है, इसलिए मुझे उसकी चिन्ता नहीं, उसे मेरी चिन्ता नहीं। किसी भी काल में क्रिया बिना का तत्त्व नहीं हो सकता। वह मेरी आशा रखे, ऐसा तत्त्व नहीं है। मैं उसकी आशा रखूँ, ऐसा नहीं है - ऐसे ज्ञान में समतारस प्रगट होता है। मैं पर के आधीन नहीं, मेरी आशा कोई रखना नहीं और मैं किसी की आशा नहीं रखता। ऐसा माननेवाले को चारित्र प्रगट होता है। जो राग की वृत्तियों का आताप था, वह पर के लिये नहीं परन्तु स्व के वेदन के लिये-स्व के आताप के वेदन के लिये था। उस आताप का वेदन मिटाकर आत्मा के भानपूर्वक समतारस प्रगट हो, वह चारित्र है। सम्यग्दर्शन पश्चात् ज्ञानी को अस्थिरता का राग होता है, परन्तु विशेष स्थिरता करके आकुलता टालकर अनाकुल रस प्रगट हुआ और शान्ति का पर्वत स्फुरित हुआ और चिदानन्दरस में एकाग्रता जमी, वह समता है और वह चारित्र है।

अज्ञानी जीव बाहर में शान्ति रखे, वह समता नहीं, मूढ़ता है। कोई प्रतिकूलता आ पड़े, तब कहे कि 'सामनेवाले ने कुछ नहीं किया परन्तु मेरे कर्म का उदय ऐसा था, इसलिए प्रतिकूलता आयी है।' ऐसे कर्म के सहारे समता रखे, वह सच्ची समता नहीं है। कर्म के उदय का विकल्प उठाना, वही दु:खदायक है। मेरे आत्मा में कर्म है ही नहीं, तथा आकुलता नहीं, ऐसे आत्मा के भानपूर्वक कषाय उत्पन्न हुई ही नहीं और शान्तरस उत्पन्न हुआ, वह चारित्र है।

(४) 'ऐसा चारित्र है, वह सकलकर्म के क्षय लक्षण मोक्षस्वरूप है, परन्तु कर्म के बन्धरूप नहीं है।

आत्मा अन्तरवस्तु है। देह, मन, वाणी से पार है, ऐसी दृष्टिपूर्वक आत्मरमणता में रमता है, उसे सकल कर्म का क्षय होता है। चारित्र से कर्म बँधता नहीं। कोई कहता है कि चारित्र से पुण्य बँधता है और स्वर्ग में जाया जाता है तो वह बात मिथ्या है। चारित्र में आंशिक भी बन्धन नहीं होता और कोई कहे कि चारित्र से थोड़ी शुद्धि होती है और थोड़ा पुण्य बँधता है, वह भी मिथ्या है। जहाँ बन्धन है, वहाँ अचारित्र है। चारित्र हो, वहाँ थोड़ा भी बन्धन नहीं होता। अभी वर्तमान में बहुत विविध विविधता वर्तती है तथापि लोग उसे सत्यमार्ग कहते हैं। दो रोटी और पाव सेर दूध खाये, जीर्ण कपड़ा पहने, सिर मुंडावे, स्त्री-पुत्र छोड़े, उसे लोग चारित्र कहते हैं। वह चारित्र नहीं है। आत्मा अबन्धस्वभावी है, उसमें लीन होना, वह चारित्र है। जिस भाव से सर्वार्थसिद्धि का भव मिले, तीर्थंकर का भव मिले, चाहे जो संयोग मिले, वह भाव चारित्र नहीं है, क्लेश है। पुण्य, वह शुभ क्लेश है; इसलिए अनुकूलता मिलती है और पाप, वह अशुभ क्लेश है; इसलिए प्रतिकूलता मिलती है। पुण्य-पापरहित अबन्धस्वरूप में लीनता करना, वह चारित्र है और वह मोक्षमार्ग है।

प्रश्न - एकजुट कुटुम्ब हो, उसे क्लेश कहा जाये ?

समाधान - एकजुट किसे कहना ? पिता-पुत्र के बीच हिमालय और विन्ध्याचल जितना अन्तर है। एक-दूसरे के अभाव बिना दो चीज़े पृथक् नहीं रह सकती। अभाव में एकजुटता नहीं हो सकती। हम एकजुट हैं, ऐसा विकल्प उठाना, वही क्लेश है। अपना आत्मा अनन्त गुणों का समाज है, उसके साथ एकताबुद्धि करना, वह एकजुटता है। दो भाईयों के बीच की एकजुटता तो अशुभरागवाला क्लेश है। परन्तु महाव्रतादि के परिणाम शुभराग है, वह भी क्लेश है। आकुलता है, पुण्य-पापरहित अबन्धस्वभावी आत्मा की एकाग्रता से प्रगट हुआ भाव, वह चारित्र है और वह सकल कर्मों का नाश करता है।

लोग कहते हैं कि विश्वप्रेम करो। विश्व अर्थात् सभी के साथ प्रेम करना। उसमें यह मेरा और यह तेरा, ऐसा नहीं रहता। एकेन्द्रिय के प्रति प्रेम में रुक जाये तो पंचेन्द्रिय की ओर उस समय प्रेम नहीं बतला सकता। एकसाथ सबके साथ प्रेम किस प्रकार

बतला सकता है ? घर में भी एक पुत्र के साथ प्रेम बतलाने जायेगा, उस समय दूसरे के साथ नहीं बतला सकेगा तो जगत के सभी जीव एक साथ एक समय में किस प्रकार प्रेम करेगा ? इसलिए तू सबके साथ प्रेम कभी नहीं बतला सकेगा। और पर के प्रति प्रेम बतलाने जायेगा तो स्वरूप की अन्तर स्थिरता करने का प्रेम चला जाता है। इसलिए तेरी वृत्ति शुभाशुभभाव में ढल रही है, उसे अन्तर में झुका। एक समय में सबको जैसा है, वैसा जान लेने की तेरी ताकत है। सिद्ध हो या निगोद हो, सर्वज्ञ हो, या अल्पज्ञ हो, मिथ्यादृष्टि हो या सम्यग्दृष्टि हो—उन सबको अपने ज्ञान में रहकर जानकर समतारसगर्भितरूप से रहना और कहीं अटकना नहीं, उसे विश्वप्रेम कहते हैं, पूरे विश्व का ज्ञायक रहता है, वह ज्ञायकपना अन्तरशक्ति भरी हुई है, उसमें से प्रगट होता है। इसका नाम चारित्र है और यह मोक्षस्वरूप है।

(५) 'जो दर्शन-ज्ञानयुक्त चारित्र है, वही उत्तम मार्ग है, कोई संसार का मार्ग भला नहीं है। पहले बोल में ज्ञान-दर्शनयुक्त है, वह चारित्र है—ऐसा कहा था। इस पाँचवें बोल में ज्ञान-दर्शन-चारित्रयुक्त को **उत्तममार्ग** कहा। यहाँ उत्तम कहकर विशेषता बतलानी है। आत्मा शक्ति से सर्वज्ञ की सामर्थ्यवाला है। उसमें से सर्वज्ञता प्रगट होती है। वह उत्तम मार्ग है। जिस भाव से तीर्थंकरनामकर्म बँधता है, सर्वथासिद्धि का भव मिलता है, वह भाव संसारमार्ग है, वह भला मार्ग नहीं।

कोई **कहता** है कि भगवान को भी 'सभी जीव करूँ शासनरसी ऐसी भावदया मन उल्लसी' ऐसा भाव उठा था न ?

समाधान - भगवान को भान था कि राग, वह जहर है। अन्तर में स्थिर होना, वह उत्तममार्ग है। राग उत्तममार्ग नहीं है। कोई कहता है कि आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान न हो परन्तु राग को कम करे, उसे थोड़ा अच्छा मार्ग तो कहो। वह बिल्कुल अच्छा नहीं है। वह जहर है। और जो जीव तीन लोक के नाथ के पास शान्ति खोजने जाता है, वह अपने को निर्बल प्रसिद्ध करता है। मैं ज्ञान में स्थिर होऊँ तो सुखी होऊँ, यह स्वतन्त्रता की प्रसिद्धि है। वर्तमान स्वराज्य को लोग स्वतन्त्रता कहते हैं, परन्तु वास्तव में तो वह परतन्त्रता है।

यहाँ कहा है कि दर्शन-ज्ञानसहित चारित्र, वही उत्तम मार्ग है; संसारमार्ग उत्तम नहीं है।

(६) जो मोक्षमार्ग है, वह निकट संसारी जीवों को होता है। अभव्य या दुर्भव्य को नहीं होता। जो भव्य जीव हैं, उन्हें मोक्षमार्ग होता है। चिदानन्दस्वभाव जिसे रुचा है, वह भव्य है। जिसे पुण्य की रुचि है, व्यवहार की और निमित्त की रुचि है, उसे स्वभाव की रुचि नहीं। वह मोक्षमार्ग के योग्य नहीं है।

चक्रवर्ती को पुण्य के ढ़ेर होते हैं, तथापि उसे आत्मा का भान होता है। जितना राग वर्तता है, उसे जहर समझता है, अन्तर स्वभाव में स्थिर होना, उसे मोक्षमार्ग मानता है। यहाँ कहा कि भव्य जीवों को मोक्षमार्ग होता है और अभव्य जीवों को मोक्षमार्ग नहीं होता।

(७) 'जिसे भेदविज्ञान है, ऐसे भव्य जीवों को ही (मोक्षमार्ग) होता है। स्व-पर ज्ञान शून्य अज्ञानी को नहीं होता।' पहले बोल में सम्यग्दर्शन और ज्ञान ऐसे दो साथ में बात की थी। यहाँ अकेले ज्ञान को पृथक् करके बात करते हैं। जिसे स्वसंवेदन ज्ञान प्रगट होता है, उसे मोक्षमार्ग होता है। विषय कषाय में मिठास है, उसे मोक्षमार्ग नहीं होता। यहाँ ज्ञान की प्रधानता से बात करते हैं। परमाणु एक-एक मुझसे भिन्न है। इस रजकण को मेरा आधार नहीं, उसका मुझे आधार नहीं—इस प्रकार पर से विरक्त है, ऐसे भेदज्ञानी जीव को मोक्षमार्ग होता है। परन्तु जो जीव स्व और पर का खींचड़ा करता है और शरीर तथा पुण्य के साथ एकत्व करता है, वह स्व-परज्ञान शून्य है, उसे कदापि मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता।

पूर्व में चाहे जितनी उल्टी मान्यता की हो, परन्तु एक क्षण में उस मान्यता को जीव बदल सकता है। संयोग, निमित्त, राग इत्यादि कृत्रिम पदार्थों का अज्ञानी को विश्वास आता है। एक बड़ा लड्डू इस छोटे सकड़े गले में उतर जायेगा—अन्दर में पच जायेगा, ऐसा विश्वास आता है। गला कितना चौड़ा है, यह देखा नहीं। तथापि उसका विश्वास आता है। इस प्रकार अनेक पदार्थों का विश्वास आता है परन्तु मैं आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, पर से और पुण्य से भिन्न हूँ, मेरे आश्रय से शान्ति और धर्म है, ऐसा

विश्वास नहीं आता। इस प्रकार जिसे स्व-पर भेदविज्ञान नहीं होता, उसे मोक्षमार्ग नहीं होता और उसे चारित्र-तप नहीं होता और जिसे पर से भेदविज्ञान हुआ है, ऐसे जीव को चारित्र होता है, दूसरे को नहीं होता।

वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण अमावस्या, गुरुवार

यह मोक्षमार्ग अधिकार है, मोक्षरूपी नगरी में जाने का रास्ता है। उस वीतरागी दशा का पन्थ, वह चारित्र है। चारित्र बिना मोक्षमार्ग नहीं हो सकता।

कल सात बोल कहे गये हैं।

(१) जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान हो, उसे चारित्र होता है।

कोई **कहे** कि कंचन, कामिनी और कुटुम्ब छोड़े, उसे चारित्र होता है?

समाधान - पर को छोड़ सकता हूँ, यह मान्यता अज्ञानी की है, ऐसे जीव को चारित्र नहीं होता। निज क्षेत्र में निज पर्याय में अज्ञान से राग-द्वेष की परिणति हो रही है। उसका त्याग, वह चारित्र है। वह कब प्रगट होता है? त्रिकाली चैतन्यस्वभाव में विकार नहीं, ऐसी अन्तर्दृष्टि का ज्ञान और लीनता होने पर चारित्र प्रगट होता है। कंचन, कामिनी और कुटुम्ब निज पर्याय में कब प्रविष्ट थे कि उनका त्याग करना? वे तो कभी प्रविष्ट नहीं हुए। शरीर, मन, वाणी इत्यादि पदार्थ तो कभी आत्मा ने धार रखे नहीं। भाई! तेरा धर्म तेरी अन्तर्दशा में है, बाहर में नहीं। दूसरे के परिचय से और स्वभाव के अपरिचय से शान्ति नहीं मिलती। तथा पुण्य-पाप के परिचय से शान्ति नहीं मिलती, पुण्य-पापरहित शुद्ध स्वभाव के आश्रय से शान्ति और धर्म है, ऐसा प्रथम श्रद्धा-ज्ञान हो, उसे चारित्र होता है, दूसरे को चारित्र नहीं होता।

(२) जो अन्तर परिचय करके ज्ञानस्वभाव का पता लगाकर उसमें लीन होता है, उसे चारित्र कहते हैं, बाकी मिथ्याचारित्र है।

(३) जो चारित्र है, वह समताभावसहित होता है। पर का ग्रहण-त्याग तो है ही नहीं परन्तु स्वभाव को ग्रहण करूँ और राग को छोड़ूँ, ऐसे विकल्प भी स्वभाव में नहीं

हैं। चिदानन्दस्वभाव का पता प्राप्त कर अन्तर में समता रस प्रगटे, उसे चारित्र कहते हैं। जितनी वृत्तियाँ उठती हैं, वह पुण्य का कारण है। संक्लेश है, वह बन्धन का कारण है।

(४) जो सकल कर्म का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करावे, वह चारित्र है। जिससे कर्म का बन्धन हो, वह चारित्र नहीं।

(५) ज्ञान-दर्शनयुक्त चारित्र, वही उत्तममार्ग है। विभाव में टिकना, वह उत्तममार्ग नहीं है - अचारित्र है।

(६) भव्य जीवों को चिदानन्दस्वभाव का भान होता है, अभव्य को भान नहीं होता। अज्ञानी जीवों को दुनिया के काम का विश्वास आता है, पुत्र का विश्वास आता है। दया, दानादि परिणाम हों, उनका विश्वास आता है परन्तु वे तो सब मर गये हुए मुर्दे के समान हैं। उनका भरोसा करे परन्तु शुद्ध जागती ज्योति चिदानन्दस्वभाव का भरोसा नहीं करता। ऐसे अभव्य जीवों को मोक्षमार्ग कभी नहीं होता।

(७) जिसे भेदविज्ञान है, ऐसे भव्य जीवों को चारित्र प्रगट होता है। जिसे भेदविज्ञान नहीं, उसे चारित्र प्रगट नहीं होता। कोई जीव कुटुम्बादि के त्याग से धर्म मानता है। परन्तु आत्मा तो उनसे पृथक् है। और यदि उनके त्याग से धर्म हो तो चींटी, कौआ और वृक्ष के पास कंचन, कामिनी, कुटुम्ब कुछ भी नहीं है, तो उन्हें बहुत धर्म होना चाहिए। जो जिसमें नहीं होता, उसका त्याग नहीं कर सकता। जो जिसमें होता है, उसका त्याग कर सकता है। कुटुम्बादि आत्मा में नहीं हैं, इसलिए उनका त्याग आत्मा नहीं कर सकता, परन्तु राग-द्वेषादि पर्याय में होते हैं, उनका त्याग कर सकता है, वह भी उपचारमात्र है। विकाररहित शुद्धस्वभाव में लीनता करने से राग उत्पन्न नहीं होता, उसने राग का त्याग किया, ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार परपदार्थों और विकार से आत्मा भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान नहीं, उसे धर्म नहीं होता।

और कोई कहता है कि मानवधर्म का पालन करो। मानवधर्म आत्मा का कहना या शरीर का ? आत्मा का मानवधर्म तो शुद्ध आत्मा का भान होना, वह है और शरीर का धर्म तो जड़ का धर्म है, उसके उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों अंश उसके कारण से होते हैं, वह उसका धर्म है। शरीर की क्रिया करना, वह आत्मा के अधिकार की बात नहीं है।

मैं मानव नहीं। शरीर, मन, वाणी मैं नहीं। पुण्य-पाप के भाव, वे क्षणिक विकार

है। मैं शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, इस प्रकार पर से पृथक् का भान होकर भिन्नता के रास्ते पूर्ण पृथक् होना, वह मोक्ष है।

दूसरे व्यापारी के पैसे मैं दान में देता हूँ, ऐसा कोई कहे तो उसे दूसरे के पैसे दान में देने का क्या अधिकार है? कुटुम्ब, कामिनी, कंचन तो दूसरे की चीज़ है। जड़ की चीज़ है, वह तेरी कहाँ थी कि तू उसे छोड़ता है? ऐसा कहते हैं। वह तो तीनों काल छूटी हुई ही पड़ी है। आत्मा पर के त्यागस्वरूप ही है। पर का अभाव है, तथापि उसका अभाव करता हूँ—ऐसा मानना, वही मिथ्यात्व है। मिथ्याभ्रान्ति, अज्ञान और राग-द्वेष का त्याग हो सकता है। स्वभाव के भानपूर्वक वे रागादि उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार जिसे भेदविज्ञान है, उसे चारित्र है, उसके बिना चारित्र नहीं है। भेदज्ञान के बिना व्रतादि सब मिथ्या है।

(८) यहाँ मोक्षमार्ग की उत्कृष्टता बताते हैं, वह बारहवें गुणस्थान में होती है। जहाँ चारित्रदशा पूर्ण निर्मल होती है, वहाँ महाव्रतादि का विकल्प भी नहीं होता। जहाँ कषाय होती है, वहाँ चारित्र नहीं होता। अभी जैन के नाम से बहुत फेरफार हो गया है। वस्त्रादि लेने का राग केवलज्ञानी को नहीं हो सकता। छठवें गुणस्थान में मुनि को भी वस्त्र का राग नहीं होता तो फिर केवली भगवान को वस्त्रादि लेने का राग वर्ते, यह न्याय से विरुद्ध है। भरत महाराजा को प्रथम भेदविज्ञान था, संसारदशा में जरा राग होता नहीं, पश्चात् वैराग्य हुआ। अहो! अब दीक्षित होना है, वस्त्र, गहने छूट गये और शरीर की नग्नदशा हो गयी और दो घड़ी ज्ञान में रहकर चारित्र प्रगटाकर केवलदशा को प्राप्त हुए। बाह्य त्याग और नग्नदशा, वह चारित्र नहीं है। परन्तु आत्मस्वभाव की लीनता बढ़ती है, तब बाह्य में नग्नदशा होती है और जहाँ नग्नदशा न हो, वहाँ चारित्र नहीं होता। वस्त्र रखकर चारित्रदशा नहीं होती और चारित्र के बिना केवलज्ञान नहीं होता। मुनि को मात्र मोरपिच्छी और कमण्डल होता है, दूसरा कुछ नहीं होता। भरत को भान तो था। पश्चात् पूरी दुनिया से उदास होकर अकेले स्वभाव का अवलम्बन लिया, बाहर नग्नदशा थी और अन्दर रूखी (वीतरागी) दशा थी, वह बढ़कर केवलज्ञान को प्राप्त हुए, यह एक ही मोक्षमार्ग है। चाहे जिस भव में माने तो यह ही उपाय है, इस प्रकार मोक्ष साधन का उपाय आठ प्रकार से कहा। ●●

गाथा - १०७

सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं।
चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं ।।१०७।।

सम्यक्त्वं श्रद्धानं भावानां तेषामधिगमो ज्ञानम्।
चारित्रं समभावो विषयेषु विरूढमार्गाणाम् ।।१०७।।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां सूचनेयम्। भावाः खलु कालकलित-पञ्चास्तिकाय-विकल्परूपा नव पदार्थाः। तेषां मिथ्यादर्शनोदयापादिताश्रद्धानाभावस्वभावं भावांतरं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं, शुद्धचैतन्यरूपात्मतत्त्वविनिश्चयबीजम्। तेषामेव मिथ्यादर्शनोदयान्नौयान-संस्कारादि* स्वरूपविपर्ययेणाध्यवसीयमानानां तन्निवृत्तौ समञ्ज-साध्यवसायः सम्यग्ज्ञानं, मनाग्ज्ञानचेतनाप्रधानात्मतत्त्वोपलंभ बीजम्। सम्यग्दर्शनज्ञान-सन्निधानादमार्गेभ्यः समग्रेभ्यः परिच्युत्य स्वतत्त्वे विशेषेण रूढमार्गाणां सतामिन्द्रिया-निन्द्रियविषयभूतेष्वर्थेषु रागद्वेषपूर्वकविकारा-भावान्निर्विकारावबोधस्वभावः समभावश्चाचारित्रं, तदात्वायतिरमणीय-मनणीयसोऽपुनर्भवसौख्यस्यै-कबीजम्। इत्येष त्रिलक्षणो मोक्षमार्गः पुरस्तान्निश्चयव्यवहाराभ्यां व्याख्यास्यते। इह तु सम्यग्दर्शनज्ञानयोर्विषयभूतानां नवपदार्थानामुपोद्घातहेतुत्वेन सूचित इति ।।१०७।।

नव पदों के श्रद्धान को समकित कहा जिनदेव ने।
वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान अर समभाव ही चारित्र है।।१०७।।

अन्वयार्थ :— [भावनां] भावों का (-नव पदार्थों का) [श्रद्धानं] श्रद्धान [सम्यक्त्वं] वह सम्यक्त्व है; [तेषाम् अधिगमः] उनका अवबोध [ज्ञानम्] वह ज्ञान है; [विरूढमार्गाणाम्] (निज तत्त्व में) जिनका मार्ग विशेष रूढ़ हुआ है, उन्हें [विषयेषु] विषयों के प्रति वर्तता हुआ [समभावः] समभाव [चारित्रम्] वह चारित्र है।

टीकाः—यह, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की सूचना है।

काल सहित पंचास्तिकाय के भेदरूप नव पदार्थ, वे वास्तव में 'भाव' हैं। उन 'भावों का' मिथ्यादर्शन के उदय से प्राप्त होनेवाला जो अश्रद्धान उसके

अभावस्वभाववाला जो [१]भावान्तर—श्रद्धान (अर्थात् नव पदार्थों का श्रद्धान), वह सम्यग्दर्शन है—जो कि (सम्यग्दर्शन) शुद्ध चैतन्यरूप आत्मतत्त्व के [२]विनिश्चय का बीज है। [३]नौकागमन के संस्कार की भाँति मिथ्यादर्शन के उदय के कारण जो स्वरूपविपर्ययपूर्वक अध्यवसित होते हैं (अर्थात् विपरीत स्वरूप से समझ में आते हैं—भासित होते हैं) ऐसे उन 'भावों' का ही (—नव पदार्थों का ही), मिथ्यादर्शन के उदय की निवृत्ति होने पर, जो सम्यक् अध्यवसाय (सत्य समझ, यथार्थ अवभास, सच्चा अवबोध) होना, वह सम्यग्ज्ञान है—जो कि (सम्यग्ज्ञान) कुछ अंश में ज्ञानचेतनाप्रधान आत्मतत्त्व की उपलब्धि का (अनुभूति का) बीज है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के सद्भाव के कारण समस्त अमार्गों से छूटकर जो स्वतत्त्व में विशेषरूप से [४]रूढ़ मार्गवाले हुए हैं, उन्हें इन्द्रिय और मन के विषयभूत पदार्थों के प्रति रागद्वेषपूर्वक विकार के अभाव के कारण जो निर्विकारज्ञानस्वभाववाला समभाव होता है, वह चारित्र है—जो कि (चारित्र) उस काल में और आगामी काल में रमणीय है और अपुनर्भव के (मोक्ष के) महा सौख्य का एक बीज है।

—ऐसे इस त्रिलक्षण (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक) मोक्षमार्ग का आगे निश्चय और व्यवहार से व्याख्यान किया जाएगा। यहाँ तो सम्यग्दर्शन और

---

१. भावान्तर=भावविशेष; खास भावः; दूसरा भाव; भिन्न भाव।[नव पदार्थों के अश्रद्धान का अभाव जिसका स्वभाव है, ऐसा भावान्तर (-नव पदार्थों का श्रद्धानरूप भाव) वह सम्यग्दर्शन है।]

२. विनिश्चय= निश्चय; दृढ़ निश्चय।

३. जिस प्रकार नाव में बैठे हुए किसी मनुष्य को नाव की गति के संस्कारवश, पदार्थ विपरीत स्वरूप से समझ में आते हैं (अर्थात् स्वयं गतिमान होने पर भी स्थिर हो ऐसा समझ में आता है और वृक्ष, पर्वत आदि स्थिर होने पर भी गतिमान समझ में आते हैं), उसी प्रकार जीव को मिथ्यादर्शन के उदयवश नव पदार्थ विपरीत स्वरूप से समझ में आते हैं।

४. रूढ़=पक्का; परिचय से दृढ़ हुआ। (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के कारण जिनका स्वतत्त्वगत मार्ग विशेष रूढ़ हुआ है, उन्हें इन्द्रियमन के विषयों के प्रति रागद्वेष के अभाव के कारण वर्तता हुआ निर्विकारज्ञानस्वभावी समभाव, वह चारित्र है।)

सम्यग्ज्ञान के विषयभूत नवपदार्थों के [२]उपोद्घात के हेतुरूप से उसकी सूचना दी गई है॥१०७॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, चैत्र कृष्ण अमावस्या, गुरुवार

(अब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप कहते हैं।) भगवान ने छह द्रव्य वर्णन किये हैं, उनकी प्रतीति करना, वह व्यवहार श्रद्धा है। केसर लेने के लिये छिद्रवाला थैला काम नहीं आता परन्तु टीन का डिब्बा काम आता है; उसी प्रकार आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है, उसकी प्रतीति के लिये छह द्रव्य आदि की प्रतीतिरूप व्यवहार समकित, वह बारदान है। व्यवहारश्रद्धा खोटी हो और सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाये, ऐसा नहीं होता। सच्ची व्यवहारश्रद्धा के बिना निश्चय समकित नहीं होता और व्यवहार का अभाव किये बिना निश्चय समकित प्रगट नहीं होता, ऐसी दोनों बात समझना चाहिए।

पंचास्तिकाय गाथा २६-समयव्याख्या में कहा है कि खरतर दृष्टिवाले को =सूक्ष्म दृष्टिवाले को कालसहित पाँच अस्तिकाय को स्वीकार करना चाहिए। जो काल को स्वीकार नहीं करते, वे शास्त्र जैनशास्त्र नहीं हैं, वे बारह अंग को अनुसरणकर नहीं लिखे गये हैं, इसलिए छह द्रव्यों को जैसा है, वैसा यथार्थ-स्वतन्त्र समझना चाहिए।

पाँच अस्तिकाय है। जैसे इस शरीर के परमाणु बहुत हैं, वैसे आत्म इत्यादि को अनेक प्रदेश हैं, वह उसकी काया है। आत्मा, धर्म और अधर्मद्रव्य असंख्य प्रदेशी है। आकाश अनन्त प्रदेशी है। पुद्गलस्कन्ध दो से लेकर अनन्त प्रदेशी है, ऐसे पाँच अस्तिकाय की प्रतीति, वह व्यवहारसमकित है।

---

२. उपोद्घात=प्रस्तावना। [सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग के प्रथम दो अंग जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उनके विषय नव पदार्थ हैं; इसलिए अब अगली गाथाओं में नव पदार्थों का व्याख्यान किया जाता है। मोक्षमार्ग का विस्तृत व्याख्यान आगे किया जायेगा। यहाँ तो नव पदार्थों के व्याख्यान की प्रस्तावना के हेतुरूप से उसकी मात्र सूचना दी गई है।]

और नौ तत्त्व की श्रद्धा, वह व्यवहारसमकित है। समयसार गाथा १३ में नौ की बात आ गयी है। शुद्ध जीवस्वभाव को जीव माने; शरीर, कर्म इत्यादि को अजीव माने। जीव के कारण अजीव की क्रिया नहीं और अजीव की क्रिया से जीव में कुछ नहीं होता, ऐसा माने। दया, दानादि को पुण्य माने; हिंसा, झूठ आदि को पाप माने; दोनों को आस्रव माने; उसमें अटकने को बन्ध माने; शुद्ध आत्मा के आश्रय से निर्मलता हो, उसे संवर माने; निर्मलता की वृद्धि हो, उसे निर्जरा माने; सम्पूर्ण निर्मलता को मोक्ष माने। इस प्रकार रागसहित नौ तत्त्व की श्रद्धा, वह व्यवहारसमकित है। अकेले शुद्ध चैतन्यस्वभाव को भिन्न मानकर अन्तरश्रद्धा करना, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है।

जीव से अजीव की क्रिया होती है, ऐसा माने तो जीव और अजीव भिन्न नहीं रहते। पुण्य से धर्म माने तो आस्रव और संवर एक हो जाते हैं। शुद्ध जीव में से शुभ आता है, ऐसा माने तो जीव और पुण्य एक हो जाता है। इस प्रकार जिसे नौ तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा का भी ठिकाना नहीं, उसे निश्चयसम्यग्दर्शन कभी भी नहीं होता। पैसे से सुख माने, उसने जीव और अजीव को एक माना है। धर्म करने से भव मिलता है, ऐसा माननेवाला संवर और आस्रव को एक मानता है। इस प्रकार नौ को नौ पृथक् जाने नहीं, उसे कभी धर्म नहीं होता।

यहाँ तो कहते हैं कि छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय और नौ तत्त्व जैसे हैं, वैसे रागसहित माने, वह व्यवहारसम्यग्दर्शन है। वह भी व्यवहार कब कहलाये? व्यवहार का विकल्प उठता है, वह मैं नहीं हूँ; मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, ऐसे अपने आत्मा की रागरहित प्रतीति करे और निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट करे तो पूर्व के नौ तत्त्वादि के विकल्प को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहते हैं। अपूर्णदशा में तत्त्वों के विकल्प का राग आये बिना नहीं रहता, तथापि राग, वह सम्यग्दर्शन नहीं है। रागरहित प्रतीति है, वह सम्यग्दर्शन है। वह जहाँ निश्चयसम्यग्दर्शन होता है, वहाँ ऐसी व्यवहारश्रद्धा होती है, इसलिए यहाँ निश्चय-व्यवहार दोनों बातें कही हैं।

वही पदार्थों का जो यथार्थ अनुभवन, वह सम्यग्ज्ञान है। शुद्ध आत्मा के अवलम्बन से जो ज्ञान प्रगट होता है, वह सम्यग्ज्ञान है। तब छह द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं, नौ तत्त्व हैं,

इत्यादि का व्यवहारज्ञान होता है। जो जीव शरीर की क्रिया से धर्म माने, आत्मा से शरीर चलता है—ऐसा माने, उसे धर्मदशा में निमित्त कौन होता है, उसकी खबर नहीं। जिसे धर्म करना हो, उसे छह द्रव्य का तथा नौ तत्त्व का ज्ञान विकल्प द्वारा यथार्थ रीति से होना चाहिए। व्यवहारज्ञान खोटा हो, उसे धर्म नहीं होता।

अब चारित्र की बात करते हैं। पाँच इन्द्रिय के विषयों में जिसने अति दृढ़ता से प्रवृत्ति नहीं की, ऐसे भेदविज्ञानी जीवों का जो राग-द्वेषरहित शान्तस्वभाव, वह सम्यक्चारित्र है।

पाँच इन्द्रियाँ तथा उनके विषय, भावेन्द्रिय और त्रिकाली शुद्ध आत्मा, ऐसे तीनों के बीच जिसे भेदज्ञान वर्तता है, उसे चारित्र होता है। इसके बिना चारित्र नहीं होता। अन्तर स्थिरता, वह चारित्र है। यह मेरे परिचयवाले हैं या अपरिचयवाले हैं—ऐसा विकल्प जिसे उठता नहीं, परन्तु स्वरूप में स्थिर हो जाता है, उसे चारित्र होता है। संसार में अपरिचयवाला व्यक्ति आदर न करे तो जीव को कुछ नहीं होता परन्तु परिचित व्यक्ति यथायोग्य आदर न करे तो खदबदाहट होती है। यहाँ कहते हैं कि आत्मा को किसी के साथ परिचय नहीं है, बाहर के अपरिचयी या परिचयी दोनों के साथ उपेक्षाभाव वर्तता है। आत्मा में सबका अभाव है। मुझे तो मेरे अपने ज्ञानदर्शनादि गुणों के साथ परिचय है, ऐसा समझकर, अन्तर में स्थिर होना, वह चारित्र है। चाहे जो जीव हो, प्रशंसा करे या निन्दा करे, परिचित मकान हो या खेत हो, मुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है। अज्ञानदशा में राग-द्वेषादि करता था, वह स्वभाव का परिचय करके अन्दर उदासीन होकर स्वभाव की दृढ़ता बढ़ गयी। सम्यग्दृष्टि को अभी आसक्ति होती है। यहाँ तो उस आसक्ति को भी स्वभाव के अवलम्बन से तोड़ डाले, वह चारित्र है।

अज्ञानी जीवों को मन में लगता है कि यह पुत्र को या यह मेरे जानवरों को पूरी जिन्दगी पुष्टि देकर बड़ा किया था और अब यह मेरे विरुद्ध कैसे वर्तते हैं। तो उससे कहते हैं कि भाई! तूने किसी जीव को पुष्टि नहीं दी है, तेरे भाव ने विकार को पुष्टि दी है। वह विकार भी तेरा तत्त्व नहीं है। विकाररहित शान्त स्वभाव में स्थिर हो तो शान्ति होती है।

यह जीव मेरा आदर करता है और यह मेरा आदर नहीं करता, ऐसा जो मानता

है, उसे दृष्टि में पदार्थों में ज्ञेयरूप से नहीं रहता, वह जीव परद्रव्यों में घालमेल करता है। और जो जीव स्त्री, पुत्र को छोड़ने से संसार छूटता है, ऐसा मानता है, उसे वस्तु की खबर नहीं। छह महीने के बालक को पेट में दर्द होता हो तो कहाँ दर्द होता है और किस प्रकार मिटेगा, यह बालक को खबर नहीं पड़ती, उसी प्रकार अज्ञानी जीव को संसार कहाँ रहता होगा और कहाँ से छोड़ना, यह खबर नहीं पड़ती। स्त्री-पुत्र आत्मा में घुस नहीं गये कि उन्हें छोड़ना रहे। वे तो तीनों काल पृथक् पड़े हैं। आत्मा शुद्ध चिदानन्द भिन्न है, ऐसा भान हुए बिना चारित्र नहीं हो सकता। जिस पर्याय ने शुद्ध आत्मा को विषय किया है और परविषयों की तथा कुटुम्बादि की उपेक्षा की है और स्वभाव में स्थिर हुआ है, वह चारित्र है। आत्मा रागरहित है, ऐसे श्रद्धा-ज्ञान करके अन्तर शान्तस्वरूप में स्थिर होना, वह चारित्र है।

वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल १, शुक्रवार

भावार्थ : जीवों को अनादि अविद्या के प्रभाव से पदार्थों की विपरीत श्रद्धा है। अपना आत्मा शुद्ध और आनन्दस्वरूप है, ऐसा नहीं मानकर मेरे ज्ञान और आनन्द पर में से आते होंगे और परपदार्थ मेरे कारण से निभते होंगे, ऐसी मान्यता मिथ्यादर्शन है। शरीर, मन, वाणी पृथक् होने पर भी, उनकी मदद से मुझे शान्ति है—ऐसा मानना अज्ञान है। अनादि से अज्ञानी जीव को ऐसी विपरीत श्रद्धा है।

काललब्धि के प्रभाव मिथ्यात्व नष्ट होता है, तब पदार्थों की यथार्थ प्रतीति होना, वह सम्यग्दर्शन है। काललब्धि का अर्थ स्व-पर्याय का पुरुषार्थ स्वयं ज्ञानानन्दस्वभावी है, ऐसी रुचि होना और वर्तमानदशा में स्वभाव प्रगट करने की योग्यता, उसे काललब्धि कहते हैं। अपने स्वभाव की प्रतीति होती है, उसे नौ पदार्थ की यथार्थ प्रतीति होती है, जीव को जीव जाने, जड़ को जड़ जाने, पुण्य-पाप को विकार जाने, त्रिकाली स्वभाव को शुद्ध जाने, उसे यथार्थ प्रतीति है।

अज्ञानी जीव को पर की महिमा आती है। पुत्र का विवाह हो, उसकी महिमा आती है। गहने की महिमा आती है, पैसे की महिमा आती है, वह सब अज्ञानभाव है।

पूर्व के पुण्य जल जाते हैं, तब पैसे मिलते हैं। जीव उसमें हर्षित होता है। ऐसे संयोग अनन्त बार मिले हैं। उसमें विशिष्टता नहीं है और किसी को दया, दानादि के शुभभाव का माहात्म्य आता है, इस प्रकार पर और विकार का माहात्म्य आना, वह अज्ञान है। अपने शुद्ध आत्मा का माहात्म्य नहीं आता, इसलिए जीव भटकता है।

और जीव अपनी पर्याय में पुरुषार्थ उठाता है, तब मिथ्यात्व नष्ट होता है और जीव को जीव जाने, अजीव को अजीव जाने, ऐसे नौ पदार्थ को पृथक्-पृथक् जाने, उसमें शुद्ध आत्मा की प्रतीति आ जाती है, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। वह बीजभूत है उसमें से केवलज्ञान प्रगट होता है। आम के लिये आम का बीज बोना चाहिए, आँक का नहीं चलता। उसी प्रकार पुण्य-पाप की रुचि करे और संसार में से भटकना मिटे, ऐसा नहीं होता। शुद्ध चैतन्य सूर्य स्वभावी आत्मा है, उसकी श्रद्धा करना, वह बीजभूत है, उसमें से केवलज्ञान प्रगट होता है। नौ पदार्थों की यथार्थ प्रतीति में आत्मा की प्रतीति आ जाती है। जिससे स्वभाव का मान आवे और पर का मान गल जाये, वह मानस्तम्भ है। आत्मा विशाल भाव मानस्तम्भ है। आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूपी है और दूसरेरूप नहीं, ऐसी निर्विकल्प प्रतीति, वह सम्यग्दर्शन है और वह केवलज्ञान का बीज है।

अब ज्ञान की बात करते हैं। मिथ्यात्व के उदय से संशय, विमोह, विभ्रमस्वरूप पदार्थों का ज्ञान होता है। जिस प्रकार नाव पर बैठे हुए को बाहर के स्थिर पदार्थ चलते हुए दिखते हैं, उसे विपरीत ज्ञान कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र अपने कारण से आते-जाते हैं, तथापि अज्ञानी जीव को ऐसा लगता है कि वे चीज़ें मेरे लिये आती होंगी! वे चीज़ें क्षेत्र से, काल से, और भाव से संयोगी हैं, इसलिए वियोग होगा ही, तथापि अज्ञानी को लगता है कि वे मेरे लिये आयी हैं और जाती हैं। सब मुझे छोड़कर चली गयी - ऐसा वह मानता है। इस प्रकार वह उल्टा माना करता है।

पद्मनन्दि पंचविंशति में दान अधिकार मुनियों ने लोभरूपी बेखड़ में फँसते हुए जीवों को खींचने के लिये लिखा है और वह वाँचन होता है, तब उल्टे जीवों को ऐसा लगता है कि 'मुझसे पैसे निकलवाने के लिये यह दान अधिकार पढ़ा जा रहा है', प्ररूपणा में ऐसा आवे कि आत्मा सिद्ध समान है तो उल्टा व्यक्ति ऐसा कहता है कि

'हमको तो सिद्धस्वरूप कहीं दिखता नहीं।' और अज्ञानी मानता है कि पैसा हो तो निवृत्ति ली जाये, वह भी विपरीतता है। निवृत्ति पर से नहीं ली जाती। उसे कुदेवादि सच्चे लगते हैं, सच्चे देव कुदेव लगते हैं और कोई कहता है कि 'पुण्य के बिना सुनने का मिले ? और सुने बिना धर्म हो ?' यह बात सुनते हुए अज्ञानी को तुरन्त ही लगता है कि पुण्य से धर्म होता है। इस प्रकार जिसका ज्ञान विपरीत है, उसे सब उल्टा लगता है। अज्ञानी कुदेव को सुदेव मानता है; सुदेव को कुदेव मानता है। सुमार्ग को कुमार्ग मानता है; कुमार्ग को सुमार्ग मानता है और जैसे जिसे सर्प ने काट लिया है, उस जीव को नीम कड़वा नहीं लगता है परन्तु मीठा लगता है; इसी प्रकार मिथ्यात्व और अज्ञानरूपी जहर जिसमें है, उस जीव को उल्टी बात तुरन्त ही जँच जाती है परन्तु जब जीव को मिथ्या भ्रान्ति नष्ट होती है, तब पदार्थों का यथार्थ ग्रहण होता है, उस ज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान है। यहाँ अक्षर ज्ञान की बात नहीं। चिदानन्द मेरा स्वरूप है—ऐसा ज्ञान ने ज्ञान में पकड़ा, वह स्वसंवेदन ज्ञान है और वह आत्मतत्त्व के अनुभवन की प्राप्ति का मूल कारण है।

अब चारित्र की बात करते हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्रवृत्ति के प्रभाव से कुमार्ग से निवृत्ति होकर रागरहित परिणाम हुए, उसे चारित्र कहते हैं। वीतराग सर्वज्ञदेव के कहे हुए मार्ग के अतिरिक्त सभी मार्ग कुमार्ग हैं। लोग शरीर की क्रिया इत्यादि को योग कहते हैं, वे सब उल्टे रास्ते हैं, सब होकर एक पदार्थ नहीं। भगवान ने दर्शन दिये, इसलिए कल्याण हुआ, ऐसा कोई मानता है, वे सब कुमार्ग हैं। उस कुमार्ग से निवृत्ति होना चाहिए।

सर्वज्ञ कहते हैं, तद्नुसार छह द्रव्य स्वतन्त्र हैं, प्रत्येक भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा यथार्थरूप से जानना चाहिए। यह जाने बिना 'यह सच्चा होगा या दूसरा सच्चा होगा'—ऐसा मानकर अज्ञानी जीव वीर्य को खण्ड-खण्ड करके कुमार्ग में भटका करता है। इसलिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्रवृत्ति से समस्त कुमार्ग में से निवृत्त होकर जो आत्मस्वरूप में लीन होता है, उसे चारित्र होता है।

देह की क्रिया या पाँच महाव्रत के परिणाम चारित्र नहीं हैं तथा दो पूड़ी खाये और ब्रह्मचर्य पालन करे, वह भी चारित्र नहीं है। पदार्थों में से इष्ट-अनिष्ट की कल्पना छोड़कर

राग-द्वेषरहित रूप से आत्मस्वभाव में निर्विकार परिणाम होना, वह सम्यक्चारित्र है। मैं शुद्ध चिदानन्द स्वरूप हूँ, ऐसे भान बिना सम्यग्दर्शन होता नहीं; सम्यग्दर्शन बिना चारित्र होता नहीं; चारित्र बिना केवलज्ञान होता नहीं और केवलज्ञान बिना मुक्ति होती नहीं।

चारित्रदशा उत्पन्न होने से संसार उत्पन्न नहीं होता। चारित्र, वह मोक्षमार्ग है— वह मोक्ष का कारण है। यहाँ सच्चे चारित्र की बात है। अकेला द्रव्यलिंग धारण करे या महाव्रत पालन करे, वह चारित्र नहीं है। आत्मा के भानसहित अन्तर्लीनता होना, वह चारित्र है। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन है, वह पूर्ण मोक्षमार्ग नहीं है; सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र ऐसे तीनों की एकता, वह मोक्षमार्ग है, उसमें से एक की कमी हो तो मोक्षमार्ग नहीं है।

जिस प्रकार रोगी को औषधि का श्रद्धान, ज्ञान और उपचार तीन प्रकार होते हैं, तब रोगी रोग से मुक्त होता है। उसमें से एक न हो तो रोग नहीं जाता, परन्तु तीनों उपचार साथ में हों तो रोग जाता है। यह दृष्टान्त है। रोग तो रोग के कारण से मिटता है, तब यह तीन निमित्त होते हैं। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता से मोक्षमार्ग होता है, अकेले से नहीं होता।

अब निश्चय-व्यवहारनयों की अपेक्षा से मोक्षमार्ग कहते हैं। सम्यग्दर्शन और ज्ञान द्वारा नौ पदार्थ जानने में आते हैं। उन नौ पदार्थों का संक्षेप स्वरूप तथा नाम कहते हैं। ●●

मुनिदशा में अचिन्त्य सुख

मुनिराजों को संयोगरहित निजानन्द के अनुभव में जो सुख है, उस सुख का अंश भी चक्रवर्ती अथवा इन्द्र के वैभव में नहीं है। इन्द्रिय-विषयों में चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द की परछांई भी नहीं है। अज्ञानी को बाह्य संयोग की अनुकूलता में सुख लगता है, वह उसकी कल्पनामात्र ही है। संयोग में कहीं सुख नहीं है, अज्ञानी अपनी कल्पना से ही सुख मानता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, कानजीस्वामी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ २७६

गाथा - १०८

जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवरणिज्जरबंधो[1] मोखो य हवंति ते अट्ठा।।१०८।।

जीवाजीवौ भावौ पुण्यं पापं चास्रवस्तयोः।
संवरनिर्जरबंधा मोक्षश्च भवन्ति ते अर्थाः ।।१०८।।

पदार्थानां नामस्वरूपाभिधानमेतत्। जीवः, अजीवः, पुण्यं, पापं, आस्रवः, संवरः, निर्जरा, बंधः, मोक्ष इति नवपदार्थानां नामानि। तत्र चैतन्यलक्षणो जीवास्तिक एवेह जीवः। चैतन्याभावलक्षणोऽजीवः। स पञ्चधा पूर्वोक्त एव - पुद्गलास्तिकः, धर्मास्तिकः, अधर्मास्तिकः, आकाशास्तिकः, कालद्रव्यञ्चेति। इमौ हि जीवाजीवौ पृथग्भूतास्तित्वनिर्वृत्तत्त्वेन भिन्नस्वभावभूतौ मूलपदार्थौ। जीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिर्वृत्ताः सप्तान्ये पदार्थाः। शुभपरिणामो जीवस्य, तन्निमित्तः कर्मपरिणामः पुद्गलानाञ्च पुण्यम्। अशुभपरिणामो जीवस्य, तन्निमित्तः कर्मपरिणामः पुद्गलानाञ्च पापम्। मोहरागद्वेषपरिणामो जीवस्य, तन्निमित्तः कर्मपरिणामो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलानाञ्चास्रवः। मोहरागद्वेषपरिणामनिरोधो जीवस्य, तन्निमित्तः कर्मपरिणामनिरोधो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलानाञ्च संवरः। कर्मवीर्यशातनसमर्थो बहिरङ्गंतरङ्गतपोभिर्बृंहितशुद्धोपयोगो जीवस्य, तदनुभावनीरसीभूतानामेकदेशसंक्षयः समुपात्त-कर्मपुद्गलानाञ्च निर्जरा। मोहरागद्वेषस्निग्धपरिणामो जीवस्य, तन्निमित्तेन कर्मत्वपरिणतानां जीवेन सहान्योन्यसंमूर्च्छनं पुद्गलानाञ्च बंधः। अत्यंतशुद्धात्मोपलम्भो जीवस्य, जीवेन सहात्यंतविश्लेषः कर्मपुद्गलानां च मोक्ष इति ।।१०८।।

फल जीव और अजीव तद्गत पुण्य एवं पाप हैं।
आसरव संवर निर्जरा अर बन्ध मोक्ष पदार्थ हैं।।१०८।।

अन्वयार्थ :— [जीवाजीवौ भावौ] जीव और अजीव—दो भाव (अर्थात् मूल पदार्थ) तथा [तयोः] उन दो के [पुण्यं] पुण्य; [पापं च] पाप, [आस्त्रवः] आस्त्रव, [संवरनिर्जरबंधः] संवर, निर्जरा, बन्ध [च] और [मोक्षः] मोक्ष— [ते अर्थाः] वह (नव) पदार्थ हैं।

---

१. संवरणं णिज्जरणं बंधो मोक्खो य ते अट्ठा। - ऐसा पाठान्तर है।

टीका :— यह, पदार्थों के नाम और स्वरूप का कथन है।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष —इस प्रकार नव पदार्थों के नाम हैं।

उनमें, चैतन्य जिसका लक्षण है, ऐसा जीवास्तिक ही (—जीवास्तिकाय ही) यहाँ जीव है। चैतन्य का अभाव जिसका लक्षण है, वह अजीव है: वह (अजीव) पाँच प्रकार से पहले कहा ही है—पुद्गलास्तिक, धर्मास्तिक, अधर्मास्तिक, आकाशास्तिक और कालद्रव्य। यह जीव और अजीव (दोनों) पृथक् अस्तित्व द्वारा निष्पन्न होने से भिन्न जिनके स्वभाव हैं, ऐसे (दो) मूल पदार्थ हैं।

जीव और पुद्गल के संयोगपरिणाम से उत्पन्न सात अन्य पदार्थ हैं। (उनका संक्षिप्त स्वरूप निम्नानुसार हैं :—) जीव के शुभ परिणाम (वह पुण्य हैं) तथा वे (शुभ परिणाम) जिसका निमित्त हैं, ऐसे पुद्गलों के कर्मपरिणाम (-शुभकर्मरूप परिणाम) वह पुण्य हैं। जीव के अशुभ परिणाम (वह पाप हैं) तथा वे (अशुभ परिणाम) जिसका निमित्त हैं, ऐसे पुद्गलों के कर्मपरिणाम (-अशुभकर्मरूप परिणाम) वह पाप हैं। जीव के मोहरागद्वेषरूप परिणाम, (वह आस्त्रव हैं) तथा वे (मोहरागद्वेषरूप परिणाम) जिनका निमित्त हैं, ऐसे जो योगद्वारा प्रविष्ट होनेवाले पुद्गलों के कर्मपरिणाम, वह आस्त्रव हैं। जीव के मोहरागद्वेषरूप परिणाम का निरोध, (वह संवर है) तथा वह (मोहरागद्वेषरूप परिणाम का निरोध) जिसका निमित्त है, ऐसा जो योगद्वारा प्रविष्ट होनेवाले पुद्गलों के कर्मपरिणाम का निरोध, वह संवर है। कर्म के वीर्य का (-कर्म की शक्ति का) [१]शातन करने में समर्थ ऐसा जो बहिरंग और अन्तरंग (बारह प्रकार के) तपों द्वारा वृद्धि को प्राप्त जीव का शुद्धोपयोग, (वह निर्जरा है) तथा उसके प्रभाव से (—वृद्धि को प्राप्त शुद्धोपयोग के निमित्त से) नीरस हुए ऐसे उपार्जित कर्मपुद्गलों का एकदेश [२]संक्षय वह निर्जरा है। जीव के, मोहरागद्वेष द्वारा स्निग्ध परिणाम (वह बन्ध है) तथा उनके (—स्निग्ध परिणाम के) निमित्त से कर्मरूप परिणत पुद्गलों का जीव के साथ अन्योन्य अवगाहन (—विशिष्ट शक्ति सहित

१. शातन करना= पतला करना; हीन करना; क्षीण करना; नष्ट करना।

२. संक्षय=सम्यक् प्रकार से क्षय।

एकक्षेत्रावगाहसम्बन्ध), वह बन्ध है। जीव की अत्यन्त शुद्ध आत्मोपलब्धि, (वह मोक्ष है) तथा कर्मपुद्गलों का जीव से अत्यन्त विश्लेष (वियोग) वह मोक्ष है॥ १०८॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल १, शुक्रवार

एक जीव पदार्थ और एक अजीव पदार्थ, एक पुण्य पदार्थ और एक पाप पदार्थ, उन दोनों—पुण्य-पापों का आत्मा में आना, वह एक आस्रव पदार्थ है। संवर, निर्जरा और बन्ध ये तीन पदार्थ हैं और मोक्ष एक पदार्थ है। इस प्रकार जो है, वह नौ पदार्थ होते हैं।

जीव - नौ पदार्थों में जीव एक पदार्थ है। ऐसे जीव अनन्त हैं। प्रत्येक आत्मा असंख्य प्रदेशी और अनन्त गुणवाला है। ऐसे अनन्त आत्मा हैं, परन्तु जाति से एक है। कोई एक ही आत्मा माने, कोई एकान्त अनित्य माने, कोई नया उत्पन्न हुआ माने तो वे सब मिथ्या हैं।

अजीव - अजीव के पाँच भेद हैं। एक धर्मास्तिकाय, एक अधर्मास्तिकाय, एक आकाश, असंख्य कालाणु तथा अनन्त पुद्गल हैं। इस प्रकार पाँच भेद अजीव के जानना।

पुण्य - दया, दान, पूजा, भक्ति, कोमलता के परिणाम, पाँच महाव्रत के परिणाम, वे भावपुण्य हैं।

पाप - हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि परिणाम, वे भावपाप हैं।

आस्रव - पुण्य-पाप के भाव होना, वह आस्रव है। वह जीव से भिन्न तत्त्व है। कितने ही जीव दया, दान के भाव को पाप कहते हैं, कोई जीव आस्रव को जीव के साथ अभेद करते हैं, वह धूल है। पुण्य-पाप जीव की पर्याय में होते हैं। परन्तु वह शुद्ध जीवतत्त्व नहीं है।

कोई जीव दया, दान को पाप कहे, कोई दया, दान से धर्म मनावे, दोनों भूल में हैं। जीव से शरीर चलता है, ऐसा कोई माने, अजीव से जीव में कार्य होता है - ऐसा

कोई माने तो वह भूल है। ऐसा मानने से जीव और अजीवतत्त्व नहीं रहते। और कोई जीव देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा के राग से धर्म मानता है तो आस्रव और संवर एक हो जाते हैं। कर्म के कारण विकार माना जाये तो आस्रव और अजीव एक हो जाते हैं। मनुष्य देह के कारण धर्म माने तो संवर और अजीव एक हो जाते हैं। पाँच महाव्रत के कारण धर्म माने तो आस्रव से संवर मानता है, वह भूल है।

संवर - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम, वे संवर हैं। पुण्य से धर्म माने, शरीर की अनुकूलता के कारण धर्म माने तो संवरतत्त्व नहीं रहता।

निर्जरा - आत्मा के आश्रय से शुद्धि की वृद्धि होना, वह निर्जरा है। अज्ञानी जीव रोटी नहीं खाने को निर्जरा मानते हैं। वे अजीव को निर्जरा मानते हैं। आत्मा के आश्रय से होनेवाली शुद्धता बढ़ती है, वह निर्जरा है। जो नौ को नौ न जाने, उसका व्यवहार भी सच्चा नहीं। उसे धर्म नहीं होता।

वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल २, शनिवार

कल निर्जरातत्त्व तक बात आयी थी।

बन्ध-राग-द्वेषादिभावों में अटक जाना, वह बन्ध है और

मोक्ष - विकारी भावों से सम्पूर्ण मुक्त होना, वह मोक्ष है। इस प्रकार नौ पदार्थों को जैसा है, वैसा श्रद्धा में लेना चाहिए।

भावार्थ - जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष—ऐसे नौ पदार्थ जानना चाहिए।

(१) **जीव** - आत्मा चेतन पदार्थ है। पुण्य-पाप करे, वह आत्मा नहीं। 'देह भिन्न केवल चैतन्य का ज्ञान जो', देह से भिन्न अकेले जानने-देखने के उपयोगवाला वह जीव है। पुण्य-पाप करे अथवा शरीरादि की क्रिया करे, वह आत्मा नहीं। जैसे राजा को उसके योग्य इलकाव से प्रार्थना करे तो सुनता है, उसी प्रकार चैतन्य राजा जैसा है, वैसा प्रार्थना में लिखे अर्थात् कि ज्ञान में ले तो आत्म राजा प्रसन्न होता है। शरीरादि पर हैं और

दया, दान के भाव, वह विकार है, आत्मा उनसे भिन्न है, ऐसा जाने तो भेदज्ञान हो और तो शान्ति हो।

अज्ञानी जीव कहते हैं कि पूर्व में पुण्य किया था तो यह सब संयोग मिले और उन्हें जीव भोगता है। उससे कहते हैं कि भाई! संयोगों को जीव भोगता नहीं, सुख-दुःख की वृत्ति होती है, वह भी जीव नहीं है तथा संवर-निर्जरा की पर्याय भी एक समय की है, वह भी त्रिकाली जीवतत्त्व नहीं है। जीव चेतना लक्षणवाला है, वह क्या करे? जीव मन, वाणी, देह की क्रिया करनेवाला नहीं है परन्तु जानने-देखने के स्वभाववाला है। अफीम का स्वभाव कड़वा है, वैसे आत्मा का स्वभाव जानना-देखना है। रागादि की उत्पत्ति जीव का स्वरूप नहीं है। यदि राग, जीव का स्वरूप हो तो सिद्ध में भी राग रहना चाहिए। सिद्ध वीतराग है, इसलिए राग जीव का स्वरूप नहीं। शुद्ध चैतन्यस्वरूप, वह जीव है। जितने आत्मा हैं, वे सब चैतन्य प्रभुत्व से भरपूर हैं। अज्ञानी को खबर नहीं, वह अपने स्वभाव को भूलता है, वह अधर्म है। अज्ञानी जीव दया-दान में धर्म मान रहा है, परन्तु वह विकारी पर्याय जीव का मूल स्वभाव नहीं है; जीव का स्वभाव निरूपाधिमय शान्त है। इस प्रकार जीव का ज्ञातादृष्टा स्वभाव जानना, वह धर्म है।

(२) चेतनारहित जड़ पदार्थ **अजीव** है। पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, और कालद्रव्य, ये पाँच प्रकार के अजीव हैं। शरीर, मन, वाणी, दाल, भात, हीरा, माणेक, बँगला, पैसा जड़ पुद्गल है, अजीव है। उसे अपना मानना, वह अधर्म है। 'यह मेरा मकान है, ये मेरे पुत्र हैं', यह मेरे हैं, ऐसा कहने पर वे परपदार्थ हैं और वे मुझसे भिन्न हैं, ऐसा निश्चित् होता है।

जीव, वह जीव है, अजीव नहीं; अजीव वह अजीव है, जीव नहीं। ऐसा होने पर भी, मुझसे वाणी बोली गयी, कर्म मुझे हैरान करते हैं—ऐसा मानना, वह अज्ञानभाव है। घर में नौ लड़के हों तथापि पाँच लड़के हैं, ऐसा कहे तो खोटा है। उसी प्रकार तत्त्व नौ हैं, उससे कम माने तो भूल है। इसलिए शरीरादि पुद्गल का स्वामी आत्मा नहीं है, आत्मा उससे भिन्न है।

(३) जो जड़ (पुद्गल) और चैतन्यपदार्थ गमन करे, उसे गति में सहाय करे, वह धर्मद्रव्य है। वह चौदह ब्रह्माण्ड में व्याप्त अरूपी अखण्ड द्रव्य है, यह सब ज्ञान

किये बिना ध्यान करे तो जड़ हो जाये, आत्मा और दूसरे पाँच द्रव्य जैसे हैं, वैसे मानना चाहिए।

(४) जड़ (पुद्गल) और चैतन्यपदार्थ जो गमन करके स्थिर होते हैं, उसमें अधर्मद्रव्य निमित्त है। वह चौदह ब्रह्माण्ड में व्याप्त अरूपी अखण्ड द्रव्य है, उसका ज्ञान में ख्याल आ सकता है। उसे न माने, वह मिथ्यादृष्टि है।

(५) लोकालोक प्रमाण आकाश अरूपी अखण्ड द्रव्य है। वह सब पदार्थों को अवगाहन देता है।

(६) असंख्य कालाणु हैं, अरूपी तत्त्व हैं। एक कालाणु में अनन्त गुण हैं। जो काल को स्वीकार नहीं करता और नौ तत्त्व की श्रद्धा का ठिकाना नहीं है, उसे आत्मा की समझ कभी नहीं होती।

इस प्रकार अजीव के पाँच भेद जानना।

छह पदार्थ अनादि-अनन्त मूल वस्तु है। आत्मा चिदानन्दस्वरूपी वस्तु है तथा पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश, काल भी सहज मूल वस्तु है। किसी ने उन्हें बनाया नहीं है। जीव और अजीव दो हैं। दोनों हैं, ऐसा कब माना कहलाये? एक-दूसरे के कारण नहीं, ऐसा स्वतन्त्र माने तो। इसके अतिरिक्त सात पदार्थ अलग हैं, यह जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए हैं। जीवतत्त्व में द्रव्य तो त्रिकाल है और उसकी पर्याय में सात भंग होते हैं। और कर्म की पर्याय में सात भंग होते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, में ये सात भंग नहीं होते तथा कर्म के अतिरिक्त दूसरे पुद्गलों में यह सात भेद नहीं होते। **तेरी जाति शुद्ध चैतन्यद्रव्य की है, वह तेरी पर्याय में तेरे कारण से पुण्य-पाप आदि सात भेद होते हैं और अजीवद्रव्य त्रिकाल है और उसकी सात पर्यायें जड़ के कारण से होती है। इस प्रकार स्वतन्त्र ज्ञान करे तो आत्मा की ओर उन्मुखता हुए बिना न रहे।**

यह सात भेद बतलाते हैं।

पुण्य - आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावी है। उसकी पर्याय में दया, दानादि के परिणाम होते हैं, महाव्रतादि के परिणाम, नमस्कार मन्त्र बोलने का भाव, वह भाव पुण्य है। वह

जीवतत्त्व नहीं, अजीवतत्त्व नहीं, तथा धर्म अथवा संवरतत्त्व नहीं। तथा पापतत्त्व नहीं। अरूपी आत्मा की पर्याय है। पर्याय को पर्याय जाने, त्रिकाली द्रव्य को द्रव्य जाने। शरीर, मन, वाणी को अजीव जाने तो भेदज्ञान होता है। जैसे लौकिक में अन्तर्जातीय विवाह नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ नौ तत्त्वों की जाति अलग है। मैं पैसा कमा सकता हूँ, रुपये सम्हाल सकता हूँ, ऐसा जो मानता है, वह जीव और अजीव को एक करता है।

अज्ञानी जीव शुभ का कर्ता होता है। दया, दानादि परिणाम एक समय की पर्याय है। वह त्रिकाल स्वभाव से भिन्न है—ऐसा जाने तो सम्यग्दर्शन होता है।

भावपुण्य का निमित्त पाकर साता आदि के परमाणु बँधते हैं, उसे द्रव्यपुण्य कहते हैं। उस द्रव्यपुण्य से भावपुण्य भिन्न है और भावपुण्य से जीवतत्त्व भिन्न है। जड़ पुण्य परमाणु की पर्याय है। भावपुण्य जीव की एक समय की पर्याय है। वह शाश्वत् स्वरूप नहीं और शुद्ध जीव त्रिकाली तत्त्व है, ऐसा भेदज्ञान करे तो धर्म और शान्ति होती है। और कर्म में पुण्यरूप होने की योग्यता होती है, तब शुभभाव को निमित्त कहा जाता है। दोनों स्वतन्त्र है। दोनों से जीवतत्त्व भिन्न है। ऐसा शुद्ध चैतन्यतत्त्व का ज्ञान करना, वह सम्यग्ज्ञान है।

पाप – हिंसा, झूठ, चोरी, क्रोध, मान, माया, लोभ के परिणाम की अस्ति दिखती है, वह एक समय की अवस्था है। वह जड़ में नहीं, जड़ के कारण नहीं, परन्तु अपने अपराध के कारण एक समय की अवस्था में होते हैं, उनका निमित्त पाकर नीच गोत्र इत्यादि पाप की प्रकृति बँधती है, वह द्रव्य पाप है। पुद्गल वर्गणायें पापरूप परिणमती हैं। वे अपने कारण से हैं, भावपाप के कारण नहीं। भावपाप निमित्तमात्र है, भावपाप पृथक् द्रव्य है और द्रव्यपाप पृथक् है और इन दोनों से जीवतत्त्व भिन्न है, ऐसा ज्ञान करना चाहिए।

आस्त्रव – पर को लाभ कर दूँ, ऐसा भाव तथा राग–द्वेषादि के परिणाम करना, वह भाव आस्त्रव है। आत्मा की वर्तमान दशा में मोह, राग, द्वेष के परिणाम, वह भाव आस्त्रव है, वह एक समय की पर्याय है, वह जीवतत्त्व नहीं तथा संवरतत्त्व नहीं। भाव

आस्रव का निमित्त पाकर मन-वचन-काया के योग द्वारा जड़कर्म के परमाणुओं का आना होता है, वह द्रव्य आस्रव है। वह जड़ की अवस्था है। जितने प्रमाण में राग-द्वेषादि के परिणाम करे, उतने ही प्रमाण में कर्म परमाणु का आस्रव होता है, तथापि भाव आस्रव और द्रव्य आस्रव एक-दूसरे के पराधीन नहीं हैं। दोनों स्वतन्त्र हैं, एक-दूसरे को निमित्त-नैमित्तिक मेल है। इन दोनों से जीवतत्त्व भिन्न है।

संवर - जीव के मोह, राग, द्वेषादि विकारी भावों को रोकनेवाला भाव, वह भावसंवर है। विकारी भावों को रोकना, यह कथन भी नास्ति से है।

मैं आत्मा शुद्धचैतन्यस्वरूप हूँ, ऐसे भावपूर्वक अन्तर समझण की क्रिया हुई तो मिथ्याभ्रान्ति आदि के परिणाम उत्पन्न नहीं हुए। उसने विकारी परिणाम रोके, ऐसा कहा जाता है। परिणाम होने के पश्चात् उन्हें रोके, ऐसा अर्थ नहीं है, शुद्धचैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से पुण्य-पाप के परिणाम नहीं होते, उसे धर्म कहते हैं।

लोग देह की क्रिया को - अमुक जगह अमुक घण्टे बैठा - उसे संवर कहते हैं, वह स्थूल अज्ञानभाव है, शुद्ध आत्मा के भानपूर्वक श्रद्धा-ज्ञान रमणता होना, वह भावसंवर है, वह भी एक समयमात्र की अवस्था है। आत्मा का त्रिकाली स्वरूप नहीं। यहाँ तो निमित्तबुद्धि और पर्यायबुद्धि उड़ाते हैं और शुद्ध त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की दृष्टि कराते हैं। उसका अवलम्बन ले तो संवर प्रगट होता है। जीवों को अभी आस्रव के स्वरूप की खबर नहीं है, नौ को नौ न मानना, वह मिथ्यात्व का आस्रव है, ऐसे पाँच प्रकार के आस्रव हैं। उस आस्रव को चैतन्य के भान द्वारा रोकना, वह संवर और धर्म है। भाव संवर का निमित्त पाकर मन, वचन, काया के योगों द्वारा पुद्गलवर्गणाओं के आगमन का निरोध करना, वह द्रव्य संवर है। यह भी निमित्त से कथन है। कर्म आनेवाले थे और आत्मा ने उन्हें जबरदस्ती रोक दिया, ऐसा उसका अर्थ नहीं है। कर्मों की आने की योग्यता ही नहीं थी। उस समय जीव के भाव संवर की जीव की पर्याय की योग्यता है। दोनों एक समय में है, तथापि दोनों स्वतन्त्र है। दोनों से आत्मा न्यारा है, ऐसी पृथक्ता का भेदज्ञान करना, वह धर्म है।

निर्जरा - आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूपी है। उसके भानपूर्वक अन्तर में रमणता

होना, वह शुद्ध उपयोग है, उसे भाव निर्जरा कहते हैं। कर्मों की शक्ति घटाने को समर्थ बहिरंग-अन्तरंग तपों से वर्धमान ऐसा जो शुद्ध उपयोग, उसे भाव निर्जरा कहते हैं। वास्तव में अन्तरंग तप से ही भावनिर्जरा है। बहिरंग तप उपचारमात्र है। बहिरंग उपवासादि तप, वह पुण्य का कारण है। रोटियाँ न खाना, उसे लोग तप कहते हैं। भाई! जड़ के परमाणु का संयोग नहीं हुआ, वह तो जड़ के कारण से है। अन्तर में कषाय मन्दता के परिणाम किये, वह शुभ है - पुण्य है। उसे धर्म मानना, वह मिथ्याभाव है। उस पुण्य और जड़ की क्रिया से रहित अन्तर चिदानन्दस्वभाव शुद्ध है, ऐसा भान करना और अन्तरलीनता करना, वह शुद्ध उपयोग, वह निर्जरा है। वह एक समयमात्र की अवस्था है। आत्मा भावनिर्जरा जितना नहीं है। आत्मा त्रिकाली है, ऐसा भेदज्ञान करना चाहिए।

इस भाव निर्जरा का निमित्त पाकर पूर्वोपार्जित कर्मों का नीरस भाव होकर एकदेश क्षय हुआ, उसे द्रव्य निर्जरा कहते हैं, यह भी निमित्त से कथन है। आत्मा कर्मों का क्षय नहीं कर सकता। वह परमाणु स्वयं उनकी योग्यता से एकदेशरूप क्षय होते हैं, वह द्रव्य निर्जरा है। ऐसी भावनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा दोनों स्वतन्त्र है। आत्मा द्रव्यनिर्जरा से भिन्न है और आत्मा भावनिर्जरा जितना नहीं। परन्तु शुद्ध त्रिकाली है, ऐसा भेदभान करना धर्म है।

वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ३, रविवार

धर्म कैसे हो, उसकी बात चलती है। नौ तत्त्व को भलीभाँति जाने तो चैतन्यस्वरूप सन्मुख ढलकर एकाग्र होकर मुक्ति प्राप्त करे। आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभाव है। जानना-देखना उसका धर्म है। शरीर, मन, वाणी अजीव है। अजीव से जीव भिन्न है। दया, दानादि के भाव पुण्य हैं, वे आत्मा की पर्याय में होते हैं, उसे भाव पुण्य कहते हैं और उसका निमित्त पाकर रजकण बँधें, उसे द्रव्यपुण्य कहते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी पापतत्त्व है। उसके निमित्त से परमाणु बँधते हैं, उसे द्रव्यपाप कहते हैं। पुण्य-पाप के परिणाम को आस्रव कहते हैं और उसके निमित्त से परमाणु आवें, उसे द्रव्य आस्रव कहते हैं।

संवर - आत्मा शुद्धचैतन्यस्वरूप है। अजीव तथा पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर स्वभाव का भान होना, वह भाव संवर है। उसके निमित्त से कर्मों का रुकना, वह द्रव्य संवर है। नये कर्म आनेवाले थे, वे अटक गये, ऐसा उसका अर्थ नहीं है। शुद्धचैतन्यस्वभाव में लीनता होने पर विकारादि न होना और कर्म स्वयं आते हुए रुक गये, वे संवर है। इस संवर बिना अथवा सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान और तप नहीं होते हैं। जिसे आत्मा का भान है, वह जीव जानता है कि चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान में जितना पर का आश्रय छूटता है और स्वभाव का आश्रय वर्तता है, उतनी शुद्धता होती है।

निर्जरा - आज वैशाख शुक्ल ३ का दिन है। अठारह कोड़ाकोड़ी सागरोपम पश्चात् आहारदान लेनेवाले ऋषभदेव भगवान (मुनि अवस्था में) थे और प्रथम आहार देनेवाले श्रेयांसकुमार थे। वह आज का दिन है। उन्होंने आहारदान दिया और निर्जरा कैसे हुई, उस निर्जरा का स्वरूप बताते हैं। बहिरंग तप से निर्जरा हुई, ऐसा कहना, वह निमित्त का कथन है। आत्मा ज्ञातादृष्टा शुद्धस्वरूपी है, संयोग की रुचि छूट गयी है और पुण्य-पाप का स्वामित्व छूट गया है। परिपूर्ण स्वभाव की श्रद्धापूर्वक लीनता वर्तती है—ऐसे शुद्ध उपयोग से निर्जरा होती है। भाव आस्रव का व्यय होकर निर्विकारी आनन्द का अनुभव बढ़े, उसे शुद्ध उपयोग कहते हैं। अशुद्धता हट जाना और शुद्धता बढ़ना, वह भी व्यवहार है। त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से शुद्धता बढ़ती है और अशुद्धता उत्पन्न नहीं होती, उसे अशुद्धता खिरी, ऐसा कहा जाता है। लोग बाहर में निर्जरा मानते हैं। दो ग्रास कम खाये और पेट खाली रखे तो निर्जरा होती है - ऐसा मानते हैं परन्तु वह तो जड़ की क्रिया है। राग की मन्दता हो, वह भी निर्जरा नहीं। अन्तर में कषाय परिणति में स्थिरता हो, वह भाव निर्जरा है। जीवों को तत्त्व की खबर नहीं। अशुभ छोड़े और शुभ करे तो निर्जरा मानते हैं। परन्तु वह निर्जरा नहीं है। उसे नौ तत्त्व का भान नहीं और आत्मा का भान नहीं। आत्मा में एकाग्रता बिना अशुद्धता का टलना और शुद्धता का उत्पाद होना किस प्रकार होगा? सभी तत्त्वों को यथार्थ जानकर शुद्ध आत्मा में स्थिरता करे तो निर्जरा होती है।

इस भाव निर्जरा का निमित्त पाकर पूर्व के कर्म नीरस होकर एकदेश खिर जाते

हैं, वह द्रव्य निर्जरा है। यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाते हैं। आत्मा द्रव्य निर्जरा का कर्ता नहीं, परमाणु परमाणु के कारण से खिरते हैं परन्तु भाव निर्जरा को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाकर त्रिकाली आत्मा दोनों से भिन्न है, ऐसा ज्ञान कराते हैं।

बन्ध - जीव के मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम—दया, दानादि के परिणाम, वे भावबन्ध है। लाल फूल के निमित्त से स्फटिक लालरूप परिणमता है, वैसे आत्मा राग-द्वेष मिथ्यात्वभावरूप परिणमता है, वह भावबन्ध है। वह धर्म नहीं तथा धर्म का कारण नहीं है।

भावबन्ध का निमित्त पाकर कर्मवर्गणाओं का जीव के प्रदेशों के साथ परस्पर एकक्षेत्रावगाहसम्बन्ध होना, उसे बन्ध (द्रव्य) कहते हैं।

मोक्ष - जीव को परिपूर्ण शुद्ध आत्मस्वभाव की प्राप्ति होना, वह मोक्ष है। वह आत्मा की दशा है। वह भाव मोक्ष है। उसका निमित्त पाकर कर्म का सर्वथा सर्व प्रकार से सम्बन्ध छूटना, वह द्रव्यमोक्ष है।

यहाँ जीव के भाव के साथ कर्मों की पर्याय का निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध रखा, तथापि एक के कारण दूसरा नहीं, परन्तु दोनों स्वतन्त्र हैं। बाकी के सभी पुद्गलों के साथ तथा अजीव के साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध उड़ाया है। आत्मा जाननेवाला है और सब अजीव ज्ञेयमात्र हैं। दुकान, स्त्री, पुत्र, पैसा, शरीर, मकान—इन सबके साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध नहीं लिया है, मात्र ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध है—ऐसा बताकर संयोगबुद्धि-निमित्ताधीन बुद्धि उड़ायी है। पुण्य-पाप, आस्रव, बन्ध विकार है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है और संवर-निर्जरा-मोक्ष एक समयमात्र की अवस्था है और आत्मा त्रिकाली शुद्ध है—ऐसा बताकर पर्यायबुद्धि उड़ायी है और स्वभावबुद्धि करायी है। ऐसा समझकर जो शुद्धस्वभाव का अवलम्बन लेता है, उसे संवर-निर्जरा प्रगट होते हैं और पूर्ण एकाग्रता होने पर मोक्षदशा प्रगट होती है। धर्म विवेक से प्रगट होता है। इस प्रकार नौ तत्त्व का विवेक अर्थात् भेदज्ञान करना चाहिए। ●●

गाथा - १०९

जीवा संसारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा।
उवओगलक्खणा वि य देहादेहप्पवीचारा।।१०९।।

जीवाः संसारस्था निर्वृत्ताः चेतनात्मका द्विविधाः।
उपयोगलक्षणा अपि च देहादेहप्रवीचाराः ।।१०९।।

अथ जीवपदार्थानां व्याख्यानं प्रपञ्चयति। जीवस्वरूपोद्देशोऽयम्। जीवाः हि द्विविधाः, संसारस्था अशुद्धा निर्वृत्ताः शुद्धाश्च। ते खलूभयेऽपि चेतनास्वभावाः, चेतनापरिणामलक्षणेनोपयोगेन लक्षणीयाः। तत्र संसारस्था देहप्रवीचाराः, निर्वृत्ता अदेहप्रवीचारा इति ।।१०९।।

अब, जीवपदार्थ का व्याख्यान विस्तारपूर्वक किया जाता है।

संसारी अर सिद्धात्मा उपयोग लक्षण द्विविध।
जग जीव वर्तेदेह में अर सिद्ध देहातीत है।।१०९।।

अन्वयार्थः—[जीवाः द्विविधाः] जीव दो प्रकार के हैं; [संसारस्थाः निर्वृत्ताः] संसारी और सिद्ध। [चेतनात्मकाः] वे चेतनात्मक (-चेतनास्वभाववाले) [अपि च] तथा [उपयोगलक्षणाः] उपयोगलक्षणवाले हैं। [देहादेहप्रवीचाराः] संसारी जीव देह में वर्तनेवाले अर्थात् देहसहित हैं और सिद्ध जीव देह में नहीं वर्तनेवाले अर्थात् देहरहित हैं।

टीका :— यह, जीव के स्वरूप का कथन है।

जीव दो प्रकार के हैं —(१) संसारी अर्थात् अशुद्ध, और (२) सिद्ध अर्थात शुद्ध। वे दोनों वास्तव में चेतनास्वभाववाले हैं और *चेतनापरिणामस्वरूप उपयोग द्वारा लक्षित होनेयोग्य (पहिचाने जानेयोग्य) हैं। उनमें संसारी जीव देह में वर्तनेवाले अर्थात् देहसहित हैं और सिद्ध जीव देह में न वर्तनेवाले अर्थात् देहरहित हैं॥ १०९॥

---

* चेतना का परिणाम सो उपयोग। वह उपयोग जीवरूपी लक्ष्य का लक्षण है।

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ३, रविवार

जीवपदार्थ का व्याख्यान किया जाता है, जिसमें जीव का स्वरूप नाममात्र कहकर बताया जाता है।

जीव दो प्रकार के हैं। संसार में रहनेवाले जीव अशुद्ध हैं और मोक्ष अवस्था को प्राप्त हुए जीव सिद्ध हैं। निगोद से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के जीव संसारी हैं, संसार छूटे तब मुक्त होते हैं। मुक्ति में संसार नहीं और संसार में मुक्ति नहीं। संसार की पर्याय समझाते हैं। स्त्री, पुत्र वह संसार नहीं। महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान संसारी हैं। चार कर्म बाकी है, इसलिए संसारी हैं, ऐसा नहीं। केवलज्ञानादि प्रगट हुए होने पर भी प्रतिजीवीगुण योग, क्रियावती, कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण इत्यादि की अशुद्धता है, वह स्वयं के कारणसे है। जीव के कारण से संसार है, कर्म के कारण से संसार है नहीं। निगोद में हो या चौदहवें गुणस्थान में हो परन्तु जो अशुद्धता है, वह जीव की योग्यता से है, वह जीव का भेद है। अपने स्वभाव को चूककर होती अशुद्धता है, संसार में रहा हुआ जीव अशुद्ध है।

सिद्ध भगवान को किसी अवस्था में मलिनता नहीं है। इस प्रकार जीव के शुद्ध और अशुद्ध ऐसे भेद अनादि के हैं। कोई पूछे कि पहला कौन? सिद्ध या संसारी? पहले-पश्चात् कोई नहीं, दोनों अनादि से हैं। समुच्चय की बात लेनी है। कोई पहले-पीछे नहीं, जैसे मुर्गी और अण्डे में पहले-पश्चात् नहीं है। मुर्गी के बिना अण्डा नहीं होता और अण्डे के बिना मुर्गी नहीं होती। उसी प्रकार सभी अनादि-अनन्त हैं। नौ तत्त्व अनादि से हैं। पहले-पश्चात् कोई नहीं। पहला भव कौन सा? पहला है ही नहीं। संसार अनादि से है। एक परमाणु की पर्याय पहली हरी होगी या पीली? पहले—पश्चात् नहीं, दोनों अनादि से है। यह वस्तुस्वभाव की बात है। जब तक स्वभाव जानने में न आवे, तब तक धर्मदशा प्रगट नहीं होती। संसार, सिद्ध सब अनादि से है, इसलिए पर्यायबुद्धि छोड़कर स्वभावबुद्धि कर।

कैसे हैं जीव ? जीव जानने-देखने के स्वरूपवाले हैं। अज्ञानी का स्वभाव भी दर्शन और ज्ञान उपयोगवाला है। परन्तु उसका उसे भान नहीं है। वह अपने को राग-द्वेषवाला मान बैठा है। जीव के स्वभाव को पहिचाने बिना अज्ञानी जीव कहता है कि संसार छोड़ो, परन्तु क्या छोड़े ? समझे बिना आदर किसे करे और छोड़े किसे ? इसलिए जीव की पहिचान देते हैं कि जीव शुद्ध चैतन्य दर्शन-ज्ञानमय है।

और कैसा है ? देहसहित जीव वह संसारी है और देहरहित है, वह मुक्त है। यह जीव की दशा का वर्णन किया। ऐसा स्वतन्त्र समझे तो धर्म पाकर मुक्ति को प्राप्त करे।

●●

मानो साक्षात् भगवान ही आँगन में पधारे...

सम्यक्त्वी धर्मात्मा को रत्नत्रय के साधक सन्त-मुनिवरों के प्रति ऐसा भक्तिभाव होता है कि उन्हें देखते ही उनके रोम-रोम से भक्ति उछलने लगती है... अहो! इन मोक्ष के साक्षात् साधक सन्त-भगवान के लिए मैं क्या-क्या करूँ!! किस प्रकार उनकी सेवा करूँ!! किस प्रकार उन्हें अर्पण हो जाऊँ!! - इस प्रकार धर्मी का हृदय भक्ति से उछल पड़ता है। जब ऐसे साधक मुनि अपने आँगन में आहार के लिए पधारें तथा आहारदान का प्रसङ्ग उपस्थित हो, वहाँ तो मानों साक्षात् भगवान ही आँगन में पधारे... साक्षात् मोक्षमार्ग ही आँगन में आ गया! इस प्रकार अपार भक्ति से मुनि को आहारदान देते हैं, किन्तु उस समय भी आहार लेनेवाले साधक मुनि की तथा आहार देनेवाले सम्यक्त्वी धर्मात्मा की अन्तर में दृष्टि (श्रद्धा) कैसी होती है, उसका यह वर्णन है। उस समय उन दोनों के अन्तर में देने या लेनेवाला नहीं है तथा यह निर्दोष आहार देने या लेने का जो शुभराग है, उसका भी दाता या पात्र (लेनेवाला) हमारा ज्ञायक आत्मा नहीं है, हमारा ज्ञायक आत्मा तो समयग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल भावों का ही देनेवाला है, उसी के हम पात्र हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ५४४

गाथा - ११०

पुढवी य उदगमगणी वाउ वणप्फदि जीवसंसिदा काया।
देंति खलु मोहबहुलं फासं बहुगा वि ते तेसिं ।।११०।।

पृथिवी चोदकमग्निर्वायुर्वनस्पतिः जीवसंश्रिताः कायाः।
ददति खलु मोहबहुलं स्पर्शं बहुका अपि ते तेषाम् ।।११०।।

पृथिवीकायिकादिपञ्चभेदोद्देशोऽयम्। पृथिवीकायाः, अप्कायाः, तेजःकायाः, वायुकायाः, वनस्पतिकायाः इत्येते पुद्गलपरिणामा बंधवशाज्जीवानुसंश्रिताः, अवांतरजातिभेदाद्बहुका अपि स्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमभाजां जीवानां बहिरङ्गस्पर्शनेन्द्रियनिर्वृत्तिभूताः कर्मफलचेतनाप्रधानत्वान्मोहबहुलमेव स्पर्शोपलंभं संपादयन्तीति ।।११०।।

भू जल अनल वायु वनस्पति काय जीव सहित कहे।
बहु संख्य पर यति मोहयुत स्पर्श ही देती रहें।।११०।।

अन्वयार्थ :— [पृथिवी] पृथ्वीकाय, [उदकम्] अप्काय, [अग्निः] अग्निकाय, [वायुः] वायुकाय, [च] और [वनस्पतिः] वनस्पतिकाय— [कायाः] यह कायें [जीवसंश्रिताः] जीवसहित हैं। [बहुकाः अपि ते] (अवान्तर जातियों की अपेक्षा से) उनकी भारी संख्या होने पर भी वे सभी [तेषाम्] उनमें रहनेवाले जीवों को [खलु] वास्तव में [मोहबहुलं] अत्यन्त मोह से संयुक्त [स्पर्शं ददति] स्पर्श देती हैं (अर्थात् स्पर्शज्ञान में निमित्त होती हैं)।

टीका :— यह, (संसारी जीवों के भेदों में से) पृथ्वीकायिक आदि पाँच भेदों का कथन है।

[१]पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजःकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय—ऐसे यह पुद्गलपरिणाम बन्धवशात् (बन्ध के कारण) जीवसहित हैं। [२]अवान्तर जातिरूप भेद करने पर वे अनेक होने पर भी वे सभी (पुद्गलपरिणाम), स्पर्शनेन्द्रियावरण के

---

१. काय = शरीर। (पृथ्वीकाय आदि कायें पुद्गलपरिणाम हैं; उनका जीव के साथ बन्ध होने के कारण, वे जीवसहित होती हैं।)

२. अवान्तर जाति=अन्तर्गत-जाति। (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजःकाय और वायुकाय—

क्षयोपशमवाले जीवों को बहिरंग स्पर्शनेन्द्रिय की रचनाभूत वर्तते हुए, कर्मफलचेतना-प्रधानपने के कारण अत्यन्त मोहसहित ही [३]स्पर्शोपलब्धि संप्राप्त कराते हैं॥ ११०॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ४, सोमवार

एकेन्द्रिय जीव कैसे हैं ? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जीव एकेन्द्रिय हैं, परन्तु एकेन्द्रियरूप से कायम रहे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। उसका स्वभाव तो अखण्ड ज्ञायक ज्योति है। आत्मा तो अखण्ड अभेदस्वभावी है। उसकी भावना और एकाग्रता करे तो केवलज्ञान प्राप्त करे और उसकी भावना न भावे तो एकेन्द्रियपने को प्राप्त हो।

अज्ञानी जीव एकेन्द्रिय का शरीर, वही मैं हूँ—ऐसा मान रहा है। वह एकेन्द्रियपना कैसे प्राप्त हुआ ? मनुष्यपने में आया हुआ जीव स्पर्शेन्द्रिय का लम्पटी होकर ज्ञानस्वभाव को चूककर ऐसी हीन दशा को प्राप्त करता है। एकेन्द्रिय जीव दूसरे जीव से मरता है या बचता है, उसकी बात है ही नहीं, परन्तु उसकी अस्ति किस प्रकार है, यह बताते हैं। यदि जीव अपने अतीन्द्रिय स्वभाव की रुचि करके एकाग्रता करे तो चारित्र प्रगट होकर केवलज्ञान होता है। जीव की सिद्धदशा, केवलज्ञानदशा, शुक्लध्यान, चारित्रदशा, सम्यग्दर्शनदशा न हो तो किसी दशा में तो जीव होना ही चाहिए। सम्यग्दर्शनादि से लेकर सिद्धदशा तक की सभी दशा पंचेन्द्रिय की भूमिका में होती है। अब यदि वह दशा

इन चार में से प्रत्येक के सात लाख अन्तर्गत-जातिरूप भेद हैं; वनस्पतिकाय के दस लाख भेद हैं।)

३. **स्पर्शोपलब्धि =स्पर्श की उपलब्धि; स्पर्श का ज्ञान; स्पर्श का अनुभव।[पृथ्वीकायिक आदि जीवों को स्पर्शनेन्द्रियावरण का (-भावस्पर्शनेन्द्रिय के आवरण का) क्षयोपशम होता है और वे-वे कायें बाह्य स्पर्शनेन्द्रिय की रचनारूप होती हैं, इसलिए वे-वे कायें उन-उन जीवों को स्पर्श की उपलब्धि में निमित्तभूत होती हैं। उन जीवों को होनेवाली स्पर्शोपलब्धि प्रबल मोहसहित ही होती हैं, क्योंकि वे जीव कर्मफलचेतनाप्रधान होते हैं।]**

नहीं तो उसे कैसी दशा प्राप्त हुई? अपने ज्ञान की अवस्था शुद्ध चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से होती है। तथापि उस अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव को चूककर, इन्द्रिय की रुचि की, स्पर्शेन्द्रिय के विषय का लम्पटी होकर मोह-राग-द्वेष करके कर्म उपार्जन करता है, उसके कारण एकेन्द्रियपना प्राप्त होता है।

अपने ज्ञानस्वभाव की भावना न करे तो हीनदशारूप परिणमता है। पर्याय हीन होने पर भी द्रव्य-गुण कायम रहते हैं और पर्यायमात्र स्पर्श को ही जानती है, तब उसका अधिकरण स्पर्शेन्द्रियमात्र है। उघाड़ स्पर्श का और विषय भी स्पर्श का है।

सामने का विषय, इन्द्रिय और पर्याय में अल्प उघाड़ है, वह हेय है और द्रव्य-गुण उपादेय है, ऐसा जिस जीव ने निर्णय नहीं किया और अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप की भावना छोड़कर अल्पज्ञता की तथा इन्द्रियों के विषयों के गृद्धिपने की भावना भायी, इसलिए एकेन्द्रियपना मिलता है। ऐसे निमित्त तथा अल्पज्ञता की भावनावाला स्वभाव की तीव्र अरुचि करे तो हीनदशा होते-होते एकेन्द्रियपने को प्राप्त करता है।

एकेन्द्रिय में इन्द्रिय अनन्त परमाणु की बनी हुई है, वह निमित्त है और उघाड़ स्पर्श को जानने जितना है और स्पर्श का ही विषय जानता है। उस उघाड़ जितना मेरा स्वरूप नहीं, ऐसा समझे, उसमें उग्र पुरुषार्थ करने की योग्यता हुए बिना नहीं रहती।

एकेन्द्रिय में से पंचेन्द्रियपने तक का विकास हुआ। वह समझण करके अतीन्द्रियपना प्राप्त करे तो वह कहाँ से प्राप्त किया? इन्द्रियों की भावना करने से होगा? पर की सहायता से होगा? पर का तो आत्मा में अभाव है। अपने को अपने असंख्य प्रदेश का विरह नहीं परन्तु अतीन्द्रिय असंख्य प्रदेशी शुद्ध आत्मा की रुचि छोड़कर स्पर्श की और इन्द्रिय की तथा एक समय के अंश की रुचि करके क्रम-क्रम से हीन दशा होते हुए एकेन्द्रियपना प्राप्त करता है। इन्द्रियादि की रुचि छोड़े और स्वभाव की रुचि करे तो क्रम से बढ़कर अतीन्द्रियपना प्राप्त करे।

समकिती जीव को स्पर्श के विषय के समय ख्याल है कि मेरी निर्बलता से राग होता है, तथापि वह इन्द्रिय के विषय में सुख नहीं मानते। विषय के समय भी स्वभाव की रुचि हटती नहीं और अज्ञानी को स्वभाव की रुचि होती नहीं।

एकेन्द्रिय जीव का यहाँ ज्ञान कराते हैं। धर्मी जीव एकेन्द्रिय जीव के स्वरूप का ज्ञान करके विचार करता है कि इस जीव ने स्वभाव की रुचि छोड़ी है और इन्द्रियादि की रुचि की है, इसलिए यह हीन दशा को प्राप्त हुआ है। मैं इन्द्रिय की रुचि छोड़कर स्वभाव की रुचि करके उग्ररूप से स्वभाव को साध लूँ, ऐसी भावना भाता है।

ऊपर के कथन का सार यह है कि—

(१) अतीन्द्रिय आत्मा है, ऐसा स्वीकार करने से इस जगत में अनन्त आत्मा हैं, ऐसा साबित होता है।

(२) एकेन्द्रियपने में परिणमन बहुत हीन हो गया है।

(३) एकेन्द्रियपने की पर्याय के समय भी उग्र परिणमन होने की योग्यता जीव में पड़ी है, उग्र पुरुषार्थ द्वारा एकेन्द्रियपने का अभाव होकर सर्वज्ञ हो सकने की योग्यता है।

इस प्रकार अनन्त आत्मा है, उसमें विरोध करके हीन दशा को प्राप्त एकेन्द्रिय जीव हैं। निमित्त स्पर्शेन्द्रिय है तथा शक्ति से सर्वज्ञ है, ऐसी सब बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त कहीं नहीं है, इसलिए अन्यमत के साथ समन्वय हो सके, ऐसा नहीं है।

ज्ञान का विकास और वीतरागता पूज्य है परन्तु ज्ञान की हीन दशा और राग पूज्य नहीं है। इसलिए रागी देव पूज्य नहीं है। तथा उनकी बात मान्य नहीं हो सकती। धर्मी जीव विचार करता है कि यह एकेन्द्रिय जीव हीन दशा को प्राप्त हुए हैं, वे अपने अपराध से प्राप्त हुए हैं। आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करने से स्व को जानते हुए सब पदार्थों को जान सके, ऐसी प्रतीति का ख्याल आता है।

अभी जीव समन्वय करते हैं परन्तु जैनदर्शन को दूसरे के साथ मिलान खाये, ऐसा नहीं है, इसलिए यथार्थ विचार करना चाहिए।

(१) एकेन्द्रिय जीव का उघाड़ कर्म के कारण माने तो जीव की पर्याय नहीं रहती। और पर्याय नहीं रहने पर जीव साबित नहीं होता।

(२) जीव की हीन दशा के कारण कर्म आया, ऐसा माने तो पुद्गलद्रव्य

साबित नहीं होता। तथापि जीव की हीन दशा के समय कर्म आये बिना नहीं रहते, तो भी दोनों स्वतन्त्र हैं।

एकेन्द्रियादि स्थावर के पाँच भेद हैं। उनमें अन्दर अरूपी जीव है। उसके शरीर के भेदों से बहुत प्रकार है, तो भी निश्चय से वे सब जीव मोहगर्भित रागभाव उपजाते हैं और स्पर्श के विषय को भोगते हैं।

मनुष्यपने में सच्चा समझने के अवसर के समय में जो जीव वस्तुस्वरूप को नहीं समझता और तीव्र विरोध करता है, वह अतीन्द्रिय स्वभाव का अनादर करके कर्म का उपार्जन करता है और एकेन्द्रियपना प्राप्त करता है।

एकेन्द्रिय जीवों का यहाँ ज्ञान कराते हैं।

जीव के ज्ञान की सामर्थ्य की बात करते हैं। द्रव्य-गुण कायम रहते हैं। पर्याय में हीनता है। इन्द्रियाँ निमित्त हैं और द्रव्य के आश्रय से पूर्ण विकास करे तो इन्द्रियाँ और कर्म नहीं रहते और पूर्ण दशा प्रगट होती है, ऐसा यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान नहीं करता, वैसा जीव अनेक पदार्थों के प्रति राग-द्वेष-मोह करके एकेन्द्रियपना प्राप्त करके स्पर्श के विषय को भोगता है।

भावार्थ - यह पाँच प्रकार के स्थावर काय के जीवों के अनेक भेद हैं। वे जीव मोहकर्म के निमित्त से अपने अज्ञान के कारण सुख-दु:खरूप फल को भोगते हैं। वहाँ राग-द्वेष के कर्तापने की मुख्यता नहीं है। वे जीव एक काय के आधीन होकर अनेक नयी अवस्था धारण करते हैं। जो जीव यथार्थरूप से एकेन्द्रिय की श्रद्धा करता है, उसे आत्मा के अस्तित्व की श्रद्धा होती है। ज्ञान की जिसकी भावना है, वह एकेन्द्रियरूप से परिणमता नहीं परन्तु विकास प्राप्त कर केवलज्ञान पाता है और जो यथार्थ श्रद्धा नहीं करता, वह एकेन्द्रियपने को प्राप्त करता है। ●●

गाथा - १११

ति त्थावरतणुजोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एइंदिया णेया ।।१११।।

त्रयः स्थावरतनुयोगा अनिलानलकायिकाश्च तेषु त्रसाः।
मनःपरिणामविरहिता जीवा एकेन्द्रिय ज्ञेयाः ।।१११।।

अथ व्यवहारेणाग्निवातकायिकानां त्रसत्वं दर्शयति, - पृथिव्यब्वनस्पतयस्त्रयः स्थावरकाययोगात्संबंधात्स्थावरा भण्यंते अनलानिलकायिकाः तेषु पंचस्थावरेषु मध्ये चलनक्रियां दृष्ट्वा व्यवहारेण त्रसा भण्यंते। यदि त्रसास्तर्हि किं मनो भविष्यति? नैवं। मणपरिणामविरहिदा मनःपरिणाम-विहीनास्तथा चैकेन्द्रियाश्च ज्ञेयाः। के ? जीवा इति। तत्र स्थावरनामकर्मोद-याद्भिन्नमनंतज्ञानादिगुणसमूहादभिन्नत्वं यदात्मतत्त्वं तदनुभूति-रहितेन जीवेन यदुपार्जितं स्थावरनामकर्म तदुदयाधीनत्वात् यद्यप्यग्निवातकायिकानां व्यवहारेण चलनमस्ति तथापि निश्चयेन स्थावरा इति भावार्थः ।।१११।।

उनमें त्रय स्थावर तनु त्रस जीव अग्नि वायु युत
ये सभी मन से रहित हैं अर एक स्पर्शन सहित हैं।।१११।।

अन्वयार्थ :— [तेषु] उनमें, [त्रयः] तीन (पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक) जीव [स्थावरतनुयोगाः] स्थावर शरीर के संयोगवाले हैं, [च] तथा, [अनिलानलकायिकाः] वायुकायिक और अग्निकायिक जीव [त्रसाः] [१]त्रस हैं; [मनःपरिणामविरहिताः] वे सब परिणामरहित [एकेन्द्रियाः जीवाः] एकेन्द्रिय जीव [ज्ञेयाः] जानना॥ १११ ॥

---

१. वायुकायिक तथा अग्निकायिक जीवों को चलनक्रिया देखकर व्यवहार से त्रय कहा जाता है; निश्चय से तो वे भी स्थावरनामकर्माधीनपने के कारण—यद्यपि उन्हें व्यवहार से चलन है तथापि—स्थावर ही हैं।

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ४, सोमवार

स्थावरनामकर्म के उदय से पृथ्वी, जल, वनस्पति - ये तीन प्रकार के जीव एकेन्द्रिय जानना। पाँच स्थावरों में वायु तथा अग्नि ये दो प्रकार के जीव चलते हैं, तथापि स्थावरनामकर्म के उदय से स्थावर एकेन्द्रिय जीव कहे जाते हैं। कैसे हैं एकेन्द्रिय जीव ? मनोयोगरहित हैं।

आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है। वह स्थावर नामकर्म से पृथक् है। आत्मा कर्म तथा मन से रहित है और अपने गुणों से अभिन्न है। उसकी भावना जो नहीं करता, वह कर्म बाँधता है और इसलिए एकेन्द्रियपने को प्राप्त होता है। राग की भावना करने से स्थावर नामकर्म उपार्जन करता है।

वर्तमान जो-जो अवस्था दिखती है, वह कर्म के निमित्त से होती है, वह कर्म अपनी धूल के कारण बँधा हुआ है। कोई जीव पानी के जीवरूप हुआ, ऐसा कैसे ? पूर्व में ऐसे भाव किये हैं इसलिए। इसे शरीर निरोग कैसे ? निरोग शरीर की अवस्था है, वह कर्म के निमित्त से हुई है। पूर्व में अपने स्वभाव को चूककर शुभभाव किया, उसके फल में वे कर्म बँधे और उनके निमित्त से साता दिखती है। वर्तमान भूल से रोग नहीं होता और ध्यान रखे, इसलिए शरीर निरोग होता है, ऐसा भी नहीं है। स्वयं स्वभाव को चूककर पूर्व में शुभाशुभभाव किये, उसके फल में कर्म बँधे, उसके फल में रोग-निरोगता दिखती है।

सिद्धदशा में अकेला शुद्ध आत्मा रह गया, इसलिए सिद्ध भगवान सबसे बड़े हो गये। उन सिद्ध को प्रमुख स्वीकारना हो तो हीन दशा और हीन दशा जिस भाव से प्राप्त होती है, उन सबकी भावना छोड़ और स्वभाव की भावना कर। तो सिद्ध को प्रमुख अथवा प्रभु माना कहलाये।

यह जीव मनरहित क्यों हो गये ? पंचेन्द्रियपने के उघाड़ की योग्यता नहीं रही, इसलिए मन का निमित्तपना भी गया। उघाड़ की योग्यता अपने कारण से है। यह

जीवास्तिकाय की बात चलती है। वह जीव अपने स्वभाव को चूककर अपनी हीन दशा करते-करते मनरहित हो गया।

इस प्रकार एकेन्द्रियपने में पृथ्वी में लगातार जन्म ले तो सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक रहे। बादर निगोद, अग्नि इत्यादि में लगातार सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक रहे। इससे अधिक समय न रहे। अपना तीव्र विरोधभाव चालू रखे और एकेन्द्रियपने की योग्यता रखे तो एकेन्द्रियपने में जन्म-मरण किया करता है। वायु का जीव पृथ्वी होता है। इत्यादि ऐसे एक एकेन्द्रिय में से दूसरे एकेन्द्रिय के भव करते-करते असंख्य पुद्गल परावर्तन तक वहाँ जन्म-मरण करता है। इसलिए यहाँ कहते हैं कि ज्ञान की हीन दशा की, राग की और निमित्त की भावना करनेयोग्य नहीं है। यदि उनकी भावना की तो लगातार ऐसे एकेन्द्रिय के भव करना पड़ेंगे।

यह बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है। वीतराग और सर्वज्ञदशा पूज्य है। वह दशा प्रगट न करे और हीन परिणमन करे तो अपने कारण से है और जड़ की पर्याय जड़ के कारण से है। एक में समुच्चय स्थावर लिये और एक में मनरहित लिये। मन मिले तो जीव की योग्यता से मिलता है। मन नहीं मिलता, वह भी जीव की योग्यता से नहीं मिलता। कर्म के कारण नहीं, ऐसा समझकर कर्म की भावना छोड़कर, द्रव्य स्वभाव की भावना करे तो धर्म होता है और ऐसी भावना न भावे तो हीन दशा होती है।

●●

मुनिराज को स्वरूपानन्द का ज्वार

अरे! यह बँगला, लक्ष्मी, मोटर, स्त्री, कुटुम्बादि बाह्य वैभव तो धूल है, जड़ है; उससे भिन्न ज्ञायक भगवान आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप है; इस प्रकार अन्तर में भेदज्ञान होने पर राग से विरक्त होकर स्वरूपानन्द का ज्वार आता है। वह ज्वार बाहर से नहीं, किन्तु अन्तर में से आता है। ज्ञायकस्वरूप पूर्ण चन्द्र का अन्तर में स्थिरतापूर्वक अवलोकन करने से आनन्दसागर उल्लसित होता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/१९९

गाथा - ११२

एदे जीवणिकाया पंचविधा पुढविकाइयादीया।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एगेंदिया भणिया ।।११२।।

एते जीवनिकायाः पञ्चविधाः पृथिवीकायिकाद्याः।
मनःपरिणामविरहिता जीवा एकेन्द्रिया भणिताः ।।११२।।

पृथिवीकायिकादीनां पंचानामेकेन्द्रियत्वनियमोऽयम्। पृथिवी-कायिकादयो हि जीवाः स्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमात् शेषेन्द्रियावरणोदये नोइन्द्रियावरणोदये च सत्येकेन्द्रिया अमनसो भवंतीति ।। ११२।।

ये पृथ्वी कायिक आदि जीव निकाय पाँच प्रकार के।
सभी मन परिणाम विरहित जीव एकेन्द्रिय कहे।।११२।।

अन्वयार्थ :— [एते] इन [पृथिवीकायिकाद्याः] पृथ्वीकायिक आदि [पञ्चविधाः] पाँच प्रकार के [जीवनिकायाः] जीवनिकायों को [मनः परिणाम-विरहिताः] मनपरिणामरहित [एकेन्द्रियाः जीवाः] एकेन्द्रिय जीव [भणिताः] (सर्वज्ञ ने) कहा है।

टीका :— यह, पृथ्वीकायिक आदि पाँच (—पंचविध) जीवों के एकेन्द्रियपने का नियम है।

पृथ्वीकायिक आदि जीव, स्पर्शनेन्द्रिय के (-भावस्पर्शनेन्द्रिय के) आवरण के क्षयोपशम के कारण शेष इन्द्रियों के (-चार भावेन्द्रियों के) आवरण का उदय तथा मन के (-भावमन के) आवरण का उदय होने से, मनरहित एकेन्द्रिय हैं ॥११२॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ४, सोमवार

यह पृथ्वी आदि पाँच प्रकार के जीव हैं, और मनोयोग के विकल्पों से रहित एकेन्द्रिय जीव हैं, वे बिना मन के कैसे हुए? आत्मा उपाधिरहित है, उसकी भावना जो

छोड़ता है, वह जीव मनरहित हो जाता है। आत्मा के शुद्धपरिणामरहित और अशुद्धपरिणातसहित के जीव एकेन्द्रियपना पाते हैं। जब जीव पंचेन्द्रिय मनुष्य था, तब आत्मा का भान करके असंख्य प्रदेश में केवलज्ञान के दीपक प्रगट उठें, ऐसी योग्यता थी। परन्तु आत्मा का भान नहीं करके आर्तध्यान और रौद्रध्यान करके विकार और पुण्य की भावना भाकर, एकेन्द्रियपने को प्राप्त होता है।

इस शरीर की स्थिति २५-५० वर्ष की होती है, परन्तु उतने समय में उपाधि का पार नहीं होता। यह शरीर फू हो जायेगा और अभी जिनका परिचय वर्तता है, ऐसे जीव कहीं दिखाई नहीं देंगे परन्तु अज्ञानी को इसकी खबर नहीं। आत्मा मनातीत है, उसकी भावना नहीं करके अशुद्धता की भावना करता है, वह क्रम से हीनदशा को प्राप्त कर मनरहित हो जाता है। एक पत्थर ऊँचे फेंका हो, वह नीचे आये बिना नहीं रहता, उसी प्रकार कोई ऊँचा होकर पंचेन्द्रिय हुआ हो तो भी आत्मा का भान नहीं होने के कारण नीचे की दशा-एकेन्द्रिय में आये बिना नहीं रहेगा। क्योंकि त्रस-दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय की स्थिति दो हजार सागर की है। वह पूरी हो जाने पर एकेन्द्रियपने को प्राप्त होता है। स्वभाव को सुना नहीं, इसलिए हीन दशा को प्राप्त हुआ है। एकेन्द्रिय जीव की दया पालने की या उस दया से धर्म होता है, यह बात यहाँ नहीं है। एकेन्द्रिय पर्याय का ज्ञान कराकर शक्ति से तू सर्वज्ञ है, ऐसा बताते हैं। उल्टा पड़े तो हीन होता है और सुल्टा पड़े तो सर्वज्ञ होता है, यह समझाने के लिये यह बात की है।

वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ५, मंगलवार

पाँच प्रकार के पृथ्वीकाय आदि स्थावर एकेन्द्रिय जीव हैं। अपने ज्ञानस्वभाव की भावना नहीं करनेवाला हीनदशा को प्राप्त करे तो एकेन्द्रिय होता है। सर्वथा विकास का अभाव हो जाये तो जड़ हो जाये। परन्तु ऐसा नहीं होता। एकेन्द्रिय जितना विकास रहता है। आत्मा शक्ति से प्रभु है और पर्याय में प्रभु होने की योग्यता है। ऐसा जिसे भान नहीं और विभाव जितना अपने को मानता है, वह हीनदशा को प्राप्त होता है। पृथ्वी आदि पाँच प्रकार के स्थावर जीव हैं, उन्हें स्पर्शेन्द्रिय द्वारा जानने का उघाड़ है, दूसरी

चार इन्द्रियों से जानपना करने की तथा मन से जानपना करने की योग्यता नहीं है क्योंकि वे जीव चार इन्द्रियों और मनरहित है।

आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। आत्मा अपने ज्ञानभाव का स्वतन्त्ररूप से कर्ता है, उसे राग का कर्ता कहना, वह उपचारमात्र है। जानने-देखनेवालेरूप से रहना, वह उसका स्वरूप है। ऐसे स्वरूप में जो जीव नहीं रहता, वह हीन दशा को पाता है। त्रस की स्थिति दो हजार सागर की है, उस दौरान आत्मा का भान करके मोक्षदशा को पाता है, नहीं तो एकेन्द्रियपने को प्राप्त करे, ऐसा नियम है। इसलिए उस दौरान जो आत्मा का भान नहीं करता, वह एकेन्द्रयपने को अवश्य पाता है।

(१) एकेन्द्रियपने में मात्र स्पर्श को जानने का विकास रहा और सामने स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द ऐसे पाँच इन्द्रियों के विषयोंवाले पदार्थ हैं, जिससे एकेन्द्रिय जीव को ज्ञेय पदार्थों में जानना बहुत बाकी रह जाता है। सामने के स्कन्धों में स्पर्श आदि गुण, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि बहुत जानने का बाकी रहता है।

(२) सामने के पदार्थों में इतना ज्ञेय जानना बाकी रहता है तो यहाँ ज्ञान में भी जानने की शक्ति होना चाहिए। सामने ज्ञेय हों और यहाँ ज्ञानशक्ति न हो, ऐसा नहीं होता। इसलिए ज्ञान में भी अव्यक्त शक्ति एकेन्द्रिय जीव में भी पड़ी हुई है, ऐसा निश्चित होता है। वह द्रव्य-गुण में भरी हुई है अर्थात् कि पाँचों इन्द्रियों के विषय और पूरे लोकालोक के पदार्थों को जानने की शक्ति एकेन्द्रिय जीव में अव्यक्तरूप से पड़ी हुई है।

(३) अब वह एकेन्द्रिय जीव राग की मन्दता करके विकास पावे और दो इन्द्रियपना प्राप्त कर तो स्पर्श और रस के विषयों को जानता है, इससे विशेष विकास करे तो असंज्ञी पंचेन्द्रियपने तक अपने-अपने योग्य विषय को जान सकता है।

(४) इससे विशेष राग की मन्दता से संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य हो तो मन की धारणा से स्कन्धों के स्पर्शादिगुणों तथा अस्तित्व इत्यादि गुणों को शास्त्र के आधार से जान सकता है। परन्तु वह रागसहित की धारणा है।

(५) इससे विशेष पुरुषार्थ करे और रागरहित स्वभाव की दृष्टि करके अपने को

यथार्थ जाने तो स्व-पर के जो गुण हैं, उन गुणों की प्रतीति हुए बिना नहीं रहती। गुणों को प्रत्यक्ष नहीं जानता परन्तु स्वसंवेदन अंश से प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट होने पर सभी गुणों की प्रतीति यथार्थ हो जाती है और इसका परोक्ष ज्ञान होता है।

(६) इससे विशेष पुरुषार्थ द्वारा स्वभाव में स्थिरता करे तो रागरहितरूप होकर केवलज्ञान प्रगट हो, तब सब स्व-पर प्रत्यक्ष हो जाता है। लोकालोक को तथा समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय को प्रत्यक्ष जान लेता है। वस्तु में परोक्ष-प्रत्यक्षपना नहीं है, परन्तु ज्ञान में प्रत्यक्ष-परोक्षपना है।

(७) इस प्रकार चैतन्य आत्मा में उग्र पुरुषार्थ द्वारा विकास करने पर प्रत्यक्षरूप से सब स्व-परपदार्थों को जानने की ताकत खिल सके ऐसा है। ऐसे अनन्त प्रभु हैं, ऐसी शक्ति प्रत्येक एकेन्द्रिय जीव में रही हुई है। परन्तु ऐसी प्रभुता को चूके हुए जीव हीन पर्यायरूप हो गये हैं और चार इन्द्रियाँ और मनरहित हो गये हैं। वे एक ही स्पर्शेन्द्रिय का विषय जानते हैं।

एकेन्द्रिय जीवों को चैतन्य का अस्तित्व नहीं रहता, ऐसी कोई शंका करे तो उसे दृष्टान्तपूर्वक समझाते हैं। ●●

तब तू सच्चा दिगम्बर कहलाएगा

अहा! दिगम्बर सन्तों ने अद्‌भुत कार्य किया है, परन्तु लोगों को उसे जानने का भी अवकाश नहीं है। हम दिगम्बर हैं, इसलिए नग्न दिगम्बर मुनि तथा नग्न दिगम्बर जिनप्रतिमा को मानना चाहिए, इतना समझते हैं; परन्तु उससे क्या होगा? अन्तर में आत्मा विकल्प के आवरणरहित नग्न है, उसे माने तब तू दिगम्बर कहलाएगा। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/११३*

गाथा - ११३

अंडेसु पवड्ढंता गब्भत्था माणुसा य मुच्छगया।
जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया ।।११३।।

अंडेषु प्रवर्धमाना गर्भस्था मानुषाश्च मूर्च्छां गताः।
यादृशास्तादृशा जीवा एकेन्द्रिया ज्ञेयाः ।।११३।।

एकेन्द्रियाणां चैतन्यास्तित्वे दृष्टांतोपन्यासोऽयम्। अंडांतर्लीनानां, गर्भस्थानां, मूर्च्छितानां च बुद्धिपूर्वकव्यापारादर्शनेऽपि येन प्रकारेण जीवत्वं निश्चीयते, तेन प्रकारेणैकेन्द्रियाणामपि, उभयेषामपि बुद्धिपूर्वकव्यापारादर्शनस्य समानत्वादिति ।। ११३।।

अण्डस्थ अर गर्भस्थ प्राणी ज्ञान शून्य अचेत ज्यों।
पंचविध एकेन्द्रि प्राणी ज्ञान शून्य अचेत त्यों।।११३।।

अन्वयार्थ :— [अंडेषु प्रवर्धमानाः] अण्डे में वृद्धि पानेवाले प्राणी, [गर्भस्थाः] गर्भ में रहे हुए प्राणी [च] और [मूर्च्छा गताः मानुषाः] मूर्च्छा प्राप्त मनुष्य, [यादृशाः] जैसे (बुद्धिपूर्वक व्यापाररहित) हैं, [तादृशाः] वैसे [एकेन्द्रियाः जीवाः] एकेन्द्रिय जीव [ज्ञेयाः] जानना।

टीका :— यह, एकेन्द्रियों को चैतन्य का अस्तित्व होने सम्बन्धी दृष्टान्त का कथन है।

अण्डे में रहे हुए, गर्भ में रहे हुए और मूर्च्छा पाये हुए (प्राणियों) के जीवत्व का उन्हें बुद्धिपूर्वक व्यापार नहीं देखा जाता तथापि, जिस प्रकार निश्चय किया जाता है, उसी प्रकार एकेन्द्रियों के जीवत्व का भी निश्चय किया जाता है; क्योंकि दोनों में बुद्धिपूर्वक व्यापार का [1]अदर्शन समान है।

भावार्थ :— जिस प्रकार गर्भस्थादि प्राणियों में, ईहापूर्वक व्यवहार का अभाव होने पर भी, जीवत्व है ही, उसी प्रकार एकेन्द्रियों में भी, ईहापूर्वक व्यवहार का

---

१. अदर्शन=दृष्टिगोचर नहीं होना।

अभाव होने पर भी, जीवत्व है ही—ऐसा आगम, अनुमान इत्यादि से निश्चित किया जा सकता है।

यहाँ ऐसा तात्पर्य ग्रहण करना कि—जीव परमार्थ से स्वाधीन अनन्त ज्ञान और सौख्यसहित होने पर भी अज्ञान द्वारा पराधीन इन्द्रियसुख में आसक्त होकर जो कर्मबन्ध करता है, उसके निमित्त से अपने को एकेन्द्रिय और दुःखी करता है॥ ११३॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ५, मंगलवार

जिस प्रकार पक्षी का अण्डा बढ़ता जाता है, वह जीव का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाता है। इस प्रकार एकेन्द्रिय जीव जानना।

भावार्थ - जिस प्रकार अण्डे में जीव बढ़ता है परन्तु अण्डे में श्वास दिखाई नहीं देता, तथापि अण्डा बढ़ता है, इसलिए अन्दर जीव होना चाहिए, ऐसा जाना जा सकता है। और जिस प्रकार वनस्पति में नीम, पीपल इत्यादि बढ़ते हुए दिखाई देते हैं, उनमें अंकुर फूटते हैं, वह अन्दर जीव का अस्तित्व बताते हैं। उसी प्रकार सभी स्थावर जीव जीवनगुणसहित हैं। पत्थर की खान बढ़ती दिखती है, उसमें जीव उपजा करते हैं और उसके निमित्त से शरीर बढ़ा करते हैं। ऐसा दिखता है।

और जिस प्रकार गर्भ में रहा हुआ जीव ऊपर से ज्ञात नहीं होता है, परन्तु गर्भ बढ़ता जाता है, उसी प्रकार जीव अन्दर बड़ा होता जाता है। तथा जैसे मूर्च्छा को प्राप्त हुआ मनुष्य मृतक सदृश दिखाई देता है परन्तु अन्दर में जीव रहा हुआ है, उसी प्रकार पाँच प्रकार के स्थावर जीवों में ऊपर से जीव की चेष्टा मालूम नहीं पड़ती, परन्तु आगम से तथा उन जीवों की प्रफुल्लता आदि अवस्थाओं से चैतन्य मालूम पड़ता है। ●●

गाथा - ११४

संबुक्कमादुवाहा संखा सिप्पी अपादगा य किमी।
जाणंति रसं फासं जे ते बेइंदिया जीवा ।।११४।।

शंबूकमातृवाहाः शङ्खाः शुक्तयोऽपादकाः च कृमयः।
जानन्ति रसं स्पर्शं ये ते द्वीन्द्रियाः जीवाः ।।११४।।

द्वीन्द्रियप्रकारसूचनेयम्। एते स्पर्शनरसनेन्द्रियावरणक्षयोपशमात् शेषेन्द्रियावरणोदये नोइन्द्रियावरणोदये च सति स्पर्शरसयोः परिच्छेत्तारो द्वीन्द्रिया अमनसो भवंतीति। ।११४।।

लट केंचुआ अर शंख शीपी आदि जिय पग रहित हैं।
वे जानते रस स्पर्श को इसलिये दो इन्द्रि कहे।।११४।।

अन्वयार्थ :— [शंबूकमातृवाहाः] शम्बूक, मातृवाह, [शङ्खाः] शंख [शुक्तयः] सीप [च] और [अपादकाः कृमयः] पगरहित कृमि—[ये] जो कि [रसं स्पर्शं] रस और स्पर्श को [जानन्ति] जानते हैं [ते] वे—[द्वीन्द्रियाः जीवाः] द्वीन्द्रिय जीव हैं।

टीका :— यह, द्वीन्द्रिय जीवों के प्रकार की सूचना है।

स्पर्शनेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय के (-इन दो भावेन्द्रियों के) आवरण के क्षयोपशम के कारण तथा शेष इन्द्रियों के (-तीन भावेन्द्रियों के) आवरण का उदय तथा मन के (-भावमन के) आवरण का उदय होने से स्पर्श और रस को जाननेवाले यह (शम्बूक आदि) जीव मनरहित द्वीन्द्रिय जीव हैं॥ ११४॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ५, मंगलवार

दो इन्द्रिय जीवों का भेद बताते हैं। नाना शंख, सीप, कृमि, लय इत्यादि अनेक प्रकार के दो इन्द्रिय जीव हैं, वे जीभ से रस और स्पर्श से शीत, उष्ण जानते हैं। इसलिए वे जीव दो इन्द्रियवाले जानना।

दो इन्द्रियपना कैसे मिला ? यह जयसेनाचार्य टीका में कहते हैं :— आत्मा का स्वभाव तो इन्द्रिय से भिन्न है और भावेन्द्रिय के उघाड़ जितना भी आत्मा नहीं है और अपने ज्ञान-दर्शन-गुणों से अभिन्न अभेद है। मैं शुद्ध चिदानन्द आत्मा हूँ, ज्ञातादृष्टा हूँ, ऐसी जिसे भावना नहीं और स्पर्श के भोग में और रस के गृद्धिपन में सुख मानकर राग-द्वेष में रुकता है, वह दो इन्द्रिय नामकर्म बाँधता है, उसके निमित्त से दो इन्द्रिय का शरीर मिलता है। वर्तमान में जो शरीर और संयोग दिखाई देते हैं, वह स्वयं ने पूर्व में भूल की है और उसके निमित्त से कर्म बाँधा है, उसके निमित्त से यह सब विचित्रता दिखती है। यहाँ एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, जीव को मारने-बचाने की बात नहीं है। शुद्ध चैतन्य को चूका तो दो इन्द्रियपना मिला, इसलिए दो इन्द्रियपने को जानने का फल भी शुद्ध चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करना ही है। ●●

आनन्दादि ऋद्धियों का प्रगट वेदन

जैसे आत्मा अपने ज्ञान और आनन्दादि त्रैकालिक स्वभाव से शून्य नहीं है और जैसे केवली भगवान केवलज्ञानादि स्वभावचतुष्टय से शून्य नहीं हैं, वैसे ही साधकसन्त स्वसम्वेदन के समय पर्याय में बुद्धिपूर्वक के रागशून्य होने पर भी वहाँ सर्वथा शून्यता नहीं है, किन्तु जागृतरूप से आनन्दादि अलौकिक ऋद्धियों का अत्यन्त स्पष्टरूप वेदन है। जैसे राग का अर्थात् पुण्य और पाप का वेदन प्रत्यक्ष है, वैसे ही राग से भिन्न हुए मुनिराज को तथा सम्यग्दृष्टि को अनुभवकाल में स्वभाव का सम्वेदन प्रत्यक्ष है; वह आनन्द और शान्ति से रिक्त नहीं है – शून्य नहीं है।

अहा! जहाँ पर्याय में अलौकिक चैतन्यऋद्धि का अत्यन्त स्पष्ट सम्वेदन है, प्रभु! वहाँ तू जा, तुझे चैतन्यदेव के दर्शन होंगे। जैसे बाह्य में लक्ष्य करने से राग के तथा विकार के दर्शन होते हैं, वैसे ही अन्तर में जाने पर तुझे आनन्दकन्द ज्ञायकदेव के दर्शन होंगे। अहा! ऐसी बात है। सच्चे मुनि हों या सम्यग्दृष्टि हों-सबके लिये यह एक ही बात है। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २७९*

गाथा - ११५

जूगागुंभीमक्कणपिपीलिया विच्छुयादिया कीडा।
जाणंति रसं फासं गंधं तेइंदिया जीवा ।।११५।।

यूकाकुंभीमत्कुणपिपीलिका वृश्चिकादयः कीटाः।
जानन्ति रसं स्पर्शं गंधं त्रींद्रियाः जीवाः ।।११५।।

त्रीन्द्रियप्रकारसूचनेयम्। एते स्पर्शनरसनध्राणेंद्रियावरणक्षयोपशमात् शेषेन्द्रियावरणोदये नोइन्द्रियावरणोदये च सति स्पर्शरसगंधानां परिच्छेत्तारस्त्रीन्द्रिया अमनसो भवंतीति ।।११५।।

चींटि–मकड़ी–लीख–खटल बिच्छु आदिक जंतु जो।
फरस रस अरु गंध जाने तीन इन्द्रिय जीव वे।।११५।।

अन्वयार्थ :— [**युकाकुंभीमत्कुणपिपीलिकाः**] जूँ, कुम्भी, खटमल, चींटी और [**वृश्चिकादयः**] बिच्छू आदि [**कीटाः**] जन्तु [**रसं स्पर्शं गंधं**] रस, स्पर्श और गन्ध को [**जानन्ति**] जानते हैं; [**त्रींद्रियाः जीवाः**] वे त्रीन्द्रिय जीव हैं।

टीका :— यह, त्रीन्द्रिय जीवों के प्रकार की सूचना है।

स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम के कारण तथा शेष इन्द्रियों के आवरण का उदय तथा मन के आवरण का उदय होने से स्पर्श, रस और गन्ध को जाननेवाले यह (जूँ आदि) जीव मनरहित त्रीन्द्रिय जीव हैं॥ ११५॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ५, मंगलवार

जूँ, माकड़, बिच्छू, चींटी इत्यादि जीव हैं, वे स्पर्श, रस, गन्ध, ऐसे तीन विषयों को जानते हैं, इसलिए उन जीवों को सिद्धान्त में त्रीइन्द्रिय कहते हैं।

भावार्थ – इन संसारी जीवों को स्पर्शन, रसन, नासिका, इन तीन इन्द्रियों का उघाड़

है और दूसरी दो इन्द्रियों का आवरण है, इसलिए तीन इन्द्रिय जीव कहलाते हैं।

जयसेनाचार्य की संस्कृत टीका में, त्रीइन्द्रियपना कैसे प्राप्त हुआ, यह बताते हैं। आत्मा का स्वभाव विशुद्ध दर्शन-ज्ञानमय है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान और लीनता से वीतरागी परमानन्द लक्षणवाले सुखामृत रस का अनुभव उत्पन्न होता है, परन्तु ऐसे शुद्ध आत्मा का जिसे भान नहीं और स्पर्श, रस, गन्ध के विषयों में लोलुपी होता है, वह जीव वीतराग आनन्द से च्युत होता है अर्थात् कि उसे उस सुख का अनुभव नहीं होता। ●●

धीर... गुण-गम्भीर मुनिराज

सन्त मुनिराज धीर और गुण-गम्भीर हैं। चक्रवर्ती के सम्पूर्ण सैन्य बल को क्षण में पराजित कर दें, ऐसे ऋद्धि का बल प्रगटा होने पर भी चैतन्य के परमानन्द के अनुभव की धुन में स्थित सन्तों को, उस ऋद्धि के प्रयोग के प्रति लक्ष्य ही नहीं जाता; घोर प्रतिकूलता आ पड़ने पर भी वे ऋद्धि का उपयोग नहीं करते। अहो! मुनिराज ऐसे धीर और गम्भीर हैं।

साधारण प्राणी तो किञ्चित् ऋद्धि प्राप्त होने पर भी उसे झेल नहीं सकता और किञ्चित् प्रतिकूलता आ पड़ने पर ही धैर्य से च्युत हो जाता है, परन्तु चैतन्य के साधक सन्त तो महाधीर और गम्भीर होते हैं। बाह्य में कैसी भी ऋद्धि प्रगट हो परन्तु मेरी चैतन्य ऋद्धि के समक्ष उसकी क्या महिमा? और बाहर में कैसी भी प्रतिकूलता का ढेर आवे परन्तु मेरे चैतन्य में उसका प्रवेश नहीं है। मेरी साधना में, प्रतिकूलता उत्पन्न करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है; इस प्रकार जानते हुए धर्मात्मा, चैतन्य के अवलम्बन से घोर उपसर्ग को भी जीत लेते हैं। इस प्रकार वे धीर और गुण-गम्भीर हैं।

ऐसे गुण-गम्भीर सन्तों को भक्ति क्रिया में कुशल ऐसे हम, भव-दुःख के अभाव के लिए पूजते हैं। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, रत्न संग्रह, पृष्ठ ४१*

गाथा - ११६

उद्दंसमसयमक्खियमधुकरिभमरा पयंगमादीया।
रूवं रसं च गंधं फासं पुण ते विजाणंति।।११६।।

उद्दंशमशकमक्षिकामधुकरीभ्रमराः पतङ्गाद्याः।
रूपं रसं च गंधं स्पर्शं पुनस्ते विजानन्ति।।११६।।

चतुरिन्द्रियप्रकारसूचनेयम्। एते स्पर्शनरसनध्राणचक्षुरिन्द्रियावरण-क्षयोपशमात् श्रोत्रेन्द्रियावरणोदये नोइन्द्रियावरणोदये च सति स्पर्शरसगंधवर्णानां परिच्छेत्तारश्चतुरिन्द्रिया अमनसो भवंतीति ।।११६।।

मधुक्खी भ्रर पतंग आदि डांस मच्छर जीव जो।
वे जानते हैं रूप को भी अतः चौइन्द्रिय कहें।।११६।।

अन्वयार्थ :— [पुनः] पुनश्च [उद्दंशमशकमक्षिकामधुकरीभ्रमराः] डाँस, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, भँवरा और [पतङ्गाद्याः ते] पतंगे आदि जीव [रूपं] रूप, [रसं] रस, [गंधं] गन्ध; [च] और [स्पर्शं] स्पर्श को [विजानन्ति] जानते हैं। (वे चतुरिन्द्रिय जीव हैं।)

टीका :— यह, चतुरिन्द्रिय जीवों के प्रकार की सूचना है।

स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम के कारण तथा श्रोत्रेन्द्रिय के आवरण का उदय तथा मन के आवरण का उदय होने से स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण को जाननेवाले यह (डाँस आदि) जीव मनरहित चतुरिन्द्रिय जीव हैं॥ ११६॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ५, मंगलवार

डाँस, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, भँवरा, पतंगा आदि जीव रूप, रंग, गन्ध और स्पर्श को जानते हैं। इसलिए निश्चय से उन्हें चतुरिन्द्रय जीव जानना।

भावार्थ - जब उन संसारी जीवों को स्पर्शन, जीभ, नासिका, नेत्र—इन चार इन्द्रियों के आवरण कर्म का क्षयोपशम हो और कर्णेन्द्रिय तथा मन के आवरण का उदय हो, तब स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण इन चार विषयों को जाननेवाले होते हैं, वे चार इन्द्रियसहित जीव हैं और कर्ण तथा मन से रहित होते हैं।

जीवों के उघाड़ के कारण इन्द्रियों के परमाणु को आना पड़े, ऐसी पराधीनता नहीं है। आत्मा जड़ इन्द्रियों का कर्ता नहीं है। एक-एक इन्द्रिय का उघाड़ बढ़ता जाये, वैसे एक-एक अधिकरण निमित्तरूप बढ़ता जाता है, ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बताते हैं, परन्तु कोई किसी का कर्ता नहीं है।

जयसेनाचार्य टीका में बतलाते हैं कि जीव को अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव की पहिचान करके निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान भावना से सुखसुधारसपान उत्पन्न करना चाहिए, परन्तु आत्मा का भान नहीं होने से उस जीव को ऐसे सुखसुधारस का पान नहीं मिलता और स्पर्श, रस, घ्राण और चक्षु इत्यादि के विषय में सुख मानकर वह विकारी सुख को भोगता है, इसलिए चतुरिन्द्रिय नामकर्म उपार्जन करता है और इससे उसरूप उत्पन्न होता है। ●●

मुनिमार्ग की शाश्वत आचरण संहिता

अहा! कोई भी साधु अथवा क्षुल्लक अपने लिए बनाया हुआ आहार ले तो वह जैनदर्शन के व्यवहार से अत्यन्त विरुद्ध है। बापू! मार्ग यह है। यह कोई व्यक्तिगत बात नहीं है। यह तो वीतरागमार्ग है, इस मार्ग से विपरीत माननेवाले अधिक हों, इसलिए मार्ग दूसरा है – ऐसा नहीं है। अथवा पालन नहीं किया जा सके, इसलिए मार्ग दूसरा हो जाए – ऐसा भी नहीं है। जिसका व्यवहार सच्चा है, उसका निश्चय झूठा भी हो सकता है और सच्चा भी हो सकता है, परन्तु भाई! जिसका व्यवहार ही झूठा है, उसका निश्चय तो झूठा ही है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/१२१

गाथा - ११७

सुरणरणारयतिरिया वण्णरसप्फासगंधसद्दण्हू।
जलचरथलचरखचरा बलिया पंचेंदिया जीवा।।११७।।

सुरनरनारकतिर्यञ्चो वर्णरसस्पर्शगंधशब्दज्ञाः।
जलचरस्थलचरखचरा बलिनः पञ्चेन्द्रिया जीवाः।।११७।।

पञ्चेन्द्रियप्रकारसूचनेयम्। अथ स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रिया-वरणक्षयोपशमात् नोइन्द्रियावरणोदये सति स्पर्शरसगंधवर्णशब्दानां परिच्छेत्तारः पञ्चेन्द्रिया अमनस्काः। केचित्तु नोइन्द्रियावरणस्यापि क्षयोपशमात् समनस्काश्च भवन्ति। तत्र देवमनुष्यनारकाः समनस्का एव, तिर्यञ्च उभयजातीया इति ।।११७।।

भू–जल–गगनचर सहित जो सैनी–असैनी जीव हैं।
सुर–नर–नरक तिर्यंचगण ये पंच इन्द्रिय जीव हैं।।११७।।

अन्वयार्थ :— [वर्णरसस्पर्शगंधशब्दज्ञाः] वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द को जाननेवाले [सुरनरनारकतिर्यंचः] देव-मनुष्य-नारक-तिर्यंच—[जलचरस्थल-चरखचराः] जो जलचर, स्थलचर, खेचर होते हैं वे—[बलिनः पंचेन्द्रियाः जीवाः] बलवान पञ्चेन्द्रिय जीव हैं।

टीका :— यह, पंचेन्द्रिय जीवों के प्रकार की सूचना है।

स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम के कारण, मन के आवरण का उदय होने से स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द को जाननेवाले जीव मनरहित पंचेन्द्रिय जीव हैं; कुछ (पंचेन्द्रिय जीव) तो, उन्हें मन के आवरण का भी क्षयोपशम होने से, मनसहित (पंचेन्द्रिय जीव) होते हैं।

उनमें, देव, मनुष्य और नारकी मनसहित ही होते हैं; तिर्यंच दोनों जाति के (अर्थात् मनरहित तथा मनसहित) होते हैं॥ ११७॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ५, मंगलवार

उस जीव का विकास बढ़ने पर पंचेन्द्रिय होता है। देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यंचगति के जीव हैं, वे पंचेन्द्रिय जीव हैं। उनमें मछली आदि जलचर हैं। गाय, भैंस आदि भूमिचर हैं और पक्षी आकाशगामी हैं। उन पंचेन्द्रिय जीवों को स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द इन पाँच इन्द्रिय का उघाड़ है। स्वयं के कारण से ज्ञान का विकास पंचेन्द्रिय का हुआ है। उन इन्द्रियों और मन द्वारा परपदार्थ ज्ञात होते हैं परन्तु आत्मा ज्ञात नहीं होता। कोई इन्द्रिय द्वारा आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं परन्तु अतीन्द्रिय स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा ज्ञात हो ऐसा है।

भावार्थ - जब संसारी जीवों को पाँच इन्द्रिय-आवरण कर्मों का क्षयोपशम होता है, तब पाँचों विषयों को जानता है। पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—एक संज्ञी, एक असंज्ञी। जिसे मन-आवरण कर्म का उदय है, वह मनरहित असंज्ञी है और जिसे मन-आवरण का क्षयोपशम होता है, वह मनसहित संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव है। तिर्यंचगति में मनसहित अथवा मनरहित होते हैं।

जयसेनाचार्य टीका में बतलाते हैं कि आत्मा का स्वभाव अतीन्द्रिय है। ऐसे निर्दोष परमात्मा के ध्यान से निर्विकार आत्मिक आनन्द लक्षणवाला सुख उत्पन्न होता है, परन्तु वैसा जिसे भान नहीं और पाँच इन्द्रियों के विषयों में सुख मानता है। वह तात्त्विक सुख नहीं है। जगत के विषयों में उस सुख की कल्पना करता है और पाँच इन्द्रियों के विषयों में लीन होकर बहिर्मुख होकर अन्तर सत्ता को भूल जाता है, इसलिए पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म उपार्जन करता है, इसलिए पंचेन्द्रियरूप से जन्मता है।

यदि पंचेन्द्रिय संज्ञी जीव आत्मा का भान करे और केवली भगवान ने कहे हुए छह द्रव्य और नौ तत्त्वों की पहिचान करे, तो उसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है। केवली भगवान स्व-पर लोकालोक को प्रत्यक्ष जानते हैं, जब कि भावश्रुतज्ञानी परोक्ष जानते हैं परन्तु यथार्थ जानते हैं। मनवाले प्राणी आत्मा का भान करके, सम्यग्ज्ञान प्रगट करके केवलज्ञान पा सकते हैं, यह समझाने के लिये सब बात करते हैं। ●●

गाथा - ११८

देवा चउण्णिकाया मणुया पुण कम्मभोगभूमीया।
तिरिया बहुप्पयारा णेरइया पुढविभेयगदा ।।११८।।

देवाश्चतुर्णिकायाः मनुजाः पुनः कर्मभोगभूमिजाः।
तिर्यञ्चः बहुप्रकाराः नारकाः पृथिवीभेगताः ।।११८।।

इन्द्रियभेदेनोक्तानां जीवानां चतुर्गतिसंबंधत्वेनोपसंहारोऽयम्। देवगितनाम्नो देवायुषश्चोदयाद्देवाः, ते च भवनवासिव्यंतरज्योतिष्कवैमानिकनिकायभेदा-च्चतुर्धा। मनुष्यगतिनाम्नो मनुष्यायुषश्च उदयान्मनुष्याः। ते कर्मभोगभूमिजभेदात् द्वेधा।तिर्यग्गतिनाम्नस्तिर्यगायुषश्च उदयात्तिर्यञ्चः। ते पृथिवीशम्बूकयूकोद्दंशजलचरोरगपक्षि-परिसर्पचतुष्पदादिभेदादनेकधा। नरकगतिनाम्नो नरकायुषश्च उदयान्नारकाः। ते रत्नशर्करा-वालुकापङ्कधूमतमो-महातमःप्रभाभूमिजभेदात्सप्तधा। तत्र देवमनुष्यनारकाः पञ्चेन्द्रिया एव। तिर्यञ्चस्तु केचित्पञ्चेन्द्रियाः, केचिदेक-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिया अपीति ।।११८।

नर कर्मभूमिज भोग भूमिज, देव चार प्रकार हैं।
तिर्यंच बहुविध कहे जिनवर, नरक सात प्रकार हैं।।११८।।

अन्वयार्थ :— [देवाः चतुर्णिकायाः] देवों के चार निकाय हैं, [मनुजाः कर्मभोग-भूमिज्ञाः] मनुष्य कर्मभूमिज और भोगभूमिज ऐसे दो प्रकार के हैं, [तिर्यञ्चः बहुप्रकाराः] तिर्यंच अनेक प्रकार के हैं, [पुनः] और [नारकाः पृथिवीभेदगताः] नारकों के भेद उनकी पृथ्वियों के भेद जितने हैं।

टीका :— यह, इन्द्रियों के भेद की अपेक्षा से कहे गये जीवों का चतुर्गतिसम्बन्ध दर्शाते हुए उपसंहार है (अर्थात् यहाँ एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियादिरूप जीवभेदों का चार गति के साथ सम्बन्ध दर्शाकर उन जीवभेदों का उपसंहार किया गया है)।

देवगतिनाम और देवायु के उदय से (अर्थात् देवगतिनामकर्म और देवायुकर्म के उदय के निमित्त से) देव होते हैं; वे भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ऐसे [1]निकायभेदों के कारण चार प्रकार के हैं। मनुष्यगतिनाम और मनुष्यायु के उदय

---

१. निकाय=समूह।

से मनुष्य होते हैं; वे कर्मभूमिज और भोगभूमिज ऐसे भेदों के कारण दो प्रकार के हैं। तिर्यंचगतिनाम और तिर्यंचायु के उदय से तिर्यंच होते हैं; वे पृथ्वी, शम्बूक, जूँ, डाँस, जलचर, उरग, पक्षी, परिसर्प, चतुष्पाद (चौपाये) इत्यादि भेदों के कारण अनेक प्रकार के हैं। नरकगतिनाम और नरकायु के उदय से नारक होते हैं; वे [२]रत्नप्रभाभूमिज, शर्कराप्रभाभूमिज, बालुकाप्रभाभूमिज, पंकप्रभाभूमिज, धूमप्रभाभूमिज, तमःप्रभाभूमिज और महातमःप्रभाभूमिज ऐसे भेदों के कारण सात प्रकार के हैं।

उनमें, देव, मनुष्य और नारकी पंचेन्द्रिय ही होते हैं। तिर्यंच तो कतिपय पंचेन्द्रिय होते हैं और कतिपय एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय भी होते हैं।

भावार्थ :— यहाँ ऐसा तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए कि चार गति से विलक्षण, स्वात्मोपलब्धि जिसका लक्षण है, ऐसी जो सिद्धगति उसकी भावना से रहित जीव अथवा सिद्धसदृश निजशुद्धात्मा की भावना से रहित जीव जो चतुर्गतिनाकर्म उपार्जित करते हैं, उसके उदयवश वे देवादि गतियों में उत्पन्न होते हैं॥११८॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ६, बुधवार

यह जीव अधिकार है। जीव का स्वभाव ज्ञान और दर्शन है। उसकी रुचि छोड़कर जो जीव संयोग की और विकार की भावना करता है, वह नामकर्म उपार्जन करता है और उसके कारण संसार में जन्म-मरण करता है।

देवगति नामकर्म के उदय से देव का शरीर मिलता है। वह सर्व से उत्कृष्ट भोग को भोगता है। वे देव चार प्रकार के हैं : भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक— ऐसे चार प्रकार के हैं। अपना आत्मा सिद्धसमान है। चार गति से विलक्षण और चैतन्य स्वभाव से प्राप्त जिसका लक्षण है, ऐसी सिद्धगति की आत्मा के भानसहित जो भावना नहीं करता, वह चतुर्गति नामकर्म बाँधकर, शुभभाव किये हों तो उसके फल में देवरूप से उत्पन्न होता है।

---

२. रत्नप्रभाभूमिज=रत्नप्रभा नाम की भूमि में (-प्रथम नरक में) उत्पन्न।

और जो जीव अपने स्वभाव को चूककर मनुष्यगति के योग्य शुभभाव करता है, वह मनुष्य होता है। कोई मनुष्य कर्मभूमि में उपजता है और कोई बड़े आयुष्यवाले भोगभूमि में जन्मता है। वर्तमान में बड़ा सेठ और लक्षाधिपति होता है। वह उपाधिभाव को सेवन कर होता है। आत्मा के धर्म से सेठिया हुआ नहीं। आत्मा का धर्म ज्ञानानन्दमय है। उसके द्वारा उपाधिरहितपना होता है परन्तु उसके द्वारा पुण्य नहीं बँधता। स्वभाव को चूककर उपाधिभाव के कारण कर्म बँधता है।

और तिर्यंचगति के जीव एक इन्द्रिय से संज्ञी पंचेन्द्रिय पशु तक के होते हैं। मनरहित और मनवाले, ऐसे दो प्रकार के होते हैं। जो जीव अपना त्रिकाली स्वभाव चूककर वक्रता, कपट, दम्भ का सेवन करते हैं, उसके फल में पशुगति प्राप्त करके पशुरूप से अवतरित होते हैं। मनुष्य के शरीर खड़े हैं, जबकि पशु के शरीर आड़े हैं। पूर्व में वक्रता की है, उसके फल में वे जीव आड़े शरीरवाले तिर्यंचरूप से अवतरित होते हैं। जिस प्रकार के भाव करे, उस प्रकार का फल आता है। निज क्रिया का फल निज में आता है। शुभाशुभभाव जीव अपने असंख्य प्रदेश में करता है, उसका फल अपनी पर्याय में आता है। उसका फल बाहर संयोगों में नहीं आता। इसलिए यहाँ कहते हैं कि वक्रताई की तथा विकारी पर्याय की रुचि छोड़ और ज्ञानानन्दस्वभाव की रुचि कर।

और नरक के जितने भेद हैं, उतने नारकी के जीव हैं। नरक सात हैं तो नारकी के जीव सात प्रकार के हैं। जो जीव माँस खाते हैं, शराब पीते हैं, शिकारादि करते हैं, वे नरक में जाते हैं। वहाँ भी अपने भाव को भोगते हैं। क्षेत्र तो निमित्तमात्र है।

अपने स्वभाव को चूककर जो भाव होते हैं, वे सब चार गति में भटकने के भाव हैं। मेरे बिना इसका काम नहीं होगा, ऐसा माननेवाले जीव सामने पदार्थों का स्वतन्त्रपना चूक जाता है। कोई भी पदार्थ वर्तमान कार्य बिना नहीं होते। सब जड़ और चेतन पदार्थ अपने कार्य सम्पन्न हैं, तथापि उनका कार्य मेरे बिना नहीं होता, ऐसा मानकर चैतन्यस्वभाव को चूकता है और राग तथा अहंकार की भावना करके चार गति में भटकता है।

आत्मा के अतिरिक्त दूसरे तत्त्व हैं या नहीं ? वस्तु है तो उसका कार्य है या नहीं ? या कार्य बिना की है ? कार्य बिना की हो तो वह वस्तु कूटस्थ हो जाये। परन्तु ऐसा

वस्तुस्वरूप नहीं है, इसलिए पर का करनेरूप अहंकार छोड़कर ज्ञातास्वभाव की रुचि कर। अज्ञानी चौबीसों घण्टे अहंकार करता है। शरीर परमाणुओं की अवस्था है। उसका कार्य उससे होता है। वे परमाणु कायम रहकर पलटते हैं। उसे जीव बदलावे, ऐसा नहीं होता। जीव ने परतत्त्व के कार्य किये नहीं और करता भी नहीं, तथापि अज्ञानी ने एक समयमात्र भी पर का अहंकार छोड़ा नहीं है।

अपना आत्मा सिद्धसमान एकरूप है, उसकी भावना छोड़कर अनेकता की भावना करता है, वह गति में भटकता है। प्रत्येक जीव त्रिकाल है। उसके गुण त्रिकाल हैं। उसका क्षेत्र त्रिकाल है। उसकी पर्याय का काल एक समय का है। उसकी पर्याय, वह उसका कार्य है। यदि कार्य बिना का तत्त्व माने तो तत्त्व ने क्या किया? चौबीस घण्टे धारावाही अहंकार अज्ञानी ने किया है। स्वयं ज्ञानस्वभावी है, उसकी रुचि नहीं करता, इसलिए कर्म उपार्जन करके भटकता है। नग्न दिगम्बर मुनि हुआ, तथापि मैं नग्न हो सकता हूँ, परद्रव्य का ग्रहण-त्याग कर सकता हूँ - ऐसी मान्यता के कारण वह जीव मिथ्यादृष्टि है और बड़ा भोगी है। चार गति में भटकता है। जहाँ खड़ा है, वहाँ पर के कारण तथा संयोग के कारण कार्य होता है, ऐसा मान रहा है। शुद्ध चिदानन्द की भावना चूककर पुण्य-पाप का अहंकार करता हुआ पर के कार्य मुझसे होते हैं, ऐसा मानता हुआ स्वभाव को चूकता हुआ कर्म बाँधता है।

अज्ञानी जीव पर के कार्य मैं कर सकता हूँ—ऐसा मान रहा है। दुकान के, शरीर के सगे (सम्बन्धियों) आदि के काम मैं कर सकता हूँ, ऐसा अहंकार करता है। संयोग और संयोगीभाव रहित शुद्ध स्वभाव को वह जानता नहीं और अनेक प्रकार के भाव करके अलग-अलग भव धारण करता है। कोई मनुष्य में से देव होता है, कोई मनुष्य में से मनुष्य होता है, पशु में से पशु होता है, ऐसे अनेक विचित्रतावाले भव धारण करता है। एकरूप नहीं रहता। जैसे भाव करे, वैसी गति को प्राप्त करता है।

आयुगति नामकर्म के उदय से देवादिक पर्याय होती है, इसलिए उन पर्यायों का अनात्मस्वरूप बतलाते हैं। ●●

गाथा - ११९

खीणे पुव्वणिबद्धे गदिणामे आउसे च ते वि खलु।
पाउण्णंति य अण्णं गदिमाउस्सं सलेस्सवसा ।।११९।।

क्षीणे पूर्वनिबद्धे गतिनाम्नि आयुषि च तेऽपि खलु।
प्राप्नुवन्ति चान्यां गतिमायुष्कं स्वलेश्यावशात् ।।११९।।

गत्यायुर्नामोदयनिर्वृत्तत्वाद्देवत्वादीनामनात्मस्वभावत्वोद्योतनमेतत्। क्षीयते हि क्रमेणारब्धफलो गतिनामविशेष आयुर्विशेषश्च जीवानाम्। एवमपि तेषां गत्यंतरस्यायुरंतरस्य च कषायानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या भवति बीजं, ततस्तदुचितमेव गत्यंतरमायुरंतरञ्च ते प्राप्नुवन्ति। एवं क्षीणाक्षीणाभ्यामपि पुनः पुनर्नवीभूताभ्यां गतिनामायुःकर्मभ्यामनात्म-स्वभावभूताभ्यामपि चिरमनुगम्यमानाः संसरंत्यात्मानमचेतयमाना जीवा इति।।११९।

गति आयु जो पूरव बंधे जब क्षीणता को प्राप्त हों।
अन्य गति को प्राप्त होता जीव लेश्या वश अहो।।११९।।

अन्वयार्थ :— [पूर्वनिबद्धे] पूर्वबद्ध, [गतिनाम्नि आयुषि च] गतिनामकर्म और आयुषकर्म, [क्षीणे] क्षीण होने से, [ते अपि] जीव [स्वलेश्यावशात्] अपनी लेश्या के वश [खलु] वास्तव में [अन्यां गतिम् आयुष्कं च] अन्यगति और आयुष्य [प्राप्नुवन्ति] प्राप्त करते हैं।

टीका :— यहाँ, गतिनामकर्म और आयुषकर्म के उदय से निष्पन्न होते हैं, इसलिए देवत्वादि अनात्मस्वभावभूत हैं (अर्थात् देवत्व, मनुष्यत्व, तिर्यंचत्व और नारकत्व आत्मा का स्वभाव नहीं है), ऐसा दर्शाया गया है।

जीवों को, जिसका फल प्रारम्भ हो जाता है, ऐसा अमुक गतिनामकर्म और अमुक आयुषकर्म क्रमशः क्षय को प्राप्त होता है। ऐसा होने पर उन्हें [१]कषाय—अनुरंजित योगप्रवृत्तिरूप लेश्या अन्य गति और अन्य आयुष का बीज होती है।(अर्थात् लेश्या अन्य गतिनामकर्म और अन्य आयुषकर्म का कारण होती है), इसलिए उसको

---

१. कषाय-अनुरंजित =कषायरंजित; कषाय से रंगी हुई।(कषाय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति, सो लेश्या है।)

उचित ही अन्य गति तथा अन्य आयुष वे प्राप्त करते हैं। इस प्रकार। [२]क्षीण-अक्षीणपने को प्राप्त होने पर भी पुनः-पुनः नवीन उत्पन्न होनेवाले गतिनामकर्म और आयुषकर्म (प्रवाहरूप से) यद्यपि वे अनात्मस्वभावभूत हैं तथापि—चिरकाल (जीवों के) साथ-साथ रहते हैं इसलिए, आत्मा को नहीं चेतनेवाले जीव संसरण करते हैं (अर्थात् आत्मा का अनुभव नहीं करनेवाले जीव संसार में परिभ्रमण करते हैं।)

भावार्थ :— जीवों को देवत्वादि की प्राप्ति में पौद्गलिक कर्म निमित्तभूत हैं, इसलिए देवत्वादि जीव का स्वभाव नहीं हैं।

[पुनश्च, देव मरकर देव ही होता रहे और मनुष्य मरकर मनुष्य ही होता रहे, इस मान्यता का भी यहाँ निषेध हुआ। जीवों को अपनी लेश्या के योग्य ही गतिनामकर्म और आयुषकर्म का बन्ध होता है और इसलिए उसके योग्य ही अन्यगति-आयुष प्राप्त होती है।]॥११९॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ६, बुधवार

पूर्व काल में बाँधे हुए गति नामकर्म तथा आयुकर्म पूरा होने से वह अपना रस देकर खिर जाता है और निश्चय से वह जीव अपनी कषायगर्भित योगों की प्रवृत्तिरूप लेश्या के प्रभाव से अन्यगति तथा आयु को प्राप्त करता है। लकड़ी के साथ कागज चिपकाना हो तो श्लेष चाहिए, उसी प्रकार आत्मा को पर गति में जाने के लिये क्रोध, मान, माया, लोभ के परिणामसहित योगों की प्रवृत्ति श्लेष समान है। वास्तव में तो जीव अपने परिणाम के कारण से दूसरी गति धारण करता है। कर्म के कारण जाता है, ऐसा कहना, वह उपचारमात्र है।

भावार्थ - जीवों की गति का और आयु का बन्ध क्रोधादि परिणाम और योग की प्रवृत्ति से पड़ता है। एक के बाद एक भव शृंखलावत् चला करता है। जिसके भाव करता है, वैसा भव मिलता है। पूर्व की आयु खिरती है और नयी बँधती है, इसलिए

---

२. पहले के कर्म क्षीण होते हैं और बाद के अक्षीणरूप से वर्तते हैं।

संसारमार्ग चला करता है। अज्ञानी जीव बहुत तपश्चर्या करे तो भी वह बालतप है, दान दे, उपवास करे, परन्तु मैं आहार-पानी का त्याग कर सकता हूँ, ऐसी मान्यता के कारण अज्ञान टलता नहीं और एक भी भव का भटकने का टलता नहीं। एक के बाद एक भव में भ्रमा करता है। इस प्रकार अनादि काल से अज्ञानी जीव संसार में भटका करता है।

आत्मा का स्वरूप तो क्रोध, मान, माया, लोभ से तथा लेश्या से रहित है और अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यरूप चतुष्टय से अभिन्न है। उसकी भावना भावे तो कषाय नाश पावे, परन्तु उसकी भावना नहीं भाकर राग और व्यवहार की भावना भाता है, वह मिथ्यादृष्टि और चार गति में भटकता है। वह जीव भले शुक्ललेश्या के परिणाम करे तो भी संसार में भटकता है।

छह प्रकार की लेश्या है—कृष्ण, नील, कापोत ये तीन अशुभलेश्या हैं। पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन शुभलेश्या है। तारतम्यता की अपेक्षा से यह छह प्रकार पड़ते हैं—तीन अशुभबन्ध का कारण है और तीन शुभबन्ध का कारण है। दया, दानादि के भाव करे तो शुभ का बन्ध पड़ता है और मानादि के परिणाम हों तो अशुभ का बन्ध पड़ता है।

आत्मा ज्ञान-दर्शनमय है, ऐसे श्रद्धा-ज्ञान न करे और पुण्य की भावना करे तो भटकता है और स्वभाव की भावना करे तो कषाय का नाश होता है।

कोई अज्ञानी जीव कहता है कि अभी पुण्य करो तो धीरे-धीरे पुण्य फटकर धर्मदशा होगी—तो वह भ्रान्ति है। हिंसा, झूठ, चोरी के भाव अशुभ हैं और दया, दानादि के भाव शुभ हैं। ये दोनों भाव विकार हैं, उनके भावना करना, वह भटकने के भाव हैं। परन्तु शुभाशुभभावरहित शुद्ध आत्मा की भावना करने से कषाय का नाश होता है। चिदानन्द भगवान आत्मा के भान बिना भटकना मिटता नहीं। दूसरा कोई भगवान तिरा नहीं देता। अपनी शान्ति और सुख स्वभाव में ही है। पर के कारण नहीं होते, पर में नहीं होते तथा पुण्य-पाप के भाव में शान्ति नहीं होती; इसलिए स्वभाव की भावना करनेयोग्य है, इससे शान्ति मिलती है। इस भावनारहित जीवों को चार गति में भटकना पड़ता है। ●●

गाथा - १२०

एदे जीवणिकाया देहप्पविचारमस्सिदा भणिदा।
देहविहूणा सिद्धा भव्वा संसारिणो अभव्वा य ।।१२०।।

एते जीवनिकाया देहप्रवीचारमाश्रिताः भणिताः।
देहविहीनाः सिद्धाः भव्याः संसारिणोऽभव्याश्च ।।१२०।।

उक्तजीवप्रपञ्चोपसंहारोऽयम्। एते ह्युक्तप्रकाराः सर्वे संसारिणो देहप्रवीचाराः, अदेहप्रवीचारा भगवंतः सिद्धाः शुद्धा जीवाः। तत्र देहप्रवीचारत्वादेक-प्रकारत्वेऽपि संसारिणो द्विप्रकाराः भव्या अभव्याश्च। ते शुद्धस्वरूपोपलम्भशक्तिसद्-भावासद्भावाभ्यां पाच्यापाच्यमुद्गवदभिधीयंत इति ।।१२०।।

पूर्वोक्ति जीव निकाय देहाश्रित कहे जिनदेव ने।
देह विरहित सिद्ध हैं संसारी भव्य-अभव्य हैं।।१२०।।

अन्वयार्थ :— [एते जीवनिकायाः] यह (पूर्वोक्त) जीवनिकाय, [देहप्रवीचार-माश्रिताः] देह में वर्तनेवाले अर्थात् देहसहित, [भणिताः] कहे गये हैं; [देहविहीनाः सिद्धाः] देहरहित ऐसे सिद्ध हैं। [संसारिणाः] संसारी [भव्याः अभव्याः च] भव्य और अभव्य, ऐसे दो प्रकार के हैं।

टीका :— यह उक्त (-पहले कहे गये) जीवविस्तार का उपसंहार है।

जिनके प्रकार (पहले) कहे गये यह समस्त संसारी देह में वर्तनेवाले (अर्थात् देहसहित) हैं; देह में न वर्तनेवाले (अर्थात् देहरहित) ऐसे सिद्ध भगवन्त हैं—जो कि शुद्ध जीव हैं। वहाँ, देह में वर्तने की अपेक्षा से संसारी जीवों का एक प्रकार होने पर भी वे भव्य और अभव्य ऐसे दो प्रकार के हैं। '[१]पाच्य' और '[२]अपाच्य' मूँग की भाँति, जिनमें शुद्धस्वरूप की [३]उपलब्धि की शक्ति का सद्भाव है, उन्हें 'भव्य' और जिनमें

---

१. पाच्य = पकनेयोग्य; रंधनेयोग्य; सीझनेयोग्य; कोरा न हो ऐसा।
२. अपाच्य = नहीं पकनेयोग्य; रंधने-सीझने की योग्यतारहित; कोरा।
३. उपलब्धि = प्राप्ति; अनुभव।

शुद्धस्वरूप की उपलब्धि की शक्ति का असद्भाव है, उन्हें 'अभव्य' कहा जाता है॥१२०॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ७, गुरुवार

जीव के दो भेद हैं। एक संसारी और दूसरा मुक्त। सभी मोक्षस्वरूप हैं, ऐसा भी नहीं है। और सभी देहवाले हैं, ऐसा भी नहीं है। जीव स्वभाव से सदा ही शुद्ध है, परन्तु चैतन्य के भान बिना नयी-नयी देह चार गति में मिला करती है। आत्मा को केवल ज्ञान ही देह है। स्वभाव से ज्ञान ही उसका शरीर है, ऐसा भान करे तो आत्मबुद्धि होती है। जो जीव आत्मा का भान करता नहीं और दया, दान के भाव करता है, वह देव होता है। और पाप करे, वह नारकी होता है और मध्यम परिणाम करे, वह मनुष्य होता है, माया के भाव करे वह तिर्यंच होता है। इस प्रकार मुक्ति बिना के जीव को देह का पलटन हुआ करता है। यह शरीर न हो तो तैजस और कार्मणशरीर तो होता ही है, ऐसा भगवान कहते हैं। देहरहित जीव, वे सिद्ध हैं और उन्होंने अनन्त ज्ञान-दर्शनादि गुण प्रगट किये हैं। वे किसी के ऊपर प्रसन्न नहीं होते और फिर से अवतार धारण नहीं करते। और संसारी जीव में दो जाति है। एक मोक्ष के योग्य भव्य जीव हैं और दूसरे मोक्ष के लिये नालायक अभव्य जीव हैं।

भावार्थ : लोक में जीव दो प्रकार के हैं। एक देहधारी और दूसरे देहरहित। देहधारी, वे संसारी है और देहरहित जीव सिद्धपर्याय को अनुभव करते हैं। सब होकर एक जीव नहीं हैं। जीव जाति से एक और संख्या से अनन्त हैं। देहधारी अर्थात् कि व्यवहार से शरीरवाला कहलाता है। जीव विकारी भाव करता है, उसके निमित्त से कर्म बँधते हैं और उसके फल में शरीर मिलता है।

प्रश्न : आत्मा बिना देह अपने आप चलती है तो चलते समय देह बराबर दरवाजे में से निकलती है और दीवार में क्यों भटकती नहीं।

समाधान : शरीर की पर्याय शरीर के कारण से होती है, उसमें आत्मा का

अधिकार नहीं है। जीव राग-द्वेष करे या ज्ञान करे परन्तु देह का कुछ भी नहीं कर सकता। दोनों पृथक् है।

संसारी को देह का सम्बन्ध है, ऐसा निमित्त का ज्ञान कराते हैं और सिद्ध भगवान को देह का निमित्तपना भी नहीं होता।

और संसारी में दो प्रकार के जीव हैं। एक भव्य जीव हैं। जैसे मूँग या उड़द का दाना पानी में पक जाता है, उसकी भाँति भव्य जीव आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान करके मुक्ति प्राप्त करने के योग्य हैं। वे जीव देह और विकाररहित शुद्धात्मा का भान करके मुक्ति पाते हैं। और घोरडू मूँग को चाहे जितने पानी में उकालो और नीचे लकड़ियाँ जलाओ तो भी वह कभी नहीं पकता, उसी प्रकार अभव्य जीव चाहे जितना क्रियाकाण्ड करे, हजारों रानियाँ छोड़े परन्तु वह शुद्ध आत्मा की रुचि नहीं करता, इसलिए मुक्ति को प्राप्त नहीं करता। बहुत पाप करे और कसाईखाना चलावे, वह अभव्य हो और दया, दानादि के भाव करे, वह भव्य हो—ऐसा नहीं है। अभव्य और भव्य ऐसी दो जाति अनादि से हैं। अभव्य अनन्त हैं, परन्तु भव्य जीव उनकी अपेक्षा अनन्तगुने हैं। अभव्य जीव शरीर की क्रिया करते दिखते हैं। कष्ट सहन करते दिखते हैं परन्तु वे शरीररहित आत्मा की रुचि नहीं करते।

प्रश्न : शरीर को कष्ट देना या नहीं ?

उत्तर : शरीर को कष्ट होता नहीं, आत्मा को पर्याय में कष्ट होता है। वह कष्ट तो पाप है, धर्म कष्टदायक नहीं होता। लोगों को धर्म की खबर नहीं है। जो कुछ आर्तध्यान के परिणाम होते हैं, वे पाप हैं, पुण्य नहीं और धर्म तो है ही नहीं। जिस भाव से दुःख लगे, वह भाव धर्म तो है ही नहीं, परन्तु पुण्य भी नहीं है। जड़ शरीर को दुःख नहीं होता, परन्तु अन्दर रहा हुआ जीव शरीर के साथ ममता के परिणाम करता है, वह दुःख है, इसलिए जो जीव धर्मक्रिया करे, वह दुःख भोगता है, यह यथार्थ नहीं है। धर्म शान्तिदायक और आनन्ददाता है।

मैं आत्मा ज्ञाता द्रव्य हूँ, ऐसे भानपूर्वक अन्तर शान्ति और आनन्द प्रगट हो, वह धर्म है और जो कष्टदायक लगे, वह अधर्म है। अज्ञानी जीव चारित्र को दुःखदायक

मानते हैं और महावीर भगवान के सम्बन्ध में कहते हैं कि भगवान ने अन्न करके खाया नहीं, पानी पिया नहीं, सुख से सोये नहीं तो ऐसा माननेवाले जीव चारित्र को कष्टदायक मानते हैं और वीतराग के स्वरूप को पहिचानते नहीं। चारित्र तो शान्तिदायक है।

गर्मी में ठण्डी हवा इत्यादि शान्तिदायक लगती है, उसी प्रकार संसाररूपी ताप में से बचकर आत्मा के भानपूर्वक चारित्र प्रगट हो, वह शीतलीभूत है और उससे अनादि का आताप टलता है।

अज्ञानी जीव मानता है कि मैं परपदार्थ को अनुभव करता हूँ, परन्तु वह पदार्थ को अनुभव नहीं करता, किन्तु राग का अनुभव करता है। आत्मा के भान द्वारा वह राग को टालकर रागरहित शान्ति का वेदन करना, वह चारित्र और तप है। अज्ञानपूर्वक के तप को बालतप कहते हैं। जगत में अभव्य जीव हैं और भव्य जीव भी हैं। हैं, हैं और हैं, वह उनका स्वभाव है। ऐसा कैसे - यह प्रश्न स्वभाव में नहीं है। आत्मा का स्वभाव तीनों काल के और तीन लोक के पदार्थों को जानने का है। ऐसी पहिचान करे, उसे मैं भव्य हूँ, ऐसा ख्याल में आ जाता है और दूसरे भव्य और अभव्य आत्मा हैं, ऐसा वह ख्याल कर लेता है। इस प्रकार जीव की जाति की बात की। ●●

सर्वगुणसम्पन्न मुनिदशा

अहा! सर्वार्थसिद्धि के देव सम्यक्त्वी और एकावतारी हैं। उन्हें जो शान्ति है, उसकी अपेक्षा पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीव को, उसकी अपेक्षा षष्टम् गुणस्थानवर्ती को और उसकी अपेक्षा सप्तम गुणस्थानवर्ती को उत्तरोत्तर अधिक शान्ति होती है। अहा! वे मुनिराज तो शान्ति के झूले में झूलते हैं। धन्य अवतार! धन्य वह मुनिदश! उन्हें तो सर्वगुणसम्पन्न कहा जा सकता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २७१

गाथा - १२१

ण हि इंदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णत्ता।
जं हवदि तेसु णाणं जीवो त्ति य तं परूवेंति ।।१२१।।

न हीन्द्रियाणि जीवाः कायाः पुनः षट्प्रकाराः प्रज्ञप्ताः।
यद्भवति तेषु ज्ञानं जीव इति च तत्प्ररूपयन्ति ।।१२१।।

व्यवहारजीवत्वैकांतप्रतिपत्तिनिरासोऽयम्। य इमे एकेन्द्रियादयः पृथिवीकायिकादयश्चानादिजीवपुद्गलपरस्परावगाहमवलोक्य व्यवहारनयेन जीव-प्राधान्याज्जीवा इति प्रज्ञाप्यंते। निश्चयनयेन तेषु स्पर्शनादीन्द्रियाणि पृथिव्यादयश्च कायाः जीवलक्षणभूतचैतन्यस्वभावाभावान्न जीवा भवंतीति। तेष्वेव यत्स्वपरपरिच्छित्तिरूपेण प्रकाशमानं ज्ञानं तदेव गुणगुणिनोः कथञ्चिदभेदाज्जीवत्वेन प्ररूप्यत इति।।१२१।।

ये इन्द्रियाँ नहिं जीव हैं षट्काय भी चेतन नहीं।
है मध्य इनके चेतना वह जीव निश्चय जानना।।१२१।।

अन्वयार्थ :— [न हि इन्द्रियाणि जीवाः] (व्यवहार से कहे जानेवाले एकेन्द्रियादि तथा पृथ्वीकायिकादि 'जीवों' में) इन्द्रियाँ जीव नहीं हैं और [षट्प्रकाराः प्रज्ञप्ताः कायाः पुनः] छह प्रकार की शास्त्रोक्त कायें भी जीव नहीं है; [तेषु] उनमें; [यद् ज्ञानं भवति] जो ज्ञान है, [तत् जीवः] वह जीव है [इति च प्ररूपयन्ति] ऐसी (ज्ञानी) प्ररूपणा करते हैं।

टीका :— यह, व्यवहारजीवत्व के एकान्त की [१]प्रतिपत्ति का खण्डन है (अर्थात् जिसे मात्र व्यवहारनय से जीव कहा जाता है, उसका वास्तव में जीवरूप से स्वीकार करना उचित नहीं है, ऐसा यहाँ समझाया है।)

यह जो एकेन्द्रियादि तथा पृथ्वीकायिकादि 'जीव' कहे जाते हैं वे, अनादि जीव -पुद्गल का परस्पर अवगाह देखकर व्यवहारनय से जीव के प्राधान्य द्वारा (-जीव को मुख्यता देकर) 'जीव' कहे जाते हैं। निश्चयनय से उनमें स्पर्शनादि इन्द्रियाँ तथा पृथ्वी-आदि कायें, जीव के लक्षणभूत चैतन्यस्वभाव के अभाव के कारण, जीव

१. प्रतिपत्ति=स्वीकृति; मान्यता।

नहीं है; उन्हीं में जो स्व-पर की ज्ञप्तिरूप से प्रकाशमान ज्ञान है वही, गुण-गुणी के कथंचित् अभेद के कारण, जीवरूप से प्ररूपित किया जाता है॥ १२१ ॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ७, गुरुवार

जीवों का स्वरूप व्यवहाराश्रित सर्वथा प्रकार से कहा नहीं जा सकता; कथंचित् अन्य प्रकार से भी दिखलाते हैं।

जीव को स्पर्शादि पाँच इन्द्रिय का निमित्त व्यवहारनय से कहा गया था, परन्तु इन्द्रियाँ जीव का स्वरूप नहीं है। तथा पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकायरूप योग्यता जीव की पर्याय में है, उसे अशुद्ध निश्चयनय से जीव कहा गया है परन्तु पर्याय की योग्यता तो अंश है, त्रिकाली स्वरूप नहीं, इसलिए निश्चय से वह भी जीव का स्वरूप नहीं है। एकरूप चैतन्यभाव, वह जीव है।

भावार्थ : एकेन्द्रियादि भेद व्यवहारनय की अपेक्षा से शरीर के सम्बन्ध से कहे गये हैं। निश्चयनय से विचार किया जाये तो स्पर्शनादि इन्द्रियाँ तथा पृथ्वी आदिक काया चैतन्यलक्ष्मीवान जीव से पृथक् है। इन्द्रियाँ तथा शरीर जीव का स्वरूप नहीं है। एक समय की पर्याय अशुद्ध निश्चयनय से जीव की कही थी परन्तु वह जीव का शाश्वत् स्वरूप है नहीं। त्रिकाली ज्ञाताद्रव्य, वह जीव का वास्तविक स्वरूप है। कोई पूछे कि पर की दया पालना या नहीं? भाई! किसकी दया पालनी है? शरीर तो जड़ है। जड़ की दया पालनी है? पृथ्वी आदिक एक समय की योग्यता है, उसकी दया पालनी है? त्रिकाली ज्ञातादृष्टा स्वभाव है, उसकी दया पालनी है? पर शरीर का रक्षण हो नहीं सकता और पर की पर्याय या स्वभाव तेरे रखने से रहे, ऐसा नहीं है। स्वयं पर का कुछ नहीं कर सकता। स्वयं ज्ञाता-दृष्टा है, ऐसा निर्णय करना, वह स्वदया है।

कोई **पूछता** है कि यह बात जवानी में बैठती होगी?

समाधान : आत्मा बालक नहीं, जवान नहीं, वृद्ध नहीं। आत्मा चैतन्यभावमात्र है। श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न कामदेव थे, तीन खण्ड में सबसे विशेष रूपवान थे, जवानी

में बहुत विद्या साधी हुई थी। माता से मिलने के पश्चात् वैराग्य आने पर दीक्षा लेने को तैयार हुए। माता कहती है कि तू सोलह वर्ष साथ नहीं रहा और यहाँ मिला तो अब दीक्षा लेने को कहता है। तथापि प्रद्युम्न कहते हैं कि ऐसे शरीर तो अनन्त मिले। पूर्व के भव स्वप्न समान हो गये, उसी प्रकार यह देह भी स्वप्न समान होगी, ऐसा वैराग्य लाकर दीक्षा लेते हैं। इस प्रकार आत्मा की पहिचान करना, वह धर्म है।

यहाँ जीव का स्वरूप बतलाते हैं। एकेन्द्रियादि इन्द्रियाँ, पृथ्वी आदि शरीर जीव का स्वरूप नहीं है। इन्द्रियाँ या शरीर फटकर केवलज्ञान नहीं होता। तथा एक समय की योग्यता के आधार से केवलज्ञान नहीं होता। जीव की गति की योग्यता, वह भी जीव का स्वरूप नहीं है। देह, इन्द्रियाँ और उघाड़ भाव सबका पलटन होकर अकेला शुद्धचैतन्यभाव रह जाता है, वह जीव है। स्व-पर को जाननेवाला आत्मपदार्थ है, उसमें गुण-गुणी का भेद है। आत्मा, वह गुणी है और ज्ञान-दर्शनादि, वे गुण हैं - ऐसा संख्याभेद से भेद है, तथापि प्रदेशभेद से भेद नहीं, इसलिए अभेद संयुक्त है। आत्मा असंख्यप्रदेशी है, वैसे ज्ञान भी असंख्यप्रदेश में रहा हुआ है। ऐसा अविनाशी, अचल, निर्मल, चैतन्यस्वरूप जीवपदार्थ जानना। ऐसा पर से भेदस्वरूप और गुण से अभेदस्वरूप ऐसे आत्मा को जानना, वह धर्म है।

इस जीवपदार्थ को जाने बिना अज्ञानी जीव विकारी भाव करके देह धारण करके पाँच इन्द्रियों के विषयों को भोगता है, परन्तु अपने अमृतस्वरूप आत्मा को नहीं भोगता। विषय स्वप्नवत् हैं। अपना सुख अपने में है, उसे भूलकर पर में टिकता हूँ, ऐसा मानकर पर को भोगता है। जिस प्रकार शराब पीया हुआ मनुष्य अपनी माता को स्त्री कहे और स्त्री को माता कहे, उसी प्रकार शरीर, मन, वाणी इत्यादि परपदार्थ मेरे हैं, ऐसा मोह से उन्मत्त जीव मानता है और परद्रव्य में ममत्वभाव करता है। अपना चैतन्यभाव अपनी चीज़ है, उसे भूलकर पर में मोह करके मोक्षसुख से परान्मुख रहता है। ऐसा जो संसारी जीव है, उसका द्रव्यदृष्टि से विचार किया जाये तो वह भी निर्मल चैतन्य विलास आत्माराम है। ऐसी स्वभावदृष्टि करना, वह धर्म है। ●●

गाथा - १२२

जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं बिभेदि दुक्खादो।
कुव्वदि हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं ।।१२२।।

जानाति पश्यति सर्वमिच्छति सौख्यं बिभेति दुःखात्।
करोति हितमहितं वा भुंक्ते जीवः फलं तयोः ।।१२२।।

अन्यासाधारणजीवकार्यख्यापनमेतत्। चैतन्यस्वभावत्वात्कर्तृस्थायाः क्रियायाः ज्ञप्तेर्दृशेश्च जीव एव कर्ता, न तत्संबंधः पुद्गलो, यथाकाशादि। सुखा-भिलाषक्रियायाः दुःखोद्वेगक्रियायाः स्वसंवेदितहिताहितनिर्वर्तनक्रियायाश्च चैतन्यविवर्त-रूपसङ्कल्प-प्रभवत्वात्स एव कर्ता, नान्यः। शुभाशुभकर्मफलभूताया इष्टानिष्टविषयोप-भोगक्रियायाश्च सुखदुःखस्वरूप-स्वपरिणामक्रियाया इव स एव कर्ता, नान्यः। एतेनासाधारणकार्यानुमेयत्वं पुद्गलव्यतिरिक्तस्यात्मनो द्योतितमिति ।।१२२।।

जिय जानता अर देखता, सुख चाहता दुःख से डरे।
भाव करता शुभ-अशुभ फल भोगता उनका अरे।।१२२।।

अन्वयार्थ :— [जीवः] जीव [सर्वं जानाति पश्यति] सब जानता है और देखता है, [सौख्यम् इच्छति] सुख की इच्छा करता है, [दुःखात् बिभेति] दुःख से डरता है, [हितम् अहितम् करोति] हित-अहित को (शुभ-अशुभभावों को) करता है [वा] और [तयोः फलं भुंक्ते] उनके फल को भोगता है।

टीका :— यह, अन्य से असाधारण ऐसे जीवकार्यों का कथन है (अर्थात् अन्य द्रव्यों से असाधारण ऐसे जो जीव के कार्य, वे यहाँ दर्शाये हैं)।

चैतन्यस्वभावपने के कारण, कर्तृस्थित (कर्ता में रहनेवाली) क्रिया का— ज्ञप्ति तथा दृशि का—जीव ही कर्ता है; उसके सम्बन्ध में रहा हुआ पुद्गल उसका कर्ता नहीं है, जिस प्रकार आकाशादि नहीं हैं, उसी प्रकार।(चैतन्यस्वभाव के कारण जानने और देखने की क्रिया का जीव ही कर्ता है; जहाँ जीव है, वहाँ चार अरूपी अचेतन द्रव्य भी हैं, तथापि वे जिस प्रकार जानने और देखने की क्रिया के कर्ता नहीं हैं, उसी प्रकार जीव के साथ सम्बन्ध में रहे हुए कर्म-नोकर्मरूप पुद्गल भी उस क्रिया

के कर्ता नहीं हैं।) चैतन्य के विवर्तरूप (-परिवर्तनरूप) संकल्प की उत्पत्ति (जीव में) होने के कारण, सुख की अभिलाषारूप क्रिया का, दुःख के उद्वेगरूप क्रिया का तथा स्वसंवेदित हित-अहित की निष्पत्तिरूप क्रिया का (-अपने से संचेतन किये जानेवाले शुभ-अशुभभावों को रचनेरूप क्रिया का) जीव ही कर्ता है; अन्य नहीं है। शुभाशुभ कर्म के फलभूत [१]इष्टानिष्टविषयोपभोगक्रिया का, सुख-दुःख स्वरूप स्वपरिणाम क्रिया की भाँति, जीव ही कर्ता है; अन्य नहीं।

इससे ऐसा समझाया कि (उपरोक्त) असाधारण कार्यों द्वारा पुद्गल से भिन्न ऐसा आत्मा अनुमेय (अनुमान कर सकने योग्य) है।

भावार्थ :— शरीर, इन्द्रिय, मन, कर्म आदि पुद्गल या अन्य कोई अचेतन द्रव्य कदापि जानते नहीं हैं, देखते नहीं हैं, सुख की इच्छा नहीं करते, दुःख से डरते नहीं हैं, हित-अहित में प्रवर्तते नहीं हैं या उनके फल को नहीं भोगते; इसलिए जो जानता है और देखता है, सुख की इच्छा करता है, दुःख से भयभीत होता है, शुभ-अशुभभावों में प्रवर्तता है और उनके फल को भोगता है, वह, अचेतन पदार्थों के साथ रहने पर भी सर्व अचेतन पदार्थों की क्रियाओं से बिल्कुल विशिष्ट प्रकार की क्रियाएँ करनेवाला, एक विशिष्ट पदार्थ है। इस प्रकार जीव नाम का चैतन्यस्वभावी पदार्थविशेष—कि जिसका ज्ञानी स्वयं स्पष्ट अनुभव करते हैं वह—अपनी असाधारण क्रियाओं द्वारा अनुमेय भी है॥ १२२॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ८, शुक्रवार

नौ पदार्थों में से यह जीवपदार्थ का वर्णन है। नौ तत्त्वों में जीव का पर से भेदज्ञान कराने का यह अधिकार है। अनादि से स्व-पर की एकताबुद्धिरूप जो मिथ्याभाव है,

---

१. इष्टानिष्ट विषय जिसमें निमित्तभूत होते हैं, ऐसे सुख-दुःखपरिणामों के उपभोगरूप क्रिया को जीव करता है, इसलिए उसे इष्टानिष्ट विषयों के उपभोगरूप क्रिया का कर्ता कहा जाता है।

वह अधर्म है। पर से भिन्न अपना स्वरूप समझे तो कल्याण होता है। इसलिए जीव में हो और दूसरे किसी द्रव्य में न हो, ऐसे खास कार्य का वर्णन करते हैं।

प्रथम तो जानना-देखना, वह जीव की क्रिया है; जानने-देखने की क्रिया जीव के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में नहीं है। और सुख को चाहता है तथा दुःख से डरता है, यह भी जीव की क्रिया है; अजीव को सुख-दुःख होते ही नहीं।

शुभ अथवा अशुभ आचरण, वह भी दुःख का कर्तृत्व है। जड़ में कोई पुण्य-पाप के भाव नहीं होते। हिंसादि के पापभाव या दया, भक्ति के पुण्यभाव, वह जीव की क्रिया है, ऐसा समझे तो पर से भेदज्ञान होता है। निमित्त अच्छे मिले, इसलिए शुभपरिणाम हुए और बुरे निमित्त मिले, इसलिए अशुभपरिणाम हुए—ऐसा नहीं है। परन्तु शुभ-अशुभपरिणाम वह जीव का ही कर्तव्य है।

अपने कार्य के फलरूप सुख-दुःख को ही जीव भोगता है। जड़ में कोई सुख-दुःख भोगने का होता नहीं। दुःख का वेदन देह में नहीं होता परन्तु जीव में होता है। ऐसा समझाकर जीव को पर से भिन्न बतलाते हैं।

जानने-देखने की क्रिया करनेवाला भी जीव स्वयं ही है; किसी पर के कारण आत्मा में जानने-देखने की क्रिया नहीं होती। निमित्त के कारण ज्ञान हो, ऐसा नहीं है। परन्तु जीव स्वयं ही जानने के स्वभाववाला है।

नौ पदार्थ में जीव कैसे स्वभाववाला है, यह बतलाते हैं। ज्ञान-दर्शन क्रिया के साथ आत्मा तन्मय है। आत्मा शरीरादि की क्रिया के साथ तन्मय नहीं है। उनसे तो भिन्न है परन्तु अपनी ज्ञान-दर्शन की क्रिया के साथ ही वह तन्मय है। पर को और मुझे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसा समझकर भेदज्ञान के लिये यह वर्णन है। जीव पदार्थ का वर्णन पूरा करते हुए अन्त में कहेंगे कि जीव-अजीव पदार्थों के लक्षण का वर्णन मात्र भेदविज्ञान करने के हेतु से ही किया गया है। पर से भेदज्ञान करके अन्तर्मुख स्वभाव के अवलम्बन से ही शान्ति है, इस प्रकार समझे तो बाहर से शान्ति और ज्ञान लेने की मिथ्याबुद्धि नहीं रहे। ज्ञान की क्रिया तो अपने आत्मा में होती है। कोई पुस्तक, पृष्ठ से या बाहर के पदार्थों से वह ज्ञानक्रिया नहीं होती। ज्ञानक्रिया आत्मा में ही होती है। उस

ज्ञानक्रिया के साथ आत्मा तन्मय है परन्तु जीव के साथ सम्बन्धवाला ऐसा अचेतन पुद्गलद्रव्य उस ज्ञानक्रिया का कर्ता नहीं है। अचेतन आँख के कारण आत्मा जानता है, यह बात मिथ्या है। ज्ञानावरणकर्म जड़ है, वह आत्मा की ज्ञानक्रिया का करनेवाला या रोकनेवाला नहीं है। जीव स्वयं अपने ज्ञान की जैसी क्रिया करे, वैसी होती है। जैसे अचेतन आकाश कुछ नहीं जानता, वैसे अजीव पुद्गलद्रव्य के साथ भी जीव की ज्ञानक्रिया को कोई सम्बन्ध नहीं है तथा अजीव पुद्गल के साथ भी ज्ञान का सम्बन्ध नहीं है। जैसे आकाश के साथ ज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार अजीव पुद्गल के साथ भी ज्ञान का सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान तो आत्मा के साथ एकमेक है। ऐसा समझे तो ज्ञान में पराश्रयबुद्धि नहीं रहती। जैसे धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल, ये चार अरूपी द्रव्य आत्मा को ज्ञान का कारण नहीं है, वैसे पुद्गलद्रव्य भी आत्मा को ज्ञान का कारण नहीं है। बारह अनुप्रेक्षा में कहते हैं कि पुण्य-पाप आस्रव है, वह आस्रव की क्रिया मोक्ष में निमित्त भी नहीं है, ऐसा चिन्तवन करना।

व्यवहार के शुभपरिणाम मोक्ष का निमित्त होगा, ऐसा तू चिन्तवन करना नहीं। आस्रव के भावों को मोक्ष का परम्परा कारण भी मानना नहीं। वहाँ जैसे आस्रव वह मोक्ष की क्रिया का कारण नहीं है, ऐसा कहा, उसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि अजीवद्रव्यों के कारण जीव में ज्ञानक्रिया नहीं होती।

छह द्रव्यों में एक जीवद्रव्य ही ज्ञानक्रिया सम्पन्न है। इसलिए उस ज्ञानक्रिया द्वारा जीव को समस्त द्रव्यों से भिन्न पहिचानना।

जीव में ही सुख की इच्छा होती है। सिद्ध भगवन्त तो पूर्ण सुखी हो गये। उन्हें अब इच्छा नहीं रही। अजीव को भी सुख की इच्छा नहीं होती। प्रत्येक जीव सुख को चाहता है, ऐसा कहकर यहाँ जड़ की भिन्नता बतलाते हैं। आत्मा के अतीन्द्रिय सुख की अभिलाषा हो या संसार के इन्द्रिय सुख की अभिलाषा हो, वह जीव में ही है। अजीव में वह नहीं होती। सुख नाम का गुण जीव में ही है।

दुःख से भयभीत हो, ऐसी क्रिया भी जीव में ही है। अजीव में कोई दुःख का

डर नहीं होता। देखो! सुख-दुःख कोई कल्पना नहीं है परन्तु जीव की पर्याय में सुख-दुःख होते हैं।

शुभ-अशुभभावोंरूप प्रवर्तन इत्यादि क्रियाओं में भी जीव ही प्रवर्तता है। देखो, यहाँ जीव को दूसरे पदार्थों से भिन्न बतलाना है। इसलिए शुभ-अशुभ का कर्ता कहा है। दृष्टि के विषय का वर्णन हो, वहाँ तो ऐसा कहे कि शुभ-अशुभभाव आत्मा के स्वभाव में नहीं है। आत्मा शुभाशुभ को कर्ता नहीं परन्तु यहाँ तो पर्याय अपेक्षा से बात है, इसलिए आत्मा को शुभाशुभ का कर्ता कहा है। अपने शुभ-अशुभभाव के फलरूप सुख-दुःख का भोक्ता भी जीव स्वयं है। सुख-दुःख के भोगनेरूप क्रिया पर के कारण नहीं होती, परन्तु वह जीव की ही क्रिया है। कोई संयोग उसे सुख-दुःख देने में समर्थ नहीं हैं।

इस प्रकार ज्ञान-दर्शन, सुख-दुःख, शुभ-अशुभ और हर्ष-शोक इत्यादि क्रियाओं का कर्ता जीव ही है, ऐसा जानना। यह जानने-देखने इत्यादि की क्रियाएँ अजीव में नहीं होती। ऐसा पहिचानकर जीव-अजीव का भेदविज्ञान करना, वह अपूर्व धर्म है।

नौ पदार्थों में पहला जीव पदार्थ ऐसा है। ऐसे जीव का भान न करे और बाहर की क्रिया में धर्म मान ले, उसे भटकना मिटता नहीं है। इसलिए पहले जीव क्या और जीव की क्रिया क्या, यह समझना चाहिए। शरीर ऊँचा-नीचा हो, या भाषा बोली जाये, वह तो अजीव की क्रिया है, उस क्रिया में कोई जीव का धर्म नहीं होता। जीव का धर्म तो अपने ज्ञान-दर्शनादि की क्रिया में होता है। 'मन-वचन-काया से करना, कराना, और अनुमोदना' ऐसे नौ कोटि से त्याग करने का कथन आवे, वहाँ उस प्रकार के जीव के भावों को छोड़ने के लिये बात है। कोई जड़ की क्रिया को आत्मा करता नहीं और जड़ की क्रिया को छोड़ने की बात नहीं। करने का, कराने का और अनुमोदन का भाव किसका है? वह भाव तो जीव की पर्याय में होता है, इसलिए उस भाव को छोड़ने की बात है, ऐसा समझना। ऐसा समझे नहीं और आत्मा को जड़ की क्रिया से धर्म-अधर्म माने, उसे तो अभी जीव-अजीव की भिन्नता का भी भान नहीं। उसे धर्म नहीं होता, इसलिए यहाँ जीव-अजीव के लक्षण बतलाकर भेदज्ञान कराया है। ●●

गाथा - १२३

एवमभिगम्म जीवं अण्णेहिं वि पज्जएहिं बहुगेहिं।
अभिगच्छदु अज्जीवं णाणंतरिदेहिं लिंगेहिं ।।१२३।।

एवमभिगम्य जीवमन्यैरपि पर्यायैर्बहुकैः।
अभिगच्छत्वजीवं ज्ञानांतरितैर्लिङ्गैः ।।१२३।।

जीवाजीवव्याख्योपसंहारोपक्षेपसूचनेयम्। एवमनया दिशा व्यवहारनयेन कर्मग्रंथप्रतिपादितजीवगुणमार्गणास्थानादिप्रपञ्चितविचित्रविकल्परूपैः, निश्चयनयेन मोहरागद्वेष-परिणतिसंपादितविश्वरूपत्वात्कदाचिदशुद्धैः कदाचित्तदभावाच्छुद्धैश्चैतन्यविवर्त-ग्रन्थिरूपैर्बहुभिः पर्यायैः जीवमधिगच्छेत्। अधिगम्य चैवमचैतन्यस्वभावत्वात् ज्ञानादर्थांतर-भूतैरितः प्रपंच्यमा-नैर्लिङ्गैर्जीवसंबद्धमसंबद्धं वा स्वतो भेदबुद्धिप्रसिद्ध्यर्थमजीवमधिगच्छेदिति ।।१२३।।

पूर्वोक्त अनेक प्रकार से इस तरह जाना जीव को।
जानो अजीव पदार्थ अब जड़ चिन्ह की पहचान से।।१२३।।

अन्वयार्थ :— [एवम्] इस प्रकार [अन्यैः अपि बहुकैः पर्यायैः] अन्य भी बहुत पर्यायों द्वारा [जीवम् अभिगम्य] जीव को जानकर, [ज्ञानांतरितैः लिङ्गैः] ज्ञान से अन्य ऐसे (जड़) लिंगों द्वारा [अजीवम् अभिगच्छतु] अजीव को जानो।

टीका :— यह, जीव-व्याख्यान के उपसंहार की और अजीव-व्याख्यान के प्रारम्भ की सूचना है।

इस प्रकार इस निर्देश के अनुसार (अर्थात् ऊपर संक्षेप में समझाये अनुसार), (१) व्यवहारनय से [१]कर्मग्रन्थप्रतिपादित जीवस्थान-गुणस्थान-मार्गणास्थान इत्यादि द्वारा [२]प्रपंचित विचित्र भेदरूप बहु पर्यायों द्वारा, तथा (२) निश्चयनय से मोह-राग-द्वेषपरिणतिसंप्राप्त [३]विश्वरूपता के कारण कदाचित् अशुद्ध (ऐसे) और कदाचित्

---

१. कर्मग्रन्थप्रतिपादित = गोम्मटसारादि कर्मपद्धति के ग्रन्थों में प्ररूपित—निरूपित।
२. प्रपंचित = विस्तारपूर्वक कही गई।
३. मोहरागद्वेषपरिणति के कारण जीव को विश्वरूपता अर्थात् अनेकरूपता प्राप्त होती है।

उसके (-मोहरागद्वेषपरिणति के) अभाव के कारण शुद्ध ऐसी [१]चैतन्यविवर्तग्रन्थिरूप बहुपर्यायों द्वारा, जीव को जानो। इस प्रकार जीव को जानकर, अचैतन्यस्वभाव के कारण, [२]ज्ञान से अर्थान्तरभूत ऐसे, यहाँ से (अबकी गाथाओं में) कहे जानेवाले लिंगों द्वारा, [३]जीव-सम्बद्ध या जीव-असम्बद्ध अजीव को, अपने से भेदबुद्धि की प्रसिद्धि के अर्थ से जानो॥ १२३॥

इस प्रकार जीवपदार्थ का व्याख्यान समाप्त हुआ।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ८, शुक्रवार

अब जीव-अजीव के व्याख्यान को संक्षेप में कहते हैं।

इस प्रकार दूसरी भी अनेक पर्यायों से आत्मा को जानकर, ज्ञान से भिन्न स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि चिह्न से पुद्गलादि पाँच अजीव द्रव्यों को जानो।

इस प्रकार ज्ञान-दर्शनादि क्रिया द्वारा जीव को अन्य द्रव्यों से भिन्न बतलाया। इस प्रकार गुणस्थान, जीवस्थान इत्यादि अन्य पर्यायों से भी जीव को अन्य अजीव द्रव्यों से भिन्न पहिचान लेना। देखो! समयसार, नियमसार इत्यादि में जीव के अखण्ड स्वभाव की अधिकता बतलाने के लिये गुणस्थान, जीवस्थान इत्यादि को अजीव के परिणाम कहा है, वहाँ पर्याय गौण करके द्रव्यदृष्टि का विषय बताया है और यहाँ तो अजीवद्रव्यों से भिन्नता बतलाने के लिये जीव की पर्याय द्वारा जीव को बतलाया है। मिथ्यात्वादि

---

१. ग्रन्थि = गाँठ। [जीव की कदाचित् अशुद्ध और कदाचित् शुद्ध ऐसी पर्यायें चैतन्यविवर्तकी—चैतन्यपरिणाम की—ग्रन्थियाँ हैं; निश्चयनय से उनके द्वारा जीव को जानो।]

२. ज्ञान से अर्थान्तरभूत = ज्ञान से अन्यवस्तुभूत; ज्ञान से अन्य अर्थात् जड़। [अजीव का स्वभाव अचैतन्य होने के कारण ज्ञान से अन्य ऐसे जड़ चिह्नों द्वारा वह ज्ञात होता है।]

३. जीव के साथ सम्बद्ध या जीव साथ असम्बद्ध ऐसे अजीव को जानने का प्रयोजन यह है कि समस्त अजीव अपने से (स्वजीव से) बिल्कुल भिन्न हैं, ऐसी बुद्धि उत्पन्न हो।

चौदह गुणस्थान हैं, वे सब भाव जीव की पर्याय में होते हैं, वे कहीं अजीव के कारण नहीं होते। त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि कराने के लिये उन्हें कर्मजनित कहा है, परन्तु **वहाँ तो पर्याय को अन्तर्मुख करके अभेद स्वभाव बतलाने का अभिप्राय है। यदि पर्याय को ही पराधीन—कर्म के कारण मान ले, तब तो अन्तर्मुख होकर अभेद स्वभाव की दृष्टि कहाँ से करेगा ? क्योंकि अभेद स्वभाव को दृष्टि में लेनेवाली तो पर्याय है। उस पर्याय को ही जिसने पर के कारण माना है, वह जीव पर्याय को अन्तरस्वभाव के सन्मुख नहीं कर सकेगा, इसलिए निश्चित करना चाहिए कि जितनी जीव की पर्यायें हैं, वे सब जीव के स्वयं के कारण ही होती है।** ऐसा आत्मा की पर्यायों का विलास है। उस पर्याय के विलास से जीवतत्त्व को जान लेना। निगोद की दशा, नरकादि की दशा इत्यादि समस्त दशाओं में भी जीवतत्त्व का विलास है। जगत के जो बाह्य पदार्थ दिखते हैं, उनमें तो जड़ का विलास है; उनमें आत्मा का विलास नहीं। आत्मा का विलास तो अपनी पर्याय में ही है। ऐसे जीव की पर्याय द्वारा जीव को पहिचानना। जीव की शुद्धपर्याय या अशुद्धपर्याय के द्वारा जीवतत्त्व ही पहिचाना जाता है और अचेतनपने के द्वारा अजीवतत्त्व पहिचाने जाते हैं।

कदाचित् मोह-राग-द्वेष इत्यादि अशुद्ध पर्यायें हैं, वह अशुद्ध निश्चयनय से जीव हैं। उस अशुद्धपर्याय से जीवतत्त्व ज्ञात होता है, क्योंकि वह पर्याय जीव की है। और वह अशुद्धता टलकर जीव को शुद्धपर्याय प्रगट हो, उस शुद्धपर्याय द्वारा भी जीवतत्त्व ज्ञात होता है।

इस प्रकार सर्वज्ञदेव प्रणीत आगम के अनुसार अनेक प्रकार के नयविलास से जीवतत्त्व को जानना और जड़स्वभाव द्वारा अजीवतत्त्व को पहिचानना। कर्म, नोकर्म, और पृथक् रजकण, वे सभी अजीव हैं। जीव ज्ञान-दर्शनमय है, वह अजीव से भिन्न है। इस प्रकार जीव के लक्षण से जीव को जानना और अजीव के लक्षण से अजीव को जानना। इस प्रकार जीव-अजीव का भेदज्ञान कराने के लिये ही यह जीव-अजीव के पृथक् लक्षण बतलाये हैं।

जीव-अजीव का भेदज्ञान किये बिना पर में से एकत्वबुद्धि टलती नहीं और उसके बिना धर्म होता नहीं। देखो! यह समझे बिना जन्म-मरण की थकान उतरे, ऐसा

नहीं है। तुझे अनन्त जन्म-मरण की थकान उतारना हो तो ज्ञानादि लक्षणों द्वारा तेरे जीवतत्त्व को अजीव से भिन्न पहिचानकर तेरे जीवस्वभाव में विश्राम ले।

अभव्य जीव को भी जो मिथ्यात्वादि भाव हैं, वे कर्म के कारण नहीं, परन्तु उसकी अपनी पर्याय के कारण ही है। इस प्रकार नौ तत्त्वों में जीव को अजीव से भिन्न जानना। नौ तत्त्वों में जीवतत्त्व को समझने का तात्पर्य है। नौ तत्त्व में जीव की पर्याय को पर्यायरूप से जानता है और द्रव्य को द्रव्यरूप से जानता है, उस ज्ञान का जोर अखण्ड द्रव्य की ओर ढले बिना नहीं रहता, क्योंकि द्रव्य को द्रव्यरूप से जाना और पर्याय को पर्यायरूप से जाना, वहाँ पर्याय से द्रव्य का सामर्थ्य अनन्तगुना है, ऐसा भी उस ज्ञान ने जाना है, इसलिए उस ज्ञान का झुकाव अखण्ड द्रव्य की ओर ढले बिना नहीं रहता। इस प्रकार नौ तत्त्व के ज्ञान में भी अभेद द्रव्य की ओर का ही झुकाव आ जाता है।

इस प्रकार नौ तत्त्व में से जीवतत्त्व का वर्णन यहाँ पूरा हुआ। ●●

जगत में बलिहारी है

अहो! सन्तों के श्रीमुख से आत्मा के आनन्द की अथवा सम्यग्दर्शन की बात सुनने पर भी आत्मार्थी जीव को कैसा उल्लास आता है! सन्तों के हृदय में से प्रवाहित वह आनन्द का झरना कैसी भी प्रतिकूलता को भूला देता है और परिणति को सुख-सागर स्वभाव की ओर ले जाता है। यही मुमुक्षु का जीवन ध्येय है।

अहा! सम्यग्दर्शन कैसी परम शरणभूत वस्तु है कि किसी भी प्रसङ्ग में उसे स्मरण करने से जगत का सम्पूर्ण दुःख विस्मृत होकर आत्मा में आनन्द की स्फुरणा जागृत होती है। तब उस सम्यग्दर्शन के साक्षात् वेदन की क्या बात! वस्तुतः उन आनन्दमग्न समकिती सन्तों की जगत में बलिहारी है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, रत्न संग्रह, पृष्ठ २

गाथा - १२४

आगासकालपुग्गलधम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा।
तेसिं अचेदणत्तं भणिदं जीवस्स चेदणदा ।।१२४।।

आकाशकालपुद्गलधर्माधर्मेषु न सन्ति जीवगुणाः।
तेषामचेतनत्वं भणितं जीवस्य चेतनता ।।१२४।।

अथ अजीवपदार्थव्याख्यानम्। आकाशादीनामेवाजीवत्वे हेतूपन्यासोयम्। आकाशकालपुद्गलधर्माधर्मेषु चैतन्यविशेषरूपा जीवगुणा नो विद्यंते, आकाशादीनां तेषामचेतनत्वसामान्यत्वात्। अचेतनत्वसामान्यञ्चाकाशादीनामेव, जीवस्यैव चेतनत्वसामान्यादिति ।।१२४।।

अब, अजीवपदार्थ का व्याख्यान है।

जीव के गुण हैं नहीं जड़ पुद्गलादि पदार्थ में।
उनमें अचेतनता कही चेतनपना है जीव में।।१२४।।

अन्वयार्थ :— [आकाशकालपुद्गलधर्माधर्मेषु] आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्म में [जीवगुणाः न सन्ति] जीव के गुण नहीं है; (क्योंकि) [तेषाम् अचेतनत्वं भणितम्] उन्हें अचेतनपना कहा है, [जीवस्य चेतनता] जीव को चेतनता कही है।

टीका :— यह, आकाशादि का ही अजीवपना दर्शाने के लिए हेतु का कथन है।

आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्म में चैतन्यविशेषोंरूप जीवगुण विद्यमान नहीं है; क्योंकि उन आकाशादि को अचेतनत्वसामान्य है और अचेतनत्वसामान्य आकाशादि को ही है, क्योंकि जीव को ही चेतनत्वसामान्य है॥ १२४॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ८, शुक्रवार

अब अजीवतत्त्व की बात करते हैं।

आकाशद्रव्य, कालद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य—इन पाँच द्रव्यों में सुख, सत्ता, बोध, चैतन्यादि जीव के गुण नहीं हैं, भगवान ने इन पाँचों द्रव्यों में चेतनारहित जड़ भाव कहा है। चैतन्यभाव एक जीवद्रव्य को ही कहा गया है।

'सचेतन वनस्पति', ऐसा कहा जाता है, वहाँ वास्तव में बाहर में जो हरी वनस्पति दिखती है, वह वनस्पति तो जड़ है। जीव तो चैतन्यलक्षणवाला है। वह अजीव से भिन्न है। जीव-अजीव इत्यादि नौ तत्त्वों को जानकर उसमें उपादेयरूप तो ज्ञायकमूर्ति शुद्ध जीव ही है। जाननेयोग्य तो सब तत्त्व हैं, परन्तु वह जानकर शुद्ध ज्ञायक भूतार्थ जीव को आदरणीय करना, यह तात्पर्य है। ●●

अहा! अद्भुत मुनिदशा

मुनिराज बारम्बार वीतरागतारूप से, जिसमें अनन्तगुणों का वास है ऐसे निज चैतन्यनगर में / अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द के धाम में प्रविष्ट होकर अद्भुत ऋद्धि को अनुभवते हैं। अहा! अद्भुत मुनिदशा!

मुनिराज ने शुभोपयोग से भिन्न होकर अन्तर में आनन्द के नाथ का अनुभव किया है; जो आनन्द की दशा प्रगट हुई, उसे रखते हैं और जो प्रगट नहीं हुई, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे मुनिराज निर्विकल्पदशा से परिणमित होकर, बाह्य से शून्य होकर अन्तर में प्रवेश करते हैं; वहाँ शून्यता नहीं है। मुनि तो अतीन्द्रिय आनन्द की अद्भुतदशा को अनुभवते हैं।

अहा! उन भावलिङ्गी/आनन्द की मस्ती में झूलनेवाले मुनिराज की क्या-क्या बात कहें! वर्तमान में तो उनके दर्शन भी दुर्लभ हो गये हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २७४

गाथा - १२५

सुहदुक्खजाणणा वा हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं तं समणा बेंति अज्जीवं।।१२५।।

सुखदुःखज्ञानं वा हितपरिकर्म चाहितभीरुत्वम्।
यस्य न विद्यते नित्यं तं श्रमणा विंदंत्यजीवम्।।१२५।।

आकाशादीनामचेतनत्वसामान्ये पुनरनुमानमेतत्। सुखदुःखज्ञानस्य हितपरिकर्मणोऽहितभीरुत्वस्य चेति चैतन्यविशेषाणां नित्यमनुपलब्धेरविद्यमानचैतन्यसामान्या एवाकाशादयोऽजीवा इति ।।१२५।।

सुख-दुःख का वेदन नही, हित-अहित में उद्यम नही।
ऐसे पदार्थ अजीव है, कहते श्रमण उसको सदा।।१२५।।

अन्वयार्थ :— [सुखदुःखज्ञानं वा] सुख-दुःख का ज्ञान, [हितपरिकर्म] हित का उद्यम [च] और [अहितभीरुत्वम्] अहित का भय— [यस्य नित्यं न विद्यते] यह जिसे सदैव नहीं होते, [तम्] उसे [श्रमणाः] श्रमण [अजीवम् ब्रुवन्ति] अजीव कहते हैं।

टीका :— यह पुनश्च, आकाशादि का अचेतनत्वसामान्य निश्चित करने के लिए अनुमान है।

आकाशादि को सुखदुःख का ज्ञान, [१]हित का उद्यम और अहित का भय— इन चैतन्यविशेषों की सदा अनुपलब्धि है (अर्थात् यह चैतन्यविशेष आकाशदि को किसी काल नहीं देखे जाते), इसलिए (ऐसा निश्चित होता है कि) आकाशादि

---

१. हित और अहित के सम्बन्ध में आचार्यवर श्री जयसेनाचार्यदेवकृत तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में निम्नोक्तानुसार विवरण है :— अज्ञानी जीव फूल की माला, स्त्री, चन्दनादि को तथा उनके कारणभूत दानपूजादि को हित समझते हैं और सर्प, विष, कण्टकादि को अहित समझते हैं। सम्यग्ज्ञानी जीव अक्षय अनन्त सुख को तथा उसके कारणभूत निश्चयरत्नत्रयपरिणत परमात्मद्रव्य को हित समझते हैं और आकुलता के उत्पादक ऐसे दुःख को तथा उसके कारणभूत मिथ्यात्वरागादिपरिणत आत्मद्रव्य को अहित समझते हैं।

अजीवों को चैतन्यसामान्य विद्यमान नहीं है।

भावार्थः—जिसे चेतनत्वसामान्य हो, उसे चेतनत्वविशेष होना ही चाहिए। जिसे चेतनत्वविशेष न हो, उसे चेतनत्वसामान्य भी नहीं होता। अब, आकाशादि पाँच द्रव्यों को सुखदुःख का संचेतन, हित के लिए प्रयत्न और अहित के लिये की भीति— यह चेतनत्वविशेष कभी देखे नहीं जाते; इसलिए निश्चित होता है कि आकाशादि को चेतनत्वसामान्य भी नहीं है, अर्थात् अचेतनत्वसामान्य ही है॥ १२५॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ९, शनिवार

छह द्रव्यों की स्वतन्त्रता की बात पूर्व में आ गयी थी, तथापि वापस अजीव का अधिकार क्यों? ऐसा कोई **प्रश्न** करे तो उसका **समाधान** यह है कि यहाँ अजीव की व्याख्या दूसरे ढंग से आयी है। जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय जैसे हैं, वैसे अजीव में नहीं हैं। जिस द्रव्य में सुख-दुःख नहीं, वह अजीव है। कर्म में, पुद्गल में, शरीर, वाणी, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इत्यादि द्रव्यों में सुख-दुःख अथवा जानपना नहीं है, ये अजीवद्रव्य हैं। कोई जीव भय के कारण डरता है और भागता है तो वहाँ डर अथवा दुःख शरीर को नहीं है। जीव को दुःख अथवा डर लगता है। वह भय कर्म की पर्याय में नहीं है। शरीर का क्षेत्रान्तर शरीर के कारण से है और आत्मा का क्षेत्रान्तर आत्मा के कारण से है। शरीर, कर्म आदि अजीव पदार्थ में सुख-दुःख नहीं होता। जिस द्रव्य में सुख-दुःख का जानपना अथवा उत्तम कार्यों में प्रवृत्ति अथवा दुःखदायक कार्यों से भय नहीं, ऐसे द्रव्यों को गणधरादिक ज्ञानी अजीव पदार्थ जानते हैं।

भावार्थ - जिन द्रव्यों में सुख-दुःख का जानपना नहीं, वे अजीव हैं और जिन द्रव्यों में इष्ट-अनिष्ट कार्य करने की शक्ति नहीं, वे अजीव हैं। आँख, कान, जीभ में हिताहित बुद्धि नहीं है। इन द्रव्यों के विषय में अनुमान होता है कि ये पदार्थ चेतनागुणरहित हैं। ये आकाशादि पाँच द्रव्य हैं। हिताहित की प्रवृत्ति इन किसी भी द्रव्य में नहीं, इसलिए उस अजीव जानना चाहिए। ●●

गाथा - १२६-१२७

संठाणा संघादा वण्णरसफ्फासगंधसद्दा य ।
पोग्गलदव्वप्पभवा होंति गुणा पज्जया य बहू ।। १२६ ।।
अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।। १२७ ।।

संस्थानानि संघाताः वर्णरसस्पर्शगन्धशब्दाश्च ।
पुद्गलद्रव्यप्रभवा भवन्ति गुणां पर्यायाश्च बहवः ।। १२६ ।।
अरसमरूपमगन्धमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिङ्गग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ।। १२७ ।।

जीवपुद्गलयोः संयोगेऽपि भेदनिबन्धनस्वरूपाख्यानमेतत् ।

यत्खलु शरीरशरीरिसंयोगे स्पर्शरसगन्धवर्णगुणत्वासशब्दत्वात्संस्थानसङ्घ । तादिपर्याय-परिणतत्वाच्च इन्द्रियग्रहणयोग्यं, तत्पुद्गलद्रव्यम् । यत्पुनरस्पर्शरसगन्धवर्णगुणत्वादशब्दत्वाद-निर्दिष्टसंस्थानत्वादव्यक्तत्वादिपर्यायैः परिणतत्वाच्च नेन्द्रियग्रहणयोग्यं, तच्चेतनागुणत्वात् रूपिभ्योऽरूपिभ्यश्चाजीवेभ्यो विशिष्टं जीवद्रव्यम् । एवमिह जीवाजीवयोर्वास्तवो भेदः सम्यग्ज्ञानिनां मार्गप्रसिद्ध्यर्थं प्रतिपादित इति ।। १२-१२७)

इति अजीवपदार्थव्याख्यानं समाप्तम् ।

संस्थान अर संघात रस-गँध-वरण शब्द स्पर्श जो ।
वे सभी पुद्गल दशा में पुद्गल दरव निष्पन्न हैं ।।१२६।।

चेतना गुण युक्त आतम अशब्द अरस अगंध है ।
है अनिर्दिष्ट अव्यक्त वह, जानो अलिंगग्रहण उसे ।।१२७।।

अन्वयार्थ :— [संस्थानानि] (समचतुरस्त्रादि) संस्थान, [संघाताः] (औदारिकशरीर सम्बन्धी) संघात, [वर्णरसस्पर्शगंधशब्दाः च] वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द—[बहवः गुणाः पर्यायाः च] ऐसे जो बहु गुण और पर्यायें हैं, [पुद्गलद्रव्यप्रभवाः भवन्ति] वे पुद्गलद्रव्यनिष्पन्न हैं।

[अरसम् अरूपम् अगंधम्] जो अरस, अरूप तथा अगन्ध है, [अव्यक्तम्] अव्यक्त है, [अशब्दम्] अशब्द है, [अनिर्दिष्टसंस्थानम्] अनिर्दिष्ट संस्थान है। (अर्थात् जिसका कोई संस्थान नहीं कहा ऐसा है), [चेतनागुणम्] चेतनागुणवाला है और [अलिंगग्रहणम्] इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य है, [जीवं जानीहि] उसे जीव जानो।

टीका :— जीव-पुद्गल के संयोग में भी, उनके भेद के कारणभूत स्वरूप का यह कथन है (अर्थात् जीव और पुद्गल के संयोग में भी जिसके द्वारा उनका भेद जाना जा सकता है, ऐसे उनके भिन्न-भिन्न स्वरूप का यह कथन है)।

शरीर और [१]शरीरी के संयोग में, (१) जो वास्तव में स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-गुणवाला होने के कारण, सशब्द होने के कारण तथा संस्थान-संघातादि पर्यायोंरूप से परिणत होने के कारण इन्द्रियग्रहणयोग्य है, वह पुद्गलद्रव्य है; और (२) जो स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-गुणरहित होने के कारण, अशब्द होने के कारण, अनिर्दिष्टसंस्थान होने के कारण तथा [२]अव्यक्तत्वादि पर्यायोंरूप से परिणत होने के कारण इन्द्रियग्रहणयोग्य नहीं है, वह चेतनागुणमयपने के कारण रूपी तथा अरूपी अजीवों से [३]विशिष्ट (भिन्न) ऐसा जीवद्रव्य है।

इस प्रकार यहाँ जीव और अजीव का वास्तविक भेद सम्यग्ज्ञानियों के मार्ग की प्रसिद्धि के हेतु प्रतिपादित किया गया।

[भावार्थ :— अनादि मिथ्यावासना के कारण जीवों को स्वयं कौन है, उसका वास्तविक ज्ञान नहीं है और अपने को शरीरादिरूप मानते हैं। उन्हें जीवद्रव्य तथा अजीवद्रव्य का यथार्थ भेद दर्शाकर मुक्ति का मार्ग प्राप्त कराने के हेतु यहाँ जड़-पुद्गलद्रव्य के और चेतन जीवद्रव्य के वीतरागसर्वज्ञकथित लक्षण कहे गए। जो जीव उन लक्षणों को जानकर, अपने को स्वतःसिद्ध स्वतन्त्र द्रव्यरूप से पहिचानकर, भेदविज्ञानी अनुभवी होता है, वह निजात्मद्रव्य में लीन होकर, मोक्षमार्ग को साधकर शाश्वत निराकुल सुख का भोक्ता होता है]॥ १२६-१२७॥

---

१. शरीरी = देही; शरीरवाला (अर्थात् आत्मा)।

२. अव्यक्तत्वादि = अव्यक्तत्व आदि; अप्रगटत्व आदि।

३. विशिष्ट = भिन्न; विलक्षण; खास प्रकार का।

इस प्रकार अजीव पदार्थ का व्याख्यान समाप्त हुआ।

दो मूलपदार्थ कहे गये। अब (उनके) संयोगपरिणाम से निष्पन्न होनेवाले अन्य सात पदार्थों के उपोद्घात के हेतु जीवकर्म और पुद्गलकर्म के चक्र का वर्णन किया जाता है।

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल-९, शनिवार

जीव-पुद्गल का संयोग दिखता है। एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है, परन्तु परस्पर लक्षणभेद है।

यह १२७ वीं गाथा समयसार में ४९ वीं, प्रवचनसार में १७२वीं, नियमसार में ४६वीं और भावपाहुड़ में ६४वीं है।

जीव-पुद्गल के संयोग में समचतुरस्रादि छह प्रकार के संस्थान हैं। अथवा वज्रवृषभनाराच आदि संहनन हैं। वे सब जड़ हैं, वे जीव की पर्याय नहीं। पाँच वर्ण, पाँच रस, आठ स्पर्श, दो गन्ध तथा शब्द पुद्गलजन्य गुण तथा पर्यायें हैं। यह भाषा बोली जाती है, वह जड़ है, वह जीव से नहीं बोली जाती।

कोई **पूछे** कि छद्मस्थ को इच्छा है, इसलिए वाणी बोली जाती है, ऐसा मेल तो दिखता है ?

समाधान : भाषा जड़ से हुई है, जीव से हुई नहीं, जड़ की अवस्था जड़ के कारण से है और जीव के परिणाम जीव के कारण से है, किसी के कारण से कोई नहीं है।

जीव कैसा है ? जीव में रसगुण नहीं, अव्यक्त है, ज्ञान-दर्शनगुणवाला है, शब्द पर्यायरहित है। इन्द्रियादि चिह्नों से ज्ञात हो, ऐसा नहीं। आत्मा के कारण से शब्द होता नहीं तथा इन्द्रियों से आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं। राग और पुण्य से भी ज्ञात हो, ऐसा नहीं, मनयोग की क्रिया से या दूसरे इन्द्रिय की क्रिया से ज्ञात हो, ऐसा नहीं। अतीन्द्रिय

ज्ञान से ज्ञात हो, ऐसा है और उसे जड़ का आकार नहीं, परन्तु अपना आकार है।

भावार्थ : अनादि मिथ्यावासना से आत्मद्रव्य पुद्गल के सम्बन्ध से अपने विभाव और अज्ञान के कारण से शरीर और इन्द्रियों को अपना मानता है। देवगति में जाये तो देवशरीरादि के प्रकार जैसे दिखाई दें, उन्हें अपने मानकर वासना किया करता है। पूर्व कर्म के निमित्त से जैसा शरीर, आँख, नाक, कान, कण्ठ इत्यादि मिले, वे मानो कि मेरे कारण से मिले हैं और वे मेरे अधिकार में हैं, ऐसा मानकर मिथ्यावासना किया करता है और उसमें अहंभाव करता है। शरीर चलने पर मैं चला मानता है, पैसा नजदीक आने पर यह पैसा मेरा, तथा यह पुत्र मेरे, गुरु मेरे—ऐसा अज्ञानभाव करता है। देव का शरीर मिलने पर मैं देव हुआ। मनुष्य शरीर मिलने पर मैं मनुष्य हुआ, ऐसा मानकर अहंभाव सेवन करता है। वह मिथ्याभाव की प्रवृत्ति अपनी पर्याय में अपने कारण से होती है। तथापि पर के कारण से भ्रान्ति हुई, ऐसा मान रहा है। संयोग हट जाते हैं, विकार टल जाता है, अकेला चैतन्यस्वभाव रह जाता है। यह बात अज्ञानी को बैठती नहीं।

और कोई कहे कि हिले-चले, वह जीव; बोले, वह जीव—ऐसा मानकर बैठा है। कोई समाज ने अथवा लोगों ने महिमा की कि अमुक भाई बहुत अच्छे हैं, अज्ञानी को यह बात रुच गयी। अब समाज की दृष्टि से कैसे अच्छा दिखाई दूँ और ये सब मुझे अच्छा कहते रहें, ऐसी पैरवी में अज्ञानी जीव रहा करता है। यह मिथ्यावासना है।

वीतराग सर्वज्ञदेव ने दोनों द्रव्यों के लक्षण भिन्न कहे हैं। जड़ का लक्षण अचेतनपना है और जीव का लक्षण चेतनपना है। दोनों भिन्न हैं, तथापि मेरे बिना शरीर चलता नहीं, वाणी बोली नहीं जाती—ऐसी मिथ्यावासना चालू रखी है, तब तक अधर्म को सेवन कर रहा है।

यह कुटुम्बी मेरे हैं, ऐसी भाषा बोली जाती है; इसलिए कहीं वे मेरे हो नहीं जाते। वाणी वाणी के कारण से है, शरीर शरीर के कारण से है, कर्म कर्म के कारण से है। परपदार्थ, शरीर और कर्म कहीं राग नहीं कराते तथा ज्ञान नहीं कराते। राग, वह चारित्रगुण की विपरीत पर्याय है, वह ज्ञान जीव की पर्याय है, परन्तु मिथ्यादृष्टि को अन्यथा भासित होता है।

जीव और अजीव का भेद जानकर जो जीव भेदविज्ञानी होकर आत्मा का अनुभवी होता है, वह मोक्षमार्ग को साधकर निराकुल सुख का भोक्ता होता है। अजीव की परिणति अजीव में है, जीव की परिणति जीव में है। पर के कारण से मुझे राग और संसार नहीं, मैं तो पर का तथा राग का जाननेवाला हूँ, ऐसा भेदविज्ञान करता है, वह सुख भोगता है।

और जो जीव को अजीव से भिन्न बतलावे और राग-द्वेषरहितरूप से आत्मा का स्वरूप बतावे, वे सच्चे देव हैं। ऐसा सच्चा प्ररूपित करे, वे सच्चे गुरु हैं और ऐसा कहनेवाली वाणी अथवा शास्त्र, वे सच्चे शास्त्र हैं, परन्तु जो जीव और अजीव की एकता बतलावे, वे देव-गुरु-शास्त्र सच्चे नहीं।

धर्मी जीव विचारता है कि अहो! राग मेरे चारित्रगुण की विपरीत पर्याय है। ज्ञान-दर्शन की हीन अवस्था, वह भी मेरे कारण से है, श्रद्धा सुलटी हुई, वह मेरी श्रद्धागुण की अवस्था है। ऐसे वे परिणाम मेरे गुणों के हैं। जड़ का परिणमन जड़ में जड़ के कारण से है। ऐसे जीव और अजीव का भेदज्ञान करता है, वह मोक्षमार्ग साधता है। पर का सम्बन्ध रखकर भेदज्ञान साधता है, ऐसा नहीं कहा, परन्तु पर से पृथक् पड़कर भेदज्ञान साधता है। इस प्रकार भेदज्ञान साधता है, वह शान्ति का अनुभव करता है।

इस कारण से जीव-पुद्गल के लक्षणभेद बताये जाते हैं। आत्मा और शरीर इन दो का सम्बन्ध है। उसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण इत्यादि गुण तथा शब्द, संस्थान, संहनन इत्यादि मूर्त पर्यायोंस्वरूप परिणत है। तथा जो इन्द्रिय ग्रहणयोग्य है, वे सब पुद्गलद्रव्य हैं। वाणी पुद्गलद्रव्य की पर्याय है। जो जो इन्द्रियों से ग्रहण होते हैं, वह सब पुद्गलद्रव्य है।

जिस द्रव्य में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण गुण नहीं, शब्द से न्यारा है, जड़ के आकाररहित है, इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं, अर्थात् कि जो अतीन्द्रिय है, चेतनागुणवाला है, मूर्तिक-अमूर्तिक अजीव पदार्थों से भिन्न अमूर्तिक चेतन वस्तुमात्र है, वह जीव पदार्थ जानना।

कोई कहे कि 'वाणी जोरदार बोलनी चाहिए कि जिससे दूसरे के ऊपर प्रभाव

पड़े'—तो उससे कहते हैं कि भाई! वह पदार्थ क्रियारहित है कि यह पदार्थ आवे तो उसमें कार्य हो? द्रव्य को पर्याय का कभी विरह पड़ता है? नहीं, प्रत्येक पदार्थ क्रिया सम्पन्न है। आत्मा भाषा बोलता नहीं और भाषा से दूसरे जीव में प्रभाव पड़ता नहीं।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, शरीर और विकार से भिन्न है, पर के आकाररहित और स्वआकार सहित है, इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं। चैतन्यगुप्त है।

यहाँ कोई **प्रश्न** करे कि **तो फिर वाँचना या सुनना किसलिए?**

तो उसका **समाधान :** सुनने के योग के समय आत्मा को सुनने का राग आता है, परन्तु आत्मा उस राग से भिन्न है। आत्मा तो चेतनागुणवाला है। उन गुणों से वह अभेद है। शरीर, मन, वाणी आदि मूर्तिक द्रव्य से और धर्मादि चार अमूर्तिक द्रव्यों से आत्मा भिन्न है। और शास्त्र में कर्म के निमित्त से उपचार से आत्मा को मूर्त कहा है, परन्तु अज्ञानी जीव वास्तव में उसे मूर्त मान लेता है, वह भ्रान्ति है, परन्तु वास्तव में आत्मा मूर्त नहीं है।

इस प्रकार अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक पदार्थों और दूसरे अमूर्तिक पदार्थों से भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान करना, वह धर्म है। इस प्रकार जीव-अजीव पदार्थों में लक्षणभेद है।

●●

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं

वीतरागी सन्तों को, मुनियों को अन्तरस्वरूप में रहना, स्थिर होना; यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि उनकी तो स्वभाव-परिणति की स्थिति ही ऐसी है। मुनिराज तो दिन में हजारों बार छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं। इस प्रकार एक दिन में हजारों बार अप्रमत्त दशा आती है। क्षण में सातवाँ गुणस्थान आने पर आनन्द में लीन हो जाते हैं और क्षण में फिर विकल्प उत्पन्न होने पर छठवाँ गुणस्थान आ जाता है, पुनः सातवाँ गुणस्थान आता है और फिर पुनः छठवाँ गुणस्थान आता है। देखो! यह मुनिदशा! जैनदर्शन / वास्तविक दर्शन के सन्त ऐसे होते हैं। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/५६*

गाथा - १२८-१३०

उक्तौ मूलपदार्थौं । अथ संयोगपरिणामनिर्वृत्तेतरसप्तपदार्थानामुपोद्घातार्थं जीवपुदगल-कर्मचक्रमनुवर्ण्यते ।

खो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ।। १२८ ।।
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते ।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ।। १२९ ।।
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ।। १३० ।।

य: खलु संसारस्थो जीवस्ततस्तु भवति परिणाम:।
परिणामत्कर्म कर्मणो भवति गतिषु गति:।। १२८ ।।
गतिमधिगतस्य देहो देहादिन्द्रियाणि जायन्ते।
तैस्तु विषयग्रहणं ततो रागो वा द्वेषो वा ।। १२९ ।।
जायते जीवस्यैवं भाव: संसारचक्रवाले।
इति जिनवरैर्भणितोऽनादिनिधन: सनिधनो वा।। १३० ।।

इह हि संसारिणो जीवादनादिबन्धनोपाधिवशेन स्निग्ध: परिणामो भवति । परिणामामात्पुन: पुद्गलपरिणामात्मकं कर्म । कर्मणो नारकादिगतिषु गति: । गत्यधिगमनाद्देह: । देहादिन्द्रियाणि । इन्द्रियेभ्यो विषयग्रहणम् । विषयग्रहणाद्रागद्वेषौ । रागद्वेषाभ्यां पुन: स्निग्ध: परिणाम: । परिणामात्पुन: पुद्गलपरिणामात्मकं कर्म । कर्मण: पुनर्नारकादिगतिषु गति: । गत्यधिगमनात्पुनर्देह: । देहात्पुन-रिन्द्रियाणि । इन्द्रियेभ्य: पुनर्विषयग्रहणम् । विषयग्रहणात्पुना रागद्वेषौ । रागद्वेषाभ्यां पुनरपि स्निग्ध: परिणाम:। एवमिदमन्योन्यकार्यकारणभूतजीवपुद्गल-परिणामात्मकं कर्मजालं संसारचक्रे जीवस्या-नाद्यनिधनं अनादिसनिधनं वा चक्रवत्परिवर्तते । तदत्र पुद्गलपरिणामनिमित्तो जीवपरिणामो जीव-परिणामनिमित्त: पुद्गलपरिणामश्च वक्ष्यमाण-पदार्थबीजत्वेन संप्रधारणीय इति ।। १२८-१३० ।।

संसार तिष्ठें जीव जो रागादि युत होते रहें।
रागादि से हो कर्म आस्रव करम से गति-गमन हो ।।१२८।।

गति में सदा हो प्राप्त तन-तन इन्द्रियों से सहित हो।
इन्द्रियों से विषयग्रहण अर विषय से फिर राग हो।।१२९।।
रागादि से भवचक्र में प्राणी सदा भ्रमते रहें।
हैं अनादि अनन्त अथवा, सनिधन जिनवर कहे।।१३०।।

अन्वयार्थ :— [यः] जो [खलु] वास्तव में [संसारस्थः जीवः] संसारस्थित जीव है। [ततः तु परिणामः भवति] उससे परिणाम होता है। (अर्थात् उसे स्निग्ध परिणाम होता है), [परिणामात् कर्म] परिणाम से कर्म और [कर्मणः] कर्म से [गतिषु गतिः भवति] गतियों में गमन होता है।

[गतिम् अधिगतस्य देहः] गति प्राप्त को देह होती है, [देहात् इन्द्रियाणि जायंते] देह से इन्द्रियाँ होती हैं, [तैः तु विषयग्रहणं] इन्द्रियों से विषयग्रहण और [ततः रागः वा द्वेषः वा] विषयग्रहण से राग अथवा द्वेष होता है।

[एवं भावः] ऐसे भाव, [संसारचक्रवाले] संसारचक्र में [जीवस्य] जीव को [अनादिनिधनः सनिधनः वा] अनादि-अनन्त अथवा अनादि-सान्त [जायते] होते रहते हैं—[इति जिनवरैः भणितः] ऐसा जिनवरों ने कहा है।

टीकाः—इस लोक में संसारी जीव से अनादि बन्धनरूप उपाधि के वश स्निग्ध परिणाम होता है; परिणाम से पुद्गलपरिणामात्मक कर्म; कर्म से नरकादि गतियों में गमन; गति की प्राप्ति से देह; देह से इन्द्रियाँ; इन्द्रियों से विषयग्रहण; विषयग्रहण से राग-द्वेष; राग-द्वेष से फिर स्निग्ध परिणाम; परिणाम से फिर पुद्गलपरिणामात्मक कर्म; कर्म से फिर नरकादि गतियों में गमन; गति की प्राप्ति से फिर देह; देह से फिर इन्द्रियाँ; इन्द्रियों से फिर विषयग्रहण; विषयग्रहण से फिर राग-द्वेष; राग-द्वेष से फिर पुनः स्निग्ध परिणाम। इस प्रकार वह अन्योन्य [१]कार्यकारणभूत जीवपरिणामात्मक और पुद्गलपरिणामात्मक कर्मजाल संसारचक्र में जीव को अनादि-अनन्तरूप से अथवा अनादि-सान्तरूप से चक्र की भाँति पुनः-पुनः होते रहते हैं।

---

१. कार्य अर्थात् नैमित्तिक और कारण अर्थात् निमित्त। [जीवपरिणामात्मक कर्म और पुद्गलपरिणामात्मक कर्म परस्पर कार्यकारणभूत अर्थात् नैमित्तिक-निमित्तभूत हैं। वे कर्म किसी जीव को अनादि-अनन्त और किसी को अनादि-सान्त होते हैं।]

इस प्रकार यहाँ (ऐसा कहा कि), पुद्गलपरिणाम जिनका निमित्त है, ऐसे जीवपरिणाम और जीवपरिणाम जिनका निमित्त है, ऐसे पुद्गलपरिणाम अब आगे कहे जानेवाले (पुण्यादि सात) पदार्थों के बीजरूप अवधारना।

भावार्थः—जीव और पुद्गल को परस्पर निमित्त-नैमित्तिकरूप से परिणाम होता है। उस परिणाम के कारण पुण्यादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिनका वर्णन अगली गाथाओं में किया जायेगा।

प्रश्नः—पुण्यादि सात पदार्थों का प्रयोजन जीव और अजीव इन दो से ही पूरा हो जाता है, क्योंकि वे जीव और अजीव की ही पर्यायें हैं। तो फिर वे सात पदार्थ किसलिए कहे जा रहे हैं।

उत्तरः—भव्यों को हेय तत्त्व और उपादेय तत्त्व (अर्थात् हेय और उपादेय तत्त्वों का स्वरूप तथा उनके कारण) दर्शाने के हेतु उनका कथन है। दुःख, वह हेय तत्त्व है, उसका कारण संसार है, संसार का कारण आस्रव और बन्ध दो हैं (अथवा विस्तारपूर्वक कहे तो पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध चार हैं) और उनका कारण मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र है। सुख, वह उपादेय तत्त्व है, उसका कारण मोक्ष है, मोक्ष का कारण संवर और निर्जरा है और उनका कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। यह प्रयोजनभूत बात भव्य जीवों को प्रगटरूप से दर्शाने के हेतु पुण्यादि [१]सात पदार्थों का कथन है॥ १२८-१३०॥

---

१. अज्ञानी और ज्ञानी जीव पुण्यादि सात पदार्थों में से किन-किन पदार्थों के कर्ता हैं, तत्सम्बन्धी आचार्यवर श्री जयसेनाचार्यदेवकृत तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका में निम्नोक्तानुसार वर्णन है :—

अज्ञानी जीव निर्विकार स्वसंवेदन के अभाव के कारण पापपदार्थ का तथा आस्रव-बन्धपदार्थों का कर्ता होता है; कदाचित् मन्द मिथ्यात्व के उदय से, देखे हुए—सुने हुए—अनुभव किए हुए भोगों की आकांक्षारूप निदानबन्ध द्वारा, भविष्य काल में पाप का अनुबन्ध करनेवाले पुण्यपदार्थ का भी कर्ता होता है। जो ज्ञानी जीव है वह, निर्विकार-आत्मतत्त्वविषयक रुचि, तद्विषयक ज्ञप्ति और तद्विषयक निश्चल अनुभूतिरूप अभेदरत्नत्रयपरिणाम द्वारा, संवर-निर्जरा-मोक्षपदार्थों का कर्ता होता है; और जीव जब

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल १०, रविवार

जीव-अजीव दो द्रव्य हैं। उनमें निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध से सात तत्त्व उत्पन्न होते हैं। संसार दु:खरूप है। उसका कारण आस्रव-बन्ध है। सम्पूर्ण सुखरूप भाव, वह मोक्ष है, उसका कारण संवर-निर्जरा है। और उसका कारण सम्यग्दर्शन है। संसार दु:ख का कारण है। संसार का कारण मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग है। उसका कारण मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र है। आत्मा परमानन्द मूर्ति है, उसके भान बिना जीव भटक रहा है। वह संसाररूपी चक्र कैसे चलता है, यह बतलाते हैं।

जो जीव अपने शुद्ध आत्मा को चूककर कर्म की उपाधि के स्वयं वश होता है, दया-दानादि के परिणाम जितना अपने को मानकर उस भ्रान्ति के परिणाम करके आठ प्रकार के कर्म बाँधता है। यहाँ संसारस्थ कहा है अर्थात् कि स्वभावस्थ नहीं। पर्याय बुद्धिवाला जीव मिथ्यात्व के परिणाम करता है और कर्म बाँधता है। जीव के अशुद्ध परिणाम कर्म को परिणमाते हैं, ऐसा अर्थ नहीं है। अशुद्ध परिणाम का निमित्त पाकर

पूर्वोक्त निश्चयरत्नत्रय में स्थिर नहीं रह सकता, तब निर्दोषपरमात्मस्वरूप अर्हंत-सिद्धों की तथा उनका (निर्दोष परमात्मा का) आराधन करनेवाले आचार्य-उपाध्याय-साधुओं की निर्भर असाधारण भक्तिरूप ऐसा जो संसारविच्छेद के कारणभूत, परम्परा से मुक्तिकारणभूत, तीर्थंकरप्रकृति आदि पुण्य का अनुबन्ध करनेवाला विशिष्ट पुण्य उसे अनीहितवृत्ति से निदानरहित परिणाम से करता है। इस प्रकार अज्ञानी जीव पापादि चार पदार्थों का कर्ता है और ज्ञानी संवरादि तीन पदार्थों का कर्ता है।

[यहाँ ज्ञानी के विशिष्ट पुण्य को संसारविच्छेद के कारणभूत कहा वहाँ ऐसा समझना कि—वास्तव में तो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र ही संसारविच्छेद के कारणभूत हैं, परन्तु जब वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अपूर्णदशा में होता है, तब उसके साथ अनिच्छितवृत्ति से वर्तते हुए विशिष्ट पुण्य में संसारविच्छेद के कारणपने का आरोप किया जाता है। वह आरोप भी वास्तविक कारण के—सम्यग्दर्शनादि के—अस्तित्व में ही हो सकता है।]

जड़ कार्मणवर्गणा के परमाणु स्वयं अपने कारण से परिणम जाते हैं। उन कर्मों के निमित्त से जीव नरकादि गति में जाता है। मिथ्यात्व के परिणाम, वे निमित्त और जड़कर्म बँधे, वे नैमित्तिक। और जड़ कर्मों का उदय, वह निमित्त और जीव का चार गति में भटकना, वह नैमित्तिक—ऐसे मिथ्यादृष्टि को परस्पर निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध चला आता है। जिसे गतिरहित स्वभाव की खबर नहीं, वह जीव कर्म के निमित्त से गति को प्राप्त होता है और जैसी गति की योग्यता, वैसा शरीर मिलता है और शरीर होता है, वहाँ पाँच इन्द्रियाँ होती हैं और पाँच इन्द्रियाँ होती हैं, वहाँ पाँच प्रकार के विषयों का ग्रहण होता है। इन्द्रियाँ तो बाह्यतत्त्व हैं। शुद्ध आत्मा अन्त:तत्त्व है। बाह्यतत्त्व से अन्त:तत्त्व का पता लगे, ऐसा नहीं। इन्द्रियाँ बाह्यतत्त्व को पकड़ती हैं, आत्मा को नहीं पकड़ती। तथापि अज्ञानी की दृष्टि इन्द्रियों और विषयों के ऊपर जाती है, परन्तु मैं शुद्ध आत्मा अन्त:तत्त्व हूँ और मेरा सुख मुझमें है, ऐसी दृष्टि की उसे खबर नहीं पड़ती। वह इष्ट अनिष्ट पदार्थों के प्रति राग-द्वेष किया करता है, इसलिए पूर्व क्रम अनुसार कर्म उपजते हैं। उल्टा पुरुषार्थ करता है और मैं शुद्ध हूँ, ऐसी दृष्टि न करे, तब तक ऐसी परिपाटी चला रकती है।

यहाँ सम्यग्दृष्टि की बात नहीं ली। जिसे स्वभाव की प्राप्ति हुई है, उसे देह, इन्द्रियाँ और विषय नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीव के परिणाम को और कर्म आदि को कारण-कार्यसम्बन्ध है। राग-द्वेषरूपी मलिनभाववाले आत्मा को इस प्रकार अशुद्धभाव उपजते हैं। ऐसे अशुद्धभाव अभव्य जीव की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है। अभव्य जीव कभी भी अपने स्वभाव की रुचि करनेवाला नहीं और भव्य जीव अपने आत्मा का भान करेगा, इस अपेक्षा से उसके अशुद्ध भाव अनादि-सान्त है, ऐसा भगवान ने कहा है।

भावार्थ : संसारी जीव अनादि से बन्ध-पर्याय के वश हुआ होने से मिथ्यात्वादि के परिणाम करता है। कर्म के कारण से परिणाम नहीं होते, परन्तु स्वयं शुद्धस्वभाव को चूककर कर्मबन्धन के आधीन होता है। मैं ज्ञाता हूँ, ऐसा नहीं स्वीकार करके दया-दानादि भाव, वे मेरा कर्तव्य है, ऐसा अज्ञानी मान रहा है।

अज्ञानी जीव कहते हैं कि 'जैसा कर्म का उदय आवे, उसके प्रमाण में विकार

करना पड़ता है' तो यह भ्रान्ति है। तूफानी लड़के का चित्त घर में स्थिर नहीं होता, परन्तु बाहर में कहीं भ्रमा करता है। उसी प्रकार यहाँ भगवान कहते हैं कि अज्ञानी का चित्त स्वभाव में स्थिर नहीं होता। परन्तु पर में और दया-दान के भावों में झूले में चढ़ता है। अपने स्वभाव के आधीन नहीं हुआ, इसलिए पर के आधीन होता है।

कर्म प्रेरक है, इसलिए उसके प्रमाण में विकार करना पड़ता है, यह तो स्थूल भूल है। परन्तु कर्म का उदय आवे, तब मुझे मेरे कारण से विकार करना पड़े, ऐसा माननेवाले की दृष्टि भी विकार के ऊपर है, परन्तु विकाररहित स्वभाव के ऊपर नहीं। कर्म का उदय सदा ही है, तो सदा ही जीव को विकार करना ही पड़े, परन्तु ऐसा है ही नहीं। स्वयं स्वभाव को चूकता है तो विकार होता है। स्वभाव के लक्ष्य से विकार नहीं होता, परन्तु पर के वश से विकार होता है। पर्यायबुद्धिवाला जीव पर के आधीन हुआ, इसलिए उसे स्वभाव की उत्पत्ति नहीं होती, परन्तु आठ कर्मों की उत्पत्ति होती है। मिथ्यादृष्टि जीव को निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध छोड़ना रुचता नहीं। स्वभाव कल्याण का कारण है, ऐसी प्रतीति जिसे नहीं, वह जीव भले व्रतधारी हो तो भी निमित्त के ऊपर उसकी दृष्टि होने के कारण से आठों कर्म का बन्धन होता है और उन कर्म के निमित्त से चार गति में गमन होता है।

जयसेन आचार्य टीका में लिखते हैं कि आत्मा का स्वभाव शुद्धनय से ज्ञान-दर्शनवाला है तो भी अनादि से कर्म के वश हुआ 'आत्मसंवित्ति' लक्षणवाले अशुद्ध परिणाम करता है। अज्ञानी जीव मिथ्यात्व के भाव स्वयं करता है, यह बतलाने के लिये 'आत्मसंवित्ति' कहा है।

अशुद्धपरिणाम के निमित्त से आठ कर्म बाँधता है और आत्मा के अनुभव से उत्पन्न होती पंचमगति के आनन्द से विलक्षण ऐसी चार गति—देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकीपने में भटकता है। और आत्मा का स्वभाव तो शरीररहित चिदानन्द है। उससे विपरीत औदारिकादि देह की प्राप्ति होती है। और आत्मा का स्वभाव तो अतीन्द्रिय अमूर्त परमात्मस्वरूप है, उसका भान नहीं, ऐसे जीव को देह के निमित्त से अतीन्द्रिय से विलक्षण ऐसी इन्द्रियों की प्राप्ति होती है। अज्ञानी जीव की दृष्टि इन्द्रियों के ऊपर

जाती है और इन्द्रियों से इष्ट-अनिष्ट पदार्थों का ज्ञान होता है, उससे रागबुद्धि होती है। आत्मा तो अतीन्द्रिय पदार्थ है, उसके आश्रय से वीतरागता होती है। परन्तु इन्द्रियाँ और उनके विषय के ऊपर जिसकी दृष्टि है, उसे राग-द्वेष होते हैं। अज्ञानी जीव शास्त्रश्रवण को कान का विषय बनाता है। समवसरण में हो तो भी अज्ञानी का लक्ष्य पाँच इन्द्रियों के विषय के ऊपर होता है। परन्तु मैं अतीन्द्रिय ज्ञायकस्वभावी हूँ, यह बात उसे बैठती नहीं। वह राग-द्वेष के परिणाम किया करता है और इससे पुनः कर्मबन्धन हुआ करता है।

इस प्रकार परस्पर कार्य-कारणरूप जीव-पुद्गल के परिणाममय कर्मसमूहरूप संसारचक्र में अभव्य जीव को अनादि-अनन्त और भव्य जीव को अनादि-सान्त, कुम्हार के चाक की भाँति परिभ्रमण होता है। आत्मा के परिणाम कारण और जड़कर्म कार्य। तथा जड़कर्म कारण और चार गति में गमन, वह कार्य। तथा गति में गमन वह कारण और देह का प्राप्त होना, वह कार्य। तथा देह कारण और इन्द्रियाँ कार्य। और इन्द्रियाँ कारण और इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष कार्य। तथा राग-द्वेष कारण और कर्म का होना कार्य। इस प्रकार परस्पर कारण-कार्यसम्बन्ध अज्ञानी को चला करता है।

आत्मा शुद्धचैतन्यस्वभावी है और कर्म, शरीर आदि जड़स्वभावी है। उनका आत्मा में अभाव है। चैतन्य का ज्ञान होने पर शरीरादि अजीव का भी ज्ञान हो जाता है। ऐसे भान बिना के जीव को संसार क्यों खड़ा होता है, इसकी भी खबर नहीं। अपनी मलिनता अपने कारण से है, ऐसा जो स्वीकार नहीं करता, उससे संसार खड़ा होता है। इस प्रकार अज्ञानी जीव राग-द्वेष के परिणाम से संसार उपजाता है।

जिस जीव को परिभ्रमण कैसे होता है, उसकी भी खबर न हो, वह उसे मिटाये कैसे ? यहाँ कारण-कार्य कहा, इसका अर्थ कारण-निमित्त और कार्य-नैमित्तिक। जीव राग-द्वेष की नैमित्तिक पर्याय करता है तो कर्म को निमित्त कहा जाता है। और चार गति रूप नैमित्तिक पर्याय होती है, तो कर्म को निमित्त कहा जाता है। पाँच इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेषरूप नैमित्तिक पर्याय करता है तो इन्द्रियों को निमित्त कहा जाता है। मिथ्यादृष्टि की बुद्धि पर में जाती है, ऐसा सिद्ध करना है। इस प्रकार परस्पर निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध

चला आता है। मिथ्यादृष्टि जीव को स्वभाव की रुचि नहीं, इसलिए विषयों के ऊपर उसकी रुचि है। अभव्य जीव को स्वभाव के ऊपर रुचि कभी भी नहीं होती, इसलिए उसे संसार का कभी भी अन्त नहीं आता और भव्य जीव अपने आत्मा का भान करे तो संसार का अन्त आता है। कुम्हार का चक्र चला करता है, उसी प्रकार जीव अनादि से भटका करता है। इसलिए निश्चित हुआ कि पुद्गल परिणाम के निमित्त से जीव अपने अज्ञान के कारण से अशुद्ध परिणाम करता है और उस अशुद्ध परिणाम के निमित्त से जड़कर्म के परिणाम होते हैं। ऐसा बतलाकर यह कहते हैं कि कर्म और राग की दृष्टि छोड़। राग के परिणाम शुद्ध जीव के नहीं तथा कर्म के भी नहीं, पर्यायबुद्धि से हुए हैं, इसलिए पर्यायबुद्धि छोड़ और स्वभावबुद्धि कर, ऐसा कहने का भाव है। ●●

वचनातीत आनन्दमय मुनिदशा

मुनि तो आश्चर्यकारी आनन्द तरङ्गों में डोलते हैं। अहा! उसका वर्णन वाणी से नहीं हो सकता! जहाँ शक्ति में से व्यक्ति / प्रगटता हुई, शान्ति का, आनन्द का, स्वच्छता का, सम्यग्दर्शन का, स्वसम्वेदन का, चारित्र का ज्वार आया, वहाँ ज्ञानी आश्चर्यकारी आनन्द तरङ्गों में डोलता है। अन्तर में आनन्द का नाथ उल्लसित हुआ है, उसमें दृष्टि और एकाग्रता होने पर, वह एकाग्रता की पर्याय आनन्द तरङ्गों में डोलती है।

यहाँ तो अनन्तगुणों से भरपूर आत्मा स्वभाव के सन्मुख हुआ और रागादि विभाव तथा पर्याय से विमुख हुआ, तब अन्तर में चमत्कारिक पर्यायों की तरङ्गें उठीं आश्चर्यजनक ज्ञानपर्याय, आश्चर्यजनक सम्यक्त्वपर्याय, आश्चर्यजनक चारित्रपर्याय, आश्चर्यजनक आनन्दपर्याय आदि अनन्त गुणों की अद्भुत पर्यायें मुनिराज को उत्पन्न हुईं। पञ्च महाव्रत या नग्नता, वह मुनिपना नहीं है, परन्तु भीतर अनन्त गुणों का समुद्र भरा है उसमें दृष्टि देने पर, उसकी प्रतीति होने पर आनन्दादि गुणों की तरङ्गें उठें वह धर्म एवं मुनिपना है। जैसे समुद्र में ज्वार और नदी में बाढ़ आती है, वैसे ही साधक सन्तों की-मुनिराज को-अन्तर में आनन्दादि तरङ्गें उछलती हैं, पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का ज्वार आता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २७७

गाथा - १३१

मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि ।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो ।। १३१ ।।

मोहो रागो द्वेषश्चित्तप्रसादः वा यस्य भावे ।
विद्यते तस्य शुभो वा अशुभो वा भवति परिणामः ।। १३१ ।।

पुण्यपापयोग्यभावस्वभावाख्यापनमेतत् ।

इह हि दर्शनमोहनीयविपाककलुषपरिणामता मोहः । विचित्रचारित्रमोहनीयविपाकप्रत्यये प्रीत्यग्रीती रागद्वेषौ । तस्यैव मन्दोदये विशुद्धपरिणामता चित्तप्रसादपरिणामः । एवमिमे यस्य भावे भवन्ति, तस्यवश्यं भवति शुभोऽशुभो वा परिणामः । तत्र यत्र प्रशस्तरागश्चित्तप्रसादश्च तत्र शुभः परिणामः, यत्र तु मोहद्वेषावप्रशस्तरागश्च तत्राऽशुभ इति ।। १३१ ।।

मोह राग अर द्वेष अथवा हर्ष जिसके चित्त में।
इस जीव के शुभ या अशुभ परिणाम का सद्भाव है।।१३१।।

अन्वयार्थ :— [यस्य भावे] जिसके भाव में [मोहः] मोह, [राग] राग, [द्वेषः] द्वेष, [वा] अथवा, [चित्तप्रसादः] चित्तप्रसन्नता [विद्यते] है, [तस्य] उसे [शुभः वा अशुभः वा] शुभ अथवा अशुभ [परिणामः] परिणाम [भवति] है।

टीका :— यह, पुण्य-पाप के योग्य भाव के स्वभाव का (—स्वरूप का) कथन है।

यहाँ, दर्शनमोहनीय के विपाक से जो कलुषित परिणाम, वह मोह है; विचित्र (-अनेक प्रकार के) चारित्रमोहनीय का विपाक जिसका आश्रय (-निमित्त) है। ऐसी प्रीति-अप्रीति, वह राग-द्वेष है; उसी के (-चारित्रमोहनीय के ही) मन्द उदय से होनेवाले जो विशुद्ध परिणाम, वह [1]चित्तप्रसादपरिणाम (-मन की प्रसन्नतारूप परिणाम) है। इस प्रकार यह (मोह, राग, द्वेष अथवा चित्तप्रसाद) जिसके भाव में है, उसे अवश्य शुभ अथवा अशुभ परिणाम है। उसमें, जहाँ प्रशस्त राग तथा चित्तप्रसाद है, वहाँ शुभ परिणाम है और जहाँ मोह, द्वेष तथा अप्रशस्त राग है, वहाँ अशुभ परिणाम है ॥१३१॥

---

१. प्रसाद = प्रसन्नता; विशुद्धता; उज्ज्वलता।

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ११, सोमवार

अब पुण्य-पाप का स्वरूप बतलाते हैं तथा पुण्य-पाप के योग्य परिणाम का स्वरूप बतलाते हैं।

प्रथम मोह के परिणाम की पहिचान देते हैं। आत्मा की शान्ति आत्मा में है, ऐसा नहीं मानकर पर में से शान्ति मिलेगी, ऐसी मान्यता, वह पागलपनरूप अज्ञान के परिणाम हैं। इसलिए जिसे सुखी होना हो, उसे चिदानन्द आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान करना चाहिए।

आत्मा स्वयं सत् वस्तु है, उसकी अपेक्षा से दूसरी वस्तु असत् है। असत् के आधार से शान्ति होगी ? नहीं होगी। आत्मा की शान्ति कहो या धर्म कहो, वह एक ही वस्तु है। यहाँ धर्म करे और परलोक में शान्ति मिले, ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। अन्त:तत्त्व का अनादर करके बाहर में झपट्टे मारता है, वह मोह का—पागलपन का परिणाम है। दया-दानादि भाव पुण्य है। उसका विषय पर है, तथापि उससे आत्मा प्रगट होता है, ऐसा मानना, वह पागलपन और मोह है। अज्ञानी जीव कहते हैं कि बाहर की वस्तु छोड़ो, परन्तु विपरीत मान्यता छूटे बिना राग वास्तव में छूटता नहीं। अन्त:तत्त्व से शान्ति नहीं मिलती परन्तु बाहर से मिलेगी, ऐसा मानना, वह मोह है।

(२) परवस्तु की प्रीति करना, वह राग के पाप परिणाम हैं। परवस्तु उसके कारण से आती है और जाती है। परवस्तु और आत्मा के बीच वज्र की मजबूत दीवार है, तथापि पर की प्रीति करना, वह पाप है।

(३) मकान सड़े तब अरुचि के परिणाम करना, वह पापतत्त्व है। वह आत्मा को शान्ति दे, ऐसा नहीं।

(४) चित्त की प्रसन्नतारूप दया-दानादि के शुभभाव करना, वह पुण्यतत्त्व है, वह धर्मतत्त्व नहीं, वह अबन्ध आत्मतत्त्व को सहायता नहीं करते।

जिसे मोह, प्रीति-अप्रीति तथा चित्त की प्रसन्नतारूप भाव होते हैं, उसे शुभ अथवा अशुभ परिणमन होता है।

भावार्थ : जिस जीव को शुद्ध आत्मतत्त्व की रुचि नहीं तथा सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की रुचि नहीं, उसे मिथ्यात्व के परिणाम होते हैं। दर्शनमोहनीयकर्म के उदय के कारण मोह के परिणाम होते हैं, यह निमित्त से कथन है। जीव में मोह के परिणामरूप नैमित्तिक अवस्था होती है, तब कर्म के उदय को निमित्त कहा जाता है। अज्ञानी जीव परपदार्थों को आत्मा के सहायक मानता है, यह भ्रान्ति है। पुण्य के परिणाम आत्मा को सहायक नहीं तो फिर पुण्य के परिणाम जिसके लक्ष्य से होते हैं, वे परपदार्थ तथा पुण्य से जो वस्तु प्राप्त हो, उससे आत्मा का कल्याण कैसे होगा? होगा ही नहीं।

जो जीव निश्चय आत्मा की श्रद्धा नहीं करता और वीतरागदेव, निर्ग्रन्थ गुरु और अनेकान्तमय धर्म की श्रद्धा नहीं करता, वह कर्म के विपाक में जुड़ान करके मोह करता है।

माता उसके नवविवाहित पुत्र को कहती है कि 'मेरा मानता नहीं और नवविवाहित बहू का (कहना) मानता है'—यह सज्जनता नहीं गिनी जाती। उसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि चैतन्य पिता अनादि से तेरा है, उसे तू मानता नहीं और समय-समय में नये-नये कर्म हों, उन्हें तू मानता है; इसीलिए संसार में भटक रहा है। उस जीव को निमित्त की रुचि है, परन्तु शुद्ध उपादान की रुचि नहीं। 'कर्म से आत्मा भिन्न है।'—ऐसा भेदज्ञान करना चाहिए, उसके बदले अज्ञानी जीव कर्म के साथ एकत्वबुद्धि करता है। ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि कर्म के कारण से सुख नहीं होता तो अज्ञानी जीव सामने दलील करता है कि 'नहीं, नहीं। पुण्य कर्म है तो सुनने को मिलता है और तो धर्म होता है।' परन्तु यह भूल है। पुण्य के भाव हितकर नहीं तो उसके फल में जो संयोग मिलें, वे हितकर कहाँ से होंगे? होंगे ही नहीं। तथापि उन्हें हितकर मानकर अज्ञानी पागलपन करता है। कर्म का विपाक कर्म में है। जीव खोटी श्रद्धा और मोह के परिणाम करता है तो कर्म के उदय के कारण अशुद्ध अथवा मोह के परिणाम हुए कहलाते हैं।

चारित्रमोहनीयकर्म के निमित्त से जीव रति-अरति के परिणाम करता है 'कर्म प्रीति-अप्रीति कराता नहीं।' अज्ञानी जीव कर्म का दोष निकालता है। ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि 'तूने कभी कर्म को देखा है कि जिससे कर्म का दोष निकाला करता है?' राग-

द्वेष के असंख्य प्रकार हैं। जगत की चीज़ें राग-द्वेष कराती नहीं। आईसक्रीम प्रीति कराती नहीं और तेज धूप द्वेष कराती नहीं। अपने कारण से इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करता है। जो जीव निश्चय से वीतरागी परिणामरहित है और व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम से भी रहित है, वह इष्ट-अनिष्ट परिणाम करता है। उसे राग-द्वेष के परिणाम कहते हैं। उसमें चारित्रमोहकर्म निमित्तमात्र है।

जिसे चारित्रमोह कर्म का उदय मन्द हो, उसे थोड़े विशुद्ध परिणाम होते हैं, उसे चित्तप्रसाद कहते हैं। दया, दान, अनुकम्पादि के भाव शुभ हैं। कितने ही जीव अनुकम्पा के भाव को पाप कहते हैं। तो वह बात खोटी है। वह पाप नहीं, तथा धर्म भी नहीं। कषाय की मन्दता है। इसलिए प्रसन्नता कही है। विषयभोग, इज्जत और स्त्री-पुत्र के लिये रुकना, वह कलुषित परिणाम है। दया-दानादि के परिणाम में रुकना, वह चित्तप्रसन्नता है—शुभपरिणाम है। शुभ-अशुभ दोनों भाव विकार है, तथापि अशुभ परिणाम से भिन्न करने के लिये जिनमन्दिर आदि बनाने के भाव, भक्तिभाव इत्यादि में जो शुभ परिणाम होते हैं, उन्हें चित्तप्रसन्नता कहते हैं।

जहाँ मोह के परिणाम हैं, इन्द्रिय के विषयों में तथा धन, धान्यादि में अप्रशस्त राग है, उसे अशुभ कहते हैं। वह अशुभभाव शुद्ध आत्मा से भिन्न है। ●●

मुनिदशा अर्थात् केवलज्ञान की तलहटी

अहो! मुनिदशा अर्थात् साक्षात् केवलज्ञान की तलहटी! आनन्द के अनुभव का झूला झूलते हुए हजारों बिच्छुओं के काटने पर भी अथवा अड़तालीस गाँवों तक सुनी जानेवाली आवाज होने पर भी, जिन्हें उसकी खबर नहीं पड़ती और आनन्द में गहरे उतरकर क्षण में केवलज्ञान ले लेते हैं। उस अद्भुत मुनिदशा की क्या बात! धन्य मुनिदशा! *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, दृष्टि ना निधान, बोल १६५*

गाथा - १३२

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति हवदि जीवस्स ।
दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावो कम्मत्तणं पत्तो ।। १३२ ।।

शुभपरिणाम: पुण्यमशुभ: पापमिति भवति जीवस्य।
द्वयो: पुद्गलमात्रो भाव: कर्मत्वं प्राप्त: ।। १३२ ।।

पुण्यपापस्वरूपाख्यानमेतत् ।

जीवस्य कर्तु: निश्चयकर्मतामापन्न: शुभपरिणामो द्रव्यपुण्यस्य निमित्तमात्रत्वेन कारणीभूतत्वात्तदास्रवक्षणादूर्ध्वं भवति भावपुण्यम् । एवं जीवस्य कर्तुर्निश्चयकर्मतामापन्नोऽशुभपरिणामो द्रव्यपापस्य निमित्तमात्रत्वेन कारणीभूतत्वात्तदास्रवक्षणादूर्ध्वं भावपापम् । पुद्गलस्य कर्तुर्निश्चयकर्मतामापन्नो विशिष्टिप्रकृतित्वपरिणामो जीवशुभपरिणामनिमित्तो द्रव्यपुण्यम् । पुद्गलस्य कर्तुर्निश्चियकर्मतामापन्नो विशिष्टप्रकृतित्वपरिणामो जीवाशुभपरिणामनिमित्तो द्रव्यपापम् । एवं व्यवहारनिश्चयाभ्यामात्मनो मूर्तममूर्तञ्च कर्म प्रज्ञापितमिति ।। १३२ ।।

शुभभाव जिय के पुण्य हैं अर अशुभ परिणति पाप हैं।
उनके निमित से पौद्गलिक परमाणु कर्मपना धरें।।१३२।।

अन्वयार्थ :— [जीवस्य] जीव के [शुभ परिणामः] शुभपरिणाम, [पुण्यम्] पुण्य हैं और, [अशुभः] अशुभ परिणाम, [पापम् इति भवति] पाप हैं; [द्वयोः] उन दोनों के द्वारा [पुद्गलमात्रः भावः] पुद्गलमात्र भाव, [कर्मत्वं प्राप्तः] कर्मपने को प्राप्त होते हैं। (अर्थात् जीव के पुण्य-पापभाव के निमित्त से साता-असातावेदनीयादि पुद्गलमात्र परिणाम व्यवहार से जीव का कर्म कहे जाते हैं)।

टीका :— यह, पुण्य-पाप के स्वरूप का कथन है।

जीवरूप कर्ता के [१]निश्चयकर्मभूत शुभपरिणाम द्रव्यपुण्य को निमित्तमात्ररूप से कारणभूत हैं इसलिए 'द्रव्यापुण्यास्त्रव' के प्रसंग का अनुसरण करके (-अनुलक्ष करके) वे शुभपरिणाम 'भावपुण्य' हैं। (सातावेदनीयादि द्रव्यपुण्यास्त्रव का जो

---

१. जीव कर्ता है और शुभपरिणाम उसका (अशुद्धनिश्चयनय से) निश्चयकर्म है।

प्रसंग बनता है, उसमें जीव के शुभपरिणाम निमित्तकारण हैं इसलिए 'द्रव्यपुण्यास्त्रव' प्रसंग के पीछे-पीछे उसके निमित्तभूत शुभपरिणाम को भी 'भावपुण्य' ऐसा नाम है।) इस प्रकार जीवरूप कर्ता के निश्चयकर्मभूत अशुभपरिणाम द्रव्यपाप को निमित्तमात्ररूप से कारणभूत हैं इसलिए 'द्रव्यपापस्त्रव' के प्रसंग का अनुसरण करके (-अनुलक्ष करके) वे अशुभपरिणाम 'भाव पाप' हैं।

पुद्गलरूप कर्ता के [२]निश्चयकर्मभूत विशिष्टप्रकृतिरूप परिणाम (-साता-वेदनीयादि खास प्रकृतिरूप परिणाम)—कि जिनमें जीव के शुभपरिणाम निमित्त हैं वे—द्रव्यपुण्य हैं। पुद्गलरूप कर्ता के निश्चयकर्मभूत विशिष्टप्रकृतिरूप परिणाम (-असातावेदनीयादि विशिष्ट प्रकृतिरूप परिणाम)—कि जिनमें जीव के अशुभ-परिणाम निमित्त हैं वे—द्रव्यपाप हैं।

इस प्रकार व्यवहार तथा निश्चय द्वारा आत्मा को मूर्त अथवा अमूर्त कर्म दर्शाया गया।

भावार्थ :— निश्चय से जीव के अमूर्त शुभाशुभपरिणामरूप भावपुण्यपाप जीव का कर्म हैं। शुभाशुभपरिणाम द्रव्यपुण्यपाप का निमित्तकारण होने के कारण मूर्त ऐसे वे पुद्गलपरिणामरूप (साता-असातावेदनीयादि) द्रव्यपुण्यपाप व्यवहार से जीव का कर्म कहे जाते हैं॥१३२॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ११, सोमवार

अब पुण्य-पाप का स्वरूप कहते हैं।

जीव के सत् क्रियारूप परिणाम को अर्थात् कि दया, दान के परिणाम को शुभ अथवा पुण्य कहते हैं। विषय-कषाय की प्रवृत्ति को पाप कहते हैं। जितने प्रमाण में जैसे शुभाशुभभाव करे, उतने प्रमाण में वैसे ज्ञानावरणादि कर्म बँधते हैं।

कर्म का उदय जितने प्रमाण में आवे, उतने प्रमाण में विकार करना ही पड़े, ऐसा

---

२. पुद्गल कर्ता है और विशिष्टप्रकृतिरूप परिणाम उसका निश्चयकर्म है (अर्थात् निश्चय से पुद्गल कर्ता है और सातावेदनीयादि विशिष्ट प्रकृतिरूप परिणाम उसका कर्म है।)

नियम नहीं है। परन्तु विकार जितने प्रमाण में करे, उतने प्रमाण में कर्म तो अवश्य बँधता है ही। शुभभाव से शुभकर्म और अशुभभाव से अशुभकर्म बँधता है। भावों के कारण से कर्म को आना पड़े, ऐसा पुद्गलद्रव्य पराधीन नहीं है, परन्तु उस समय कर्मवर्गणा के परमाणु की ऐसी योग्यता है। कोई किसी का कर्ता नहीं। जीव स्वभावदृष्टि से उसका जाननेवाला है, परन्तु अज्ञान से उसे अपना स्वरूप मानता है।

भावार्थ : संसारी जीव को शुभ-अशुभ के भेद से दो परिणाम होते हैं। आत्मा अशुद्ध निश्चय से शुभ परिणाम का कर्ता है और दया-दानादि परिणाम उसका कार्य है। कर्म ने वे भाव कराये नहीं। स्वयं अशुद्धभावरूप से परिणमता है तो कर्म को निमित्त कर्ता कहा जाता है। जड़ तो जड़ की पर्याय का कर्ता है। पुण्य कर्म के परमाणु अपने कारण से बँधते हैं, वह उपादान कारण है और जीव के शुभभाव उसमें निमित्त कारण हैं। जड़ को खबर नहीं कि जीव ने शुभभाव किये, इसलिए बंधूँ। इसलिए वे परमाणु स्वयं बँधते हैं। उसमें निमित्त कारण शुभ परिणाम है। 'पुण्यप्रकृति के योग्य वर्गणा तब होती है, जब कि शुभ परिणाम का निमित्त मिलता है। इस कारण प्रथम ही भावपुण्य होता है, तत्पश्चात् द्रव्य-पुण्य होता है।'

जब शुभपरिणाम का निमित्त मिलता है, तब पुण्यप्रकृति के परमाणु बँध जाते हैं। दोनों एक समय में है। आगे-पीछे नहीं तथा पराधीन नहीं। और भावपुण्य को प्रथम कहा तथा द्रव्य-पुण्य को बाद में कहा, इससे शुभभाव पहले हो और द्रव्यपुण्य बाद में बँधे, ऐसा अर्थ नहीं है। दोनों एक ही समय में है। शुभभाव की प्रधानता बतलाने के लिये भावपुण्य प्रथम होता है, ऐसा कहा है, परन्तु पहले भाव करे और फिर द्रव्यकर्म बँधे, ऐसा स्वरूप नहीं है।

इस प्रकार अशुद्ध निश्चयनय से जीव अपने पाप परिणाम का कर्ता है। कोई परिवार के कारण या स्त्री-पुत्र के कारण से पाप नहीं करता। अशुभ परिणाम का जीव कर्ता है और अशुभ परिणाम उसका कार्य है। भावपाप का निमित्त पाकर द्रव्यपाप होता है, इसलिए यहाँ कथन किया गया है कि प्रथम भावपाप होता है और तत्पश्चात् द्रव्यपाप होता है। भावपाप जिस समय है, उसी समय द्रव्यपाप बँधता है, आगे-पीछे नहीं, परन्तु भावपाप की प्रधानता बतलाने के लिये ऐसा कथन किया गया है।

वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल १२, मंगलवार

आत्मा में जो पुण्य-पाप के विकार होते हैं, वे हेय हैं, बन्ध का कारण है। आत्मा शुद्ध, ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसे चूककर विकारभाव की उत्पत्ति होती है, पश्चात् पुण्यभाव हो या पापभाव हो—ये दोनों कर्मबन्ध का निमित्त है, इसलिए वे हेय हैं। कर्म तो कर्म के कारण से बँधता है। वह पुद्गल की पर्याय है। जीव जितने प्रमाण में विकार करे, उतने ही प्रमाण में नया कर्म बँधने पर भी वह जीव का कार्य नहीं। जीव तो अपने शुभ-अशुभ परिणाम का कर्ता है। जीव के परिणाम के प्रमाण में ही कर्म के रजकण बँधते हैं, तथापि जीव उस कर्म का कर्ता नहीं। यहाँ ऐसा बतलाना है कि प्रथम तो जड़कर्म का कर्ता जीव नहीं और जिस भाव के निमित्त से नये कर्म बँधते हैं, वे भाव हेय हैं। आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान, रमणतारूप जो निर्ममभाव है, वह तो धर्म है। वह निर्ममभाव नये कर्मबन्ध का किंचित् कारण नहीं होता।

तीव्र पाप करे और अल्प कर्म बँधे—ऐसा नहीं होता। बहुत शुभभाव करे और अल्प पुण्य बँधे, ऐसा भी नहीं होता। जितने प्रमाण में शुभाशुभभाव करे, उतने प्रमाण में ही कर्म बँधते हैं, तथापि जीव उस कर्म का कर्ता नहीं। तो फिर पूर्व कर्म का जितना उदय हो, उतने ही प्रमाण में जीव को विकार होगा—यह बात तो बहुत स्थूल मिथ्या है। जीव के परिणाम प्रमाण जो कर्म बँधते हैं, उनका कर्ता भी जीव नहीं है।

नये कर्म बँधे, उसका कर्ता कौन? निश्चय से तो पुद्गलद्रव्य ही उसका कर्ता है, आत्मा उसका कर्ता नहीं। तो फिर जगत के स्थूल पदार्थों को आत्मा करे, यह तो है ही नहीं। आठ प्रकार के कर्म बँधते हैं, वह जड़ का कार्य है और उसका कर्ता जड़ है, आत्मा उस जड़कर्म का कर्ता नहीं। शरीर चले या भाषा बोली जाये—उसका कर्ता जीव नहीं। जीव के विकार प्रमाण कर्म बँधते हैं। परन्तु जीव की इच्छा प्रमाण देहादि की क्रियायें तो होती नहीं; वहाँ कर्म का कर्ता भी जीव नहीं तो देह की क्रिया का कर्ता जीव कैसे होगा? जितने प्रमाण में विकार हो, उतने प्रमाण में ही कर्म बँधते हैं, तथापि उसका भी कर्ता जीव नहीं है। तो जो सदा अपनी इच्छा प्रमाण नहीं होता, ऐसे मकान

इत्यादि का कर्ता जीव को कहना, वह तो उपचारमात्र ही है अर्थात् कि वास्तव में जीव उसका कर्ता नहीं। कारीगर मकान का कर्ता नहीं। देह की क्रिया का जीव कर्ता नहीं। यह समझे बिना पर का अभिमान टलता नहीं और पर से भिन्न स्वभाव की दृढ़ता होती नहीं और इसके बिना धर्म होता नहीं।

जीव क्या करे? बाहर में मकान-पैसा या शरीरादि की किसी क्रिया को जीव कर सकता नहीं। जीव तो विकारभाव करके दु:ख भोगता है और या तो चैतन्य का भान करके धर्म करता है। इसके अतिरिक्त पर को तो करता नहीं। विकार करे, तत्प्रमाण में कर्म, कर्म के कारण से बँधता है और आत्मा का भान करके विकार टाले तो उसके प्रमाण में कर्म खिर जाता है। वह भी पुद्गल की पर्याय के कारण से खिर जाता है। जीव अपने विकारी या अविकारी परिणाम को करे, परन्तु पर में कुछ सुधार या बिगाड़ नहीं कर सकता। जीव के शुभ परिणाम के निमित्त से पुद्गल में पुण्यकर्म बँधता है, वह द्रव्यपुण्य है तथा जीव के अशुभ परिणाम, वे भावपाप हैं और उसके निमित्त से जो पाप बँधा, वह द्रव्यपाप है। उस द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप का कर्ता पुद्गलद्रव्य है। जीव उसका कर्ता नहीं। भावरूप जो पुण्य-पाप है, उनका उपादानकारण आत्मा है। वह स्वयं पुण्य-पाप करे तो होते हैं और पुराने द्रव्यपुण्य-पापरूप वर्गणा तो निमित्तमात्र है। पुराने कर्मों के प्रमाण में ही विकार होगा—ऐसा तो है ही नहीं। जीव स्वयं जितना उसमें जुड़ता है, उतने पुण्य-पाप होते हैं, उसमें पुराना कर्म निमित्त है। तथा जीव के पुण्य-पाप के भाव वे नये कर्मबन्ध का निमित्त है। उस कर्म का उपादान पुद्गलद्रव्य है।

जीव अरूपी है और उसके भाव भी अरूपी हैं। अर्थात् भावपुण्य-पाप अमूर्तिक है। अमूर्तिक द्रव्य का कार्य भी अमूर्तिक होता है, इसलिए निश्चय से तो आत्मा का भावपुण्य-पाप अमूर्तिक कर्म है और जो द्रव्यपुण्य-पापरूप मूर्तिक कर्म है, वह मूर्तिक कर्म व्यवहार से ही जीव का है, अर्थात् कि जीव ने कर्म बाँधे—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। वास्तव में, आत्मा जड़कर्म का कर्ता नहीं परन्तु जीव के परिणाम उसमें निमित्त हैं, इसलिए व्यवहार से वह जड़कर्म आत्मा का कार्य है। निश्चय से तो उस द्रव्यकर्म का कर्ता जड़ है, क्योंकि कर्म मूर्तिक है। उस मूर्तिक कार्य का कर्ता भी मूर्तिक

ही होता है। अमूर्तिक आत्मा उसका कर्ता वास्तव में नहीं है। पुद्गल की पर्याय होने के काल में हुई, तब उसमें कैसा जीव का राग निमित्त था, यह बतलाने के लिये ऐसा व्यवहार से कहा जाता है कि 'इसने यह किया' परन्तु वास्तव में जीव पर को करता नहीं।

मकान तो मकान के परमाणु के कारण से होता है। परन्तु किसने मकान बँधाया? तो कहे कि 'फलाना भाई ने मकान बनाया', वहाँ जीव का उस समय का राग निमित्त था, इसलिए जीव को मकान इत्यादि का कर्ता कहा, वह उपचार है। वास्तव में जीव द्रव्यकर्म का भी कर्ता नहीं और घर इत्यादि का भी कर्ता नहीं। ऐसा समझकर पर से भेदज्ञान करना और आत्मा के शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव में यह पुण्य-पाप भी नहीं— इसलिए यह पुण्य-पाप हेयरूप है और शुद्ध-बुद्ध स्वभाव ही आदरणीय है, ऐसा इस गाथा का तात्पर्य है। धर्मी जानता है कि :—

द्रव्य पुण्य-पाप तथा भाव पुण्य-पाप ये दोनों मुझे हेय है और मेरा शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप ही मुझे उपादेय है। ऐसी पहिचान करना, वह धर्म है।

आत्मा ज्ञानानन्द अमूर्त है, वह इन्द्रियों से दिखता नहीं और जड़कर्म तो मूर्तिक है। जड़कर्म का जो फल है, वह बाहर में इन्द्रियों से दिखाई देता है, इसलिए वह मूर्त है, तो उसके कारणरूप जो कर्म है, वह भी मूर्त है—ऐसा अब जड़कर्मों का मूर्तपना बतलाते हैं। ●●

मुनिराज का निज वैभव

प्रचुर स्वसम्वेदन मुनि का भावलिङ्ग है। समयसार की पाँचवीं गाथा में श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि मैं अपने निजवैभव से उस एकत्व-विभक्त आत्मा को दर्शाऊँगा। कैसा है वह निजवैभव? निरन्तर झरता हुआ – आस्वाद में आता हुआ, सुन्दर आनन्द, उसकी छापवाला प्रचुर सम्वेदन /स्वरूप स्वसम्वेदन, उससे उसका जन्म हुआ है। भीतर ज्ञान की धारा, सम्यक्त्व की धारा और वीतरागता की धारा उत्पन्न हुई है, वही हमारा निजवैभव है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन २/१९९

गाथा - १३३

जम्हा कम्मस्स फलं विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं ।
जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि ।। १३३ ।।

यस्मात्कर्मण: फलं विषय: स्पर्शैर्भुज्यते नियतम् ।
जीवेन सुखं दु:खं तस्मात्कर्माणि मूर्तानि ।। १३३ ।।

मूर्तकर्मसमर्थनमेतत् ।

यतो हि कर्मणां फलभूत: सुखदु:खहेतुविषयो मूर्तो मूर्तैरिन्द्रियैर्जीवेन नियतं भुज्यते, तत: कर्मणां मूर्तत्वमनुमीयते । तथाहि-मूर्तं कर्म, मूर्तसम्बन्धेनानुभूयमानमूर्तफल-त्वादाखुविषवदिति ।। १३३ ।।

जो कर्म का फल विषय है, वह इन्द्रियों से भोग्य हैं।
इन्द्रिय विषय हैं मूर्त इससे करम फल भी मूर्त है।।१३३।।

अन्वयार्थ :— [यस्मात्] क्योंकि [कर्मण: फलं] कर्म का फल [विषय:] जो (मूर्त) विषय वे, [नियतम्] नियम से, [स्पर्शै:] (मूर्त ऐसी) स्पर्शनादि-इन्द्रियों द्वारा [जीवेन] जीव से [सुखं दु:खं] सुखरूप से अथवा दु:खरूप से [भुज्यते] भोगे जाते हैं, [तस्मात्] इसलिए [कर्माणि] कर्म [मूर्तानि] मूर्त हैं।

टीका :— यह, मूर्त कर्म का समर्थन है।

कर्म का फल जो सुख-दु:ख के हेतुभूत मूर्त विषय, वे नियम से मूर्त इन्द्रियों द्वारा जीव से भोगे जाते हैं, इसलिए कर्म के मूर्तपने का अनुमान हो सकता है। वह इस प्रकार :— जिस प्रकार मूषकविष मूर्त है, उसी प्रकार कर्म मूर्त है, क्योंकि (मूषकविष के फल की भाँति) मूर्त के सम्बन्ध द्वारा अनुभव में आनेवाला ऐसा मूर्त उसका फल है।[चूहे के विष का फल (-शरीर में सूजन आना, बुखार आना आदि) मूर्त है और मूर्त शरीर के सम्बन्ध द्वारा अनुभव में आता है—भोगा जाता है; इसलिए अनुमान हो सकता है कि चूहे का विष मूर्त है; उसी प्रकार कर्म का फल (-विषय) मूर्त है और मूर्त इन्द्रियों के सम्बन्ध द्वारा अनुभव आता है—भोगा जाता है, इसलिए अनुमान हो सकता है कि कर्म मूर्त है] ।।१३३।।

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल १२, मंगलवार

पूर्व के प्रारब्ध कर्म के फल में बाहर में इष्ट-अनिष्ट विषय का संयोग होता है। पूर्व कर्म के निमित्त से वर्तमान में सामग्री का संयोग होता है—ऐसा न मानकर, वर्तमान में समाजव्यवस्था बराबर नहीं है, इसलिए हमको अमुक सामग्री नहीं मिलती—ऐसा जो मानता है, उसकी मान्यता अत्यन्त झूठी है। भाई! तूने पूर्व में जैसे शुभाशुभ परिणाम किये, वैसा प्रारब्ध कर्म बँधा और उसका उदय होने पर बाहर में इष्ट-अनिष्ट सामग्री मिलती है। वहाँ उसमें इष्ट-अनिष्ट की कल्पना तो जीव ने की है, परन्तु जो सामग्री मिली, वह तो पूर्व कर्म के निमित्त से मिली है। वर्तमान मूर्त सामग्री मिली, उसके कारणरूप कर्म भी मूर्त है। यहाँ कर्म को मूर्तिक सिद्ध करना है। पूर्व के पुण्य पके तो क्या मिले? उस पुण्य के फल में बाहर में मूर्त सामग्री का संयोग मिले परन्तु कहीं चैतन्य की शान्ति उसमें से नहीं मिलती। जड़कर्म का पाक जड़ में आता है और चैतन्य की शान्ति का पाक चैतन्य के स्वरूप में से आता है। चावल कहाँ पके? चावल चावल में से पकते हैं या... मुख में? इसी प्रकार मूर्तिक जड़कर्म का पाक तो जड़ में ही आता है, कहीं जड़कर्म का पाक चैतन्य में नहीं आता। उस समय हर्ष-शोक के परिणाम करे, उसका कर्ता जीव है।

सुख-दुःख के कारणरूप जो बाह्य सामग्री है, वह इन्द्रिय का विषय है। इसलिए वह मूर्त है। और इसलिए उसके कारणभूत जड़कर्म भी मूर्त है। आत्मा अमूर्तिक है और कर्म जड़ है—ऐसा कहकर दोनों का भेदज्ञान कराने का प्रयोजन है। मूर्तिक इन्द्रियों से आत्मा विषयों को भोगता है, ऐसा भी उपचार से कथन है। वास्तव में 'आत्मा पर को भोगता है', ऐसा यहाँ बतलाना नहीं है। परन्तु यहाँ तो कर्म को मूर्तरूप से सिद्ध करना है। वह जड़कर्म मूर्त है, अजीव है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं। पाँचों इन्द्रियों के विषय मूर्त हैं, अमूर्तिक चैतन्यस्वरूप आत्मा इन्द्रिय का विषय नहीं होता।

सुख-दुःख के परिणाम जीव करता है और उस सुख-दुःख के निमित्तरूप बाह्य

सामग्री, वह कर्म का फल है। 'आत्मा इन्द्रियों से मूर्त कर्म के फल को भोगता है'— ऐसा कहा, उसमें कर्म को मूर्तिक सिद्ध करने का आशय है, परन्तु इससे ऐसा नहीं समझना कि आत्मा मूर्तिक है। पुण्य का फल क्या? कि जड़ का संयोग। पुण्य के फल में सम्यक्त्व नहीं मिलता। अभी 'सम्यग्दर्शन इत्यादि व्रतादि करके बहुत पुण्य बाँधो और फिर उसके फल में भगवान के पास जाकर सम्यग्दर्शन पा जाऊँगा'—ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसे चैतन्य की रुचि नहीं परन्तु जड़ की रुचि है, पुण्य के फल में चैतन्य नहीं मिलता, परन्तु जड़ का संयोग मिलेगा और उसकी रुचि करेगा तो तत्त्व का अनादर करके निगोद में जायेगा।

अरे, भाई! जड़कर्म का फल जड़ में आता है और तेरा स्वभाव तो चैतन्य अमूर्तिक है। जिसे ऐसा अपना स्वभाव नहीं रुचता, वह पुण्य-पाप करके विभाव की प्रीति करता है। उस विभाव का लक्ष्य कहाँ जाता है?—जड़ के ऊपर जाता है। उससे जड़कर्म बँधते हैं और उसके फल में जड़ का संयोग मिलता है। देखो! मूर्त की प्रीतिवाला अमूर्त स्वभाव को चूकता है न? तो अमूर्त चैतन्य की प्रीति करनेवाले को विभाव की और जड़ की प्रीति छूटे बिना नहीं रहती। कर्म अजीव है और उसका फल भी अजीव है। पुण्य-पाप के भाव पर के लक्ष्य से होते हैं, चैतन्य के लक्ष्य से पुण्य-पाप की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए जैसे पर की प्रीतिवाला चैतन्य को चूककर विभाव करता है, वैसे चैतन्य की प्रीतिवाला पर का प्रेम चूक जाता है।

जिसे चैतन्य की प्रीति है, उसे जड़ की प्रीति नहीं और जिसे जड़कर्म कके फलरूप जड़ पदार्थ की प्रीति है, उसे अमूर्तिक चैतन्य की रुचि नहीं। शाश्वत् शान्ति का मूल चैतन्य पदार्थ है। वह तो स्वाभाविक वस्तु है और यह स्त्री-पुत्रादि पदार्थ तो जड़कर्म के फल में संयोग (रूप) आये हुए हैं, यह तेरा स्वरूप नहीं है। भाई! तू तो असंयोगी चिदानन्दमूर्ति है। जड़ संयोग तेरे नहीं और उसके कारणरूप पुण्य-पाप कर्म भी तेरा नहीं तथा जो शुभाशुभ परिणाम से वह कर्म बँधा, वह भी वास्तव में तेरा स्वरूप नहीं। बाहर में जन्मा, तब अमुक लक्ष्मी इत्यादि का संयोग नहीं था और बाद में लक्ष्मी का संयोग आया, निर्धन में से सधन हुआ, तो उसका कारण क्या? **जीव उसका कारण**

नहीं है। जीव तो पहले भी था। यदि जीव उसका कारण हो तो पहले जन्मा, तब वह संयोग क्यों नहीं था? इसलिए उसका कारण पूर्व में बँधे हुए रजकण हैं और वह बाहर की सामग्री मूर्त होने से उसके कारणरूप कर्म भी मूर्त है।

जिसका फल मूर्त, उसका कारण भी मूर्त; अर्थात् कि बाह्य सामग्री मूर्त है और उसके कारणरूप जड़कर्म भी मूर्त है। **आत्मा का स्वभाव उस मूर्त सामग्री और मूर्त कर्म, उन दोनों से भिन्न अमूर्तिक ज्ञानस्वरूप है—ऐसा पहिचानकर पर का अभिमान छोड़।**

जैसे चूहे का जहर मूर्तिक है और मूर्तिक शरीर द्वारा वह अनुभव किया जाता है। वह कहीं अमूर्त आत्मा को स्पर्श नहीं करता। उसी प्रकार कर्म का फल मूर्त है, वह मूर्त इन्द्रियों द्वारा भोगा जाता है, इसलिए कर्म भी मूर्त है। पुण्य-पाप के परिणाम, उनसे बँधा हुआ कर्म और उसके फल में प्राप्त सामग्रियाँ, तीनों हेय हैं, उनमें आत्मा की शान्ति नहीं। उन तीन से रहित अमूर्तिक शुद्ध, चिदानन्द आत्मा ही उपादेय है। उसमें श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता करना, वही शान्ति का उपाय है। ●●

मुनिराज की अरागी / अकषायी अनुकम्पा

मुनिराज को सभी के प्रति अरागी/अकषायी अनुकम्पा परिणमित हुई है, प्रगट हुई है। किसी भी जीव के प्रति 'यह ठीक है और यह ठीक नहीं है' - ऐसा भाव नहीं है, उन्हें तो सभी जीव ज्ञेयरूप ज्ञात होते हैं। एकेन्द्रिय हरितकाय का एक कण हो या बड़ा नारियल एकेन्द्रिय जीव हो, इन सबके प्रति उनको अकषायी अनुकम्पा है। इन किसी के प्रति उन्हें मारने अथवा बचाने का विकल्प नहीं है। अहा! यह अनुकम्पा तो स्वयं की आत्मा के लिए है। अन्य जीव सुखी हों या न हों, यह उनके स्वयं के आधीन है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/१३३

गाथा - १३४

मुत्तो फासदि मुत्तं मुत्तो मुत्तेण बंधमणुहवदि ।
जीवो मुत्तिविरहिदो गाहदि ते तेहिं उग्गहदि ।। १३४ ।।

मूर्तः स्पृशति मूर्तं मूर्तो मूर्तेन बन्धमनुभवति ।
जीवो मूर्तिविरहितो गाहति तानि तैरवगाह्यते ।। १३४ ।।

मूर्तकर्मणोरमूर्तजीवमूर्तकर्मणोश्च बन्धप्रकारसूचनेयम् ।

इह हि संसारिणि जीवेऽनादिसन्तानेन प्रवृत्तमास्ते मूर्तकर्म । तत्स्पर्शादिमत्त्वादागामि मूर्तकर्म स्पृशति, ततस्तन्मूर्तं तेन सह स्नेहगुणवशाद्बन्धमनुभवति । एष मूर्तयोः कर्मणोर्बन्धप्रकारः । अथ निश्चयनयेनामूर्तो जीवोऽनादिमूर्तकर्मनिमित्तरागादिपरिणामस्निग्धः सन् विशिष्टतया मूर्तानि कर्माण्यवगाहते, तत्परिणामनिमित्तलब्धात्मपरिणामैः मूर्तकर्मभिरपि विशिष्टतयाऽवगाह्यते च । अयं त्वन्योन्यावगाहात्मको जीवमूर्तकर्मणोर्बन्धप्रकारः । एवममूर्तस्यापि जीवस्य मूर्तेन पुण्यपापकर्मणा कथञ्चिद्बन्धो न विरुध्यते ।। १३४ ।।

-इति पुण्यपापपदार्थव्याख्यानम् ।

मूर्त का स्पर्श मूरत, मूर्त बँधते मूर्त से।
आत्मा अमूरत करम मूरत, अन्योन्य अवगाहन लहें ।।१३४।।

अन्वयार्थ :— [मूर्तः मूर्तं स्पृशति] मूर्त मूर्त को स्पर्श करता है, [मूर्तः मूर्तेन] मूर्त मूर्त के साथ, [बंधम् अनुभवति] बन्ध को प्राप्त होता है; [मूर्तिविरहितः जीवः] मूर्तत्वरहित जीव, [तानि गाहति] मूर्त कर्मों को अवगाहता है और [तैः अवगाह्यते] मूर्तकर्म जीव को अवगाह हैं (अर्थात् दोनों एक-दूसरे में अवगाह प्राप्त करते हैं)।

टीका :—यह, मूर्तकर्म का मूर्तकर्म के साथ जो बन्ध प्रकार तथा अमूर्त जीव का मूर्तकर्म के साथ जो बन्ध प्रकार उसकी सूचना है।

यहाँ (इस लोक में), संसारी जीव में अनादि संतति से (-प्रवाह से) प्रवर्तता हुआ मूर्तकर्म विद्यमान है। वह, स्पर्शादिवाला होने के कारण, आगामी मूर्तकर्म को स्पर्श करता है; इसलिए मूर्त ऐसा वह उसके साथ, स्निग्धत्वगुण के वश (-अपनी स्निग्धरूक्षत्वपर्याय के कारण), बन्ध को प्राप्त होता है। यह, मूर्तकर्म का मूर्तकर्म के साथ बन्धप्रकार है।

पुनश्च (अमूर्त जीव का मूर्तकर्मों के साथ बन्धप्रकार इस प्रकार है कि), निश्चयनय से जो अमूर्त है ऐसा जीव, अनादि मूर्तकर्म जिसका निमित्त है ऐसे रागादिपरिणाम द्वारा स्निग्ध वर्तता हुआ, मूर्तकर्मों को विशिष्टरूप से अवगाहता है (अर्थात् एक-दूसरे को परिणाम में निमित्तमात्र हों ऐसे सम्बन्धविशेष सहित मूर्तकर्मों के क्षेत्र में व्याप्त होता है) और उस रागादिपरिणाम के निमित्त से जो अपने (ज्ञानावरणादि) परिणाम को प्राप्त होते हैं ऐसे मूर्तकर्म भी जीव को विशिष्टरूप से अवगाहते हैं (अर्थात् जीव के प्रदेशों के साथ विशिष्टतापूर्वक एकक्षेत्रावगाह को प्राप्त होते हैं)। यह, जीव और मूर्तकर्म का अन्योन्य-अवगाहस्वरूप बन्धप्रकार है। इस प्रकार अमूर्त ऐसे जीव का भी मूर्त पुण्यपापकर्म के साथ कथंचित् (-किसी प्रकार) बन्ध विरोध को प्राप्त नहीं होता॥१३४॥

इस प्रकार पुण्य-पापपदार्थ का व्याख्यान समाप्त हुआ।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल १३, बुधवार

जीव अमूर्त है और पुद्गलकर्म मूर्त है। उसका बन्ध किस प्रकार से होता है, यह कहते हैं।

आत्मा तो ज्ञानघन अरूपी वस्तु है, उसकी पर्याय में जो दयादि के शुभभाव होते हैं या हिंसादि के अशुभभाव होते हैं, वे भी अरूपी हैं। वे शुभाशुभपरिणाम वास्तव में वस्तु का स्वरूप नहीं, परन्तु क्षणिक अवस्था में वे नये-नये होते हैं, उनमें पुराना कर्म निमित्त है और उन परिणामों का निमित्त पाकर नये कर्म पुराने कर्मों के साथ बँधते हैं। मूर्त कर्म के साथ मूर्त कर्म बँधते हैं। **देख भाई! तुझे तेरा कल्याण करना हो तो एक बार निर्विकल्प वस्तु को लक्ष्य में ले कि मुझे कर्म का सम्बन्ध नहीं और जिससे कर्म बँधे, ऐसे भाव, वे भी मेरे स्वरूप में नहीं। तुझे निर्विकल्प अनुभव का अवसर प्राप्त करना हो तो पहले ऐसी श्रद्धा कर कि मैं तो चैतन्यमूर्ति हूँ। विकार की रुचि और मुख्यता छोड़कर चिदानन्दस्वरूप की रुचि और मुख्यता कर, क्योंकि चिदानन्द वस्तु में नहीं कोई निमित्त या नहीं कोई विकार।** उस विकार द्वारा चिदानन्द वस्तु का

निर्विकल्प अनुभव नहीं होता। शुभाशुभ विकार, उससे हुआ कर्म और उसके फल में प्राप्त बाहर का संयोग—इन तीनों की रुचि छोड़कर, अखण्ड चैतन्यवस्तु को रुचि में ले, कर्म और विकार तो मैं नहीं और मुझमें जो भेद के विकल्प उठें, उन भेद के विकल्प जितना मेरा स्वरूप नहीं। मैं ध्रुव द्रव्यस्वभाव से हूँ—ऐसा पहले से ही अखण्ड द्रव्य का अवलम्बन कर तो उसके निर्विकल्प अनुभव का अवसर आवे।

तेरे तत्त्व का पर के साथ तो सम्बन्ध नहीं और क्षणिक विकार जितना भी तेरा तत्त्व नहीं। इसलिए कर्म के साथ के सम्बन्ध की बुद्धि छोड़। बादशाह के पास जाना हो तो वहाँ अकेले जाना पड़ेगा। बाहर के मकान और पुलिस कोई वहाँ साथ में नहीं आयेंगे। तेरी अकेली हूंफ से राजा के पास खड़े रहने की सामर्थ्य हो तो राजा के निकट जाया जायेगा। उसी प्रकार चैतन्य बादशाह के पास जाना हो—उसका निर्विकल्प अनुभव करना हो तो वह कर्म के सम्बन्ध के ऊपर देखने से या विकार के सामने देखने से नहीं होगा, परन्तु कर्म का सम्बन्ध और भेद का विकल्प छोड़कर, अकेला होकर अन्दर में जा, तो चैतन्य बादशाह की भेंट होगी। तू जहाँ जा, वहाँ अन्तर के चिद्घन स्वभाव के अतिरिक्त दूसरे किसी का अवलम्बन सम्यग्दर्शन में रहता नहीं। पहले से ऐसी प्रतीति करो। अन्तर की वस्तु के अतिरिक्त किसी भी चीज़ का अवलम्बन तत्त्व की दृष्टि में नहीं है, क्योंकि आत्मवस्तु में कोई शरीर-मन-वाणी और कर्म नहीं है। अनन्त काल से अन्तर के तत्त्व का आश्रय लिया नहीं। परन्तु अब सम्यग्दर्शन करना हो—आत्मा का कल्याण करना हो तो अन्तर में एक स्वतत्त्व का ही आश्रय लिये बिना दूसरा कोई उपाय नहीं है। मैं तो ज्ञायक शुद्ध चैतन्य अभेद निर्विकल्प वस्तु हूँ—ऐसा निर्णय किये बिना सम्यग्दर्शन होगा नहीं और उस सम्यग्दर्शन बिना के व्रत और तप, वे तो सब बिना एक के शून्य समान हैं।

जीव तो अरूपी, ज्ञानस्वरूप है, उसकी अवस्था में विकार होने से नया मूर्तकर्म पुराने मूर्तकर्म के साथ बँधता है। जीव विकार करे, वह विकार भी अमूर्त है। अमूर्तिक जीव वास्तव में जड़कर्मों के साथ बँधा हुआ नहीं है। चैतन्य में स्पर्श नहीं, जीव तो अस्पर्शी चीज़ है, उसमें कर्म किस प्रकार से चिपटे? जीव बहुत तो अपने में अमूर्तिक विकार करे और उसके निमित्त से मूर्त कर्म के साथ मूर्त कर्म बँधता है। मूर्त कर्म के संयोग से जीव कहीं मूर्त नहीं हो जाता। यहाँ ऐसा नहीं समझना कि जीव की पर्याय में

विकार होता ही नहीं। विकार तो जीव की पर्याय में होता है। वह विकार भी अमूर्तिक है। चिदानन्दस्वरूप को चूके तो विकारी पर्याय होती है और चैतन्यस्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान करके एकाग्र होने पर विकार छूटकर निर्विकारी पर्याय होती है। विकारी भाव या दु:ख जीव की पर्याय में होते हैं। कहीं अजीव में दु:ख और विकारभाव नहीं होते हैं। विकार अथवा दु:ख जीव की पर्याय में है, परन्तु वह जीव का सम्पूर्ण स्वरूप नहीं है।—ऐसा भान करके त्रिकाली स्वरूप में श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता करे तो दु:ख और विकार टलकर सर्वज्ञ परमात्मदशा प्रगट होती है।

अज्ञानी मानता है कि 'शरीर को दु:ख होता है' परन्तु यह बात झूठी है। दु:ख तो जीव के सुख की विपरीत दशा है। अजीव में सुखगुण नहीं और उसमें दु:ख भी नहीं। जिसमें क्षमागुण हो, उसमें क्षमा की विपरीततारूप क्रोध होता है। जीव में क्रोध होता है, उसके पीछे क्षमागुण त्रिकाल पड़ा है। लकड़ी में क्रोध नहीं होता, क्योंकि उसमें क्षमागुण नहीं है। उसी प्रकार दु:ख शरीर में नहीं होता, परन्तु जीव की अवस्था में होता है। वह जीव के सुखगुण की उल्टी दशा है। पर्याय में विकार है और ध्रुवस्वभाव निर्विकार है, इस प्रकार समझकर जीव के अन्तर स्वभाव की दृष्टि करे तो कल्याण हो।

आत्मा सर्वथा निर्मल ही है, ऐसा माने तो वह मिथ्या है और आत्मा की पर्याय में विकार होता है, वह विकार कर्म कराता है—ऐसा माने तो वह भी मिथ्या है। जीव के स्वभाव में विकार नहीं। पर्याय में वह विकार कर्म नहीं कराता, परन्तु स्वयं अपने अपराध से पर्याय में विकार करता है और उस विकार के निमित्त से नया कर्म बँधता है, ऐसा समझकर ध्रुव स्वभाव की श्रद्धा करना, वह प्रथम धर्म है। यदि जीव की पर्याय में जीव स्वयं अपने अपराध से विकार न करता हो और कर्म उसे विकार कराता हो—तब तो जीव को उपदेश किसलिए देना? तब तो कर्म को ही उपदेश देना चाहिए कि 'अरे कर्म! तू दूर हट जा, तू जीव को विकार न करा!' परन्तु अजीव को तो कुछ उपदेश होता नहीं। जीव स्वयं अपने अपराध से भटकता है, इसलिए उसे ही विकार टालने का उपदेश है।

'अपने को आप भूल के हैरान हो गया' जीव अनादि का है, परन्तु स्वयं अपने स्वरूप को भूलकर संसार में भटक रहा है। वस्तु सदा टिकती है और उसकी अवस्था क्षण-क्षण में पलटा करती है। वहाँ विकारी दशा, वह संसार है और पूर्ण निर्मलदशा,

वह मोक्ष है। जैसे अग्नि और पानी भिन्न हैं और उनकी क्रियाएँ भी भिन्न हैं; उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा और जड़कर्म दोनों भिन्न चीज़ हैं, उनकी क्रियायें भी भिन्न हैं। दो वस्तुओं का एक-दूसरे में अभाव हो तो ही वे दो वस्तुएँ पृथक्-पृथक् रह सकती है। जीव की अवस्था में विकार है, वह जीव का कार्य है, अजीव कर्मों ने वह विकार कराया, ऐसा माने तो वह मिथ्यात्व है तथा बाहर में जड़ के क्रियाकाण्ड को अन्दर की शुद्धि का कारण माने तो वह भी मूढ़ मिथ्यादृष्टि है, उसे जीव-अजीव की भिन्नता का भान नहीं। जीव और अजीव दोनों त्रिकाल भिन्न-भिन्न चीज़ है। आत्मा का अज्ञान आत्मा की पहिचान से ही टलता है। बाहर के उपाय से अज्ञान नहीं टलता और धर्म नहीं होता। जैसे किसी का 'नाम' पहिचानना हो तो उपवास कर डालने से या पैसे दे देने से उसका नाम नहीं पहिचाना जाता, परन्तु उसे पूछकर उसका नाम जाने तो ही वह पहिचाना जाता है; इसी प्रकार आत्मा का स्वरूप पहिचानना हो तो सत्समागम से आत्मा की पहिचान करने से ही वह पहिचाना जाता है। रुपये खर्च कर डालने से या व्रतादि के शुभभाव से आत्मा की पहिचान नहीं हो जाती।

मेरा स्वभाव त्रिकाल ज्ञानमूर्ति शुद्ध है और वर्तमान पर्याय में विकार है—ऐसे दोनों पहलुओं को जाने, तो शुद्ध वस्तु की दृष्टि में पर्याय की भूल का नाश होता है। इसके अतिरिक्त किसी प्रकार से अनादि की भूल टलती नहीं। सम्यग्ज्ञान का साधन क्या? कि अन्तर की वस्तु का विश्वास करना, वही साधन है। अन्दर की वस्तु का विश्वास आता नहीं, इसलिए अज्ञानी बाहर के साधन को शोधता है। आत्मा में त्रिकाल 'करणशक्ति' है। अर्थात् आत्मा स्वयं ही अपने आनन्द इत्यादि का साधन है। ध्रुव आनन्दकन्द वस्तु अन्दर में पड़ी है, वही तेरी परमात्मदशा का साधन है। इसके अतिरिक्त बाहर के किसी साधन से परमात्मदशा प्रगट नहीं होती, बाहर का तुझमें अभाव है; इसलिए बाहर का साधन चैतन्य को नहीं है। अन्दर पुण्य-पाप के भाव हों, वह भी विकार है, पुण्यभाव से भी नया कर्म बँधता है, वह पुण्यभाव भी तेरी शान्ति का साधन नहीं है। तेरे चैतन्य में मूर्त परमाणु का तो ग्रहण-त्याग नहीं, उससे तो तेरा स्वरूप भिन्न है और क्षणिक विकार है, वह भी तेरे शुद्धस्वरूप में नहीं है। ऐसे शुद्धस्वरूप का विश्वास कौन करे? अन्तर में ध्रुव वस्तु की रुचि स्वयं करे तो होता है, उसमें दूसरा कोई साधन नहीं। यहाँ

पुण्य का अधिकार है, उसमें ऐसा समझाते हैं कि भाई! कषाय की मन्दता के पुण्य-परिणाम से भी तेरे चैतन्य का लाभ नहीं है। पुण्य-परिणाम द्वारा तेरे चैतन्य की एकता प्राप्त नहीं होती, परन्तु उससे तो पुराने कर्म के साथ नये कर्म का सम्बन्ध होगा। इसलिए उस पुण्यपरिणाम के साथ भी वास्तव में तेरे स्वभाव का एकत्व नहीं है।

दूध और पानी के संयोग की भाँति आत्मा का और कर्म का सम्बन्ध है, ऐसा कहा जाता है, वहाँ इसका अर्थ ऐसा है कि जैसे दूध और पानी भिन्न हैं; उसी प्रकार आत्मा और कर्म भिन्न हैं। दूध का मावा होता है और पानी की भाप होकर उड़ जाता है। इस प्रकार वे दोनों भिन्न हैं, उसी प्रकार जीव अमूर्तिक है और कर्म मूर्तिक है, वे भिन्न-भिन्न हैं और जिस भाव से वह कर्म का बन्धन होता है, वह वास्तव में जीव का स्वरूप नहीं है। जीव शुद्ध चैतन्यरूप अमूर्तिक है, ऐसे जीव की अन्तरदृष्टि किये बिना किसी प्रकार से भवभ्रमण से छुटकारा नहीं होता।

प्रत्येक आत्मा का अपना असंख्यप्रदेशी अरूपी आकार है। अरूपी वस्तु को भी अपना आकार होता है। अहो! मैं असंख्यप्रदेशी चिदानन्द की मूर्ति हूँ—ऐसा अपने स्वभाव के सामने न देखकर अनादि से राग-द्वेष किया करता है और 'विकार, वही मैं' ऐसा मान लेता है, इसलिए उसके विकारी परिणाम के निमित्त से नये-नये कर्मों का बन्धन होता है। किसके साथ? कि पुराने कर्मों के साथ नये कर्म बँधते हैं। इस प्रकार जीव के विकार के निमित्त से नया कर्म बँधता है। इसलिए अमूर्तिक जीव को मूर्तिक कर्म के साथ कथंचित् बन्धन कहने में विरोध नहीं है। जैसे अमूर्तिक ज्ञान मूर्त पदार्थों को जानता है—अर्थात् अरूपी को रूपी के साथ ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध है, वैसे ही जितने प्रमाण में विकार करे, उतने प्रमाण में नये कर्म बँधते हैं—ऐसा निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है। परन्तु जीव के कारण से जड़ नहीं और जड़ के कारण से जीव नहीं। चैतन्य का स्वभाव क्या, चैतन्य का विकार क्या, जड़ क्या—ऐसे प्रत्येक को पहिचानना चाहिए। पुण्य-पाप के अधिकार में यह बताया है कि जीव को मूर्तकर्म के साथ एकता होती नहीं। कर्म का बन्धन कर्म के साथ ही होता है। कर्म के सम्बन्धरहित और विकारभाव से भी रहित ऐसे अमूर्तिक शुद्ध चैतन्य आत्मस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें एकाग्र होना, वही मुक्ति का उपाय है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय है नहीं। ●●

गाथा - १३५

अथ आस्रवपदार्थव्याख्यानम् ।

रोगो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो ।
चित्तम्हि णत्थि कलुसं पुण्णं जीवस्स आसवदि ।। १३५ ।।

रागो यस्य प्रशस्तोऽनुकम्पासंश्रितश्च परिणामः ।
चित्ते नास्ति कालुष्यं पुण्यं जीवस्यास्रवति ।। १३५ ।।

पुण्यास्रवस्वरूपाख्यानमेतत् ।

प्रशस्तरागोऽनुकम्पापरिणतिः चित्तस्याकलुषत्वञ्चेति त्रयः शुभा भावाः द्रव्यपुण्यास्रवस्य निमित्तमात्रत्वेन कारणभूतत्वात्तदास्रवक्षणादूर्ध्वं भावपुण्यास्रवः । तन्निमित्तः शुभकर्मपरिणामो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलानां द्रव्यपुण्यास्रव इति ।। १३५ ।।

अब आस्त्रवपदार्थ का व्याख्यान है।

हो रागभाव प्रशस्त अर अनुकम्प हिय में है जिसे।
मन में नहीं हो कलुषता नित पुण्य आस्रव हो उसे।।१३५।।

अन्वयार्थ :— [यस्य] जिस जीव को, [प्रशस्तः रागः] प्रशस्त राग है, [अनुकम्पासंश्रितः परिणामः] अनुकम्पायुक्त परिणाम है; [च] और, [चित्ते कालुष्यं न अस्ति] चित्त में कलुषता का अभाव है; [जीवस्य] उस जीव को, [पुण्यम् आस्त्रवति] पुण्य आस्त्रवित होता है।

टीका :— यह, पुण्यास्त्रव के स्वरूप का कथन है।

प्रशस्त राग, अनुकम्पापरिणति और चित्त की अकलुषता—यह तीन शुभ भाव द्रव्यपुण्यास्त्रव को निमित्तमात्ररूप से कारणभूत हैं इसलिए 'द्रव्यपुण्यास्त्रव' के प्रसंग का [1]अनुसरण करके (-अनुलक्ष करके) वे शुभभाव भावपुण्यास्त्रव हैं और वे

---

१. सातावेदनीयादि पुद्गलपरिणामरूप द्रव्यपुण्यास्त्रव का जो प्रसंग बनता है, उसमें जीव के प्रशस्त रागादि शुभभाव निमित्तकारण हैं इसलिए 'द्रव्यपुण्यास्त्रव' प्रसंग के पीछे-पीछे उसके निमित्तभूत शुभभावों को भी 'भावपुण्यास्त्रव' ऐसा नाम है।

(शुभभाव) जिसका निमित्त हैं, ऐसे जो योगद्वारा प्रविष्ट होनेवाले पुद्गलों के शुभकर्मपरिणाम (-शुभकर्मरूप परिणाम), वे द्रव्यपुण्यास्त्रव हैं ॥१३५॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल १४, गुरुवार

नौ तत्त्वों में अब आस्त्रव का वर्णन करते हैं।

देखो, यह आस्त्रवतत्त्व वास्तव में शुद्ध जीवतत्त्व से भिन्न है। शुद्धात्मा द्रव्यकर्म-भावकर्म और नोकर्म से रहित है, चिदानन्द सहज आनन्द से भरपूर है। ऐसा शुद्ध आत्मा आस्त्रव से भिन्न है। ऐसे शुद्ध आत्मा का सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करना, वह यहाँ तात्पर्य है। पर्यायनय से आस्त्रव को आत्मा का कहा जाता है, परन्तु द्रव्यनय से आस्त्रव को आत्मा का ही माने तो उसे आस्त्रव से भिन्न पड़ने का अवसर नहीं रहता। 'आस्त्रव आत्मा से भिन्न या अभिन्न?' इस सन्दर्भ में अभी के बड़े-बड़े आचार्य नाम धरानेवाले भी गोते खा रहे हैं। पर्याय में आस्त्रव होने पर भी शुद्ध द्रव्य की दृष्टि से देखने पर आत्मा आस्त्रव से भिन्न है, ऐसे आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान करना, वह धर्म है। यहाँ आस्त्रव की पहिचान कराते हैं।

जीव को देव-गुरु में प्रीतिभाव आवे, वह पुण्यास्त्रव का कारण है। जीवों के प्रति अनुकम्पा का भाव, वह भी पुण्यास्त्रव के कारणरूप है। यहाँ भावआस्त्रव को 'ऊर्ध्व' अर्थात् कि पहला कहा है और पश्चात् द्रव्यास्त्रव होने का कहा है, वहाँ समयभेद नहीं बतलाना है, परन्तु भावास्त्रव, वह द्रव्यास्त्रव का कारण है—ऐसा कारणपना बतलाने के लिये ही यहाँ भावास्त्रव को 'ऊर्ध्व' कहा है, ऐसा सूत्रकार का तात्पर्य है।

और परिणाम में कलुषता न होना, मन्द-सरल परिणाम होना, वह भी पुण्यास्त्रव है; चित्त की प्रसन्नता का शुभभाव, वह भी आस्त्रव है। जीव के ऐसे परिणाम, वे भावास्त्रव हैं, उनके निमित्त से पुण्य-पाप के जड़ रजकण बँधें, वह द्रव्य आस्त्रव है। पहले पुण्य-पाप का भिन्न-भिन्न वर्णन करके इन दोनों को आस्त्रव में वर्णन करते हैं।

●●

गाथा - १३६

अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा ।
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ।। १३६ ।।

अर्हत्सिद्धसाधुषु भक्तिर्धर्मे या च खलु चेष्टा ।
अनगमनमपि गरूणां प्रशस्तराग इति ब्रुवन्ति ।। १३६ ।।

प्रशस्तरागस्वरूपाख्यानमेतत्।

अर्हत्सिद्धसाधुषु भक्तिः, धर्मे व्यवहारचारित्रानुष्ठाने वासनाप्रधाना चेष्टा, गुरूणामाचार्यादीनां रसकित्वेनानुगमनम्एषः प्रशस्तो रागः प्रशस्तविषयत्वात् । अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्ति-प्रधानस्याज्ञानिनो भवति । उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्यास्थानरागनिषेधार्थं तीव्ररागज्वर-विनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति ।। १३६ ।।

अरहंत सिद्ध अर साधु भक्ति गुरु प्रति अनुगमन जो।
वह राग कहलाता प्रशस्त जँह धरम का आचरण हो।।१३६।।

अन्वयार्थ :— [अर्हत्सिद्धसाधुषु भक्तिः] अरहन्त-सिद्ध-साधुओं के प्रति भक्ति, [धर्मे या च खलु चेष्टा] धर्म में यथार्थतया चेष्टा, [अनुगमनम् अपि गुरुणाम्] और गुरुओं का अनुगमन, [प्रशस्तरागः इति ब्रुवन्ति] वह 'प्रशस्त राग' कहलाता है।

टीका :— यह, प्रशस्त राग के स्वरूप का कथन है।

[१]अर्हन्त-सिद्ध-साधुओं के प्रति भक्ति, धर्म में-व्यवहारचारित्र के [२]अनुष्ठान

---

१. अर्हन्त-सिद्ध-साधुओं में अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु पाँचों का समावेश हो जाता है, क्योंकि 'साधुओं' में आचार्य, उपाध्याय और साधु तीन का समावेश होता है। [निर्दोष परमात्मा से प्रतिपक्षभूत ऐसे आर्त-रौद्रध्यानों द्वारा उपार्जित जो ज्ञानावरणादि प्रकृतियाँ उनका, रागादिविकल्परहित धर्म-शुक्लध्यानों द्वारा विनाश करके, जो क्षुधादि अठारह दोष रहित और केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय सहित हुए, वे अर्हन्त कहलाते हैं। लौकिक अंजन सिद्ध आदि से विलक्षण ऐसे जो ज्ञानावरणादि-अष्टकर्म के अभाव से सम्यक्त्वादि-अष्टगुणात्मक हैं और लोकाग्र में बसते हैं, वे सिद्ध हैं।

में—[३]भावनाप्रधान चेष्टा और गुरुओं का—आचार्यादि का—रसिकरूप से [४]अनुगमन, यह 'प्रशस्त राग' है, क्योंकि उसका विषय प्रशस्त है।

यह (प्रशस्त राग) वास्तव में, जो [५]स्थूल-लक्ष्यवाला होने से केवल भक्तिप्रधान है ऐसे अज्ञानी को होता है; उच्च भूमिका में (-ऊपर के गुणस्थानों में) स्थिति प्राप्त न की हो तब, [६]अस्थान का राग रोकने के हेतु अथवा तीव्र रागज्वर मिटाने के हेतु कदाचित् ज्ञानी को भी होता है॥१३६॥

विशुद्ध ज्ञान-दर्शन जिनका स्वभाव है ऐसे आत्मतत्त्व की निश्चयरुचि, वैसी ही ज्ञप्ति, वैसी ही निश्चल-अनुभूति, परद्रव्य की इच्छा के परिहारपूर्वक उसी आत्मद्रव्य में प्रतपन अर्थात् तपश्चरण और स्वशक्ति को गोपे बिना वैसा ही अनुष्ठान—ऐसे निश्चयपंचाचार को तथा उसके साधक व्यवहारपंचाचार को—कि जिसकी विधि आचारादि शास्त्रों में कही है उसे—अर्थात् उभय आचार को जो स्वयं आचरते हैं और दूसरों को उसका आचरण कराते हैं, वे आचार्य हैं।

पाँच अस्तिकायों में जीवास्तिकाय को, छह द्रव्यों में शुद्धजीवद्रव्य को, सात तत्त्वों में शुद्धजीवतत्त्व को और नव पदार्थों में शुद्धजीवपदार्थ को जो निश्चयनय से उपादेय कहते हैं तथा भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग की प्ररूपणा करते हैं और स्वयं भाते (-अनुभव करते) हैं, वे उपाध्याय हैं।

निश्चय-चतुर्विध-आराधना द्वारा जो शुद्ध आत्मस्वरूप की साधना करते हैं, वे साधु हैं।]

२. अनुष्ठान = आचरण; आचरना; अमल में लाना।

३. भावनाप्रधान चेष्टा = भावप्रधान प्रवृत्ति; शुभभावप्रधान व्यापार।

४. अनुगमन = अनुसरण; आज्ञांकितपना; अनुकूल वर्तन। [गुरुओं के प्रति रसिकभाव से (उल्लास से, उत्साह से) आज्ञांकित वर्तना, वह प्रशस्त राग है।]

५. अज्ञानी का लक्ष्य (-ध्येय) स्थूल होता है, इसलिए उसे केवल भक्ति की ही प्रधानता होती है।

६. अस्थान का = अयोग्य स्थान का, अयोग्य विषय की ओर का; अयोग्य पदार्थों का अवलम्बन लेनेवाला।

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल १४, गुरुवार

अरिहन्त-सिद्ध और सन्त-मुनियों के प्रति भक्तिभाव होना, उनका आदर-बहुमान-अनुगमन का भाव हो, वह प्रशस्तराग है। सच्चे उपाध्याय आदि कैसे होते हैं ? कि जो शुद्ध चिदानन्द जीवतत्त्व को ही उपादेय कहते हैं। रागादि को उपादेय कहते हों, वे वास्तव में आचार्य, उपाध्याय और साधु नहीं है। स्वयं शुद्ध जीवतत्त्व को ही उपादेय करते हैं और दूसरे को भी ऐसा ही कहते हैं। तथा जो मोक्षमार्ग को साधते हैं, ऐसे सन्तों के प्रति धर्मानुराग, वह प्रशस्तराग है। यहाँ तो सच्चे देव-गुरु की ही बात ली है। सच्चे देव-गुरु के प्रति भक्तिभाव, वह पुण्यास्रव है।

आचार्य कैसे हैं ? जो शुद्ध ज्ञानस्वभावी आत्मा के आश्रय से निश्चय पंचाचार पालते हैं तथा व्यवहार पंचाचार का भी पालन करते हैं और दूसरों से भी उन निश्चय-व्यवहार पंचाचार का पालन कराते हैं, वे आचार्य हैं। राग को आदरणीय माने या मनावे अथवा राग से धर्म होना कहे तो वे आचार्य तो नहीं परन्तु मिथ्यादृष्टि है।

उपाध्याय कैसे हैं ? कि नौ तत्त्व में शुद्ध जीवतत्त्व ही उपादेय है, ऐसा जो कहते हों तथा शुद्धात्मा के आश्रय से मोक्षमार्ग को जो स्वयं भाते हैं, तथा अन्य को उसका प्रतिपादन करते हैं—वे उपाध्याय हैं। जिन्हें शुद्धात्मा का भान न हो और शुद्ध जीवतत्त्व के अतिरिक्त दूसरे के आश्रय से धर्म मनवाते हों, उन्हें सम्यग्दर्शन और मुनिदशा नहीं होती।

साधु कैसे हैं ?

जो निश्चयदर्शन-ज्ञान-चारित्र और तपरूप आराधना द्वारा अपने शुद्धात्मस्वरूप को साधते हैं, वे साधु हैं।

ऐसे आचार्य-उपाध्याय-साधु के प्रति भक्ति-बहुमान तथा उन्हें अनुसरण करने का भाव, वह शुभराग है, वह भी आस्रव है। सर्वज्ञदेव ने कहे हुए धर्म के प्रति बहुमान का विकल्प, वह भी शुभराग है।

पंचपरमेष्ठी के प्रति भक्ति तथा उनके अनुगमन का भाव, वह शुभराग है। सन्तों के चरणों में रसिक होना, ऐसा भाव भी शुभास्रव है। ऐसा आस्रवभाव किसे होता है? यह कहते हैं।

यह शुभराग मुख्यरूप से तो अज्ञानी को ही होता है; **जो मात्र भक्ति इत्यादि के भाव में ही धर्म मान रहे हैं—ऐसे अज्ञानी जीवों को ही आस्रव गिना है।** ज्ञानी राग को आदरणीय नहीं मानते, इसलिए उनको आस्रव की मुख्यता नहीं गिनी है।

भावआस्रव वह जीव है या अजीव?

पर्यायदृष्टि से देखने पर आस्रव जीव का है। परन्तु जीव के स्वभाव की दृष्टि से देखने पर आस्रव जीव नहीं, परन्तु अजीव है।

आस्रव जीव से भिन्न है या अभिन्न?

पर्याय अपेक्षा से जीव से अभिन्न है। परन्तु वस्तु अपेक्षा से देखने पर आस्रव जीव से भिन्न है। आस्रव, वह एक समय का विकार है। उसके साथ यदि वस्तुदृष्टि से एकता हो तो आत्मा और आस्रव कभी पृथक् पड़े नहीं और सिद्धदशा कभी हो नहीं। मूल वस्तुस्वरूप के भान बिना आचार्य या साधुपद मान बैठे, वह तो सब मिथ्या कल्पना है। यहाँ तो कहा कि शुद्ध जीवतत्त्व को ही उपादेय माने और उपदेश में भी ऐसा कहे—वैसे आचार्य, उपाध्याय और साधु होते हैं। राग को आदरणीय माने तो उसे सम्यग्दर्शन भी नहीं होता, तो फिर साधुपद तो कहाँ से होगा?

जो भगवान की भक्ति-पूजा के शुभराग में ही धर्म मान रहे हैं, परन्तु वस्तुस्वरूप को नहीं पहिचानते, उनको अकेला आस्रव ही होता है, उनको आत्मकल्याण किंचित् भी नहीं होता। आस्रव, वह अधर्म है; पुण्य और पाप, वे दोनों आस्रव हैं; वे धर्म नहीं और उनके कारण से धर्म होता नहीं। पंच महाव्रत के शुभपरिणाम या पूजा-भक्ति-यात्रा के शुभपरिणाम, वे भी आस्रव हैं। देखो, भक्ति-पूजा के भाव में पाप मनावे, वह तो मिथ्यादृष्टि है ही, और उस भक्ति-पूजा के भाव में धर्म मनावे तो वह भी मिथ्यादृष्टि ही है। ऐसे मिथ्यादृष्टि को शुभभाव से अकेला आस्रव ही होता है। स्थूलता से तो अज्ञानी को ही आस्रव गिना है, क्योंकि वह अज्ञानी जीव केवल भक्तिप्रधान है, उसे रागरहित

आनन्दघन आत्मा का भान नहीं है, और भक्ति इत्यादि के राग में ही वह धर्म मानता है।

आत्मा का शुद्ध चिदानन्दस्वभाव है—उसकी अन्तरश्रद्धा-ज्ञान और रमणता, वही कल्याण का उपाय है। पंचपरमेष्ठी के प्रति भक्तिभाव, वह राग है, उसे ज्ञानी आस्रव जानते हैं। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को भगवान की भक्ति का—पूजा का भाव आता है, प्रतिमाजी के दर्शन का भाव आता है। सच्चे देव-गुरु-धर्म के प्रति उत्साहभाव आये बिना रहता नहीं। यदि उस राग को न माने तो वह जीव राग को और धर्म को समझता नहीं। धर्मी को अपनी रागभूमिका में देव-गुरु की पूजा-भक्ति-प्रभावना इत्यादि का भाव होता है, परन्तु उसे वह आस्रव समझता है। पर जीव को बचाने का भाव, वह पाप नहीं परन्तु पुण्य है। परजीव को मैं मार या बचा सकता हूँ, ऐसी मान्यता तो मिथ्यात्व है। परन्तु ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव को भी जो अनुकम्पा इत्यादि का भाव आता है, वह पुण्यास्रव है।

अज्ञानी को पंच परमेष्ठी के प्रति भक्ति का भाव आता है, परन्तु यदि अन्तर से यथार्थरूप से पंच परमेष्ठी को पहिचाने तो अन्दर आत्मा का भान हुए बिना रहे नहीं क्योंकि पंच परमेष्ठी तो आत्मा हैं। उनके शुद्ध आत्मा को पहिचाने तो अपना आत्मा भी उनके जैसा है, ऐसे अपने आत्मा को भी पहिचाने, और उसे सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान हुए बिना रहे नहीं। पंच परमेष्ठी इत्यादि की भक्ति में अज्ञानी को मिथ्यात्वसहित का शुभास्रव होता है। देह की क्रिया में आस्रव नहीं, अन्दर जीव के शुभाशुभ परिणाम हुए, वह भाव आस्रव है, उसमें अज्ञानी को अकेला आस्रव ही है।

ज्ञानी धर्मात्मा को किसी काल में भक्ति इत्यादि का शुभराग होता है, निर्ग्रन्थ सन्त को पहिचानकर उनके प्रति भक्ति-बहुमान का शुभराग आता है। छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते-झूलते बारम्बार अन्तर में सिद्ध जैसे आनन्द का आंशिक अनुभव करते हैं—ऐसे मुनियों को भी जब निर्विकल्पदशा नहीं होती, तब छठवें-सातवें गुणस्थान में शास्त्ररचना इत्यादि का शुभविकल्प आता है। छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान मुनि को बारम्बार आया करता है, वे जब ऊपर के अप्रमत्त गुणस्थान में नहीं पहुँच सकते, तब छठवें गुणस्थान में शुभराग आता है—पंच परमेष्ठी की भक्ति, यात्रा, इत्यादि का शुभराग

उनको भी होता है, उसे वे पुण्यास्रव समझते हैं। इसी प्रकार चौथे-पाँचवें गुणस्थान में धर्मात्मा को भी वैसा शुभभाव आता है। देखो, यहाँ 'किसी काल में' ऐसा कहा है। अज्ञानी तो सदा आस्रव में ही पड़े हुए है, इसलिए कहा कि ज्ञानी को भी किसी काल में शुभभाव होता है। यहाँ मुख्यरूप से छठवें गुणस्थानवाले मुनि की बात ली है। और चौथे-पाँचवें गुणस्थान में धर्मात्मा को अन्तर में वीतरागस्वभाव की दृष्टि प्रगट हुई है। परन्तु अभी विशेष वीतरागता प्रगटी नहीं। वे जब निर्विकल्प ध्यान में न हों, तब उनको भी शुभराग आता है। चौथे-पौचवें गुणस्थान में ज्ञानी को भी जब सिद्ध जैसे आनन्द का निर्विकल्प अनुभव करते हों, तब उनको बुद्धिपूर्वक शुभाशुभभाव नहीं होते। निर्विकल्पदशा का अवसर न हो, तब शुभभाव आते हैं।

धर्मी को अन्तर में पूर्ण स्वभाव की दृष्टि प्रगट हुई है। परन्तु अभी पर्याय में चैतन्य की पूर्णता का विरह है और बाहर में तीर्थंकरों का विरह है।

अहो! देखो तो सही कि जब निर्विकल्प अनुभव में स्थिर हुआ, वहाँ किस साधन का अवलम्बन है? अन्तर के द्रव्य के अतिरिक्त किसी का अवलम्बन उस समय नहीं है। इसलिए निश्चित करो कि राग के समय भी चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त दूसरे किसी के अवलम्बन से धर्म नहीं है।

शुभभाव के समय सर्वज्ञदेव की भक्ति का भाव आता है, उसमें कुदेवादि के राग का निषेध होता है। राग के अवसर में कुदेवादि के राग के निषेध के लिये तथा अशुभराग से बचने के लिये धर्मी को भगवान की भक्ति इत्यादि का शुभराग होता है। उस समय अशुभराग होनेवाला था और उसका निषेध किया, ऐसा नहीं है। परन्तु शुभराग के समय अशुभराग नहीं हुआ, इस अपेक्षा से उसका निषेध किया—ऐसा कहा जाता है।

अज्ञानी तो भक्ति इत्यादि के राग से ही धर्म मान बैठा है, परन्तु ज्ञानी उस राग को धर्म नहीं मानते हैं। ज्ञानी को राग क्यों होता है? उसके तीन कारण कहे—

(१) ऊपर के अप्रमत्त गुणस्थान में नहीं जा सकते, इसलिए राग होता है।

(२) कुदेवादि के प्रति राग के निषेध के लिये, और

(३) तीव्र अशुभ परिणाम से बचने के लिये

धर्मी को धर्मानुराग होता है। वास्तव में शुभराग का वह काल है, इसीलिए वह राग हुआ है। विषयों के राग का निषेध करने के लिये शुभराग हुआ है—ऐसा कहना, वह तो उपचार का कथन है। धर्मी समझता है कि मेरे ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में राग नहीं, मैं उस स्वभाव में स्थिर नहीं रह सकता; इसलिए यह राग होता है, परन्तु यह आस्रव है। यह मेरे धर्म का साधन नहीं। अज्ञानी को धर्म का साधन मानकर राग होता है, इसलिए उसे तो मिथ्यात्वसहित का राग है। धर्मी जानता है कि यह राग मेरी अस्थिरता के कारण से होता है। इस प्रकार राग को आस्रवरूप से जानना चाहिए। राग के काल में राग हो, उसे न जाने और ऐसा माने कि 'मैं तो निर्विकल्प ही रहता हूँ' तो उस जीव को तत्त्व की खबर नहीं है। ●●

अहो! उपकार गुरुवर का!

श्रीगुरु के उपदेश द्वारा आत्मस्वभाव समझकर शिष्य को जहाँ अपूर्व आनन्द का प्राप्ति हुई, वहाँ रोम-रोम में गुरु के प्रति अपार विनय से उसका आत्मा उछल जाता है। निश्चय प्रगट होने पर उसका व्यवहार भी लोकोत्तर हो जाता है और श्रीगुरु के अनन्त उपकार को व्यक्त करते हुए वह कहता है –

अहो प्रभो! आपने ही इस पामर को ज्ञान और आनन्द का दान दिया... आप ही हमारी आँख हैं... अपने आनन्द को भूलकर मैं अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण करता था, उससे छुड़ाकर आपने ही मुझे आनन्द प्रदान किया है... घोर भवभ्रमण के दुःखों से आपने ही मुझे बचाया है... आपने ही कृपा करके संसार से मुझे उभारा है... हे नाथ! आपने अनन्त उपकार का बदला कैसे चुकाऊँ? इस प्रकार पात्र जीव अपार विनय-भक्तिपूर्वक श्रीगुरु / मुनिराज के चरणों में अर्पित हो जाता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, रत्नसंग्रह, पृष्ठ ९९

गाथा - १३७

तिसिदं व भुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ।। १३७ ।।

तृषितं बुभुक्षितं वा दुःखितं दृष्ट्वा यस्तु दुःखितमनाः ।
प्रतिपद्यते तं कृपया तस्यैषा भवत्यनकम्पा ।।१३७ ।।

अनुकम्पास्वरूपाख्यानमेतत् ।

कञ्चिदुदन्यादिदुःखप्लुतमवलोक्य करुणया तत्प्रतिचिकीर्षाकुलितचित्तत्वमज्ञानिनोऽनुकम्पा। ज्ञानिनस्त्वधस्तनभूमिकासु विहरमाणस्य जन्मार्णवनिमग्नजगदवलोकनान्मनाग्मनः खेद इति।। १३७ ।।

क्षुधा तृषा से दुःखीजन को व्यथित होता देखकर।
जो दुःख मन में उपजता करुणा कहा उस दुःख को ।।१३७।।

अन्वयार्थ :— [तृषितं] तृषातुर, [बुभुक्षितं] क्षुधातुर, [वा] अथवा [दुःखितं] दुःखी को [दृष्ट्वा] देखकर [यः तु] जो जीव [दुःखितमनाः] मन में दुःख पाता हुआ [तं कृपया प्रतिपद्यते] उसके प्रति करुणा से वर्तता है, [तस्य एषा अनुकम्पा भवति] उसका वह भाव अनुकम्पा है।

टीका :— यह, अनुकम्पा के स्वरूप का कथन है।

किसी तृषादि दुःख से पीड़ित प्राणी को देखकर करुणा के कारण उसका प्रतिकार (-उपाय) करने की इच्छा से चित्त में आकुलता होना, वह अज्ञानी की अनुकम्पा है। ज्ञानी की अनुकम्पा तो, निचली भूमिका में विहरते हुए (-स्वयं निचले गुणस्थानों में वर्तता हो तब), जन्मार्णव में निमग्न जगत के अवलोकन से (अर्थात् संसार सागर में डूबे हुए जगत को देखने से) मन में किंचित् खेद होना वह है ॥१३७॥*

---

* इस गाथा की आचार्यवर श्री जयसेनाचार्यदेवकृत टीका में इस प्रकार विवरण है :- तीव्र तृषा, तीव्र क्षुधा, तीव्र रोग आदि से पीड़ित प्राणी को देखकर अज्ञानी जीव 'किसी भी प्रकार से मैं इसका प्रतिकार करूँ' इस प्रकार व्याकुल होकर अनुकम्पा करता है; ज्ञानी तो स्वात्मभावना को प्राप्त न करता हुआ (अर्थात् निजात्मा के अनुभव की उपलब्धि न होती हो तब), संक्लेश के परित्याग द्वारा (-अशुभभाव को छोड़कर) यथासम्भव प्रतिकार करता है तथा उसे दुःखी देखकर विशेष संवेग और वैराग्य की भावना करता है।

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल १५, शुक्रवार

अब, अनुकम्पा अर्थात् दया का स्वरूप कहते हैं। यहाँ पुण्यरूपी आस्रव की बात चलती है।

जो कोई तृषावन्त है, भूखा है अथवा रोगादि से दुःखी है, उसे देखकर जो पुरुष उसकी पीड़ा से स्वयं दुःखी होकर दयाभाव करता है और उस पुरुष के दुःख दूर करने के परिणाम करता है, उसे दया कहते हैं, वह पुण्य आस्रव है।

भावार्थ : दयाभाव अज्ञानी को होता है तथा ज्ञानी को भी होता है। परन्तु इतना विशेष है कि अज्ञानी को जो दयाभाव होता है, वह किसी दुःखी पुरुष को देखकर होता है और उसके दुःख दूर करने के उपाय में वह अहंबुद्धि करके आकुलता करता है। मैं उसका दुःख मिटा सकता हूँ, ऐसा अभिप्राय, वह मिथ्यादृष्टि का है। सामनेवाला जीव दुःखी हो रहा है, वह उसके अज्ञान के कारण से हो रहा है और यद्यपि सामनेवाले जीव के दुःख की पर्याय दूर करने की जीव की सामर्थ्य नहीं, तथापि सामनेवाले जीव को आहार-पानी आदि देकर सुखी कर दूँ, वह मिथ्यात्वसहित की आकुलता है। परपदार्थों की अवस्था मैं कर सकता हूँ, ऐसा भाव मिथ्यात्व है और जितना कोमलता का भाव है, वह कषायमन्दता का भाव है, वह पुण्य है।

कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि आहारादि देने के भाव करना, वह पाप है। इसके लिये वे ऐसी दलील करते हैं कि श्रावक ग्यारहवीं प्रतिमावाले को भी अत्यागभाव वर्तता है, इसलिए उसे आहार देना, वह अत्यागभाव का अनुमोदन देने जैसा है, इसलिए पाप है। परन्तु यह मान्यता भूल भरी है। जीव के अपने परिणाम के आधार से पुण्य-पाप है। सामने के जीव के साथ उसका सम्बन्ध नहीं है।

कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि कसाई को रुपया देकर बकरे छुड़ाऊँगा तो उन रुपये से दूसरे अधिक बकरे लायेगा और अधिक हिंसा करेगा तो अपने को पाप लगेगा। यह भी भूल है। सामनेवाले जीव की पर्याय से पाप नहीं लगता। स्वयं दया के परिणाम

करे, वह पुण्य है। सामने के जीव के परिणाम के साथ सम्बन्ध नहीं है। परन्तु मैं इतने जीवों को बचा सकता हूँ, यह मान्यता मिथ्यात्व है और इसलिए बड़ा पाप बँधता है।

कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि तथारूप के संयत मुनि को आहार-पानी देने से निर्जरा होती है, यह भी खोटी बात है। स्वयं शुभभाव करता है, इतना पुण्य है; धर्म नहीं। और सामनेवाला जीव साता पाता है, इसलिए पुण्य है, ऐसा नहीं परन्तु शुभभाव करता है, उसका पुण्य है। अनुकम्पा के भाव पाप नहीं तथा धर्म भी नहीं। मैं पर जीवों को बचा सकता हूँ तथा सुखी कर सकता हूँ—ऐसी मान्यता तथा सामने का जीव दुःखी है, इसलिए मुझे अनुकम्पा आती है, यह मान्यता मिथ्यात्व है। साथ में कषायमन्दता का अल्प पुण्य है। जड़ पदार्थों की अवस्था स्वतन्त्र, सामने के जीव की अवस्था स्वतन्त्र, रागी को राग आना स्वतन्त्र है, ऐसा नहीं मानकर सामने के जीव के कारण मुझे अनुकम्पा आती है। मुझसे आहारादि जड़ पदार्थों की अवस्था होती है और इससे सामनेवाला जीव सुखी होता है, यह मान्यता झूठी है।

कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि किसी जीव को बचाने का अनुकम्पा का भाव करे तथा मुनि को आहारादि दे तो निर्जरा होती है और इससे संसारपरित होता है। यह भी भूल है। आहारादि देने का भाव और अनुकम्पा का भाव शुभ है, वह पुण्य है; धर्म नहीं। आहारादि तो जड़ है, उनकी लेने-देने की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। सामनेवाला जीव बचता है, वह उसके कारण से बचता है। रागी जीव को राग आता है, उस राग का तथा पर का स्वामी न होकर ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ऐसा भान करे तो धर्म होता है। ज्ञानस्वभाव में भव नहीं, विकार में भव है। इसलिए विकार का स्वामीपना छोड़कर ज्ञानस्वभाव का स्वामीपना प्रगट करे तो भव का नाश होता है। दया पालने के भाव से पुण्य बँधता है। संसारपरित नहीं होता।

कोई जीव ऐसा कहे कि असंयति को आहार देने से पाप होता है तो ऐसा भी नहीं है और तथारूप (यथाजातरूप) मुनि को आहार देने से निर्जरा होकर संसार नाश होता है तो ऐसा भी नहीं है। वह भाव शुभ है, पुण्य है। पर की पर्याय और राग का स्वामी हो तो मिथ्यात्व का पाप लगे और ज्ञाता-दृष्टा रहकर स्वभाव का भान करे तो धर्म

हो। रागरहित वीतरागी ज्ञायकतत्त्व को अन्तर में पकड़े बिना और पुण्य-पाप से पराङ्मुख हुए बिना भव का अभाव होगा नहीं।

अज्ञानी जीव की अनुकम्पा मिथ्यात्वभावसहित की होती है; इसलिए आकुलचित्त होकर वह प्रवर्तता है।

अब, ज्ञानी जीव को अनुकम्पा आती है, उसकी बात करते हैं।

ज्ञानी को चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान में किसी समय अनुकम्पा हो जाती है। ज्ञानी परजीवों के कारण से अनुकम्पा नहीं करता। स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव में स्थिर नहीं रह सकता, इसलिए अनुकम्पा का शुभराग अपने कारण से हो आता है। ज्ञानी जीव विचारता है कि यह अज्ञानी जीव अपने अज्ञान के कारण से दु:खी हो रहे हैं, क्षुधा, तृषा के कारण दु:खी नहीं—ऐसा ज्ञानी जानते हैं। परन्तु अपने में निर्विकल्पदशा नहीं होती, तब किसी काल में शुभराग आ जाता है। सामनेवाले जीव के कारण से नहीं, परन्तु निर्बलता के कारण से राग हो आता है। परन्तु उस राग का जोर नहीं है। दृष्टि तो ज्ञाता-दृष्टास्वभाव के ऊपर ही है।

ज्ञानी अपने आत्मा को जानते हुए परपदार्थों की अवस्था को यथार्थ जान लेता है कि सामने जीव क्षुधा-तृषा के कारण से दु:खी नहीं, परन्तु अज्ञान के कारण से दु:खी है। अपनी निर्बलता के कारण से विकल्प उठता है, वह पुण्यभाव है, परन्तु उसे मिथ्यात्व का पाप नहीं होता।

ज्ञानस्वभाव में विकल्प और आकुलता को स्थान है ही नहीं। ऐसा भान होने पर भी रागी जीव को पूर्ण वीतरागदशा होने से पहले राग आये बिना रहता नहीं। अनन्त संसार के कारणरूप राग होता नहीं, परन्तु अल्प राग होता है।

अज्ञानी जीव वस्तुस्वरूप समझते नहीं और पर की पर्याय बदलना चाहते हैं और आकुलता किया करते हैं। ऐसे प्रसंगों के कारण अज्ञानी जीव दु:खी हुआ करते हैं और ज्ञानी को अपने कारण से खेद होता है। जितना भेदज्ञान वर्तता है, उतने प्रमाण में संवर-निर्जरा है और जितना पुण्य आस्रव है, उतना बन्ध है।

प्रश्न : ज्ञाता-दृष्टा हो जाये तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : वीतरागदशा प्रगट हो जाये, तब तो कुछ बाधा नहीं, परन्तु छद्मस्थ रागी जीव को राग हो जाता है। स्व को जानते हुए पर को जानने का विकास वर्तता है और दु:खी जीवों को जानने से रागी को अपने कारण से जरा खेद हो जाता है। सामने जीव संयोगों के कारण दु:खी है, ऐसा अज्ञानी मानता है और सामने का जीव अज्ञान के कारण दु:खी है, ऐसा ज्ञानी जानते हैं। परन्तु रागी को राग हो जाता है। केवलज्ञानी सबको जानते हैं, परन्तु उनको राग नहीं, इसलिए राग नहीं होता।

मिथ्यादृष्टि जीव को मिथ्यात्वसहित पुण्य आस्रव है और समकिती जीव को निर्जरासहित पुण्य आस्रव है। इस प्रकार यहाँ पुण्य आस्रव का स्वरूप बतलाया है।

●●

सन्तों ने खजाना खोल दिया

अहा! समयसार में सन्तों ने अनन्त शक्ति का खजाना खोल दिया... चैतन्य की अनन्त शक्तियाँ खुल्ली करके बतायीं हैं। ऐसे चैतन्य खजाने को कौन नहीं लेगा? कौन जीव ऐसे निज निधान को नहीं देखेगा। श्री पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं – हे जिनेन्द्र आदिनाथ प्रभु! आपने केवलज्ञान प्रगट करके दिव्यध्वनि द्वारा जगत को अचिन्त्य चैतन्य निधान बताया है। ऐसा निधान बताया है कि मोक्षार्थी जीव उसके समक्ष विशाल राजपाट को तुच्छ तृणसम समझकर, उसे छोड़कर, मुनि होकर उस चैतन्य निधान को साधने के लिये वन में चल निकले।

अहा! तीर्थङ्करदेवों और सन्तों ने चैतन्य की अनन्त शक्तियाँ दिखाकर निजवैभव का स्वानुभव कराया है। अरे जीवों! देखो रे देखो... अपने चैतन्य निधान को देखो, जिसे देखते ही अतीन्द्रिय आनन्द उल्लसित हो, ऐसा निधान तुम्हारे अन्तर में ही भरा है। स्वसन्मुख होकर उस आनन्द का स्वानुभव करो।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, रत्न संग्रह, पृष्ठ ५१

गाथा - १३८

कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज ।
जीवस्स कुणदि खोहं कलुसो त्ति य तं बुधा बेंति ।। १३८ ।।

क्रोधो वा यदा मानो माया लोभो वा चित्तमासाद्य ।
जीवस्य करोति क्षोभं कालुष्यमिति च तं बुधा ब्रुवन्ति ।। १३८ ।।

चित्तकलुषत्वस्वरूपाख्यानमेतत् ।

क्रोधमानमायालोभानां तीव्रोदये चित्तस्य क्षोभः कालुष्यम् । तेषामेव मन्दोदये तस्य प्रसादोऽकालुष्यम् । तत् कादाचित्कविशिष्टकषायक्षयोपशमे सत्यज्ञानिनो भवति । कषायोदयानुवृत्तेरसमग्रव्यावर्तितोपयोगस्यावान्तरभूमिकासु कदाचित् ज्ञानिनोऽपि भवतीति ।। १३८ ।।

अभिमान माया लोभ अर क्रोधादि भय परिणाम जो ।
सब कलुषता के भाव ये हैं क्षुभित करते जीव को ।।१३८।।

अन्वयार्थ :— [यदा] जब, [क्रोधः वा] क्रोध, [मानः] मान, [माया] माया [वा] अथवा [लोभः] लोभ [चित्तम् आसाद्य] चित्त का आश्रय पाकर [जीवस्य] जीव को, [क्षोभं करोति] क्षोभ करते हैं, तब [तं] उसे [बुधाः] ज्ञानी [कालुष्यम् इति च ब्रुवन्ति] 'कलुषता' कहते हैं।

टीका :— यह, चित्त की कलुषता के स्वरूप का कथन है।

क्रोध, मान, माया और लोभ के तीव्र उदय से चित्त का क्षोभ, सो कलुषता है। उन्हीं के (-क्रोधादि के ही) मन्द उदय से चित्त की प्रसन्नता, सो अकलुषता है। वह अकलुषता, कदाचित् कषाय का विशिष्ट (-खास प्रकार का) क्षयोपशम होने पर, अज्ञानी को होती है; कषाय के उदय का अनुसरण करनेवाली परिणति में से उपयोग को [1]असमग्ररूप से विमुख किया हो, तब (अर्थात् कषाय के उदय का अनुसरण करनेवाले परिणमन में से उपयोग को पूर्ण विमुख न किया हो तब), मध्यम भूमिकाओं में (-मध्यम गुणस्थानों में), कदाचित् ज्ञानी को भी होती है॥ १३८॥

---

१. असमग्ररूप से = अपूर्णरूप से; अधूरेरूप से; अंशतः।

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण १, शनिवार

यह पुण्य-पाप के आस्रव का अधिकार है। शुभाशुभभाव आस्रव और बन्ध का कारण है। वह कलुषितता दो प्रकार की है।

जिस समय शुद्ध आत्मा का आश्रय छूटता है, उस समय क्रोध, मान, माया और लोभ के परिणाम होते हैं, उन आकुलता के परिणाम को कलुषित परिणाम कहते हैं। अज्ञानी जीव पर की पर्याय बदल सकता हूँ, ऐसा मानता है। ज्ञानी पर को बदलना नहीं चाहता। पर के कारण से क्रोध नहीं करता और धर्मी जीव तीर्थंकर पुण्यप्रकृति बाँधे तो भी उसका अभिमान नहीं करता। चैतन्यस्वभाव की दृढ़ता रखता है। अज्ञानी मान से लाभ मानता है। आत्मा सरल स्वभावी है, इससे विपरीत भाव, वह माया है। अज्ञानी माया से लाभ मानता है। ज्ञानी पर के कारण से माया नहीं करता। आत्मा का स्वरूप अपने से तृप्त है, इससे विपरीत, वह लोभ है। अज्ञानी पर से तृप्ति करना चाहता है। ज्ञानी पर के कारण से लोभ करता नहीं। शुद्धस्वभाव के अवलम्बन से क्रोधादि के परिणाम नहीं होते, परन्तु मन के निमित्त से ये परिणाम होते हैं, इनके दो प्रकार बतलायेंगे।

भावार्थ : जब क्रोध, मान, माया, लोभ का तीव्र उदय होता है, तब चित्त में जो क्षोभ के परिणाम होते हैं, वे कलुषित परिणाम हैं। कर्म तो जड़ है। वे परिणाम नहीं कराते, परन्तु जीव कलुषित परिणाम अपने कारण से करता है। उन कषायों का जब मन्द उदय होता है, तब चित्त की प्रसन्नता होती है, उसे विशुद्ध भाव कहते हैं। वह विशुद्ध चित्तप्रसाद किसी काल में कषाय मन्दता के समय अज्ञानी जीवों को भी होता है। दया, दान, ब्रह्मचर्य के भाव अज्ञानी को होते हैं, परन्तु राग की मन्दता मुझे लाभदायक है, ऐसा वह मानता है, इसलिए उसे मिथ्यात्व का पाप लगता है।

चिदानन्द के भान बिना महाव्रत पालन किये, परन्तु वे वृथा हैं। आत्मा के भान बिना की अकेली कषाय की मन्दता—चित्त की प्रसन्नता, वह पुण्य है, उसमें आत्मा का धर्म बिल्कुल नहीं।

अब, धर्मी जीव की प्रसन्नता की बात करते हैं। साधक जीव को उपयोग सर्वथा निर्मल हुआ नहीं। चौथे से छठवें गुणस्थान तक में किसी समय देव-गुरु-शास्त्र के प्रति उल्लास आता है। उस प्रकार के राग का उस समय काल है। 'यदा' शब्द प्रयोग कर वस्तुस्थिति बतलाते हैं।

सम्यग्दृष्टि इन्द्र भी भगवान के निकट नाच उठते हैं, परन्तु समझते हैं कि देह की क्रिया देह के कारण से है। स्वभाव में स्थिर नहीं हो सकता, इसलिए शुभराग आता है। परन्तु वह मेरा स्वरूप नहीं। मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसा भान वर्तता है, तथापि शुभभाव आये बिना नहीं रहता। क्यों आता है ? यथाकाल क्रमबद्धपर्याय के नियमानुसार आता है। किसी समय अज्ञानी को ज्ञानी की अपेक्षा अधिक भक्ति दिखती है और चित्त प्रसन्नता दिखती है, परन्तु उसे आत्मा का भान नहीं; इसलिए धर्म नहीं होता। अज्ञानी को राग का आदर है, ज्ञानी को राग का आदर नहीं है। ●●

अहो! जगत का महाभाग्य

अहो! कुन्दकुन्दाचार्यदेव की क्या बात करें! कुन्दकुन्दाचार्यदेव तो भगवान कहलाते हैं! उनका वचन अर्थात् केवली का वचन। अन्तर में अध्यात्म का स्रोत उमड़ रहा था, एकदम केवलज्ञान की तैयारी थी; वीतरागभाव से अन्तर में स्थिर होते-होते फिर छद्मस्थदशा में रह गये और विकल्प उठने से महान शास्त्रों की रचना हो गयी। इतना जगत का महाभाग्य था कि उनके द्वारा इन समयसार, प्रवचनसार जैसे महान परमागमों की रचना हो गई। इस समय तो वैसी शक्ति यहाँ नहीं है। सौराष्ट्र का भी महाभाग्य है कि गुजराती भाषा में वे शास्त्र प्रकाशित हो गये हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भेदविज्ञानसार, पृष्ठ १७२-१७३

गाथा - १३९

चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसएसु ।
परपरिदावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि ।। १३९ ।।

चर्या प्रमादबहुला कालुष्यं लोलता च विषयेषु ।
परपरितापापवादः पापस्य चास्रवं करोति ।। १३९ ।।

पापस्रवस्वरूपाख्यानमेतत् ।

प्रमादबहुलचर्यापरिणतिः, कालुष्यपरिणतिः, विषयलौल्यपरिणतिः, परपरितापपरिणतिः, परापवादपरिणतिश्चेति पञ्चाशुभा भावा द्रव्यपापास्रवस्य निमित्तमात्रत्वेन कारणभूतत्वात्तदास्रवक्षणादूर्ध्वं भावपापास्रवः । तन्निमित्तोऽशुभकर्मपरिणामो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलानां द्रव्यपापास्रव इति ।। १३९ ।।

प्रमादयुतचर्या कलुषता, विषयलोलुप परिणति।
परिताप अर अपवाद पर का पाप आस्रव हेतु हैं।।१३९।।

अन्वयार्थ :— [प्रमादबहुला चर्या] बहु प्रमादवाली चर्या, [कालुष्यं] कलुषता, [विषयेषु च लोलता] विषयों के प्रति लोलुपता, [परपरितापापवादः] पर को परिताप करना तथा पर के अपवाद बोलना—वह [पापस्य च आस्त्रवं करोति] पाप का आस्त्रव करता है।

टीका :— यह, पापास्त्रव के स्वरूप का कथन है।

बहु प्रमादवाली चर्यारूप परिणति (-अति प्रमाद से भरे हुए आचरणरूप परिणति), कलुषतारूप परिणति, विषयलोलुपतारूप परिणति, परपरितापरूप परिणति (-पर को दुःख देनेरूप परिणति) और पर के अपवादरूप परिणति—यह पाँच अशुभभाव द्रव्यपापास्त्रव को निमित्तमात्ररूप से कारणभूत हैं, इसलिए 'द्रव्यपापास्त्रव' के प्रसंग का [१]अनुसरण करके (-अनुलक्ष करके) वे अशुभभाव भावपापास्त्रव हैं

---

१. असातावेदनीयादि पुद्गलपरिणामरूप द्रव्यपापस्त्रव का जो प्रसंग बनता है, उसमें जीव के अशुभभाव निमित्त कारण हैं, इसलिए 'द्रव्यपापास्त्रव' प्रसंग के पीछे-पीछे उनके निमित्तभूत अशुभभावों को भी 'भावपापास्त्रव' ऐसा नाम है।

और वे (अशुभभाव) जिनका निमित्त हैं, ऐसे जो योगद्वारा प्रविष्ट होनेवाले पुद्गलों, के अशुभकर्मपरिणाम (-अशुभकर्मरूप परिणाम), वे द्रव्यपापास्त्रव हैं ॥१३९॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण १, शनिवार

अब, पाप आस्त्रव का स्वरूप कहते हैं।

चित्चमत्कारदशा शान्तदशा को प्रतिबन्ध करनेवाली प्रमादसहित क्रिया मुनि को भी किसी समय आर्तध्यानरूप होती है। वह पाप आस्त्रव है, तथापि वे पाप के स्वामी नहीं होते। अज्ञानी को अकेला अज्ञान का प्रमाद है। कलुषता के परिणाम ज्ञानी-अज्ञानी को दोनों को होते हैं, परन्तु दोनों की दृष्टि में बड़ा अन्तर है।

अज्ञानी पाँच इन्द्रियों के विषयों में सुख मानता है। ज्ञानी को चैतन्य की दृष्टि छोड़कर लोलुपता नहीं होती। अल्प अशुभभाव होता है। अन्य जीवों को दुःख देने का भाव, निन्दा करने का भाव, बुरा बोलने का भाव इत्यादि अशुभभाव है। अज्ञानी को वस्तुस्वरूप चूककर अशुभभाव होता है और ज्ञानी को स्वभाव की श्रद्धा चूककर होता नहीं। वह अशुभभाव पाप आस्त्रव है।

भावार्थ : विषय-कषायादि अशुभ क्रिया से जीव के अशुभ परिणाम होते हैं। उन्हें भाव पापास्त्रव कहते हैं, उनका निमित्त पाकर मन, वचन, काया के योग द्वारा जड़ परमाणु आते हैं, उन्हें द्रव्य आस्त्रव कहते हैं।

मन, वचन, काया तो जड़ है, वह योग नहीं, परन्तु आत्मा के प्रदेश कँपते हैं, वह योग है। वह योग कर्म के परमाणु आने में निमित्त है। द्रव्यदृष्टि में तो आत्मा में आस्त्रव है ही नहीं, परन्तु यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है, इसलिए आस्त्रव का स्वरूप निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से बतलाते हैं। आत्मा के प्रदेश कम्पन में मन निमित्त होता है, उसे मनोयोग; वाणी निमित्त हो, उसे वचनयोग और काया निमित्त हो, उसे काययोग कहते हैं। वह योग कर्म आने में निमित्त है।

क्रिया, वह कर्म परिणाम से बन्ध और उपयोग, वह धर्म है—परन्तु अज्ञानी जीव इसका अर्थ नहीं समझते।

क्रिया, वह कर्म : आत्मा के प्रदेशों के कम्पनरूप क्रिया के निमित्त से जड़ कर्मों का आना होता है। (मन, वचन, काया की क्रिया की बात नहीं है।)

परिणाम से बन्ध : शुभाशुभभाव से बन्ध है।

उपयोग, वह धर्म : जड़ की क्रिया मैं कर सकता नहीं। मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसा भान होने पर शुद्ध उपयोग प्रगट हो, वह धर्म है।

अज्ञानी जीव कहते हैं कि मन, वचन, काया की प्रवृत्ति रोको, क्या जड़ की प्रवृत्ति आत्मा रोक सकता होगा? आत्मा का परिस्पन्दन रोकने से रूकता होगा? आत्मा का भान करके शुभाशुभभाव होने नहीं दिये और आत्मा में एकाग्रता की, उसने योग को रोका कहा जाता है।

इस प्रकार इस गाथा में पाप का आस्रव बतलाया। पुण्य और पाप दोनों आस्रव-बन्ध का कारण है, ऐसा यथार्थ स्वरूप समझे तो आस्रवरहित आत्मा की श्रद्धा करने का प्रसंग आवे। ●●

आकाश जैसे निरालम्बी मुनि जैनधर्म के स्तम्भ

अहो! कुन्दकुन्दस्वामी तो भगवान थे.... उन्होंने तो तीर्थङ्कर जैसा काम किया है.... और अमृतचन्द्राचार्य उनके गणधर जैसे थे। सन्तों ने महान आश्चर्यजनक कार्य किये हैं। अहो! आकाश जैसे निरालम्बी मुनि तो जैनधर्म के स्तम्भ हैं। निरालम्बी आत्मा का स्पर्श करके उनकी वाणी निकली है। ऐसे वीतरागी सन्तों का, चैतन्यपद को प्राप्त करानेवाला परम हित-उपदेश प्राप्त करके आत्मा को ऊपर ले जाना अर्थात् अन्तर्मुख होकर आत्मा की उन्नति करना ही जिज्ञासु आत्मार्थी जीवों का कर्तव्य है। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ५१८*

गाथा - १४०

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अट्टरुद्दाणि ।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ।। १४० ।।

संज्ञाश्च त्रिलेश्या इन्द्रियवशता चार्तरौद्रे ।
ज्ञानं च दु:प्रयुक्तं मोह: पापप्रदा भवन्ति ।। १४० ।।

पापस्रवभूतभावप्रपञ्चाख्यानमेतत् ।

तीव्रमोहविपाकप्रभवा आहारभयमैथुनपरिग्रहसञ्ज्ञा:, तीव्रकषायोदयानुरञ्जितयोगप्रवृत्तिरूपा: कृष्णनीलकापोतलेश्यास्तिस्र:, रागद्वेषोदयप्रकर्षादिन्द्रियाधीनत्वम्, रागद्वेषोद्रेकात्प्रियसंयोगाप्रियवियोगवेदनामोक्षणणिदानाकाञ्क्षणरूपमार्तम्, कषायक्रूराशयत्वाद्धिंसाऽसत्यस्तेयविषयसंरक्षणानन्दरूपं रौद्रम्, नैष्कर्म्यं तु शुभकर्मणश्चान्यत्र दुष्टतया प्रयुक्तं ज्ञानम्, सामान्येन दर्शनचारित्रमोहनीयोदयोपजनिताविवेकरूपो मोह:, -एष: भावपापास्रव-प्रपञ्चो द्रव्यपापास्रवप्रपञ्चप्रदो भवतीति ।। १४० ।।

-इति आस्रवपदार्थव्याख्यानं समाप्तम् ।

चार संज्ञा तीन लेश्या पाँच इन्द्रियाधीनता।
आर्त-रौद्र कुध्यान अर कुज्ञान है पापप्रदा।।१४०।।

अन्वयार्थ :— [संज्ञा च] (चारों) संज्ञाएँ, [त्रिलेश्या] तीन लेश्याएँ, [इन्द्रियवशता च] इन्द्रियवशता, [आर्तरौद्रे] आर्त-रौद्रध्यान, [दु:प्रयुक्तं ज्ञानं] दु:प्रयुक्त ज्ञान (-दुष्टरूप से अशुभ कार्य में लगा हुआ ज्ञान) [च] और [मोह:] मोह-[पापप्रदा: भवन्ति] यह भाव पापप्रद हैं।

टीका :— यह, पापास्त्रवभूत भावों के विस्तार का कथन है।

तीव्र मोह के विपाक से उत्पन्न होनेवाली आहार-भय-मैथुन-परिग्रहसंज्ञाएँ; तीव्र कषाय के उदय से [1]अनुरंजित योगप्रवृत्तिरूप कृष्ण-नील-कापोत नाम की तीन लेश्याएँ; रागद्वेष के उदय के [2]प्रकर्ष के कारण वर्तता हुआ इन्द्रियाधीनपना; रागद्वेष

---

१. अनुरंजित = रंगी हुई। [कषाय के उदय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति वह लेश्या है। वहाँ, कृष्णादि तीन लेश्याएँ तीव्र कषाय के उदय से अनुरंजित योगप्रवृत्तिरूप हैं।]

२. प्रकर्ष= उत्कर्ष; उग्रता।

के [1]उद्रेक के कारण प्रिय के संयोग की, अप्रिय के वियोग की, वेदना से छुटकारा की तथा निदान की इच्छारूप आर्तध्यान; कषाय द्वारा [2]क्रूर ऐसे परिणाम के कारण होनेवाला हिंसानन्द, असत्यानन्द, स्तेयानन्द एवं विषयसंरक्षणानन्दरूप रौद्रध्यान; निष्प्रयोजन (-व्यर्थ) शुभकर्म से अन्यत्र (-अशुभ कार्य में) दुष्टरूप से लगा हुआ ज्ञान; और सामान्यरूप से दर्शनचारित्रमोहनीय के उदय से उत्पन्न अविवेकरूप मोह;— यह, भावपापास्त्रव का विस्तार द्रव्यपापास्त्रव के विस्तार को प्रदान करनेवाला है (अर्थात् उपरोक्त भावपापास्त्रवरूप अनेकविध भाव वैसे-वैसे अनेकविध द्रव्यपापास्त्रव में निमित्तभूत हैं)॥१४०॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण १, शनिवार

अब, पाप आस्त्रव के कारणभूत भाव विस्तार से बतलाते हैं।

आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, यह चार प्रकार की संज्ञा तथा कृष्ण, नील, कापोत, ये तीन लेश्या पाप का कारण है।

इन्द्रियों के आधीन होना, वह पाप का कारण है। आर्तध्यान, रौद्रध्यान के परिणाम, सत्क्रिया से भिन्न असत् क्रिया में ज्ञान का रुकना तथा दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्म के समस्त भाव पापरूप आस्त्रव का कारण है। आर्त और रौद्रध्यान ज्ञानी श्रावक को भी कभी हो जाते हैं, परन्तु वह समझता है कि यह मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो ज्ञानस्वरूप ही हूँ।

भावार्थ : तीव्र मोह के उदय से आहार, भय, मैथुन, परिग्रहसंज्ञा होती है, वह पाप का कारण है।

आहारसंज्ञा : आत्मा के ज्ञानस्वभाव को चूककर अपने ज्ञान को आहार की प्रीति

---

१. उद्रेक = बहुलता; अधिकता।
२. क्रूर = निर्दय; कठोर; उग्र।

में रोक देना, वह आहारसंज्ञा है। सम्यक् प्रकार से ज्ञानस्वभाव में ज्ञान को रोकना, वह वास्तव में संज्ञा है, परन्तु उसे चूककर अथवा अस्थिर होकर आहार के प्रति प्रेम में ज्ञान को रोकना, वह आहारसंज्ञा है।

और आहार छूटता है, इसलिए आहारसंज्ञा छूटती है, ऐसा नहीं और आहार करता है, इसलिए आहारसंज्ञा है, ऐसा भी नहीं है। आहार की क्रिया के साथ सम्बन्ध नहीं, परन्तु उस प्रकार के राग को आहारसंज्ञा कहते हैं।

भयसंज्ञा : आत्मा का निर्भय स्वभाव चूककर ज्ञान को भय में रोकना, वह भयसंज्ञा है। ज्ञानी को भय होता है सही, परन्तु वे समझते हैं कि मुझे कोई लूटने में समर्थ नहीं। उसे अस्थिरता का दोष है, उल्टी श्रद्धा का दोष नहीं। अज्ञानी को दोनों दोष हैं। ज्ञान को भूलकर राग और ज्ञान को एक करता है, इसलिए उसे मिथ्यात्वसहित पापआस्रव है।

मैथुनसंज्ञा : अपने ज्ञान को इन्द्रियों के विषयों में रोकना, वह मैथुनसंज्ञा है। ज्ञानी को विषय का भाव चौथे, पाँचवें गुणस्थान में होता है, परन्तु दृष्टि का भान है, तथापि जितना भाव होता है, उतना पाप है और अज्ञानी को भान नहीं, इसलिए उसे मिथ्यात्वसहित पापआस्रव है।

परिग्रहसंज्ञा : अपने ज्ञान को परिग्रह में अटका देना, वह परिग्रहसंज्ञा है। अज्ञानी तो पैसे की प्राप्ति होने पर उस परिग्रह की संज्ञा में एकाकार है। ज्ञानी को परिग्रह का राग होता है, परन्तु परिग्रह के कारण से होता नहीं, किन्तु अपनी निर्बलता के कारण से होता है, तथापि जितना राग है, वह पाप का कारण है। इस प्रकार चार संज्ञाएँ संसार को बढ़ानेवाली है, इसलिए आत्मा के भानपूर्वक उन्हें छोड़ना चाहिए।

वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण २, रविवार

आत्मा की अवस्था में पुण्य-पाप परिणाम होते हैं, उन्हें आस्रव कहते हैं। वह मूल चीज़ नहीं है। पुण्य-पाप एक समय की अवस्था में होते हैं। धर्मी की दृष्टि पर्याय के ऊपर नहीं होती, चैतन्य के ऊपर होती है। तथापि ज्ञानी को भी जो आस्रव होता है,

उसका ज्ञान कराते हैं। अज्ञानी आस्रव जितना मैं हूँ, ऐसा मानकर चार गति में भटकता है। पाप पर के कारण से नहीं होता, परन्तु आत्मा की उस समय की योग्यता के कारण से होता है, परन्तु वह जीव का शाश्वत् स्वरूप नहीं है। जीव तो जाननेवाला-देखनेवाला है, ऐसा माने तो धर्म होता है।

चार प्रकार की संज्ञा पाप का कारण—आस्रव का कारण है, यह बात कही जा चुकी है। अब तीन प्रकार की अशुभ लेश्या की बात करते हैं। जीव अपना ज्ञानस्वभाव छोड़कर जितना योग की प्रवृत्ति में कषायसहित जुड़ता है, उसे लेश्या कहते हैं। उसमें कृष्ण, नील, कापोत—तीन अशुभ लेश्या है। मन, वचन, काया तो जड़ है, उनकी बात नहीं। आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्दन, वह योग का कम्पन है। कषाय से रंजित योग की प्रवृत्ति, वह लेश्या है। उसमें अशुभ लेश्या पाप का कारण है। अज्ञानी आस्रव के साथ तन्मय हो जाता है, ज्ञानी को आस्रव के ऊपर दृष्टि नहीं; स्वभाव के ऊपर दृष्टि है, तथापि जितने अशुभ लेश्या के परिणाम होते हैं, वह पाप है।

अतीन्द्रिय स्वभाव की दृष्टि छोड़कर इन्द्रियाधीन वर्तना, वह पाप आस्रव है। अतीन्द्रिय स्वभाव का भान है, उसे अस्थिरता का अल्प आस्रव है और इन्द्रियों की रुचि करे, उसे मिथ्यात्वसहित का आस्रव है। समकिती समझता है कि आस्रव मेरा स्वरूप नहीं है, तथापि अल्प आस्रव हो आता है। यदि सर्वथा आस्रव टल जाये तो केवली हो जाये, परन्तु साधक में अल्प इन्द्रियाधीनता है, उतना पापबन्ध है।

इष्ट पदार्थों के वियोग में और अनिष्ट पदार्थों के संयोग में राग-द्वेष करना, पीड़ा का चिन्तवन और निदानबन्ध, ऐसे चार प्रकार के आर्तध्यान, वह पाप का कारण है। अज्ञानी जीव की दृष्टि संयोग के ऊपर है। ज्ञानी को साधकदशा में आर्तध्यान के परिणाम होते हैं, परन्तु पर के कारण से नहीं होते। मुनि को भी किसी समय आर्तध्यान के परिणाम निर्बलता से होते हैं। भगवान ऋषभदेव मोक्ष पधारने पर भरत चक्रवर्ती को खेद के परिणाम हुए, परन्तु वे अपनी निर्बलता के कारण से हुए हैं। उन्हें उस समय भी आत्मा का भान वर्तता है। मिथ्यादृष्टि जीव प्रसंग के कारण से परिणाम हुए मानता है। वे मिथ्यात्वसहित के आर्तध्यान के परिणाम हैं।

अज्ञानी जीव शरीर को रोग होने पर मुझे हुआ, ऐसा मानकर अपने ज्ञाता-दृष्टा प्राण को घानी में पीलते हैं। अपने आनन्दकन्द आत्मा को चूक जाता है। वह मिथ्यादृष्टि का आर्तध्यान है। ज्ञानी को अपनी निर्बलता के कारण से सहनशीलता नहीं है, इसलिए विकल्प आ जाता है, परन्तु शुद्ध चैतन्य की दृष्टि हटती नहीं।

ज्ञानी को भान है कि आत्मा जाननेवाला-देखनेवाला, अनाकुलस्वरूप चिद्घन है। राग होता है, वह पर के कारण से हुआ है, ऐसा वह नहीं मानता, परन्तु अपनी निर्बलता से हुआ मानता है और वह भी आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं। शुद्ध आत्मा तो रागरहित है, ऐसा भान होने से उसका आस्रव मर्यादा में आ गया है। जबकि अज्ञानी तो पर के कारण से राग हुआ मानता है और उतना ही मैं हूँ, ऐसा मानता है, इसलिए अनन्तानुबन्धीसहित अर्थात् कि अमर्यादित आस्रव उसे होता है।

निदानबन्ध : अज्ञानी जीव व्रत, तप के फल में पैसे की या स्वर्गादि की प्राप्ति हो, धनाढ्य के यहाँ मैं अवतरित होऊँ, इत्यादि भावना भाता है। वह निदानबन्धरूप आर्तध्यान है।

समकिती जीव संयोगों की माँग अथवा इच्छा नहीं करता, परन्तु स्वभाव में स्थिर नहीं हो सकता, किंचित् राग रहता है, उसे निदान गिनकर चौथे-पाँचवें गुणस्थान में इस प्रकार का आर्तध्यान अल्प होता है, वह आस्रव है, बन्ध का कारण है—ऐसा ज्ञानी समझता है।

इस प्रकार इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिन्तवन और निदानबन्ध—ऐसे चार प्रकार के आर्तध्यान, वे पाप आस्रव का कारण है।

अब, चार प्रकार के रौद्रध्यान, वे पाप का कारण हैं, ऐसा बतलाते हैं। अपने ज्ञानानन्दस्वभाव को चूककर हिंसा के परिणाम में आनन्द मानना, वह हिंसानन्दी रौद्रध्यान के परिणाम हैं। दूसरे जीवों को मार सकता है, ऐसा यहाँ कहना नहीं है, परन्तु दूसरे जीवों को मारने के भाव को हिंसा कहते हैं। तथा दूसरे जीव का शरीर और आत्मा भिन्न पड़े, इसलिए हिंसा हुई, ऐसा भी नहीं। चिदानन्दस्वभाव से विपरीत भाव—दूसरे को मारने के उग्रता के भाव को हिंसा कहते हैं। उस हिंसा में आनन्द की श्रेणी चला करती है, वह हिंसानन्दी है। मिथ्यादृष्टि जीव उसमें सुख मानता है। अज्ञानी, जीवों की हिंसा

करता हो और आनन्द मानता है, उसे मिथ्यात्वसहित के हिंसा के परिणाम, वह रौद्रध्यान पाप का कारण है।

सम्यग्दृष्टि जीव को चौथे, पाँचवे गुणस्थान में हिंसा के परिणाम होते हैं, परन्तु वह उसमें आनन्द नहीं मानता। जरा अस्थिरता के कारण से राग में जुड़ता है, परन्तु शुद्ध चैतन्य से दृष्टि हटती नहीं। हरितकाय जीव आदि की हिंसा के परिणाम होते हैं, उतना पाप का कारण है। आत्मा शुद्ध होने पर भी वीतराग न हो, तब तक मलिनता है। मलिनता न हो तो वीतरागदशा होनी चाहिए और मलिनता जितना ही आत्मा माने तो मिथ्यादृष्टि है। इसलिए जैसी है, वैसी वस्तु समझनी चाहिए।

अज्ञानी जीव झूठ बोलने के परिणाम में आनन्द मानते हैं, वह मृषानन्दी रौद्रध्यान है। वह पाप का कारण है। झूठ बोलेंगे तो व्यापार चलेगा, झूठ बोलेंगे तो इतने रुपये कमाये, ऐसा मानकर झूठ में आनन्द मानता है। पैसे पूर्व के पुण्य के कारण से मिलते हैं, परन्तु अज्ञानी झूठ बोलने से कमायी होती है, ऐसा मानकर झूठ में आनन्द मानता है, वह मृषानन्दी रौद्रध्यान पाप का कारण है।

समकिती जीव को झूठ बोलने के परिणाम अस्थिरता के कारण से होते हैं, परन्तु उसमें वह आनन्द नहीं मानता, स्वभाव की रुचि हटती नहीं परन्तु जितने झूठ बोलने के भाव होते हैं, उतना रौद्रध्यान है, वह पाप का कारण है।

अज्ञानी जीव को चोरी करने के तीव्र परिणाम हों और उसमें आनन्द मानता है, वह स्तेयानन्दी रौद्रध्यान के परिणाम पाप का कारण है। अज्ञानी आनन्द मानता है, ज्ञानी आनन्द नहीं मानता। कुटुम्ब-कबीला के भाग में से किसी समय गुप्त लेने का भाव आ जाये, परन्तु उस भाव में ज्ञानी आनन्द नहीं मानता, जितना भाव हो, वह पाप आस्रव है।

पाँच प्रकार के विषय—परिग्रहादि के रक्षण में अज्ञानी जीव आनन्द मानता है, वह चैतन्यस्वभाव को चूककर भाव करता है। विकल्पों की कल्पना एक के बाद एक किया करता है और पैसा कमाने की प्रवृत्ति करता है तथा मानता है कि मेरी होशियारी से वे आते हैं और उनमें आनन्द मानता है। इस प्रकार एक के बाद एक कल्पना की जाल लम्बाता है, वह परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान है।

ज्ञानी को पैसा कमाने का राग आता है, परन्तु पर के कारण से राग नहीं मानता और स्वयं ने ध्यान रखा, इसलिए पैसे आये, ऐसा भी नहीं मानता। जड़ पदार्थ उसके कारण से आते हैं और स्वयं की निर्बलता से राग होता है, उन सबका ज्ञानी जाननेवाला है। अल्प राग होता है। क्योंकि अनन्तानुबन्धी का अभाव है, स्वभाव की रुचि है; इसलिए उसे अल्प राग होता है, इतना पाप आस्रव है।

इस प्रकार रौद्रध्यान के चार प्रकार कहे हैं। वे परिणाम न हो तो दुःखी न हो। दुःख संयोगी चीज़ में नहीं। दुःख विपरीत दशा है। वह न हो तो पूर्णानन्द दशा होनी चाहिए। ज्ञानी को साधकदशा में भान होने पर भी राग वर्तता है, तब तक किसी समय ऐसे परिणाम होते हैं। पाप पर्याय में है, वह क्षणिक है। उसे क्षणिक जानता है। द्रव्य त्रिकाल है, उसे त्रिकाल जानता है। तथापि जितने परिणाम हों, उसे पाप जानता है। साधक को वह भाव हो ही नहीं, ऐसा माने तो भी वह वस्तु को समझता नहीं और उस भाव जितना ही आत्मा को माने, तो भी मिथ्यादृष्टि है।

दया, दानादि के भाव शुभ हैं। ऐसे शुभभावों में उपयोग नहीं जोड़कर अन्यत्र दुष्ट भावों में अपना उपयोग जोड़ना, वह खोटा ज्ञान है। वह मलिनभाव है।

तत्त्व की उल्टी श्रद्धा, उल्टा ज्ञान और उल्टे आचरण से जो अविवेक होता है, उसे मोह—अज्ञानभाव कहते हैं। पर की दया पाल सकता हूँ, सेवा कर सकता हूँ, शरीर का रोग मिटा सकता हूँ, परचीज़ के कारण से लाभ-नुकसान मानना, वह सब भ्रम है। दूसरे को उपदेश देकर धर्म प्राप्त करा दूँ, यह भी मोह है। उपदेश जड़ है, उसे आत्मा दे नहीं सकता और उपदेश के कारण सामनेवाला जीव समझता नहीं। उसकी योग्यता से वह समझता है। और दवा से या जीव के भाव से रोग मिटता नहीं। रोग उसके काल में मिटता है तो दवा निमित्त कहलाती है। इस प्रकार जिसे जड़ और चेतन के भेदविज्ञान की खबर नहीं, वह अज्ञानी है। इसलिए उसे पाप बँधता है। इन सब परिणामों को भावपापास्रव कहते हैं और उनका निमित्त पाकर द्रव्यपापास्रव का विस्तार होता है। **द्रव्य आस्रव जड़ है। वह आत्मा में नहीं और भाव आस्रव पर्याय में है, द्रव्य में नहीं—** इस प्रकार आस्रव को हेय जानकर, द्रव्य को उपादेय मानना अथवा पर्यायबुद्धि छोड़कर द्रव्यबुद्धि करना, वह सम्यग्ज्ञान है। ●●

गाथा - १४१

अथ संवरपदार्थव्याख्यानम् ।

इंदियकसायसण्णा णिग्गहिदा जेहिं सुट्ठु मग्गम्हि ।
जावत्तावत्तेसिं पिहिदं पावासवच्छिद्दं ।। १४१ ।।

इन्द्रियकषायसंज्ञा निगृहीता यैः सुष्ठु मार्गे ।
यावत्तावत्तेषां पिहितं पापास्रवछिद्रम् ।। १४१ ।।

अनन्तरत्वात्पापस्यैव संवराख्यानमेतत् ।

मार्गो हि संवरस्तन्निमित्तमिन्द्रियाणि कषायाः संज्ञाश्च यावतांशेन यावन्तं वा कालं निगृह्यन्ते तावतांशेन तावन्तं वा कालं पापास्रवद्वारं पिधीयते । इन्द्रियकषायसंज्ञाः भावपापास्रवो द्रव्यपापास्रवहेतुः पूर्वमुक्तः । इह तन्निरोधो भावपापसंवरो द्रव्यपापसंवरहेतु-रवधारणीय इति ।। १४१ ।।

कषाय-संज्ञा इन्द्रियों का निग्रह करें सन् मार्ग से।
वह मार्ग ही संवर कहा, आस्रव निरोधक भाव से।।१४१।।

अन्वयार्थ :— [यैः] जो, [सुष्ठु मार्गे] भली भाँति मार्ग में रहकर, [इन्द्रियकषायसंज्ञा] इन्द्रियाँ, कषाय और संज्ञाओं का [यावत् निगृहीताः] जितना निग्रह करते हैं, [तावत्] उतना [पापास्त्रवछिद्रम्] पापास्त्रव का छिद्र [तेषाम्] उनको [पिहितम्] बन्ध होता है।

टीका :— पाप के अनन्तर होने से, पाप के ही संवर का यह कथन है। (अर्थात् पाप के कथन के पश्चात् तुरन्त होने से, यहाँ पाप के ही संवर का कथन किया है।)

मार्ग वास्तव में संवर हैं; उसके निमित्त से (-उसके हेतु से) इन्द्रियों, कषायों तथा संज्ञाओं का जितने अंश में अथवा जितने काल निग्रह किया जाता है, उतने अंश में अथवा उतने काल पापास्त्रव द्वारा बन्द होता है।

इन्द्रियों, कषायों और संज्ञाओं—भावपापास्त्रव—को द्रव्यपापास्त्रव का हेतु (-निमित्त) पहले (१४०वीं गाथा में) कहा था; यहाँ (इस गाथा में) उनका निरोध

(-इन्द्रियों, कषायों और संज्ञाओं का निरोध)—भावपापसंवर—द्रव्य-पापसंवर का अवधारना (-समझना)॥१४१॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण ३, सोमवार

संवर धर्म किसे कहते हैं ? मिथ्यादर्शन का अभाव, वह सम्यग्दर्शनरूप संवर है। अव्रत और प्रमाद का अभाव, वह भी संवर है। आत्मा के भानपूर्वक मलिनभावों की उत्पत्ति नहीं होना, उसे संवर कहते हैं।

आत्मा विचार करता है, उसमें मन निमित्त है और परपदार्थों को जानने में इन्द्रियाँ निमित्त हैं। आत्मा ज्ञानस्वभावी है, इन्द्रियाँ और मनरहित है, ऐसे आत्मा की रुचि करके, मन और इन्द्रियों की रुचि छोड़कर, क्रोध, मान, माया, लोभ के तथा चार संज्ञा के पाप परिणाम छोड़कर जिस समय स्वभाव की दृष्टि होती है, उस समय मिथ्यात्व की अनुत्पत्ति होती है, तब सम्यग्दर्शन होता है। प्रथम मिथ्यात्व अवस्था में ज्ञान की पर्याय क्रोध, मान, माया, लोभ के परिणाम में और आहारादि चार संज्ञा में अटकती थी, वह आस्रव है और एक समय जितनी अवस्था है।

(१) मिथ्यात्व अवस्था में वर्तमान भूल है, ज्ञान कषाय में अटकता है, इन्द्रियाँ निमित्त हैं, ऐसा मानना पड़ेगा। ऐसा न माने तो भूल सुधारने का रहता नहीं।

(२) वर्तमान भूल माने, परन्तु उसे वर्तमान से टालना चाहे तो भी भूल है। वर्तमान के लक्ष्य से भूल टलती नहीं।

(३) इन्द्रियों की ओर लक्ष्य न जाकर झूठ न बोलने का भाव, विषय न सेवन करने का भाव, वह पुण्य आस्रव है। उसका लक्ष्य छूटकर अतीन्द्रिय स्वभाव की प्रतीति करना, वह सम्यग्दर्शन है।

देह, मन, वाणीरहित और विकारीभाव रहित मेरा स्वभाव, वह अन्तःतत्त्व है। यह मान्यता वह सम्यग्दर्शनरूपी संवर का मार्ग है। जो जीव इन्द्रियों और संयोगी चीज़

से लाभ मानता है, उसे अन्तर्मुख अनुसरण का अवसर नहीं रहता। जो इन्द्रियों की ओर का झुकाव करके उससे लाभ मानता है, उसे मिथ्यात्व रहता है।

जो गुरु इन्द्रियों से लाभ मनावे, वह मिथ्यादृष्टि है, वह सच्चा गुरु नहीं। जो शास्त्र ऐसा कहे, वह सच्चा शास्त्र नहीं और जिसका ज्ञान विपरीत हो, वह सर्वज्ञ नहीं।

और अपूर्ण दशा में अटकता ज्ञान है, उसमें इन्द्रियाँ निमित्त हैं, ऐसा जो नहीं मानता, वह भी खोटा है।

इन्द्रियाँ हैं, मन भी है। अपूर्ण दशा में अटकता ज्ञान है, पुण्य-पाप के भाव हैं। यह सब होने पर भी इनकी रुचि छोड़कर त्रिकाल स्वभाव की रुचि करना, वह संवर है। संवर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों समाहित हो जाते हैं। संवर मोक्षमार्ग है।

मनसहित पाँच इन्द्रियों की ओर का व्यापार, वह राग का कारण है। द्रव्य-गुण-पर्याय—ऐसे तीन भेद की ओर का झुकाव, वह भी राग का कारण है। इसलिए उसके आधार से संवर नहीं होता, परन्तु पाँच इन्द्रियाँ और मन को जीते तो संवर होता है। वह किस प्रकार से जीता जाये? इन्द्रियाँ और मनरहित तथा विकाररहित ज्ञानस्वभाव है, ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करके एकाग्र हो तो विकार उत्पन्न ही नहीं होता और पुण्य-पाप की वृत्ति ही नहीं उठती और स्वभाव की शान्ति प्रगट होती है, जिसे संवर कहते हैं।

जिसे संवर होता है, उसे अनादि से संवर नहीं होता। संवर से पहले अधर्म था। अधर्म को रोके, वह संवर है। मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह अधर्म है। उसमें निमित्त कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र है। पर की ओर का झुकाव भाव था, उसे स्वभाव के लक्ष्य से पलटाया जा सकता है और स्वभावसन्मुख झुका जा सकता है—इत्यादि सब बातें जैसी हैं, वैसी स्वीकार रखनी चाहिए।

और चार संज्ञा की ओर के परिणाम रोककर स्वभाव में एकाग्र होना, वह संवर है। आत्मा का भान होने पर मिथ्यात्वदशा अटक गयी, वह संवर है। संसार में भी हलुवा बनाने की जो विधि होती है, तत्प्रमाण करे तो हलुवा होता है। घी में आटा सेंकने के बदले पानी में सेंके तो हलुवा नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ धर्म की विधि में आड़ा-टेढ़ा करे तो काम नहीं आता। कोई कहे कि दया, दान, व्रतादि करें तो धर्म होगा

या नहीं ? नहीं। धर्म की यह पद्धति नहीं है। जो पद्धति हो, वह जाननी चाहिए। पुण्य-पापरहित आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है, उसकी ओर दृष्टि करने से मिथ्यात्व उत्पन्न नहीं होता, वह सम्यग्दर्शनरूप संवर है और विशेषरूप से लीन होने पर अव्रत, प्रमाद इत्यादि की उत्पत्ति न हो, वह चारित्ररूप संवर है।

आत्मा के भान बिना प्रत्येक जीव ने अनन्तबार मुनिपना धारण किया। वैराग्य किया परन्तु अन्तर में शुभराग से धर्म मानता होने से संसार का अभाव हुआ नहीं। अनन्त बार व्रत, तप किये परन्तु बोधिबीज बोया नहीं। जिसने चैतन्यस्वभाव का बीज बोया नहीं और दया-दानादि में धर्म माना है, उसने मिथ्यात्व के बीज का नाश नहीं किया। अज्ञानी जीव शास्त्रश्रवण करते हैं, परन्तु आत्मा के भान बिना श्रवण को कान का विषय बनाते हैं। वर्तमान पुण्य के भाव से कल्याण नहीं और त्रिकाली स्वभाव से कल्याण है, ऐसा विचार न करे, उसे धर्म नहीं होता।

जीव जितना अपने स्वभाव-सन्मुख झुकता है, उतनी बहिर्मुखवृत्ति नहीं होती। स्वभाव की रुचि होने पर, पर की रुचि नहीं रहती। स्वभाव का ज्ञान होने पर मिथ्याज्ञान नहीं होता। स्वभाव में स्थिरता होने पर अस्थिरता नहीं होती।

ऐसा निर्णय किये बिना अज्ञानी के क्रियाकाण्ड व्यर्थ हैं। धर्म की पर्याय द्रव्य में से आती है। ऐसी दृष्टि न करे और निमित्त में और राग में अटके तो प्रमाणज्ञान नहीं होता। मेरे तत्त्व को निमित्त से और राग से लाभ नहीं, ऐसा निर्णय किये बिना संवर नहीं होता।

जीवों को वस्तुस्वरूप की खबर नहीं और कहे कि हम प्रतिक्रमण करते हैं। परन्तु भाई! प्रथम मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण किये बिना अर्थात् कि मिथ्यात्व से विमुख हुए बिना अव्रत और प्रमाद का प्रतिक्रमण नहीं होता।

आत्मा के शुद्धस्वभाव को पहिचानकर, दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकाग्रता करना, वह मोक्षमार्ग है। हीरा चाहिए हो, उसे हीरा बेचनेवाले की दुकान पर जाना चाहिए; उसी प्रकार धर्म चाहिए हो तो वह आत्मा की दुकान पर मिलता है। पुण्य-पाप में धर्म मिले, ऐसा नहीं है। शुद्धस्वभाव की एकाग्रता में धर्म है। पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर,

स्वभाव की लीनता करे, वह मोक्षमार्ग अथवा संवर है। इन्द्रियों के विषयों में रुकना, कषायों के परिणाम तथा आहारादि संज्ञा, वह भावपापास्रव है। उसका निरोध करना, वह भावपापसंवर है। किस प्रकार निरोध करना? स्वभाव में ज्ञानपर्याय जितने अंश में स्थिर हुई और जितने अंश में विषय-कषायादि के परिणाम नहीं हुए, उसे संवर कहते हैं और उतना भावपापास्रव का निरोध किया, ऐसा कहा जाता है। कर्म को अटकाने की या विकार को अटकाने की बात निमित्त से कही जाती है। प्रथम, पर्याय का झुकाव खण्ड-खण्ड ज्ञान की ओर जाता था और वैसे झुकाव से पुण्य-पापरूपी आस्रव का कारण होता था। परन्तु भान किया कि वह खण्ड-खण्ड ज्ञान मेरा स्वरूप नहीं है। क्रोधादि मेरा स्वरूप नहीं है। मैं अकषायी अखण्ड आत्मा हूँ, ऐसा भान करके भवरहित स्वभाव की दृष्टि करने से और स्वभाव की एकाग्रता करने से विकार उत्पन्न नहीं होता और खण्ड-खण्डपना नहीं होता, उसने भावपापास्रव का निरोध किया, ऐसा कहा जाता है। और भावपापसंवर होने से द्रव्यपापसंवर होता है अर्थात् कि कर्म रुकते हैं। आत्मा के भाव ने कर्म रोके, यह निमित्त से बात है। वे कर्म आनेवाले नहीं थे, इसलिए नहीं आये, परन्तु जीव का झुकाव स्वभाव-सन्मुख हुआ और कर्म का न आना हुआ, ऐसा निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है, इसलिए भावसंवर से द्रव्यसंवर हुआ, ऐसा कहा जाता है। अपनी भूमिकानुसार जिस-जिस गुणस्थान में अशुद्धता टलती जाती है, उतने-उतने कर्म आना रुक जाते हैं।

जीव को वस्तुस्वरूप समझना चाहिए। यह समझे बिना यात्रा करने जाये तो पुण्य होता है, परन्तु धर्म नहीं होता। यात्रा से धर्म होता हो तो डोलीवाले को बहुत धर्म होना चाहिए। यात्रा का भाव, वह आस्रव है। वह चैतन्य की शान्तदशा नहीं। पुण्य-पापरहित आत्मा का आश्रय लेने से आस्रव नहीं होता और भावसंवर होता है। और पुद्गलकर्म भी नहीं आते। जब जीव को अशुद्धभाव नहीं होता, तब पुद्गलकर्मों का भी आस्रव स्वयं के कारण से नहीं होता, वे स्वयं के कारण से अटक जाते हैं।

इस प्रकार संवर एक ही मोक्षमार्ग है, ऐसा यहाँ बतलाया है।

वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण ४, मंगलवार

संवर चौथे गुणस्थान से प्रगट होता है। संवर किसे होता है ? आत्मा ज्ञानस्वभावी है—ऐसी दृष्टि करके एकाग्रता करे, उसे सम्यग्दर्शन होता है और उसे ४१ कर्म प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। मैं दूसरे पदार्थों का कर्ता-हर्ता नहीं। पुण्य-पाप का स्वामी नहीं। मैं शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय हूँ, ऐसा जिसे भान हुआ है, उसे व्रत, तप नहीं होते तो भी ४१ कर्मप्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। सम्यग्दृष्टि कदाचित् युद्ध में खड़ा हो तो भी उसे ४१ कर्मप्रकृतियाँ नहीं बँधती और कोई जीव त्यागी हो, द्रव्यलिंगी मुनि हो, दया पालता हो, झूठ बोलता न हो तो भी अन्तर में विकल्प से लाभ मानता हो, देह की क्रिया कर सकता हूँ, ऐसा मानता हो तो उसे एक भी कर्मप्रकृति का बन्ध कम नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि ढोर हरितकाय खाता हो, सम्यग्दृष्टि व्यापारी हीरा-माणेक का व्यापार करता हो, कोई विषयों में दिखता हो, कृष्ण, नील, कापोत आदि अशुभ लेश्या के परिणाम में हो, उस समय भी आत्मा का भान होने के कारण नरकगति, अनन्तानुबन्धी की तथा मिथ्यात्व आदि की ४१ कर्मप्रकृतियाँ नहीं बाँधता। पूर्व में किसी को नरक आयुष्य बँध गया हो और बाद में समकित प्राप्त किया हो तो उस जीव को नरक में अथवा नरक में जाते हुए मार्ग में भी ४१ कर्म प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता।

अज्ञानी जीव को दो वस्तु के अतिरिक्त अधिक वस्तु चलती न हो, कोई बारह महीने के उपवास करता हो, शरीर में खड्डे पड़े हो परन्तु अन्तर में विकल्प की रुचि होने के कारण तथा पुण्य से लाभ मानता है, इससे चैतन्य को आवरण करता जाता है। इस अनाज को मैं छोड़ सकता हूँ, देह की क्रिया कर सकता हूँ, ऐसी मान्यता होने के कारण जड़ के ग्रहण-त्याग में रुक गया, उसे संवर नहीं होता।

पाँचवें गुणस्थान में श्रावक को दो कषाय (चौकड़ी) का अभाव वर्तता है। स्वरूप की शान्ति की वृद्धि है। उसे उसकी भूमिका में नहीं बँधनेयोग्य प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। मुनि को छठवें गुणस्थान में श्रावक की अपेक्षा दशा अल्प है, बहुत आनन्द बढ़ा है और वीर्य भी विशेष है। घड़ीक में सातवें गुणस्थान में शुद्धता बढ़ती है, इतनी सामर्थ्य बढ़ी है।

अज्ञानी जीव मुनि होकर नौवें ग्रैवेयक तक जाये तो भी मिथ्यात्व के कारण से अनन्त संसारी है। त्रिकाली द्रव्य क्या है, विकार क्या है—इत्यादि की जिसे खबर नहीं, उसे एक भी प्रकृति का बन्ध रुकता नहीं। स्वरूप के भानपूर्वक रमणता के ऊपर धर्म का आधार है। जब स्वरूप का भान होता है, तब माँस, मदिरा आदि का राग होता नहीं। स्वभाव के कारण से धर्म होता है; विकल्प उठे, वह धर्म नहीं। ऐसी अन्तर्दशा होने पर आस्रव का रुक जाना, उसे संवर कहते हैं। ●●

भावलिङ्गी सन्तों की अलौकिक दशा

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धता भावलिङ्ग है – ऐसे भावलिङ्ग-सहित बाहर में दिगम्बर दशा, पञ्च महाव्रतादि, वह द्रव्यलिङ्ग है – ऐसे भावलिङ्गी सन्त की दशा तो अलौकिक है।

'मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो'.... के रूप में महावीर भगवान और गौतम गणधर के पश्चात् तुरन्त ही जिनका नाम माङ्गलिकरूप में आता है – ऐसे कुन्दकुन्दाचार्यदेव भावपाहुड़ की १२९वीं गाथा में कहते हैं –

'अहो! जो मुनि श्रेष्ठ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारक हैं, उस सम्यग्दर्शन - ज्ञान-चारित्र की शुद्धिरूप भाव से सहित हैं और जिनके माया नष्ट हो गयी है – ऐसे जो भावलिङ्गी सन्त हैं, वे धन्य हैं, उनको हमारा त्रिविध नमस्कार हो।

अहो! तुम भी हमारे मुनिमार्ग में आये, मोक्षमार्ग में आये, उसका मैं प्रमोद से अनुमोदन करता हूँ। तुम धन्य हो, तुम्हें मेरा नमस्कार हो।'

जैसे बड़े श्रीमन्तों के यहाँ शादी हो और बारात आवे, वहाँ धूमधाम से बैण्ड -बाजों के साथ अगवानी करते है। वैसे ही यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! सन्त तुम मुक्तिसुन्दरी को वरण करने चले, मैं आपकी अगवानी करता हूँ; धूमधाम से आपका बहुमान करता हूँ।

देखो, यह मुनिदशा का स्वरूप और उसकी महिमा!! ऐसे मुनि धन्य हैं और वन्द्य हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, अष्टपाहुड़ प्रवचन, १/१२

गाथा - १४२

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु ।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ।। १४२ ।।

यस्य न विद्यते रागो द्वेषो मोहो वा सर्वद्रव्येषु।
नास्रवति शुभमशुभं समसुखदु:खस्य भिक्षो:।।१४२ ।।

सामान्यसंवरस्वरूपाख्यानमेतत् ।

यस्य रागरूपो द्वेषरूपो मोहरूपो वा समग्रपरद्रव्येषु न हि विद्यते भाव: तस्य निर्विकारचैतन्य-वात्समसुखदु:खस्य भिक्षो: शुभमशुभञ्च कर्म नास्रवति, किन्तु संव्रियत एव । तदत्र मोहरागद्वेष-परिणामनिरोधो भावसंवर: । तन्निमित्त: शुभाशुभकर्मपरिणामनिरोधो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलानां द्रव्यसंवर इति ।। १४२ ।।

जिनको न रहता राग-द्वेष अर मोह सब परद्रव्य में।
आस्रव उन्हें होता नहीं, रहते सदा समभाव में।।१४२।।

अन्वयार्थ :— [यस्य] जिसे [सर्वद्रव्येषु] सर्व द्रव्यों के प्रति [रागः] राग, [द्वेषः] द्वेष [वा] या [मोहः] मोह [न विद्यते] नहीं है, [समसुखदुःखस्य भिक्षोः] उस समसुखदुःख भिक्षु को (-सुख-दुःख के प्रति समभाववाले मुनि को) [शुभम् अशुभम्] शुभ और अशुभकर्म [न आस्त्रवित] आस्त्रवित नहीं होते।

टीका :— यह, सामान्यरूप से संवर के स्वरूप का कथन है।

जिसे समग्र परद्रव्यों के प्रति रागरूप, द्वेषरूप या मोहरूप भाव नहीं है, उस भिक्षु को—जो कि निर्विकार चैतन्यपने के कारण [1]समसुखदुःख है उसे—शुभ और अशुभकर्म का आस्त्रव नहीं होता, परन्तु संवर ही होता है। इसलिए यहाँ (ऐसा समझना कि) मोहरागद्वेष परिणाम का निरोध, सो भावसंवर है, और वह (मोहरागद्वेषरूप परिणाम का निरोध) जिसका निमित्त है, ऐसा जो योगद्वारा प्रविष्ट होनवाले पुद्गलों

१. समसुखदुःख = जिसे सुख-दुःख समान हैं ऐसे; इष्टानिष्ट संयोगों में जिसे हर्षशोकादि विषम परिणाम नहीं होते ऐसे। [जिसे रागद्वेषमोह नहीं है, वह मुनि निर्विकारचैतन्यमय है अर्थात् उसका चैतन्य पर्याय में भी विकाररहित है, इसलिए वह समसुखदुःख है।]

के शुभाशुभकर्मपरिणाम का (-शुभाशुभकर्मरूप परिणाम का) निरोध, सो द्रव्यसंवर है ॥१४२॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ४, मंगलवार

अब, सामान्य संवर का स्वरूप कहते हैं :

जिस पुरुष के समस्त परद्रव्यों में प्रीतिभाव, द्वेषभाव अथवा तत्त्वों की अश्रद्धारूप मोह नहीं है। समान है सुख-दुःख जिसके, ऐसे महामुनि के शुभरूप, पापरूप पुद्गलद्रव्य आस्रवभाव को प्राप्त नहीं होता।

यहाँ छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते मुनि की अपेक्षा से बात ली है। महामुनियों को सर्वज्ञ को देखकर प्रमोद नहीं आता, परन्तु स्वयं के कारण से शुभराग उठता है। मुनियों को सब परपदार्थ ज्ञान के ज्ञेय हैं। दुश्मन आवे तो दुश्मन के कारण से द्वेष नहीं होता, ऐसी यथार्थ श्रद्धा तो है। तदुपरान्त अपने स्वभाव में लीनता है, इसलिए राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते तथा मुनि को तत्त्व की अश्रद्धा नहीं होती। जीव से शरीर चलता है, ऐसा नहीं मानते; शरीर से जीव में लाभ होता है, ऐसा नहीं मानते। शरीर की निरोगता से धर्म होता है और रोग से धर्म नहीं होता, ऐसा नहीं मानते तथा सुख-दुःख के संयोगों में समान भाव वर्तता है, ऐसे मुनि को शुभाशुभ आस्रव नहीं होता। वे महामुनि अपनी अन्तरदशा में—वीतरागीदशा में झूलते हैं।

वादिराज मुनि को कोढ़ था। किसी ईर्ष्यालु ने राजा के सामने चुगली की कि जैन के मुनि कोढ़ी हैं, इसलिए राजा ने एक श्रावक को पूछा कि तेरे गुरु कोढ़ी हैं ? धर्म की निन्दा न हो, इसके लिये श्रावक ने कहा कि नहीं, मेरे गुरु कोढ़ी नहीं हैं। फिर मुनि के निकट जाकर श्रावक ने सब बात कही। मुनि ने कहा कि चिन्ता करना नहीं। जैसा होनेवाला होगा, वैसा होगा। मुनि को अन्तरभान है कि शरीर का रोग पलटाने की जीव की सामर्थ्य नहीं, परन्तु शासन की प्रभावना का योग होगा तो शरीर अपने कारण से पलट जायेगा। पश्चात् वादिराज मुनि प्रभु की स्तुति करते हैं कि 'हे नाथ! आप जिस

नगरी में पधारते हो, वहाँ इन्द्र विशाल समवसरण रचते हैं, तो हे नाथ! आपको मेरे हृदय में लाता हूँ और शरीर में रोग रहे, ऐसा नहीं होता। हे नाथ! आप माता के गर्भ में आने से पहले छह महीने से (पूर्व) इन्द्र रत्न की वर्षा बरसाते हैं तो फिर मैं आपको मुझमें धारण करूँ और शरीर में रोग रहे, ऐसा बनता नहीं' देखो! शासन की प्रभावना के लिये विकल्प उठा है। भक्ति करते हैं, परन्तु भान है कि उस भक्ति के विकल्प से अथवा अपने मुनिपने से शरीर पलट जाये, ऐसा होता नहीं। शरीर का पलटना शरीर के कारण से है परन्तु योगानुयोग साता के उदय से शरीर पलटने लगा और निरोगी हो गया। अँगूठे में थोड़ा कोढ़ रखा अर्थात् कि उस जगह रहनेयोग्य था तो रह गया। सवेरे राजा मुनि को देखने आया। राजा ने देखा तो शरीर सुन्दर था, पश्चात् मुनि ने राजा से बात की कि मैं कोढ़ी था, यह बात भी सच्ची है, ऐसा कहकर अँगूठे में रहा हुआ कोढ़ बतलाया। श्रावक की भक्ति तथा प्रभावना के उदय के कारण शरीर पलट गया। इस प्रकार जैनधर्म की निन्दा होना रुक गयी और प्रभावना हुई। देखो, मुनि शरीर की क्रिया के कर्ता नहीं, मात्र विकल्प उठा है। जो ऐसा मानते हैं कि मुनि से शरीर की अवस्था पलटी, वह मिथ्यादृष्टि है।

सनतकुमार मुनि को ७०० वर्ष तक गलित कोढ़ रहा। जब तक चक्रवर्ती पद में थे, तब तक निरोग और जहाँ मुनि हुए, वहाँ गलित कोढ़! अज्ञानी को आश्चर्य लगता है कि धर्म करनेवाले को रोग कैसे हो? भाई! वह सब क्रमबद्ध है। मुनि सुख-दुःख के प्रसंग में निर्लेप हैं। वादिराज मुनि ऐसा मानते नहीं थे कि श्रावक का कहना सच्चा हुआ तथा शरीर में मेरा विचारा हुआ। मुनि तो सुख-दुःख के प्रसंग में सहज दशा में—समता रस में वर्तते हैं। इसलिए उन्हें आस्रव नहीं होता था। (अल्प आस्रव होता है, उसे गौण गिनने में आया है।)

किसी को ऐसा लगे कि कथानुयोग की अपेक्षा से जीव परद्रव्य की क्रिया कर सकता होगा और द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से जीव परद्रव्य का नहीं कर सकता होगा?

भाई! चाहे जिस अनुयोग में सिद्धान्त तो एक ही है। मानतुंग मुनि भक्तामरस्तोत्र रचते हैं और ४८ कमरों के ४८ ताले टूटते हैं। भान है कि जीव के भाव के कारण से वे टूटे नहीं और शासन की प्रभावना के कारण से टूटे, ऐसा भी नहीं है। परमाणु भी शक्तिवाले हैं, उनमें द्रव्यत्वगुण के कारण से हमेशा अवस्था बदलती रहती है, मुनि से

ताले टूटे, ऐसा मानना, वह मुनि को कलंक देने के समान है। शासन प्रभावना का उदय होनेवाला था। किसी परमाणु को मुनि रखे या दूर करे, यह उनके हाथ की बात नहीं है। यहाँ मुनियों की समता की बात चलती है। मुनि कहते हैं कि हम चैतन्य हैं, हमारे से पर की पर्याय नहीं होती, मुनियों को अतत्त्वश्रद्धान तो होता नहीं, परन्तु सम्यग्दर्शन उपरान्त समताभाव होता है। शुभाशुभभाव मेरा स्वरूप नहीं, ऐसी श्रद्धा उपरान्त स्वभाव में जितनी लीनता वर्तती है—अरागभाव वर्तता है, उतने प्रमाण में कर्म के परमाणु नहीं आते।

भावार्थ : वस्त्र छोड़े, इसलिए मुनिपना नहीं; स्वभाव दृष्टि उपरान्त राग-द्वेष बहुत घट गये हैं, सर्व परद्रव्यों के प्रति राग-द्वेष-मोह नाश हुआ है। जड़ की पर्याय जड़ से होती है, आत्मा से नहीं होती। जोरदार वाणी बोलें तो अधिक लोगों के बीच प्रभाव पड़े, ऐसा मुनि नहीं मानते। जिस समय जिन जड़ पदार्थों की स्थिति जहाँ जैसी होनेवाली हो, वहाँ वैसी होती है। उसमें फेरफार करने में कोई समर्थ नहीं है। देह की स्थिति पूरी होनेवाली हो, वहाँ कौन बचावे? इन्द्र भी बचाने को समर्थ नहीं, अज्ञानी को मन में लगता है कि ऐसा किया होता तो बच जाता, परन्तु ज्ञानी को पर की पर्याय बदलने की बुद्धि नहीं होती। मुनि को तो दृष्टि के उपरान्त प्रत्येक पदार्थ के प्रति समताभाव वर्तता है। ऐसा नहीं हुआ होता तो? ऐसी विषमता मुनि को नहीं होती, सर्व पदार्थों के प्रति दृष्टिपूर्वक समताभाव वर्तता है; इसलिए शुभाशुभभाव नहीं होते। अन्तर द्रव्य का अवलम्बन वर्तता है, उसे संवर कहते हैं।

वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ५, बुधवार

यह संवर का अधिकार है। लोग प्रौषध और सामायिक करते हैं, परन्तु वह क्या है, यह अनन्त काल से ख्याल में आया नहीं। दो घड़ी बैठे रहना, वह सामायिक का स्वरूप नहीं है। शरीरादि परपदार्थों से भिन्न और राग-द्वेष से रहित आत्मा का भान होना, वह सम्यग्दर्शन है। तदुपरान्त परपदार्थों के प्रति सावधानी न होना, अव्रत और प्रमाद रुकना, वह संवर है। यहाँ मुनिपने की बात चलती है, ज्ञानी को निचलीदशा में आत्मा का भान होता है, परन्तु अभी चारित्रदोष है, तथापि अनन्तानुबन्धी का राग नहीं होता।

यहाँ कोई **प्रश्न** करे कि परद्रव्य नुकसानकारक नहीं तो फिर धर्मी जीव को माँस भक्षण की वृत्ति नहीं होती और रोटी खाने की वृत्ति होती है, वह क्या? वे दोनों तो पुद्गलद्रव्य हैं—पर है?

समाधान : आत्मा का भान होने से सम्यग्दर्शन होता है और अनन्तानुबन्धी का अभाव हुआ है, इसलिए संवर है। स्त्री, पुत्र, व्यापारादि के प्रति आसक्ति का राग वर्तता है, परन्तु माँस भक्षण का तीव्र राग उन्हें नहीं होता। माँस परद्रव्य है, वह नुकसानकारक है—ऐसा नहीं तथा वह वस्तु छूटी अथवा न खाये, इसलिए धर्म होता है, ऐसा भी नहीं है। परवस्तु लाभकारक और नुकसानकारक है ही नहीं, परन्तु अन्तर आत्मा का भान हुआ, इसलिए माँस खाने का तीव्र राग उत्पन्न ही नहीं होता। जैसे स्वस्त्री और परस्त्री दोनों स्त्री है, तथापि सज्जन पुरुष को दोनों के बीच विवेक वर्तता है। उसी प्रकार आत्मभानवाले को परस्त्री के प्रति राग नहीं होता और मदिरा, माँस लेने का रागभाव नहीं होता। अपनी भूमिकानुसार जितना द्रव्य का अवलम्बन वर्तता है, उतना राग होता नहीं।

पाँचवीं भूमिका में द्रव्य का विशेष अवलम्बन वर्तता है, इसलिए उसे युद्ध के परिणाम नहीं होते, बारह व्रतादि के परिणाम होते हैं, तद्नुसार बाह्य वस्तु का लक्ष्य छूट जाता है। छठवीं भूमिका में विशेषा शान्ति प्रगटी है और इसलिए वस्त्र-पात्र लेने का राग उत्पन्न नहीं होता और इससे उस प्रकार के निमित्तों के प्रति लक्ष्य छूट जाता है।

यहाँ मुनि की बात करते हैं, अभी तो एक भी वीतरागी सन्त-मुनि नजर में पड़ना मुश्किल है, मुनि को तीन कषाय (चौकड़ी) टली है, उतनी तो शान्ति है ही, परन्तु जितना शुभराग प्रभु को वन्दनादि करने का उठे, उतनी मलिनता है। उस मलिनता के रहित जितने अरागी परिणाम होते हैं, वह शान्ति है और उतना संवर है।

(१) मुनियों को किसी द्रव्य में अतत्त्वश्रद्धा नहीं होती।

(२) समस्त परद्रव्य के प्रति राग और द्वेष नहीं होता, भगवान के प्रति भी राग उत्पन्न नहीं होता और किसी के प्रति द्वेष नहीं होता। जितना पुण्य-पापरूपी आस्रव रुक जाता है और वीतरागता होती है, उतना संवर है, ऐसा यहाँ सातवें गुणस्थान के मुनि के संवर की बात है।

मुनिपना किसे कहना, यह लोगों को श्रद्धा में बैठा नहीं और जिसे-तिसे मुनि मान लेते हैं। जिन्हें गणधरादिक नमस्कार करे, ऐसे महामुनि कि जो चैतन्य में लीन हुए हैं, उन्हें सर्व द्रव्यों के प्रति समभाव है, यह सत्य है, ऐसा कहने का राग और दूसरा असत्य है, ऐसा कहने का द्वेष सातवीं भूमिका में उठता नहीं।

प्रश्न : परद्रव्य की क्रिया आत्मा कर सकता नहीं तो फिर परद्रव्य की क्रिया चाहे जो हो तो ?

समाधान : चौथे गुणस्थान में अपने स्वभाव का भान हुआ, उसे माँस आदि लेने की रागवृत्ति नहीं होती, इसलिए माँस, मदिरा आदि निमित्त छूट जाते हैं। छठवें गुणस्थान में अन्तर वीतरागीदशा होने पर वस्त्र-पात्र लेने का राग उत्पन्न नहीं होता, इसलिए वस्त्र-पात्र आदि निमित्त छूट जाते हैं। जितने प्रमाण में स्वभाव का अवलम्बन वर्तता है, उतने प्रमाण में राग उत्पन्न नहीं होता और उतने निमित्त सहज छूट जाते हैं। बाहर में वस्त्र, पात्र रहे और अन्दर मुनिपना प्रगटे, ऐसा बनता नहीं परन्तु अन्तर वीतरागीदशा और शरीर की नग्नदशा को निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है।

जिस प्रकार ज्येष्ठ की गर्मी में श्रीखण्ड से तृप्ति लगती है, उसी प्रकार आत्मा का भान होने के बाद अन्तर वीतरागीदशा प्रगट होने पर अन्तर में से शान्ति प्रगट होती है। ऐसे एकाकार आनन्दस्वरूप में झूले, उसे संवर कहते हैं। ऐसी दशा मुनियों को हजारों बार आती है। जैसा सिद्ध का अनुभव है, वैसा आंशिक अनुभव मुनियों को होता है। जिन्हें सुख-दुःख के प्रसंग में हर्ष-शोक उत्पन्न नहीं होते, ऐसे मुनि को भावसंवर होता है।

कितने ही लोग ऐसा मानते हैं कि कर्मरूपी छिद्र को रोकने से धर्म होता है, परन्तु यह भूल है। कर्म परवस्तु है। कर्मरहित शुद्ध आत्मद्रव्य की अन्तर्दृष्टि करे तो मिथ्यात्व का छिद्र अटका कहलाये और लीनता करे तो अव्रत का छिद्र अटका कहलाये, पर्यायबुद्धि के छिद्र पड़े हैं। स्वभावबुद्धि करने से उनका नाश होता है और मोह-राग-द्वेष नाश होने पर कर्म स्वयं नाश पाते हैं। कर्म का नाश करना पड़ता नहीं। कितने ही जीव महाव्रत के शुभराग से संवर मानते हैं और उपवासादि शुभराग से निर्जरा मानते हैं, यह भी भूल है। दोनों शुभराग हैं, उनसे रहित आत्मा शुद्ध है, उसकी श्रद्धा से भावसंवर होता है, उसके कारण से नये कर्म नहीं आते। ●●

गाथा - १४३

जस्स जदा खलु पुण्णं जोगे पावं च णत्थि विरदस्स ।
संवरणं तस्स तदा सुहासुहकदस्स कम्मस्स ।। १४३ ।।

यस्य यदा खलु पुण्यं योगे पापं च नास्ति विरतस्य।
संवरणं तस्य तदा शुभाशुभकृतस्य कर्मण: ।। १४३ ।।

विशेषेणं संवरस्वरूपाख्यानमेतत् ।

यस्य योगिनो विरतस्य सर्वतो निवृत्तस्य योगे वाङ्मन:कायकर्मणि शुभपरिणामरूपं पुण्यशुभपरिणामरूपं पापञ्च यदा न भवति तस्य तदा शुभाशुभभावकृतस्य द्रव्यकर्मण: संवर: स्वकारणाभावात्प्रसिद्ध्यति । तदत्र शुभाशुभपरिणामनिरोधो भावपुण्यपापसंवरो द्रव्यपुण्यपाप-संवरस्य हेतु: प्रधानोऽवधारणीय इति ।। १४३ ।।

-इति संवरपदार्थव्याख्यानं समाप्तम् ।

जिस व्रती के त्रय योग में जब पुण्य एवं पाप ना।
उस व्रती के उस भाव से तब द्रव्य संवर वर्तता।।१४३।।

अन्वयार्थ :— [यस्य] जिसे (-जिस मुनि को), [विरतस्य] विरत वर्तते हुए, [योगे] योग में, [पुण्यं पापं च] पुण्य और पाप, [यदा] जब [खलु] वास्तव में [न अस्ति] नहीं होते, [तदा] तब [तस्य] उसे [शुभाशुभकृतस्य कर्मण:] शुभाशुभभावकृत कर्म का [संवरणम्] संवर होता है।

टीका :— यह, विशेषरूप से संवर के स्वरूप का कथन है।

जिस योगी को, विरत अर्थात् सर्वथा निवृत्त वर्तते हुए, योग में—वचन, मन और कायसम्बन्धी क्रिया में—शुभपरिणामरूप पुण्य और अशुभपरिणामरूप पाप जब नहीं होते, तब उसे शुभाशुभभावकृत द्रव्यकर्म का (-शुभाशुभभाव जिसका निमित्त होता है, ऐसे द्रव्यकर्म का), स्वकारण के अभाव के कारण, संवर होता है। इसलिए यहाँ (इस गाथा में) शुभाशुभपरिणाम का निरोध—भावपुण्यपापसंवर—द्रव्यपुण्य-पापसंवर का [1]प्रधान हेतु अवधारना (-समझना)॥१४३॥

---

१. प्रधान हेतु = मुख्य निमित्त। [द्रव्य संवर में 'मुख्य निमित्त' जीव के शुभाशुभपरिणाम का निरोध है, योग का निरोध नहीं है। (यहाँ यह ध्यान में रखने योग्य है कि द्रव्यसंवर का उपादानकारण-निश्चयकारण तो पुद्गल स्वयं ही है।)]

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण ५, बुधवार

अब, संवर का विशेष स्वरूप कहते हैं :

परद्रव्य का त्यागी होता है अर्थात् कि जो जीव निश्चय से परद्रव्य की ओर उपेक्षा भाव रखता है, उसे संवर होता है। यहाँ मुनि की बात है। दया, दानादि के भाव शुभ हैं। हिंसा, झूठ आदि अशुभ है। दोनों मलिनभाव आस्रव है, मुनि को मन-वचन-काया के निमित्त से शुभाशुभभाव नहीं होते और स्वभाव में लीनता वर्तती है, उस समय कर्म आना रुक जाते हैं, वह द्रव्यसंवर है।

भावार्थ : जब महामुनि सर्वथा प्रकार से शुभाशुभ योगों की प्रवृत्ति से निवृत्त होते हैं, तब आगामी कर्मों का निरोध होता है, मिथ्याभ्रान्ति, राग-द्वेष, दया-दान के परिणाम भावकर्म हैं। वे भावकर्म आवे, तब क्या उनका नाश होता होगा? नहीं, शुद्ध चैतन्यस्वभाव का अवलमबन लेने से राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती, उसने भावकर्म का नाश किया कहलाता है और उसके निमित्त से द्रव्यकर्म स्वयं आना रुक जाते हैं। मूल कारण भावकर्म है। जब भावकर्म होते नहीं, तब द्रव्यकर्म कहाँ से होंगे? अर्थात् कि होंगे ही नहीं। इसलिए निश्चित होता है कि शुभाशुभभावों का निरोध होना, वह भावपुण्यपापसंवर है और भावसंवर द्रव्यपुण्य-पाप के निरोध का प्रधान हेतु है।

जीवों को वस्तुस्वभाव की खबर नहीं और मानते हैं कि हमने वर्षीतप किये और प्रतिक्रमणादि किये, इसलिए निर्जरा हुई। परन्तु मिथ्यात्व के प्रतिक्रमण बिना अव्रत और प्रमाद का प्रतिक्रमण नहीं हो सकता। जिसे पुण्य की रुचि है, उसे अन्तर में निमित्त की रुचि छूटी नहीं। उसे स्वभाव दृष्टि हुई नहीं, इसलिए उसे संवर नहीं होता। शुद्ध आत्मा के अवलम्बन से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगटे और अशुद्धता अटके, वह भावसंवर है और उतने प्रमाण में कर्म रुक जाते हैं, वह द्रव्यसंवर है। ●●

गाथा - १४४

अथ निर्जरापदार्थव्याख्यानम् ।

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं ।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं ।। १४४ ।।

संवरयोगाभ्यां युक्तस्तपोभिर्यश्चेष्टते बहुविधैः।
कर्मणां निर्जरणं बहुकानां करोति स नियतम्।। १४४ ।।

निर्जरास्वरूपाख्यानमेतत् ।

शुभाशुभपरिणामनिरोधः संवरः, शुद्धोपयोगो योगः । ताभ्यां युक्तस्तपोभिरनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशादिभेदाद्बहिरङ्गैः प्रायश्चित्तविनयवैया-वृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानभेदान्तरङ्गैश्च बहुविधैर्यश्चेष्टते स खलु बहूनां कर्मणां निर्जरणं करोति । तदत्र कर्मवीर्यशातनसमर्थो बहिरङ्गान्तरङ्गतपोभिर्बृंहितः शुद्धोपयोगो भावनिर्जरा, तदनुभाव-नीरसीभूतानामेकदेशसंक्षयः समुपात्तकर्मपुद्गलानां द्रव्यनिर्जरेति ।। १४४ ।।

अब, निर्जरापदार्थ का व्याख्यान है।

शुद्धोपयोगी भावयुत जो वर्तते हैं तपविषै।
वे नियम से निज में रमें बहु कर्म को भी निर्जरें।।१४४।।

अन्वयार्थ :— [संवरयोगाभ्याम् युक्तः] संवर और योग से (शुद्धोपयोग से) युक्त ऐसा, [यः] जो जीव [बहुविधैः तपोभिः चेष्टते] बहुविध तपोंसहित वर्तता है, [सः] वह, [नियतम्] नियम से [बहुकानाम् कर्मणाम्] अनेक कर्मों की [निर्जरणं करोति] निर्जरा करता है।

टीका :— यह, निर्जरा के स्वरूप का कथन है।

संवर अर्थात् शुभाशुभपरिणाम का निरोध, और योग अर्थात् शुद्धोपयोग; उनसे (-संवर और योग से) युक्त ऐसा जो (पुरुष), अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन तथा कायक्लेशादि भेदोंवाले बहिरंग तपोंसहित और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान, ऐसे भेदोंवाले अन्तरंग

तपोंसहित—इस प्रकार बहुविध [१]तपोंसहित प्रवर्तता है, वह (पुरुष) वास्तव में बहुत कर्मों की निर्जरा करता है। इसलिए यहाँ (इस गाथा में ऐसा कहा कि), कर्म के वीर्य का (-कर्म की शक्ति का) [२]शातन करने में समर्थ ऐसा जो बहिरंग और अन्तरंग तपों द्वारा [३]वृद्धि को प्राप्त शुद्धोपयोग, सो भावनिर्जरा है और उनके प्रभाव से (-वृद्धि को प्राप्त शुद्धोपयोग के निमित्त से) नीरस हुए ऐसे उपार्जित कर्मपुद्गलों का एकदेश [४]संक्षय, सो द्रव्यनिर्जरा है॥१४४॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण ५, बुधवार

अब, निर्जरा पदार्थ की व्याख्या करते हैं। आत्मा में शुद्धि की वृद्धि होना, वह निर्जरा है।

---

१. जिस जीव को सहजशुद्धस्वरूप के प्रतपनरूप निश्चय-तप हो, उस जीव के, हठरहित वर्तते हुए अनशनादिसम्बन्धी भावों को तप कहा जाता है। उसमें वर्तता हुआ शुद्धिरूप अंश, वह निश्चय-तप है और शुभपनेरूप अंश को व्यवहार-तप कहा जाता है। (मिथ्यादृष्टि को निश्चय-तप नहीं है, इसलिए उसके अनशनादिसम्बन्धी शुभभावों को व्यवहार-तप भी नहीं कहा जाता; क्योंकि जहाँ यथार्थ तप का सद्भाव ही नहीं है, वहाँ उन शुभभावों में आरोप किसका किया जावे ?)

२. शातन करना=पतला करना; हीन करना; क्षीण करना; नष्ट करना।

३. वृद्धि को प्राप्त=बढ़ा हुआ; उग्र हुआ। [संवर और शुद्धोपयोगवाले जीव को जब उग्र शुद्धोपयोग होता है, तब अनेक कर्मों की निर्जरा होती है। शुद्धोपयोग की उग्रता करने की विधि शुद्धात्मद्रव्य के आलम्बन की उग्रता करना ही है। ऐसा करनेवाले को, सहजदशा में हठरहित जो अनशनादि सम्बन्धी भाव वर्तते हैं, उनमें (शुभपनेरूप अंश के साथ) उग्र-शुद्धिरूप अंश होता है, जिससे अनेक कर्मों की निर्जरा होती है। (मिथ्यादृष्टि को तो शुद्धात्मद्रव्य भासित ही नहीं हुआ है; इसलिए उसे संवर नहीं है, शुद्धोपयोग नहीं है, शुद्धोपयोग की वृद्धि की तो बात ही कहाँ रही ? इसलिए उसे, सहज दशा रहित—हठपूर्वक—अनशनादिसम्बन्धी शुभभाव कदाचित् भले हों तथापि, मोक्ष के हेतुभूत निर्जरा बिल्कुल नहीं होती।)]

४. संक्षय= सम्यक् प्रकार से क्षय।

जो भेदविज्ञानी शुभाशुभभावास्रव के निरोधरूप संवर और शुद्धोपयोगरूप योग से संयुक्त अनेक प्रकार के अन्तरंग-बहिरंग तप करता है, वह निश्चय से बहुत कर्मों की निर्जरा करता है।

भेदविज्ञानी जीव को योग होता है। मिथ्यादृष्टि जीव को योग नहीं होता। आत्मा के भान बिना ध्यान किसका? अनन्त आत्मायें हैं। अनन्त परमाणु हैं। आत्मा में समय-समय में संसार में विकार होता है, उसमें कर्म निमित्त है; तथापि आत्मा द्रव्य से शुद्ध है, ऐसे भान बिना योग नहीं हो सकता।

अज्ञानी जीव कहते हैं कि समभाव रखो, परन्तु समभाव का अर्थ समझते नहीं। सबके साथ खाना-पीना, वह समताभाव नहीं है। उसी प्रकार सुदेव और कुदेव को समान मानना, सुगुरु और कुगुरु को समान मानना, सुशास्त्र और कुशास्त्र को समान मानना, वह समभाव नहीं परन्तु मूर्खता है। सुदेवादि को सुदेव जाने और स्थापित करे; कुदेवादि को कुदेवादि जाने और स्थापित करे, सुधर्म को सुधर्म जाने, कुधर्म को कुधर्म जाने, यह समदर्शिता है। पत्नी और बहिन दोनों स्त्री की पर्याय है। दोनों को समान माने, वह मूर्ख है। उसे वर्तमान पर्याय का विवेक करना नहीं आता। उसी प्रकार कुदेव-सुदेव इत्यादि जीवद्रव्य है, परन्तु पर्याय में बड़ा अन्तर है। ऐसा वर्तमान पर्याय का अन्तर जो नहीं जानता, उसे पर से और राग से आत्मा भिन्न है, ऐसा विवेक करना नहीं आयेगा। पर्याय का अन्तर न माने और अकेला द्रव्य को माने, वह भेदज्ञानी नहीं है। सुदेव और कुदेव के बीच विवेक जाने, जड़ और चैतन्य का विवेक जाने। विकार और अविकार का विवेक जाने, बन्ध और अबन्ध के बीच विवेक जाने। शान्ति और अशान्ति के बीच विवेक जाने, वह भेदविज्ञानी है, उसे शुभाशुभभाव उत्पन्न नहीं होते। उसे संवर है, उसे आत्मा में शुद्धोपयोगरूप जुड़ान से और अन्तरंग-बहिरंग तप से शुद्धता होती है। योग अर्थात् स्वरूप की एकाग्रता। ज्ञानी को स्वरूप में एकाग्रता होती है। उसे शुद्धता की वृद्धिरूप और अशुद्धता के व्ययरूप निर्जरा है। अथवा पुराने कर्म टल जाते हैं, इस अपेक्षा से द्रव्यनिर्जरा है। ऐसे जीव को बारह प्रकार का तप निर्जरा में निमित्त कहलाता है। अज्ञानी जीव को आत्मा का विवेक नहीं, इसलिए उसे शुद्धता नहीं होती और कर्म

नहीं टलते, उसे निर्जरा नहीं होती। ज्ञानी जीव को जितना शुद्ध उपयोग वर्तता है, उतनी अशुद्धता नहीं होती और उतने प्रमाण में कर्म टल जाते हैं।

भावार्थ : बारह प्रकार के तप से किसे निर्जरा होती है, यह कहते हैं। परपदार्थ और पुण्य से आत्मा भिन्न है, ऐसे भानपूर्वक आत्मा में रमे, उसे तप कहते हैं और उससे निर्जरा होती है। आत्मा के भान बिना सच्चे व्रत-तप होते नहीं।

अनशन : उपवास से निर्जरा होती है, यह व्यवहार कथन है। मैंने आहार नहीं लिया तथा छोड़ा भी नहीं। राग का ग्रहण-त्याग भी मेरे स्वभाव में नहीं, ऐसे भानपूर्वक आत्मा में शुद्ध उपयोग वर्तता है, वह निर्जरा है। पूर्व में आहार न लेने का शुभराग होता है। इससे उपवासतप से निर्जरा हुई, ऐसा कहा जाता है।

अवमौदर्य : आहार अल्प लेना, वह तो शुभभाव है। वह तप नहीं क्योंकि आहारादि के ग्रहण-त्याग आत्मा में है ही नहीं। पर्याय में जरा राग था, वह स्वभाव में स्थिरता द्वारा टाला, वह निर्जरा और तप है।

वृत्तिपरिसंख्यान : वृत्ति का संकोच करना, वह शुभराग है। अमुक चीज़ें लेना—न लेना, वह आत्मा के हाथ की बात नहीं। इतने द्रव्य चलते हैं—नहीं चलते, उसकी तो बात है ही नहीं। आत्मा में परवस्तु का अभाव है, ऐसे भानपूर्वक शुद्ध उपयोग वर्तता है, वह निर्जरा है। उससे पहले वृत्ति संकोचने का शुभराग हो तो वृत्ति परिसंख्यान से तप हुआ, ऐसा कहा जाता है।

रसपरित्याग : बाहर का रस तो जड़ का है, उसका आत्मा में सदाकाल त्याग वर्तता है। आत्मा के भानपूर्वक आत्मा के रस में झूलते जड़ पदार्थों का रस लेने की वृत्ति उत्पन्न न हुई, वह रसपरित्याग तप है। अज्ञानी रस के त्याग को तप कहता है, वह भूल है। आत्मरस में वर्ते, वह तप है। पूर्व में रसत्याग का शुभराग हो तो उस रसपरित्याग से निर्जरा हुई, ऐसा कहा जाता है।

वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण ६, गुरुवार

यह अधिकार निर्जरा का है। वास्तविकता का यथार्थ ज्ञान हो, उसे अन्तरशुद्धि हुए बिना नहीं रहती। जीव विकारी या अविकारी अवस्था स्वतन्त्ररूप से करता है, ऐसा न जाने, तब तक अजीव से भेदज्ञान नहीं होता। यह भेदज्ञान का अधिकार है। नौ तत्त्व भिन्न हैं। एक-दूसरे में एक-दूसरे का कार्य माने तो नौ तत्त्व भिन्न-भिन्न नहीं रहते।

जीव : त्रिकाली स्वभाव स्वतन्त्र है। जीव के गुण दूसरा कोई बनावे अथवा वर्तमान अवस्था पर से माने, तो वह जीवतत्त्व को समझता नहीं। अपने द्रव्य-गुण-पर्याय पर के कारण से नहीं है—ऐसा ज्ञान करे तो पर से अत्यन्त भिन्न होने का प्रसंग आवे और पूर्ण पृथक् हो।

कर्म विकार करावे और देव-गुरु धर्म करावे, ऐसा माननेवाला वर्तमान स्वतन्त्र दशा को स्वीकार नहीं करता और वह द्रव्य को भी स्वतन्त्र नहीं स्वीकारता। पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध निमित्त के संयोग की दशा है और संवर, निर्जरा, मोक्ष निमित्त के वियोग की दशा है।

अजीव : जीव में विकार की तारतम्यता अनेक प्रकार की है। उनमें भी तारतम्यतावाले कर्मादि पुद्गल अनेक प्रकार के हैं। अनन्त जड़ पुद्गल हैं, ऐसा स्वीकार न करे तो अजीव से आत्मा भिन्न है, ऐसा ज्ञान होता नहीं।

पुण्य : दया, दानादि भक्ति के भाव पुण्य है, उन्हें धर्म माने तो पुण्य संवर हो जाने से नौ नहीं रहते, इसलिए पुण्य, बन्ध का कारण है—ऐसा समझना चाहिए।

पाप : हिंसा, झूठ, चोरी, लोभ के परिणाम पाप हैं। दुश्मन को देखकर द्वेष माने तो पाप स्वतन्त्र नहीं रहता। पाप स्वयंसिद्ध पर से भिन्न तत्त्व है। पाप जड़ के कारण से माने तो भी पाप और अजीव एक हो जाने से नौ तत्त्व नहीं रहते।

आस्रव : पुण्य-पाप दोनों मलिन परिणाम आस्रव हैं, उन दोनों को आस्रव न मानकर पाप को आस्रव माने और पुण्य को निर्मल परिणाम माने तो आस्रव का ज्ञान सच्चा नहीं होता।

संवर : दया-दानादि के भाव को अज्ञानी जीव संवर मानते हैं, परन्तु वह तो आस्रव है। पुण्य-पापरूपी अधर्मभाव जिस भाव से रुकता है, उसको संवर कहते हैं। और कितने ही जीव चारित्र को अथवा संवर को दु:खदायक मानते हैं और कहते हैं कि चारित्र तो रेत के ग्रास समान है। लोहे के चने दूध के दाँत से चबाने जैसा है—ऐसा कहकर वीतरागीपर्याय को दु:खदायक मानते हैं। वे जीव संवर को उड़ाते हैं और आर्तध्यानरूपी जो पाप, उसे संवर की जगह स्थापित करते हैं। और कोई पर से संवर माने तो वह भी भूल है। आत्मा के आश्रय से अशुद्धता का रुकना, वह संवर है।

निर्जरा : जिसे भेदज्ञान हो, उसे शुद्धि की वृद्धि होती ही है। रोटियाँ छोड़ी, इसलिए निर्जरा हुई—ऐसा अज्ञानी मानता है, वह भूल है। शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, ऐसे भान में शुद्धता बढ़ना और अशुद्धता टलना, वह निर्जरा है।

इस प्रकार सभी तत्त्वों को जैसा है, वैसा मानना चाहिए। नौ तत्त्व खरगोश के सींग की भाँति अभावरूप नहीं है। नौ पदार्थ हैं। सब होकर एक माने, पर से दूसरा माने, अथवा पर्याय न स्वीकार करे, पैसे से पुण्यभाव हुआ माने, अजीव बिल्कुल न माने तो नौ तत्त्व रहते नहीं। अजीव में भी बहुत भेद हैं। कोई शरीर के योग्य परमाणु हैं, कोई कर्म के योग्य परमाणु हैं इत्यादि बहुत प्रकार के परमाणु हैं। ऐसा अजीव स्वीकारना चाहिए। किसी को यहाँ नौ पुत्र-पुत्रियाँ हों, उसके बदले सात गिने तो? दुनिया उसे मूर्ख कहेगी। उसी प्रकार नौ पदार्थ अनादि-अनन्त हैं। उसमें एक कम माने तो सर्वज्ञ कहते हैं कि तू अज्ञानी है।

निर्जरा बारह प्रकार के भेद द्वारा होती है, ऐसा कहा वह निमित्त से कथन है।

(१) अनशन : जिस प्रकार लौकिक में धन को तथा अन्न को प्राण कहते हैं। धन से अन्न लाया जाता है और अन्न से इन्द्रियाँ, शरीरादि पुष्ट होते हैं। शरीर और इन्द्रियाँ तो अपने कारण से टिकती हैं, परन्तु उसमें धन और अन्न निमित्त हैं, इसलिए धन से अन्न मिलता है और अन्न से प्राण टिकते हैं, ऐसा कहा जाता है, परन्तु वह निमित्त किसे? जो जीवित हो उसे। परन्तु मर गये हुए मनुष्य की इन्द्रियों को या शरीर को अन्न और धन पुष्टि में निमित्त नहीं हैं। जीवित को निमित्त है; उसी प्रकार मैं आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ, रागरहित हूँ—ऐसी दृष्टिपूर्वक अन्तर अराग परिणाम हो, उसे

उपवास निमित्त कहलाता है। जिसे भेदज्ञान वर्तता है, उसे उपवास तप निमित्त है। परन्तु जिसे नौ तत्त्व के भेदज्ञानरूपी प्राण नहीं और पर के साथ एकत्वबुद्धि में रुककर जो मुर्दे समान है, उसे उपवासतप निमित्त नहीं कहलाता।

जिस प्रकार मुर्दे को अन्न देने से प्राण टिकेंगे, ऐसा माननेवाला मूर्ख है; उसी प्रकार नौ तत्त्व की श्रद्धा और ज्ञान बिना के जीव को उपवासादि तप से धर्म होगा, ऐसा माननेवाला मूर्ख है। अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि मैंने इच्छा मन्द की, इसलिए रोटी-पानी नहीं आये। इच्छा के कारण से अजीव की अवस्था माननेवाले को इच्छा और जड़ के बीच का भेदज्ञान नहीं है तो फिर उसे इच्छा और शुद्धस्वभाव के बीच का भेदज्ञान कभी भी होगा नहीं। परन्तु जिसे भेदज्ञान है और शुद्धता बढ़ती है, उसे उपवासतप निमित्त कहलाता है।

(२) अवमौदर्य : भोजन के दो ग्रास कम खाये, उसे तप कहते हैं। परन्तु किसे ? अजीव से और इच्छा से शुद्धस्वभाव भिन्न है, ऐसा जिसे भेदज्ञान वर्तता है, उसे शुद्धोपयोग की वृद्धि होने पर अवमौदर्यतप निमित्त कहलाता है।

अज्ञानी मानता है कि मैंने यह रोटियाँ छोड़ी, वह विद्यमान पदार्थ को विद्यमान मानता नहीं। ज्ञानी समझता है कि अजीव उसके कारण से छूटता है और कषायमन्दता आस्रव है, वह निर्जरा का कारण नहीं, परन्तु शुद्धोपयोग, वह निर्जरा है। यहाँ टीका में अन्तरंग-बहिरंग ऐसे बारह प्रकार के तप से निर्जरा कही, वह निमित्त से कथन है। स्व का यथार्थ ज्ञान होने पर, पर का अथवा व्यवहार का ज्ञान हो जाता है। राग से और शरीरादि की अवस्था से धर्म माने तो नौ तत्त्व नहीं रहते और शरीरादि अजीव पदार्थ और राग इत्यादि बिल्कुल नहीं, ऐसा माने तो भी नौ नहीं रहते। एक बात उड़ाने पर पूरे आत्मा का नाश होता है। एक बात यथार्थ मानने से सम्यग्दर्शन होता है। रोटियाँ नहीं आयीं, वह जड़ की अवस्था है। इच्छा मन्द हुई, वह पुण्य है, निर्जरा नहीं। उस बिना के शुद्ध आत्मा के अवलम्बन से शुद्धि की वृद्धि होना और अशुद्धता का टल जाना, वह भावनिर्जरा है और उसका निमित्त पाकर कर्म स्वयं टल गये, वह द्रव्यनिर्जरा है।

कर्म खिर गये अर्थात् क्या ? क्या पुद्गलद्रव्य खिर जाता है ? नहीं, द्रव्य खिर नहीं जाता, परन्तु परमाणुओं की अवस्था कर्मरूप थी, वह पलटकर दूसरे परमाणुरूप

हो जाये, उसे द्रव्यनिर्जरा कहते हैं, वह जड़ की अवस्था है।

दया-दानादि के भाव करे, वह भावपुण्य है, उसके निमित्त से द्रव्यपुण्य बँधता है। वह द्रव्य नहीं, परन्तु परमाणु की पर्याय है। परमाणु के द्रव्य-गुण त्रिकाल है। उसकी अवस्था को द्रव्यपुण्य कहते हैं।

आत्मा का भान करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करके जितने प्रमाण में स्थिरता की, उतने प्रमाण में द्रव्य परमाणु अटके, वह पुद्गल की अवस्था है। वह द्रव्यसंवर है और जितनी स्थिरता करता है, उतने प्रमाण में कर्म खिर जाते हैं, वह द्रव्यनिर्जरा है, वह परमाणु की अवस्था है। वह परमाणु कर्म में से पलटकर दूसरी अवस्थारूप होते हैं।

आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावी है। ऐसा भेदविज्ञान करके जो स्वभाव में लीनता करता है, उसे अवमौदर्यतप निमित्त कहलाता है।

(३) वृत्तिपरिसंख्यान : अमुक वस्तु न लेने का भाव शुभभाव है। उससे रहित शुद्ध आत्मा में लीनता बढ़े तो वृत्तिपरिसंख्यान तप से निर्जरा हुई कहलाये।

अज्ञानी मानता है कि मैंने यह चीज़ें छोड़ीं—वह अजीव को और इच्छा को एक मानता है। जीव ने इच्छा की, इसलिए द्रव्य अटके—ऐसा नहीं और इच्छा की, इसलिए धर्म हुआ—ऐसा भी नहीं। वे द्रव्य स्वतन्त्र हैं। उनसे रहित शुद्धचैतन्य की भावना में एकाग्रता बढ़ती है और अशुद्धता टलती है, वह निर्जरा और तप है। उसमें वृत्तिपरिसंख्यान निमित्त है और कर्म कर्मरूप से नहीं रहकर दूसरी अवस्थारूप पलट जाते हैं, उसे द्रव्यनिर्जरा कहते हैं।

(४) रसपरित्याग : रसवाले पदार्थों को छोड़ने का भाव शुभ है। उससे रहित शुद्ध चैतन्य में लीनता बढ़ाना, उसे तप कहते हैं, वहाँ रसपरित्याग का शुभभाव निमित्त है।

जो ऐसा मानता है कि रसवाले पदार्थों को मैं छोड़ सकता हूँ, वह पर के ग्रहण-त्याग में रुकता है, उसे नौ तत्त्व का भान नहीं, उसे भेदज्ञान नहीं; इसलिए उसे निर्जरा नहीं होती। उसे रसपरित्याग बाह्य से होने पर भी वह मिथ्यात्व बाँधता जाता है।

रसवाले पदार्थ अजीव हैं। वे उनके कारण से छूटते हैं। उन्हें छोड़ने का भाव शुभ है, उससे रहित आत्मा शुद्ध है—ऐसी श्रद्धा और लीनता बढ़ती है, वह तप और निर्जरा है। उसे रसपरित्यागतप निमित्त कहा जाता है। उसे सम्यक् मति-श्रुतज्ञान प्रगट होता है और केवलज्ञान प्रगट होता है और संसार का अन्त आता है।

जीव से जड़ की अवस्था होती है, ऐसा जो मानता है, वह जीव को और अजीव को एक मानता है। अजीव की पर्याय स्वतन्त्र, राग स्वतन्त्र, राग से आत्मा स्वतन्त्र—ऐसे पर से भेदज्ञान हो, उसे पुण्यरहित आत्मा में एकाग्रता होती है, उसे रसपरित्यागतप का उपचार आता है। अजीव से जीव भिन्न है, तथा अजीव की समय-समय की पर्याय से जीव का समय-समय का ज्ञान भिन्न है, ऐसा जो मानता नहीं, उसे धर्म नहीं होता और जो भेदज्ञान करके शुद्धि बढ़ाता है, उसे रसपरित्यागतप से निर्जरा हुई, ऐसा कहा जाता है।

वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण ७, शुक्रवार

यह अधिकार निर्जरा का है। धर्म की शुरुआत भेदज्ञान से होती है। मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ, शरीरादि परतत्त्व है। विकल्प से भिन्न हूँ, ऐसा जिसे भेदज्ञान वर्तता है, उसे निर्जरा होती है। जिसे संवर अथवा सम्यग्दर्शन नहीं, उसे निर्जरा नहीं होती। 'संवरयोगात्' संवर हो, उसे निर्जरा होती है। संवर उसे होता है कि जिसे भेदज्ञान होता है। रजकण की पर्याय मुझसे नहीं होती। मुझमें पर से नहीं होता, पुण्य-पाप पर से नहीं होते तथा पुण्य-पाप आत्मा से भिन्न हैं, ऐसा ज्ञान करे, वह भेदविज्ञानी है। अनन्त परपदार्थों से आत्मा अत्यन्त भिन्न है। पुण्य-पापरहित तथा संयोगरहित आत्मा है, ऐसे (जीव) को आत्मा के स्वभाव की एकाग्रता वर्तती है और संयोग की ओर उपेक्षा वर्तती है, उसे भेदज्ञान वर्तता है, उसे संयोग का और राग का सम्बन्ध टूटता जाता है और ज्ञानस्वभाव के साथ सम्बन्ध होता जाता है, उसे निर्जरा कहते हैं।

उस निर्जरा में बारह प्रकार के तप निमित्त हैं।

रसपरित्याग : आत्मा जड़ के रस से भिन्न है, ऐसा जिसे ज्ञान वर्तता है, उसे

स्वभाव में एकाग्रता होने से राग की उत्पत्ति न हुई और रस का संयोग सम्बन्ध छूटा, इतनी निर्जरा है। अज्ञानी जीव दही, दूध, पकवान इत्यादि पदार्थों को छोड़ा, उसे रसपरित्याग कहता है। उसे उन पदार्थों के साथ की एकत्वबुद्धि छूटी नहीं, इसलिए उसे निर्जरा नहीं। संयोग छूटे होने पर भी वास्तव में वे छूटे नहीं है। वह मानता है कि इच्छा मन्द की, इसलिए संयोग छूटे। परपदार्थ के साथ एकत्वबुद्धि वर्तती है, उसे संयोग सम्बन्ध छूटा नहीं। क्योंकि स्वभाव सम्बन्ध हुआ नहीं। अज्ञानी की दृष्टि परपदार्थों के ऊपर है। यदि राग करता तो रसवाले पदार्थ आते और राग नहीं किया, इसलिए परपदार्थ नहीं आये, ऐसा जो मानता है, उसे परपदार्थों के साथ संयोगबुद्धि रही हुई है, उसे निर्जरा नहीं होती।

निर्जरा कैसे होती है ? परपदार्थ विद्यमान पदार्थ हैं। पर के लक्ष्य से होनेवाले राग के कारण से परपदार्थ छूटे, ऐसा स्वरूप है ही नहीं। पर से आत्मा पृथक् ही है, परन्तु पर को छोड़ूँ, ऐसा विकल्प भी शुद्धस्वभाव में नहीं है। स्वभाव की एकाग्रता करने से शुद्धि बढ़ती है और राग टूटता है, इतनी निर्जरा होती है। उसे संयोग सम्बन्ध छूटता है।

जो परपदार्थ से भिन्न पड़ता नहीं, उसे राग से आत्मा भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान करना आयेगा नहीं। जिसे नौ तत्त्व की खबर नहीं, वह भेदज्ञान नहीं कर सकेगा। पर से भेदज्ञान वर्तता नहीं, उसे पर में अहंकार हुए बिना रहता नहीं। या तो भेदज्ञान करे अथवा अहंकार करे। इसके अतिरिक्त जीव कुछ भी नहीं करता।

(५) विविक्तशय्यासन : स्त्री, पशु, नपुंसक न हो, ऐसी जगह में मुनि एकान्त में रहते हैं, उसे तप कहते हैं। मुनि आसन ऐसी जगह रखते हैं कि जहाँ दूसरे लोगों का आना-जाना न हो। उसे निर्जरा किस प्रकार होती है ? प्रथम तो पूरी दुनिया के अनन्त आत्माओं से—परमाणु से विभक्त हूँ—पृथक् हूँ, ऐसा निर्णय किया है, उसे स्वभाव में लीनता होने से एकान्त जगह में रहने का विकल्प भी नहीं उठता, वह निर्जरा है।

जो जीव ऐसा माने कि परपदार्थों को मैं छोड़ सकता हूँ, वह जीव मूढ़ है। उसे तप नहीं होता। जो जीव ऐसा मानता है कि स्त्री के कारण से मुझे राग होता है, अधिक

मनुष्य हों तो परिणाम अच्छे नहीं रहते, और एकान्त में जाऊँ तो परिणाम अच्छे रहते हैं, उसे तो अभी पर से भेदज्ञान भी करना नहीं आता तो फिर इच्छा से भी आत्मा भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान करना तो आ सकेगा ही नहीं। परपदार्थ अपने से वियोग स्वरूप है, तथापि उनका मैं वियोग करता हूँ, यह मान्यता मूढ़ की है, जिसे उल्टी हो गयी है, उसकी उल्टी करूँ, ऐसा कहनेवाला मूर्ख है, उसी प्रकार जो वस्तु छूटी हुई है, उसे छोड़ूँ, ऐसा कहनेवाला मूर्ख है।

चौदह ब्रह्माण्ड में अनन्त पर से आत्मा अभावस्वरूप है, तथापि पर को छोड़ने की रुचि है, उसे स्वभाव की रुचि नहीं। जिसे स्वभाव की रुचि हो, उसे संयोग सम्बन्ध व्यवहार से छूटा कहलाता है, परन्तु जिसे स्वभाव की रुचि नहीं और परपदार्थ छोड़ सकता हूँ—ऐसी जो मान्यता करता है, वह जीव बाह्य से मुनि होकर गिरिगुफा में रहता होने पर भी तीनों काल के पदार्थों के साथ संयोग-सम्बन्ध उसके अभिप्राय में खड़ा है।

अज्ञानी जीव कहता है कि इतने पदार्थ मैंने छोड़े, परन्तु वे पदार्थ मुझमें नहीं, ऐसा निर्णय किये बिना पर का अहंकार छूटता नहीं। दूसरे पदार्थों से मैं भिन्न हूँ, ऐसा ज्ञान करके स्वभाव में एकाग्रता होने से विकल्प उत्पन्न नहीं होता, वह निर्जरा है। पूर्व में विविक्तशय्यासन का राग था, इसलिए उससे निर्जरा हुई, ऐसा उपचार आता है। विकल्प छूटा, ऐसा कहना वह उपचार है। अपनी पर्याय का भी व्यय करना नहीं पड़ता। राग सहज छूट जाता है तो फिर परपदार्थ छोड़ने का तो कहीं रहा—इसलिए पर से और राग से भेदज्ञान करके अन्तर शुद्धि बढ़े, वह निर्जरा है।

(६) कायक्लेश : शब्दों का अर्थ यह है कि शरीर में कड़क आसन रखे, आठ घण्टे बैठा रहे, पैर भी न चलावे, उसे कायक्लेश तप कहते हैं, किसे ? जिसे भेदज्ञान वर्तता है, उसे तप होता है। शरीर की पर्याय आत्मा कर सकता नहीं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ऐसे भेदज्ञानसहित जिसे अन्तरलीनता वर्तती है, उस जीव को बाह्य से शरीर की ऐसी अवस्था होती हो तो कायक्लेश तप से निर्जरा हुई, ऐसा कहा जाता है। शरीर के आसन का काल है, उस समय ज्ञान की ओर झुकाव है, इच्छा उत्पन्न नहीं हुई, इसलिए कायक्लेश तप का उपचार दिया है। लोग बाहर से शरीर को देखते हैं और शरीर में दुःख देखते हैं, इसलिए कायक्लेश शब्द प्रयोग किया है।

ज्ञानी समझते हैं कि शरीर की पर्याय मैंने नहीं की और उस ओर के राग को राग की दृष्टि से तोड़ा नहीं, चैतन्यस्वभाव के साथ जिसने एकताबुद्धि की है, उसने अनन्त परपदार्थों के साथ सम्बन्ध तोड़ा है। उसने मिथ्यात्व तोड़ा है, उस जीव को योग होता है।

ऐसी श्रद्धा की खबर नहीं, कहाँ से छोड़ना और कहाँ जोड़ना? किस प्रकार से कौन जुड़ता है, उसकी खबर बिना, चैतन्य और जड़ के भेदज्ञान बिना योग साधे, वह व्यर्थ है। लोग कहते हैं 'फलाना ने मृत्यु को जीत लिया' प्रत्येक तत्त्व अनन्त गुणों का समाज है, उसे भूलकर अनन्त परपदार्थों के साथ जुड़ान करनेवाला भेदज्ञान नहीं कर सकता और मृत्यु को नहीं जीत सकता।

अनन्त पदार्थों से भेदज्ञान न हो, उसे शान्ति नहीं होती। अपने स्वभाव को चूककर अनन्त परपदार्थों के साथ एकत्वबुद्धि, वही अशान्ति है और अधर्म है।

शरीर सूख जाये तो वह जड़ की अवस्था है, ज्ञानी की दृष्टि उसके ऊपर नहीं है, उससे भेदज्ञान वर्तता है। उसे शुद्धता बढ़ती है। उसे कायक्लेश से निर्जरा कहते हैं। उसे समाधि और शान्ति कहते हैं। एक ओर से कायक्लेश कहना तथा एक ओर से शान्ति कहना, ऐसा कैसे बने? ऐसा कोई प्रश्न करे तो समाधान यह है कि लोग शरीर की अवस्था को देखते हैं और ज्ञानी को उस समय इस प्रकार की अवस्था निमित्त है परन्तु वह कायक्लेश निमित्त किसे? जो स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान करके एकाग्रता करे, उसे कायक्लेश निमित्त कहलाते हैं, दूसरे को नहीं कहलाता।

अज्ञानी जीव मानता है कि एक आसन से आठ घण्टे बैठा रहा और हिला-चला नहीं, वह आसनजय है। ऐसा माननेवाला मूढ़ है। जड़ की पर्याय जीव ने की, ऐसा माननेवाला मूढ़ है।

जैसे वृक्ष पड़ा रहे, वैसे शरीर पड़ा रहे और दो महीने का संथारा किया, इससे तप हुआ, ऐसा अज्ञानी मानता है। उसे शरीर के साथ एकत्वबुद्धि वर्तती है, शरीर से भिन्नता का उसे भान नहीं, इसलिए उसे निर्जरा होती नहीं। निर्जरा बिना संवर के नहीं होती, संवर भेदविज्ञान के बिना नहीं होता। अज्ञानी को तो एकत्वबुद्धि वर्तती है, इसलिए उसे तप या निर्जरा नहीं होती।

अस्सी वर्ष के मनुष्य के ऊपर पाँच मण बोझा रखा हो, वह भार सिर के ऊपर रखकर चन्द्रमा को नहीं देख सकता, उसी प्रकार जिसे जड़ के साथ तीव्र एकत्वबुद्धि वर्तती है और उसका बोझा लेकर घूमता है, वह सत्य श्रवण के लिये सिर भी ऊँचा नहीं कर सकेगा।

इसलिए भेदज्ञान करना चाहिए। यह मानस्तम्भ आयेगा, वह उसके कारण से है। शुभभाव हुआ, इसलिए जड़ की क्रिया होती है, ऐसा नहीं है, दोनों स्वतन्त्र हैं, ऐसा जिसे भेदज्ञान वर्तता है, ऐसे भेदज्ञानी जीव को अपने स्वभाव में लीनता वर्ते, वह निर्जरा है। उस समय कायक्लेशवाली शरीर की अवस्था हो तो कायक्लेश तप के निमित्त से निर्जरा हुई, ऐसा कहा जाता है।

इस प्रकार ज्ञानी को छह प्रकार के बाह्यतप निमित्त होते हैं।

वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण ८, शनिवार

यह निर्जरा अधिकार है। परपदार्थों से और राग से आत्मा भिन्न है, ऐसा भान होने के पश्चात् आत्मा में शुद्धि की वृद्धि होना, वह निर्जरा है। उसमें बारह प्रकार के तप निमित्त हैं। छह बाह्यतप की बात आ गयी। अब, छह अन्तरंग तप की बात कही जाती है।

प्रायश्चित्त : गुरु के निकट पाप का प्रायश्चित्त लेना, वह शुभराग है। जो पाप के परिणाम हुए और जिनका प्रायश्चित्त लेना है, वे वर्तमान में तो है नहीं तो किसका प्रायश्चित्त ? व्यवहार से गुरु के पास जाकर पूर्व का प्रायश्चित्त करे, वह शुभराग है, उस समय भी ऐसा भान होना चाहिए कि पूर्व में परिणाम हुए, उनसे और वाणी से मैं भिन्न हूँ। पाप क्षणिक है, ज्ञानस्वभाव त्रिकाल है, ऐसा ज्ञान करके अन्तर में स्थिर होना, वह प्रायश्चित्त है।

ज्ञानस्वभाव की नित्यता, वह प्रायश्चित्तस्वरूप है, ऐसा जिसने ज्ञान में लिया, उसे पर्याय में निर्मलता प्रगट होती है। उसे निर्जरा और तप कहते हैं, विकल्प को

प्रायश्चित्त कहते नहीं। परन्तु पूर्व में विकल्प था, इसलिए प्रायश्चित्त तप से निर्जरा हुई, ऐसा कहा जाता है।

आत्मा होकर आत्मा होना हो, उसकी बात है, राग होकर आत्मा होता नहीं। पुण्य-पाप संवर नहीं, निर्जरा नहीं, जीव नहीं। यदि पुण्य का भाव संवर आदि हो तो नौ तत्त्व रहते नहीं। जिसे अभी नौ तत्त्व की श्रद्धा का ठिकाना नहीं, मिथ्यात्व टाला नहीं, उसे व्रत, तप कैसे?

जीवों को वर्तमान पर्याय का विश्वास आता है, परन्तु त्रिकाली आत्मा का विश्वास बैठता नहीं। चैतन्यस्वभाव एक ही सर्वस्व है, ऐसा स्वीकारना चाहिए। पाप के परिणाम होते हैं, वे भी क्रमसर होते हैं, तथापि प्रायश्चित्त का विकलप आता है, निन्दा-गर्हणा का विकल्प आता है। प्रायश्चित्त के समय हाथ जोड़ना रूप की क्रिया वर्तती है, गुरु के निकट खड़ा होता है, वाणी बोली जाती है; तथापि पूर्व के पाप से और वर्तमान शुभराग, वाणी, गुरु, इन सबसे मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप भिन्न हूँ, ऐसा भान वर्तता है, जीव को आत्मा के अवलम्बन से शुद्धता की वृद्धि होती है। वह वास्तव में निर्जरा है परन्तु पूर्व में विकल्प उठा है। गुरु के निकट गये हैं, इसलिए प्रायश्चित्ततप से निर्जरा हुई, ऐसा कहा जाता है।

अमृतचन्द्राचार्य ने टीका में लिखा है कि छह बाह्य और छह अभ्यन्तर ऐसे बारह तप से निर्जरा होती है, परन्तु शास्त्र के कथन समझना चाहिए, कथन से पार आवे, ऐसा नहीं है, शास्त्र को ज्ञान नहीं, शास्त्र को खबर नहीं, शास्त्र बोलता नहीं, उसके पीछे जो रहस्य है, उसे आत्मा जानता है।

कोई कहता है कि शास्त्र पुद्गल है, ऐसा एक ओर से कहना और दूसरी ओर से चाँदी के शास्त्र बनाना और उनकी महिमा करना। यह सब क्या है? भाई! यह सब संयोगी चीज़ें हैं, उसके पीछे रहे हुए शुभराग की पहिचान देते हैं। अपने में भावश्रुतज्ञान प्रगट होने पर विकल्प आता है, वह व्यवहार विनय है और अन्तर निर्विकल्पदशा, वह निश्चय विनय है। निश्चय और व्यवहार आत्मा में है। तथापि निमित्त निमित्तों के काल में होते हैं, उनका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध विचारे तो काम आवे, परन्तु कर्ता-कर्मसम्बन्ध माने तो वह भूल है।

कोई जीव कहे कि अपने वे कार्य नहीं करना, 'नहीं करना' इसकी व्याख्या क्या ? क्या जड़ का कार्य किसी से किया जा सकता है कि जिससे नहीं करना, ऐसा तू कहता है ? जड़ के कार्य आत्मा तीन काल में नहीं कर सकता, संयोग संयोग के कारण से होता है। और कोई कहे कि अपने सादा काम करना, वह जीव भी जड़ की पर्याय का कर्ता होता है, वह मिथ्यात्वभाव है। पर से भेदज्ञान बिना व्रत, तप नहीं हो सकते, ज्ञानी को उपवास का विकल्प उठता है, परन्तु आहार और विकल्प के ऊपर उसकी दृष्टि नहीं; शुद्धचैतन्य के ऊपर दृष्टि है, उसे निर्जरा होती है।

विनय : विनय तप से निर्जरा होती है। कौनसा विनय ? विनय के समय जो जड़ की क्रिया होती है, उसे आत्मा कर नहीं सकता, देव-गुरु-शास्त्र का विनय भी राग है। रागरहित तथा देह की क्रियारहित आत्मा शुद्ध है, ऐसा अन्तर भान होना, वह वास्तव विनय तप है। देव-गुरु-शास्त्र के विनय से मुक्ति होती हो तो अनन्त बार ऐसा विनय किया और शुक्ललेश्या के परिणाम किये, परन्तु मुक्ति नहीं हुई, पूरे दिन गुरु के निकट रहे, उसकी भी मुक्ति नहीं, परन्तु आत्मा के निकट रहनेवाले की मुक्ति है और वही सच्चा विनय है।

आत्मा का स्वभाव जिस प्रकार से है, उस प्रकार से न जाने, वह मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यात्व, वही बड़ा पाप है। अल्प कषाय मन्दता का पुण्य गौण है।

सच्चे देव-गुरु ऐसा कहते हैं कि तेरे अवलम्बन से तेरा धर्म है। विनय का शुभराग आवे, वह पुण्य है, परन्तु धर्म नहीं। ज्ञानदशा में जितनी एकाग्रता हो, वह धर्म है। पूर्व में विनय का शुभराग हो तो विनय से निर्जरा हुई, ऐसा कहा जाता है।

आत्मा एक और तप बारह, आत्मा एक और भावना बारह, आत्मा एक और परीषह बाईस। भाई ! यह सब व्यवहार के कथन हैं। आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान, एकाग्रता करने से धर्म होता है और राग उत्पन्न नहीं होता, जो एकाग्रता हुई, वह वास्तव में विनय तप है।

प्रथम देव-गुरु-शास्त्र के विनय का विकल्प था, परन्तु वह वास्तव में तप नहीं, किन्तु धर्मानुराग आये बिना रहता नहीं, राग आता है, उसे ज्ञानी जानते हैं। स्वभाव की

एकाग्रता द्वारा फिर से राग को आने न देना, वह तप है। ज्ञानी को पर की तथा विकार की कर्तृत्वबुद्धि नहीं होती।

और भगवान छद्मस्थ जीव का विनय करे, ऐसा नहीं होता, साधक जीव को विनय का विकल्प होता है। साधक को बाधकपने का राग उठता है। जो परिपूर्ण हो गये, उन्हें राग होता नहीं।

यहाँ आत्मा एक और तप बारह प्रकार का कहा, इसलिए कहीं आत्मा बारह प्रकार का नहीं हो जाता, द्रव्य एक मिटकर दो रूप नहीं हो जाता। अज्ञानी शुभराग को धर्म की क्रिया मानता है, परन्तु वह भूल है, वह बन्ध का कारण है। साधक जीव को शुभराग आता है, उसे वह जानता है। मिथ्यादृष्टि को नय नहीं, तथा केवली परिपूर्ण हो गये हैं, इसलिए उन्हें भी नय नहीं; श्रुतज्ञानी को अर्थात् साधक जीव को नय होते हैं, नय श्रुतज्ञान का भाग है, वह ज्ञानी अल्पज्ञ को होते हैं। स्वभाव सन्मुख झुकता है, वह निश्चय है और थोड़ा राग बाकी है, वह व्यवहार है। व्यवहार से देव-गुरु-शास्त्र के प्रति लक्ष्य जाता है और उनका बहुमान करता है, पूर्णदशा होने पर अकेला निश्चय रह जाता है। जिससे केवली को विनयादि का विकल्प होता नहीं, विनय करनेवाले छद्मस्थ होते हैं। स्वभाव की एकाग्रता करना बाकी है, उसे विनय का राग होता है।

लोग कहते हैं कि गुरु कृपा हो तो तिरें 'गुरु बिना घोर अंधेर', भाई! बाह्य गुरु के प्रति विनयभाव हो, वह शुभ है। अन्तर चैतन्यदेव के बिना और चैतन्य गुरु के बिना अन्धेर है। अन्तर निश्चयगुरु के विवेक बिना बाह्यगुरु का विवेक यथार्थ नहीं हो सकता।

कितने ही कहते हैं कि तीर्थंकर भगवान भी 'नमो तीथ्थस्स' ऐसा कहकर समवसरण में बैठते हैं। परन्तु यह बात खोटी है। वैसा राग वीतरागकेवली भगवान को नहीं हो सकता। (ऐसा कहनेवाले) वीतराग को समझते नहीं।

अन्तरभानसहित शुद्धता प्रगटे, वह निर्जरा है और उससे पहले विनय का शुभराग हो तो विनय से निर्जरा हुई, ऐसा कहा जाता है।

वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण १०, शनिवार

वैयावृत्त्य : सच्चे सन्त मुनियों की सेवा करने का भाव शुभ है। देव-गुरु-शास्त्र तो पर है। उनकी सेवा आत्मा नहीं कर सकता तथा सेवा का विकल्प उठता है, वह शुभ है। उससे रहित आत्मा शुद्ध है, ऐसे ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता करके एकाग्रता बढ़े, वह निर्जरा है। उससे पहले सेवा का विकल्प हो तो वैयावृत्त्य से निर्जरा हुई, ऐसा कहा जाता है।

कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि ज्ञानी की सेवा करने से तीर्थंकरनामकर्मप्रकृति बँधती है। परन्तु जिसे भेदज्ञान नहीं, ऐसे मिथ्यादृष्टि को तीर्थंकरनामकर्मप्रकृति बँधती नहीं और वैयावृत्त्य के भाव से तीर्थंकरनामकर्म बँधता नहीं तथा वह सम्यग्दृष्टि को ही तीर्थंकर, केवली अथवा श्रुतकेवली के समीप ही बँधता है। अन्यत्र बँधता नहीं।

अभी तो जीव पर में और शुभ में अटके हैं। कोई साधु की सेवा के भाव को निर्जरा कहता है और कोई प्रतिमा की पूजा को निर्जरा कहता है। परन्तु वह तो शुभभाव है। राग और निमित्त बिना के आत्मा के आश्रय से जो शुद्धता बढ़ती है और अशुद्धता टलती है, वह निर्जरा है। पूर्व में वैयावृत्त्य का विकल्प हो तो उससे निर्जरा हुई, ऐसा कहा जाता है।

अज्ञानी को पर के साथ एकत्वबुद्धि वर्तती है। देव-गुरु-शास्त्र पर हैं और मैं स्व हूँ। पर की पर्याय पर के कारण से और स्व की स्व के कारण से है, ऐसा भी जिसे भेदज्ञान नहीं, वह जीव राग से भिन्नता का भेदज्ञान नहीं कर सकेगा।

और **कोई कहे** कि गुरु की कृपा काम आवे या नहीं ?

समाधान : किसी की कृपा काम नहीं आती। पात्र जीव हों तो उनके ऊपर गुरु ने कृपा की कहलाती है। परन्तु ज्ञानी को किसी की कृपा नहीं होती। गुरु कहे कि यह पात्र जीव है। निजपात्रता वह निश्चयकृपा है। शिष्य के ख्याल में आ जाये और ऐसा कहे कि गुरु ने कृपा की, वह व्यवहारकृपा है।

इस प्रकार वैयावत्त्य तो स्वभाव के अवलम्बन से होता है। उसे प्रगट करे, उसे

व्यवहार वैयावृत्त्य के भाव गुरु के प्रति होते हैं, इसलिए उससे निर्जरा हुई, ऐसा कहा जाता है।

स्वाध्याय : सत्शास्त्रवाँचन इत्यादि का भाव तो शुभराग है और शब्द बोलना वह जड़ की क्रिया है। उसे आत्मा कर नहीं सकता। स्वाध्यायादि के भाव शुभ हैं। उससे रहित आत्मा शुद्ध है, ऐसा जिसे भान वर्तता है, उसे स्वाध्यायतप होता है। राग और अजीव से भिन्नता का ज्ञान हुए बिना स्वाध्यायतप होता नहीं। चश्मा हो तो ज्ञान होता है, ऐसा माननेवाला जड़ की पर्याय को और जीव की पर्याय को एक मानता है। चैतन्य को अनुसरकर होनेवाले परिणाम को उपयोग कहते हैं। वे परिणाम चश्मे को और इन्द्रियों को अनुसरणकर नहीं होते, तथापि जो जीव इन्द्रियों के कारण से ज्ञान हुआ मानता है, शास्त्र सन्मुख ध्यान रखा तो उपयोग अच्छा हुआ, ऐसा मानता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है। उसे पुण्य हो परन्तु तप नहीं होता। शुद्ध चैतन्य का स्वाध्याय करना, वह तप है।

व्युत्सर्ग : कायोत्सर्ग करना, वह तप है। काया के प्रति राग छोड़ना, वह नास्ति से कथन है। चैतन्यस्वभाव में एकाग्रता करने से राग नहीं होता। उसे राग छोड़ा, ऐसा कहा जाता है। चैतन्यस्वभाव में एकाग्र होने पर काया के प्रति राग छूटा, यह बतलाने के लिये निमित्त से कथन है और व्युत्सर्गतप से निर्जरा हुई, ऐसा कहते हैं।

चार गति का व्युत्सर्ग कराने का कथन आवे, वह यथार्थ कैसे हो? कि जिस भाव से चार गति मिले, वह भाव मेरे स्वभाव में नहीं, ऐसा भान करे तथा चैतन्य से विरुद्धभाव चार गति का कारण है, ऐसा भान करे और उस भाव और भव से चैतन्य भिन्न है, ऐसा भान करे, उसे चार गति का अभाव होता है। ऐसे भान बिना गति का अभाव नहीं होता। जिसे नरकगति चाहिए नहीं, परन्तु मनुष्य अथवा देवगति चाहिए है, उस जीव को गति की रुचि है परन्तु स्वभाव की रुचि नहीं। वह परपदार्थों की रुचि करके पर का स्वामी होता है, उसे गति का अभाव नहीं होता।

और जिस जीव को ज्ञान की हीन पर्याय में दीनता वर्तती है और ज्ञान की अधिक उघाड़वाली पर्याय में अहंकार वर्तता है, उसे स्वभाव का भान नहीं होता, इसलिए वह

जीव पर्यायदृष्टि है। उसे अंश में अहंकार वर्तता है, परन्तु त्रिकाली स्वभाव जो नित्य ध्रुव है, उसकी महिमा नहीं आती। उस जीव को धर्म नहीं, उसे व्युत्सर्ग तप नहीं होता।

धर्मी जीव को शुद्ध चैतन्यस्वभाव का भान है। ज्ञानपर्याय अल्प उघाड़वाली होवे तो दीनता नहीं, अधिक उघाड़वाली हो तो अहंकार नहीं। अशुभभाव आवे तो दीनता नहीं, शुभ आवे तो अहंता नहीं, प्रतिकूल निमित्तो में दीनता नहीं और अनुकूल निमित्तों में अहंता नहीं। उसे शुद्ध स्वभाव में उग्रता वर्तती है, इसलिए उसे कायोत्सर्गतप होता है।

ज्ञानी समवसरण में बैठा हो, तब समवसरण के संयोग, साक्षात् भगवान और शुभभाव इत्यादि होने पर भी वह समझता है कि इन सबसे मैं अधिक (भिन्न) हूँ, वह शुभभाव तथा संयोगों में अधिकता नहीं मानता और सातवें नरक में कोई धर्मी जीव हो तो वहाँ वह प्रतिकूल संयोगों में दीनता नहीं करता। धर्मी को सर्वत्र अपने स्वभाव का ही बहुमान वर्तता है।

अज्ञानी जीव अनुकुलता में अधिकता मानता है और प्रतिकूलता में दीनता मानता है। वह स्वभाव की अधिकता मानता नहीं। चैतन्य की रुचि हुई नहीं, उसे परवस्तु का अहंकार वर्तता है, उसे चैतन्य से भिन्नता का ज्ञान नहीं होता। इस भेदज्ञान बिना उपवासादि करे तो व्यर्थ है। परन्तु वह क्रिया संसार के लिये सफल है। कोई भी क्रिया सफल है, उसके दो प्रकार हैं :—

(१) जिसकी दृष्टि अंश के ऊपर है, अंशी स्वभाव के ऊपर नहीं, ऐसे जीव को शुभराग की क्रिया संसार के लिये सफल है।

(२) धर्मी विचारता है कि चाहे जो पर्याय हो, शुभराग की या अशुभराग की हो, कम या अधिक ज्ञान की हो—जो वर्तती है, वह सफल है। वह समझता है कि शुभ और अशुभभाव चारित्रगुण की पर्याय है। ज्ञान की अवस्था ज्ञानगुण की पर्याय है। पर्याय स्वतन्त्र न हो तो पूरा द्रव्य साबित नहीं होता। पर्याय पर्यायवान की है। अंश का ख्याल करके पूरा अंशी ख्याल में लिया है। वस्तु को सिद्ध करने के लिये शुभराग अथवा अशुभराग की चाहे जो पर्याय हो तो वह सफल है। उसकी दृष्टि स्वभाव के ऊपर है,

इसलिए सफल है अर्थात् कि मोक्ष की प्राप्ति के लिये सफल है।

और बाहर के पदार्थों के त्याग का उपचार भी स्वभावदृष्टिवन्त ज्ञानी को आता है। अज्ञानी को वह उपचार नहीं आता। एक समय की रागपर्याय (अंश) पूरे द्रव्य का अंश है, ऐसा जिसे ख्याल नहीं और अजीवादि पदार्थ और संयोग उनके अपने कारण से छूटते हैं, उन्हें जीव छोड़ नहीं सकता, ऐसी जिसे दृष्टि नहीं उस जीव ने अजीव पदार्थ छोड़े, ऐसा व्यवहार भी नहीं आता। वह चैतन्य के वास्तविक तत्त्व को नहीं समझता और राग तथा बाहर के पदार्थों को देखनेवाला है, इसलिए वह बहिरात्मा है, उसके लिये संसार सफल है।

जिस जीव को आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान वर्तते हैं और स्वभाव के अवलम्बन से राग छूटा है और पदार्थों का सम्बन्ध भी छूट गया है, वह जीव अन्तरात्मा है। अब उसे उन पदार्थों के साथ रागवाला सम्बन्ध रहेगा नहीं। स्वयं ज्ञाता और वे पदार्थ ज्ञेय, ऐसा ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध रहेगा, इसलिए धर्मी जीव को परपदार्थों के त्याग का उपचार आता है। इसलिए धर्मात्मा के लिये पदार्थ का त्याग व्यवहार से सफल कहलाता है। अज्ञानी को परपदार्थ के ऊपर दृष्टि है। एकत्वबुद्धिसहित राग वर्तता है, इसलिए उसे ज्ञानज्ञेयसम्बन्ध नहीं, इसलिए कदाचित् उसे पदार्थ छूटे हों तो भी उसे पदार्थ के त्याग का उपचार भी नहीं आता है।

ध्यान : आत्मा के स्वरूप को समझे बिना ध्यान में बैठ जाये, वह कहीं ध्यान नहीं है। पर से तथा राग से अपना आत्मा भिन्न है, ऐसा भान करके अन्तर में एकाग्र हो, उसे ध्यान कहते हैं। जो जीव ऐसा वस्तुस्वरूप मानते नहीं और स्वरूप का विरोध करते हैं, वे धीरे-धीरे एकेन्द्रिय हो जानेवाले हैं। लोगों को चैतन्य चमत्कार की महिमा नहीं आती, इसलिए पर का चमत्कार भासित होता है। अज्ञानी जीव दीनता करता है। कोई हमारी मुक्ति कर दे, ऐसा माने उन जीवों को ध्यान नहीं होता। अनन्त आत्मा प्रभु है, अर्थात् कि सामर्थ्यवाले हैं। अनन्त परमाणु भी स्वतन्त्र शक्तिवाले जड़प्रभु हैं। उन प्रत्येक से मैं भिन्न हूँ, ऐसे भान बिना अज्ञानी को शरीर की क्रिया का तथा शुभराग का अहंकार वर्तता है। उसे ध्यान नहीं होता।

कितने ही जीव ध्यान में आनन्द मानते हैं। परन्तु वह यथार्थ नहीं हैं। सातावेदनीय प्रकृति के निमित्त से जो साता वेदन में आती है, उसे वे आत्मा का आनन्द मानते हैं और उसे ध्यान मानते हैं। वे अज्ञानी हैं। सच्चे तत्त्व की दृष्टिपूर्वक एकाग्रता, वह ध्यान है। अज्ञानी जीवों का ध्यान धर्म के लिये निष्फल है और भटकने के लिये सफल है।

प्रवचनसार में भी बात आती है कि धर्मी जीवों की क्रिया संसार के लिये अफल है अर्थात् कि उनको संसार का फल नहीं होता और मिथ्यादृष्टि की क्रिया भटकने के लिये सफल है।

वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण ११, सोमवार

यह निर्जरातत्त्व की बात चलती है। कुदेव-कुगुरु आदि से सुदेव-सुगुरु इत्यादि भिन्न हैं, ऐसा भी जिसे भान नहीं, उसे धर्म नहीं होता। कुदेवादि अधर्म के आयतन हैं, सुदेवादि धर्म के आयतन हैं, जिसे ऐसा भेद भासित नहीं होता, उसे पुण्य-पाप से रहित शुद्ध आत्मा है, ऐसा भेदज्ञान नहीं हो सकेगा। किसका विनय करना, किसकी सेवा करना इत्यादि बात भी इसमें आ जाती है। कुदेवादि का राग छोड़ा है और सुदेवादि की श्रद्धा करके उनका भी राग छोड़कर आत्मा की श्रद्धा करके लीनता करे, उसे निर्जरा होती है। उसमें बारह प्रकार के तप की बात की। इच्छा का निरोध, वह तप है। वह निरोध कब होता है ? चैतन्यस्वभाव में इच्छा नहीं, क्योंकि इच्छा विकार है। विकाररहित शुद्ध आत्मा के आश्रय से शुद्ध उपयोग होना, वह भावनिर्जरा है। बारह प्रकार के तप से बहुत कर्मों की निर्जरा होती है, इसलिए निश्चित होता है कि अनेक कर्मों की शक्ति गलाने में समर्थ बारह प्रकार के तपों से जो शुद्ध उपयोग बढ़ता है, वह भावनिर्जरा है। चैतन्य के आश्रय से शुभाशुभरूप अशुद्धता का नाश होता है और शुद्धता की वृद्धि होती है, वह निर्जरा है। अकेले व्रत, तप करे और राग मन्दता करे तो पुण्य होता है परन्तु उसे धर्म माने तो मिथ्यात्व का पाप बँधता है, उसे निर्जरा नहीं होती। आत्मा चिदानन्द शान्तस्वरूप है, उसके आश्रय से शान्ति प्रगट होने पर पुराने कर्म विपाक देकर खिर जाते हैं, उसे द्रव्यनिर्जरा कहते हैं। ●●

गाथा - १४५

जो संवरेण जुतो अप्पट्ठपसाधगो हि अप्पाणं ।
मुणिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं।। १४५ ।।

यः संवरेण युक्तः आत्मार्थप्रसाधको ह्यात्मानम् ।
ज्ञात्वा ध्यायति नियतं ज्ञानं स संधुनोति कर्मरजः।। १४५।।

मुख्यनिर्जराकारणोपन्यासोऽयम् ।

यो हि संवरेण शुभाशुभपरिणामपरमनिरोधेन युक्तः परिज्ञातवस्तुस्वरूपः परप्रयोजनेभ्यो व्यावृत्तबुद्धिः केवलं स्वप्रयोजनसाधनोद्यतमनां आत्मानं स्वोपलम्भेनोपलभ्य गुणगुणिनोर्वस्तुत्वेनाभेदात्तदेव ज्ञानं स्वं स्वेनाविचलितमनास्सञ्चेतयते स खलु नितान्तनिस्सस्नेहः प्रहीणस्नेहाभ्यङ्गपरिष्वङ्गःशुद्धस्फटिकस्तम्भवत् पूर्वोपात्तं कर्मरजः संधुनोति । एतेन निर्जरामुख्यत्वे हेतुत्वं ध्यानस्य द्योतितमिति ।। १४५ ।।

आत्मानुभव युत आचरण से ध्यान आत्मा का धरें।
वे तत्त्वविद संवर सहित हो कर्म रज को निर्जरें।।१४५।।

अन्वयार्थ :— [संवेरण युक्तः] संवर से युक्त ऐसा, [यः] जो जीव, [आत्मार्थ प्रसाधकः हि] वास्तव में आत्मार्थ का प्रसाधक (स्वप्रयोजन का प्रकृष्ट साधक) वर्तता हुआ, [आत्मानम् ज्ञात्वा] आत्मा को जानकर (-अनुभव करके), [ज्ञानं नियतं ध्यायति] ज्ञान को निश्चलरूप से ध्याता है। [सः] वह [कर्मरजः] कर्मरज को [संधुनोति] खिरा देता है।

टीका :— यह, निर्जरा के मुख्य कारण का कथन है।

संवर से अर्थात् शुभाशुभपरिणाम के परम निरोध से युक्त ऐसा जो जीव, वस्तुस्वरूप को (हेय-उपादेय तत्त्व को) बराबर जानता हुआ परप्रयोजन से जिसकी बुद्धि [१]व्यावृत्त हुई और केवल स्वप्रयोजन साधने में जिसका [२]मन [३]उद्यत हुआ है ऐसा

---

१. व्यावृत्त होना = निवर्तना; निवृत्त होना; विमुख होना।
२. मन = मति; बुद्धि; भाव; परिणाम।
३. उद्यत होना = तत्पर होना; लगना; उद्यमवन्त होना; मुड़ना; ढ़लना।

वर्तता हुआ, आत्मा को स्वोपलब्धि से उपलब्ध करके (-अपने स्वानुभव द्वारा अनुभव करके), गुण-गुणी का वस्तुरूप से अभेद होने के कारण उसी [१]ज्ञान को—स्व को—स्व द्वारा अविचलपरिणतिवाला होकर संचेतता है, वह जीव वास्तव में अत्यन्त [२]निःस्नेह वर्तता हुआ—जिसको [३]स्नेह के लेप का संग प्रक्षीण हुआ है, ऐसे शुद्ध स्फटिक के स्तम्भ की भाँति—पूर्वोपार्जित कर्मरज को खिरा देती है।

इससे (-इस गाथा से) ऐसा दर्शाया कि निर्जरा का मुख्य हेतु [४]ध्यान है ॥१४५॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण ११, सोमवार

अब, निर्जरा का कारण विशेषतासहित बतलाते हैं।

पर से और राग से आत्मा भिन्न है, ऐसा जिसे ज्ञान प्रगट हुआ हो, उसे कुदेवादि का राग नहीं होना चाहिए। बहुत से जीव आत्मा की बातें करते हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन में बहिरंग निमित्त जिनसूत्र हैं और अन्तरंग निमित्त (जिनसूत्र के) ज्ञायक पुरुष हैं। केवली भगवान ने कहे हुए छह द्रव्यों का स्वरूप यथार्थ कहनेवाले शास्त्र और उनका रहस्य बतलानेवाले ज्ञानी पुरुष सम्यग्दर्शन में निमित्त हैं। अज्ञानी तथा अज्ञानी की वाणी निमित्त नहीं है।

जिसे भेदज्ञान वर्तता है, वह संवर से युक्त है, वह आत्मा के स्वभाव का साधनेवाला है, वह पुरुष आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वरूप को सर्वस्व जानकर सदैव आत्मा को ध्याता है। वह कर्मरूपी धूल को उड़ाता है। शुद्ध उपयोग होने से कर्म नाश पाते हैं।

---

१. गुणी और गुण में वस्तु-अपेक्षा से अभेद है, इसलिए आत्मा कहो या ज्ञान कहो—दोनों एक ही हैं। ऊपर जिसका 'आत्मा' शब्द से कथन किया था, उसी का यहाँ 'ज्ञान' शब्द से कथन किया है। उस ज्ञान में—निजात्मा में—निजात्मा द्वारा निश्चल परिणति करके उसका संचेतन—संवेदन—अनुभवन करना, सो ध्यान है।

२. निःस्नेह =स्नेह रहित; मोहरागद्वेष रहित।

३. स्नेह= तेल; चिकना पदार्थ; स्निग्धता; चिकनापन।

४. यह ध्यान शुद्धभावरूप है।

भावार्थ : प्रथम, आत्मा पर से भिन्न बतलाते हैं। कर्मों का निरोध करके अपने स्वभाव से जो संयुक्त है, वह धर्मी है।

(१) जिन जीवों को आत्मज्ञान नहीं, वे जीव शास्त्र के अर्थ को नहीं जानते, शास्त्र बहुत पढ़े परन्तु जिसे तत्त्व का भान नहीं, उसका जानपना व्यर्थ है। सच्चे देव-गुरु क्या है, निश्चय-व्यवहार क्या है, उसका स्वरूप जाना नहीं। व्यवहार और निमित्त से धर्म मनाते हैं। बहुत से लोग उन्हें सुनने आने लगे, इसलिए अज्ञानी को ऐसा होता है कि मुझमें कुछ लगता है—ऐसे शास्त्र पठन के अभिमानी को वह पठन शत्रु समान है।

कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि सम्यग्दर्शन में निमित्त जिनवाणी और ज्ञानी पुरुष ही होते हैं, तथापि ऐसा नहीं मानते। चाहे जो शास्त्र पढ़कर बहुत उघाड़ दिखता हो, उसे उस शास्त्र का जानपना शत्रु समान है।

(२) बहुत लोग अपने को सम्मत होते हों तो अज्ञानी अभिमान करता है। बहुत हाँ पाड़ते हों, वह धर्म की परीक्षा नहीं है।

(३) और अज्ञानी दीक्षाधारी कहता है कि हमको बहुत शिष्य हुए—वह भी अभिमान किया। लाखोंपति के पुत्र हमारे पास दीक्षा लेते हैं। हमारे में कचाश हो तो दीक्षा लेने आवे? ऐसी दलील करते हैं। वह सब अभिमान है, वह शत्रु समान है।

(४) और अज्ञानी जीव तप करे परन्तु आत्मा के भान बिना वह बालतप है। उसके ऊपर महोत्सव करके अभिमान करना, वह शत्रु समान है।

(५) दया, दानादि भाव करके उनका अभिमान सेवन करे, वह वैरी समान है।

(६) जगत में यशकीर्ति मिलना और उसके कारण से अभिमान सेवन करना, वह वैरी समान है।

दूसरे उपदेश पावे तो अपने को लाभ होगा, ऐसा माननेवाले जीवों को संवर नहीं होता। उसे निर्जरा नहीं हो सकती। शरीरादि परपदार्थों की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। वैसा भान करे और अपने आत्मस्वरूप के कार्य में उद्यमी हो, उसे निर्जरा होती है। स्वयं आत्मा गुणी है और ज्ञान गुण है, ऐसे गुण-गुणी का भेद पाड़ना, वह भी राग है। निमित्त से भिन्न, पुण्य से भिन्न और गुण-गुणी के विकल्प से आत्मा भिन्न है—ऐसे

रागरहित परिपूर्ण शुद्ध आत्मा में एकाकार होकर निश्चल अनुभव करना, वह धर्म है। गुण-गुणी का भेद वर्तता है, उतना आस्रव है, परन्तु गुण-गुणी की एकता बढ़ती है, उसे निर्जरा होती है।

जिस प्रकार चिकनाईरहित शुद्ध स्फटिक स्तम्भ निर्मल है; उसी प्रकार दया, दानादि परिणाम चिकनाईवाले हैं। उनके बिना के स्फटिक जैसे शुद्ध आत्मा का अवलम्बन किया, वही ध्यान है और वह ध्यान निर्जरा का कारण है। चैतन्यस्वभाव की एकाग्रतारूप ध्यान, वह निर्जरा का कारण है।

अज्ञानी जीव ध्यान का स्वरूप समझते नहीं और जमीन से ऊँचा रहे और कोई उड़कर आवे, उसमें चमत्कार मानते हैं। परन्तु भाई! उनमें से बहुत सी बातें तो गप्प है। परन्तु कदाचित् शरीर ऊँचा रहे, उससे क्या आत्मा ऊँचा हो जाये? चील आकाश में बहुत ऊँचे उड़ते हैं, इससे कहीं ऊँचा कहलाये? शरीर की क्रिया शरीर से होती है, आत्मा उससे भिन्न है। ऐसे भावसहित परवस्तु से और राग के परिणाम से उदास होकर आत्मा में शुद्धि बढ़े, उसे निर्जरा और तप कहते हैं।

अज्ञानी जीव कहते हैं कि रोटियाँ छोड़ी, इसलिए उपवास और तप हुआ, वह भी भूल है। परपदार्थ को आत्मा छोड़ता नहीं, राग को भी वास्तव में छोड़ता नहीं। शुद्ध आत्मा का भान करके एकाग्रता करने से राग छूट जाता है, उसे तप कहते हैं।

स्वभाव में भव नहीं, ऐसे भान बिना एक भी भव घटता नहीं। रोटियाँ इत्यादि छोड़े, ऐसा जो कथन आता है, उसमें हेतु यह है कि उस समय किन पदार्थों के प्रति इच्छा छूटी, उनका ज्ञान कराते हैं। परन्तु पर के अवलम्बन से या परपदार्थ आये नहीं, इसलिए धर्म होता है, ऐसा नहीं है। शुद्ध चैतन्यस्वभाव में एकाग्रता होने से राग नहीं होता और परपदार्थ आहारादि के ऊपर लक्ष्य नहीं जाता, इसलिए इतने पदार्थ छोड़े, ऐसा उपचार धर्मी जीव के लिये है। अज्ञानी को राग के अभाव का और परवस्तु के अभाव का उपचार भी नहीं आता। ●●

गाथा - १४६

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो ।
तस्स सुहासुडहणो झाणमओ जायते अगणी ।। १४६ ।।

यस्य न विद्यते रागो द्वेषो मोहो वा योगपरिकर्म ।
तस्य शुभाशुभदहनो ध्यानमयो जायते अग्निः ।। १४६ ।।

ध्यानस्वरूपाभिधानमेतत् ।

शुद्धस्वरूपेऽविचलितचैतन्यवृत्तिर्हि ध्यानम् । अथास्यात्मलाभविधिरभिधीयते । यदा खलु योगी दर्शनचारित्रमोहनीयविपाकं पुद्गलकर्मत्वात् कर्मसु संहृत्य, तद्नुवृत्तेः व्यावृत्योपयोगम-मुह्यन्तमरज्यन्तमद्विषन्तं चात्यन्तशुद्ध एवात्मनि निष्कम्पं निवेशयति, तदास्य निष्क्रियचैतन्यरूप-स्वरूपविश्रान्तस्य वाङ्मनःकायानभावयतः स्वकर्मस्वव्यापारयतः सकलशुभाशुभकर्मेन्धन-दहनसमर्थत्वात् अग्निकल्पं परमपुरुषार्थसिद्ध्युपायभूतं ध्यानं जायते इति । तथा चोक्तम्-*''अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं । लोयंतियदेवत्तं तत्थ वुआ णिव्वुदिं जंति'' ।। ''अंतो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा । तण्णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणं खयं कुणइ''।।१४६।।

नहिं राग-द्वेष-विमोह अरु नहिं योग सेवन है जिसे।
प्रगटी शुभाशुभ दहन को, निज ध्यानमय अग्नि उसे।।१४६।।

अन्वयार्थ :— [यस्य] जिसे, [मोहः रागः द्वेषः] मोह और रागद्वेष, [न विद्यते] नहीं हैं, [वा] तथा, [योगपरिकर्म] योगों का सेवन नहीं है (अर्थात् मन-वचन-काया के प्रति उपेक्षा है), [तस्य] उसे [शुभाशुभदहनः] शुभाशुभ को जलानेवाली [ध्यानमयः अग्निः] ध्यानमय अग्नि [जायते] प्रगट होती है।

टीका :— यह, ध्यान के स्वरूप का कथन है।

शुद्ध स्वरूप में अविचलित चैतन्यपरिणति, सो यथार्थ ध्यान है। वह ध्यान प्रगट होने की विधि अब कही जाती है; जब वास्तव में योगी, दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का विपाक पुद्गलकर्म होने से उस विपाक को (अपने से भिन्न ऐसे अचेतन) कर्मों में समेटकर, तदनुसार परिणति से उपयोग को व्यावृत्त करके (-उस विपाक के अनुरूप परिणमन में से उपयोग का निवर्तन करके), मोही, रागी और द्वेषी

न होनेवाले ऐसे उस उपयोग को अत्यन्त शुद्ध आत्मा में ही निष्कम्परूप से लीन करता है, तब उस योगी को—जो कि अपने निष्क्रिय चैतन्यरूप स्वरूप में विश्रान्त है, वचन-मन-काया को नहीं [१]भाता और स्वकर्मों में [२]व्यापार नहीं करता उसे—सकल शुभाशुभकर्मरूप ईंधन को जलाने में समर्थ होने से अग्निसमान ऐसा, [३]परमपुरुषार्थसिद्धि के उपायभूत ध्यान प्रगट होता है।

फिर कहा है कि :—

*"अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदतं।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वृदिं जंति॥"
"अंतो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।
तण्णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणं खयं कुणइ॥"

[अर्थ :— इस समय भी त्रिरत्नशुद्ध जीव (-इस काल भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीन रत्नों से शुद्ध ऐसे मुनि) आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपना तथा लौकान्तिक-देवपना प्राप्त करते हैं और वहाँ से चयकर (मनुष्यभव प्राप्त करके) निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

श्रुतियों का अन्त नहीं है (-शास्त्रों का पार नहीं है), काल अल्प है और हम [४]दुर्मेध हैं; इसलिए वही मात्र सीखनेयोग्य है कि जो जरा-मरण का क्षय करे।]

---

१. भाना=चिन्तवन करना; ध्याना; अनुभवन करना।

२. व्यापार = प्रवृत्ति।[स्वरूपविश्रान्त योगी को अपने पूर्वोपार्जित कर्मों में प्रवर्तन नहीं है, क्योंकि वह मोहनीयकर्म के विपाक को अपने से भिन्न-अचेतन-जानता है तथा उस कर्मविपाक के अनुरूप परिणमन से उसने उपयोग को विमुख किया है।]

३. पुरुषार्थ = पुरुष का अर्थ; पुरुष का प्रयोजन; आत्मा का प्रयोजन; आत्मप्रयोजन। [परमपुरुषार्थ अर्थात् आत्मा का परम प्रयोजन मोक्ष है और वह मोक्ष ध्यान से सधता है, इसलिए परमपुरुषार्थ की (-मोक्ष की) सिद्धि का उपाय ध्यान है।]

* इन दो उद्धृत गाथाओं में से पहली गाथा श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत, मोक्षप्राभृत की है।

४. दुर्मेध=अल्पबुद्धिवाले; मन्दबुद्धि; ठोट।

भावार्थ :— निर्विकार निष्क्रिय चैतन्यचमत्कार में निश्चल परिणति, वह [१]ध्यान है। यह ध्यान मोक्ष के उपायरूप है।

जिस प्रकार थोड़ी-सी भी अग्नि बहुत-से घास और काष्ठ की राशि को अल्प काल में जला देती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व-कषायादि विभाव के परित्यागस्वरूप महा पवन से प्रज्वलित हुई और अपूर्व-अद्भुत-परम-आह्लादात्मक सुखस्वरूप घृत से सिंची हुई निश्चल-आत्मसंवेदनरूप ध्यानाग्नि मूलोत्तरप्रकृति-भेदवाले कर्मरूपी ईंधन की राशि को क्षणमात्र में जला देती है।

इस पंचम काल में भी यथाशक्ति ध्यान हो सकता है। इस काल में जो विच्छेद है, सो शुक्लध्यान का है, धर्मध्यान का नहीं। आज भी यहाँ से जीव धर्मध्यान करके देव का भव और फिर मनुष्य का भव पाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं और बहुश्रुतधर ही ध्यान कर सकते हैं, ऐसा भी नहीं है; सारभूत अल्प श्रुत से भी ध्यान हो सकता है। इसलिए मोक्षार्थियों को शुद्धात्मा का प्रतिपादक, संवर-निर्जरा का करनेवाला तथा जरामरण का हरनेवाला सारभूत उपदेश ग्रहण करके ध्यान करनेयोग्य है।

[यहाँ वह लक्ष में रखनेयोग्य है कि उपरोक्त ध्यान का मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के बिना ध्यान नहीं होता, क्योंकि निर्विकार निष्क्रिय चैतन्यचमत्कार की (शुद्धात्मा की) सम्यक् प्रतीति बिना उसमें निश्चल परिणति कहाँ से हो सकती है ? इसलिए मोक्ष के उपायभूत ध्यान करने की इच्छा रखनेवाले जीव को प्रथम तो जिनोक्त द्रव्यगुणपर्यायरूप वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझपूर्वक निर्विकार निष्क्रिय चैतन्यचमत्कार की सम्यक् प्रतीति का सर्व प्रकार से उद्यम करनेयोग्य है; उसके पश्चात् ही उस चैतन्यचमत्कार में विशेष लीनता का यथार्थ उद्यम हो सकता है]॥१४६॥

इस प्रकार निर्जरा पदार्थ का व्याख्यान समाप्त हुआ।

---

१. मुनि को जो शुद्धात्मस्वरूप का निश्चल उग्र आलम्बन वर्तता है, उसे यहाँ मुख्यतः 'ध्यान' कहा है। (शुद्धात्मावलम्बन की उग्रता को मुख्य न करें तो, अविरत सम्यग्दृष्टि को भी 'जघन्य ध्यान' कहने में विरोध नहीं है, क्योंकि उसे भी शुद्धात्मस्वरूप का जघन्य आलम्बन तो होता है।)

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण ११, सोमवार

अब, ध्यान का स्वरूप कहते हैं।

जिस जीव को राग-द्वेष-मोह अथवा तीन योगों का परिणमन नहीं, उस जीव को शुभ-अशुभभाव को नाश करनेवाली ध्यानस्वरूप अग्नि प्रगट होती है। जो जीव अपने ज्ञानस्वरूप में जुड़कर राग-द्वेष उत्पन्न नहीं करता, उसे शुभाशुभभावों का नाश होता है।

भावार्थ : जो जीव परमात्मस्वरूप में अडोल है, वह जीव ध्यान करनेवाला है। जिस जीव का उपयोग शुभाशुभभावों में जाता नहीं, परमात्मस्वभाव में स्थिर हो गया है, उसे धर्म होता है। आत्मा के भान बिना पुण्य परिणाम करके अनन्त बार ग्रैवेयक तक गया परन्तु सुख को पाया नहीं। यहाँ तो आत्मा का भान करके ध्यान करनेवाले को स्वरूप की प्राप्ति किस प्रकार होती है, यह कहते हैं।

जब वह योगीश्वर अर्थात् स्वरूप में एकाग्रता करनेवाला सन्त मुनि अनादि की मिथ्यावासना को संकोचकर अपने स्वरूप में लाता है, तब उसे ध्यान उत्पन्न होता है। बाहर के झुकाव से कल्याण होगा, यह मिथ्यावासना है। जो उपयोग मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र में वर्तता था, उसे स्वपुरुषार्थ करके अपनी ओर लाता है। पहले शुभाशुभ थे और उन्हें संकोचना, ऐसा अर्थ नहीं। स्वभाव-सन्मुख झुकने पर वे उत्पन्न नहीं होते, उसे संकोच किया, ऐसा कहा जाता है।

सम्यग्दर्शन होने पर निर्जरा शुरु होती है, विशेष निर्जरा मुनि को होती है। जब तक परसन्मुख झुकाव था, तब तक उपयोग दर्शन-चारित्रमोहनीयकर्म के विपाक से अनेक प्रकार के कर्मों में प्रवर्तता था, वह काललब्धि पाकर अर्थात् अपना पुरुषार्थ करके अन्तर शुद्धस्वरूप में स्थिर होकर आनन्द अनुभव करता है और निर्विकल्परस का प्यासी उसमें एकाकार होता है, उसे निर्जरा होती है।

अज्ञानी जीव कहते हैं कि स्वाध्याय, वह तप है। 'णमो अरिहंताणं' शब्द

बोलना, वह भी स्वाध्याय है। स्वाध्याय से तप, तप से निर्जरा और निर्जरा से धर्म और मोक्ष होता है—ऐसा अज्ञानी मानता है। और रसपरित्याग भी तप है, इसलिए दूधादि छोड़े उसे रसपरित्याग तप है। तप से निर्जरा, निर्जरा से धर्म और धर्म से मोक्ष होता है—ऐसा अज्ञानी मानता है। क्या अनन्त काल में ऐसा नहीं किया होगा? भाई! वह सब अज्ञानभाव है। परवस्तु को आत्मा छोड़ नहीं सकता और पुण्य का राग आस्रव है। शब्द जड़ है। पाठ बोलने का भाव आस्रव है। पर में और राग में एकाग्रता करना, वह संसार है और उससे रहित स्वभाव में एकाग्रता करना, वह मुक्ति का कारण है। निमित्त में और पुण्य-पाप में एकाग्रता करना, वह आर्त और रौद्रध्यान है और स्वभाव में एकाग्रता करना, वह धर्म और शुक्लध्यान है।

इस प्रकार जो जीव आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान करके मोह-राग-द्वेषरहित शुद्धस्वरूपों को शुद्ध स्वरूप में निष्कम्परूप से स्थिर करता है, उस भेदविज्ञानी ध्यानी को स्वरूप साधक पुरुषार्थसिद्धि के परम उपायरूप ध्यान उत्पन्न होता है। आत्मा के प्रयोजन की सिद्धि का उपाय ध्यान है और उससे निर्जरा होती है।

वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण १२, मंगलवार

आत्मा की प्रतीति करके ज्ञान उपयोग को शुद्ध करना, वह निर्जरा है। जिसे आत्मा में शान्ति और सुख लगा, उसका ज्ञान अन्तर में झुकता है, परन्तु पर की दया से धर्म माने, वह अन्तर में किसलिए झुके? पर से और पैसे से धर्म होता हो तो समझने की आवश्यकता क्या? इसलिए अज्ञानी जीव बाहर में रुका करता है।

जैसे अग्नि बहुत लकड़ों के ढ़ेर को थोड़े समय में जलाकर भस्मीभूत करती है, उसी प्रकार ध्यानरूप अग्नि कर्मरूपी लकड़ों को क्षणमात्र में भस्मीभूत करती है। कैसी है ध्यानरूप अग्नि? जैसे अग्नि वायु से प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व राग-द्वेष इत्यादि विभाव का नाश किया है, ऐसे लक्षणवाले वायु से ध्यान अग्नि प्रज्वलित होती है। तथा जैसे अग्नि में घी डालने से वह प्रज्वलित होती है; उसी प्रकार आनन्द और सुख लक्षणवाला घी ध्यान-अग्नि में डालने से वह अग्नि प्रज्वलित होती है। ध्यान

का लक्षण निश्चल आत्मा का वेदन-अनुभवन है। वह ध्यानरूपी अग्नि कर्म की मूलप्रकृति आठ और उत्तर प्रकृति १४८ को क्षणमात्र में जला डालती है। कर्म जलाती है, यह निमित्त से कथन है। अन्तर एकाग्रता होने पर अशुद्धता होती नहीं। पूर्व के कर्म खिर जाते हैं, इसलिए कर्म जलाये, ऐसा कहा जाता है।

आत्मा का भान नहीं और शास्त्र पठन से निर्जरा होती है, ऐसा माने, वह मिथ्यादृष्टि है। शास्त्र पठन का राग तो बन्ध का कारण है।

भेदविज्ञानी को रागरहित दशा वर्तती है, इसलिए वह निष्क्रिय है और अपने में शुद्धता के परिणाम होते हैं, इसलिए सक्रिय है। इस प्रकार निष्क्रिय चैतन्यस्वरूप में स्थिरता वर्तती है, वह ध्यान है।

जीव ने अनादि काल से राग का पक्ष लिया है। व्यवहार का, राग का और निमित्त का पक्ष लिया है, इसलिए संसार चला आता है, परन्तु राग बिना के शुद्ध आत्मा के पक्ष बिना सच्ची समझण होती नहीं और धर्म प्रगट होता नहीं।

भेदविज्ञानी जीव मन-वचन-काया की क्रिया की भावना नहीं भाता। मन-वचन-काया तो जड़ है, उनकी क्रिया उनके आधीन है और उसके लक्ष्य से होनेवाले राग की भी भावना ज्ञानी भाता नहीं। और ध्यान करनेवाला जीव कर्मकाण्ड में प्रवर्तता नहीं। दया, दान, यात्रा, बारह प्रकार के तप का विकल्प उठना, वह सब कर्मकाण्ड है। उसमें ध्यानी पुरुष प्रवर्तता नहीं, परन्तु शरीर से तथा पुण्य-पाप से भिन्न हूँ, ऐसा ज्ञान समस्त शुभाशुभकर्म ईंधन को जला डालने में समर्थ है। ऐसे ज्ञानकाण्डवाला ध्यान का अनुभवी होता है, इसलिए वह परमात्मपद को पाता है।

ज्ञान का उघाड़ थोड़ा हो तो भी वह ज्ञान आत्मा की ओर झुकने से केवलज्ञान प्रगट होता है और जन्म-मरण का नाश होता है।

चश्मा से ज्ञान होता है, ऐसा माननेवाला अज्ञानी जीव पर से भिन्न पड़ता नहीं तो वह राग-द्वेष से तो भिन्न कैसे हो सकेगा? हो ही नहीं सकेगा। और संसार में पूँजी न हो परन्तु इज्जत (साख) हो तो भी धन्धा का व्यापार चलता है, उसी प्रकार धर्मी जीव को पूर्ण ज्ञानलक्ष्मी की पूँजी न हो परन्तु नौ तत्त्व का प्रयोजनभूत ज्ञान हो तो भी वह

बढ़कर उस भव में अथवा एकाध भव बाद भी परमात्मदशा को पाता है।

अभी तो जीवों को बाह्यप्रवृत्ति बहुत बढ़ गयी है। बुद्धि थोड़ी, काल थोड़ा और बाहर में रुकते हैं, परन्तु निवृत्ति नहीं लेते। यहाँ कहते हैं कि पर के कार्य करने के अहंकार का बोझा सिर पर रखा करता है, उस बोझा से एक बार हलका तो हो! एक बार पर के साथ का, शरीर तथा कर्म इत्यादि के साथ की एकत्वबुद्धि का बोझा हल्का कर। उसके बिना अन्तर्मुख झुका जाये, ऐसा नहीं है, उसके बिना धर्मध्यान नहीं होता। मिथ्यात्व गये बिना प्रतिक्रमण होता नहीं और निर्जरा होती नहीं।

अज्ञानी जीव चाहे जैसी प्ररूपणा करता हो तो भी धर्मी जीव उसका सच्चा नहीं मानता। कोई बहुरूपी अलग-अलग वेश धारण करे तो चतुर मनुष्य समझता है कि यह तो वेशधारी है। उसी प्रकार अज्ञानी जोर से प्ररूपणा करे कि व्यवहार करते-करते धर्म होगा और इसके लिये दृष्टान्त दे तो भी धर्मी जीव समझता है कि उसकी प्ररूपणा खोटी है। वह वेशधारी है। यथार्थ ज्ञानी नहीं।

प्रवचनसार के परिशिष्ट में बात आयी थी कि क्रियाकाण्ड से अर्थात् कि देव-गुरु -शास्त्र के प्रति राग से ज्ञानकाण्ड प्रचण्ड होता है अर्थात् कि आत्मा का ज्ञान होता है। अज्ञानी अर्थ समझता नहीं और उसका आधार दे तो धर्मी समझता है कि ये निमित्त के कथन हैं। देव-गुरु-शास्त्र के प्रति के राग का अभाव करके ज्ञानकाण्ड होता है, ऐसा कहने का भाव है, परन्तु शुभराग हो तो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति का ही होता है परन्तु कुदेवादि का नहीं होता, ऐसा बतलाने के लिये क्रियाकाण्ड से ज्ञानकाण्ड होता है, ऐसा कहा है। यह व्यवहारनय का कथन है, ऐसा ज्ञानी समझता है। यहाँ तो स्पष्ट बात की है कि जो जीव शुभाशुभभावोंरूपी कर्मकाण्ड में प्रवर्तता नहीं, परन्तु शुद्ध आत्मा में लीन होकर ज्ञानकाण्ड में अर्थात् शुद्धता में प्रवर्तता है, उसे परमात्मपद की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार निर्जरा पदार्थ का व्याख्यान पूरा हुआ। ●●

गाथा - १४७

अथ बन्धपदार्थव्याख्यानम् ।

जं सुहमसुहमुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा।
सो तेह हवदि बद्धो पोग्गलकम्मेण विविहेण।।१४७।।

यं शुभमशुभमुदीर्णं भाव रक्तः करोति यद्यात्मा।
स तेन भवति बद्धः पुद्गलकर्मणा विविधेन।।१४७।।

बन्धस्वरूपाख्यानमेतत् ।

यदि खल्वयमात्मा परोपाश्रयेणानादिरक्तः कर्मोदयप्रभावत्वादुदीर्णं शुभमशुभं वा भावं करोति, तदा स आत्मा तेन निमित्तभूतेन भावेन पुद्गलकर्मणा विविधेन बद्धो भवति । तदत्र मोहरागद्वेषस्निग्धः शुभोऽशुभो वा परिणामो जीवस्य भावबन्धः, तन्निमित्तेन शुभाशुभकर्मत्व-परिणतानां जीवेन सहान्योन्यमूर्च्छनं पुद्गलानां द्रव्यबन्ध इति ।। १४७ ।।

आतमा यदि मलिन हो करता शुभाशुभभाव को।
तो विविध पुद्गल कर्म द्वारा प्राप्त होता बन्ध को।।१४७।।

अन्वयार्थ :— [यदि] यदि, [आत्मा] आत्मा, [रक्तः] रक्त (विकारी) वर्तता हुआ, [उदीर्ण] उचित, [यम् शुभम् अशुभम् भावम्] शुभ या अशुभभाव को [करोति] करता है, तो [सः] वह आत्मा [तेनः] उस भाव द्वारा (-उस भाव के निमित्त से) [विविधेन पुद्गलकर्मणा] विविध पुद्गलकर्मों से [बद्धः भवति] बद्ध होता है।

टीका :- यह, बन्ध के स्वरूप का कथन है।

यदि वास्तव में यह आत्मा अन्य के (-पुद्गलकर्म के) आश्रय द्वारा अनादि काल से रक्त रहकर कर्मोदय के प्रभावयुक्तरूप वर्तने से उदित (-प्रगट होनेवाले) शुभ या अशुभभाव को करता है, तो वह आत्मा उस निमित्तभूत भाव द्वारा विविध पुद्गलकर्म से बद्ध होता है। इसलिए यहाँ (ऐसा कहा है कि), मोहरागद्वेष द्वारा स्निग्ध ऐसे जो जीव के शुभ या अशुभपरिणाम, वह भावबन्ध है और उनके (-शुभाशुभ-परिणाम के) निमित्त से शुभाशुभकर्मरूप परिणत पुद्गलों का जीव के साथ अन्योन्य अवगाहन (-विशिष्ट शक्तिसहित एकक्षेत्रावगाहसम्बन्ध), वह द्रव्यबन्ध है।।१४७।।

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण १२, मंगलवार

अब, बन्ध पदार्थ का व्याख्यान किया जाता है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, उसे चूककर अज्ञानभाव करके पुण्य-पाप के परिणाम होते हैं, वह भावबन्धन है, वह विकारी परिणाम है। उसके निमित्त से जड़कर्म बँधते हैं, वह द्रव्यबन्ध है। अशुद्ध निश्चयनय से राग-द्वेष करता है, वह भावबन्ध है और उसके निमित्त से द्रव्यकर्म बँधते हैं, इसलिए आत्मा द्रव्यकर्म बाँधता है, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

भावार्थ : आत्मा पर के सम्बन्ध से अनादि अविद्या से मोही होकर कर्म के उदय के निमित्त से शुभाशुभभाव करता है। जीव और कर्म के बीच अत्यन्त अभाव है। परन्तु अपने स्वभाव को चूककर पर में सावधान हुआ और निमित्त के झुकाव में गया, वह भावबन्ध है। उस समय अशुद्ध उपादान योगरूप भाव का निमित्त पाकर पौद्गलिक कर्मों से बँधता है। निमित्त पाकर अर्थात् पहले निमित्त और बाद में उपादान, ऐसा इसका अर्थ नहीं है। जिस समय में अपने अज्ञान राग-द्वेष के कारण से बँधा, उस समय ही पुद्गलकर्मों से व्यवहार से बँधा है। कर्मरूप से परिणमने के योग्य परमाणु कर्मरूप से परिणमकर द्रव्यबन्ध होता है।

कोई **पूछे** कि सिद्ध को कर्म क्यों नहीं बँधते, सिद्ध को राग-द्वेष नहीं इसलिए?

समाधान : वहाँ परमाणु कर्मरूप से परिणमने की योग्यवाले सिद्ध के पास नहीं होते, इसलिए बँधते नहीं। राग-द्वेष नहीं, इसलिए बँधते नहीं, ऐसे परमाणु पराधीन नहीं हैं। कर्मों की योग्यतावाले परमाणु रागी जीव के साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध धराते हैं। आत्मा में शुभाशुभभावरूप चिकनाहट है, उसका नाम भावबन्ध है। उसका निमित्त पाकर शुभ-अशुभरूप कर्म होने के योग्य परमाणु का जीव के प्रदेशों के साथ परस्पर बन्ध होता है, उसका नाम द्रव्यबन्ध है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है।

यदि कोई जीव को द्रव्यबन्ध निश्चय से माने तो वह बन्ध को जानता नहीं और

जीव ने भावकर्म किये, इसलिए परमाणु को बँधना पड़ता है, ऐसा माने तो वह भी बन्ध को जानता नहीं। कर्म भावबन्ध अथवा विकार करावे, ऐसा माने तो वह भी बन्ध को जानता नहीं। जीव अपने में राग-द्वेष करे, वह भावबन्ध है, उसका निमित्त पाकर परमाणु स्वयं कर्मरूप से बँधते हैं, वह द्रव्यबन्ध है।

इस प्रकार बन्ध का स्वरूप न समझे, उसे नौ तत्त्व का ज्ञान सच्चा होता नहीं और धर्म होता नहीं।

वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण १३, बुधवार

राग-द्वेषादि के परिणाम होना, वह भावबन्ध है। उस समय कर्म स्वयं बँधते हैं, वह द्रव्यबन्ध है। जड़कर्म थे तो विकार हुआ, ऐसा माने तो वह बन्ध को समझता नहीं और भावबन्ध के कारण द्रव्यबन्ध हुआ, ऐसा भी नहीं। किसी के कारण से कोई नहीं है, प्रत्येक स्वतन्त्र है। मिथ्याभ्रान्ति, राग-द्वेषादि के परिणाम भावबन्ध है, उसका निमित्त पाकर कर्मों का बँधना, वह द्रव्यबन्ध है। पूर्वकर्म निमित्त और भावबन्ध नैमित्तिक है और भावबन्ध निमित्त और द्रव्यबन्ध नैमित्तिक है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध स्वतन्त्र है। ●●

लोकोत्तर मुनिदशा

इतनी पाठशालाओं में एक घण्टे तक तो पढ़ाना ही होगा, पाठशाला अथवा मन्दिर के लिए इतने रुपयों का चन्दा तो करना ही पड़ेगा, व्याख्यान भी देना होगा, पत्रों में लेख छपवाना पड़ेंगे - अरे! यह सब मुनिदशा का काम नहीं है। मुनि की दशा ही कोई लोकोत्तर होती है। मुनिदशा तो कार्य के भाररहित, मात्र निज ज्ञायकतत्त्व में ही लीन, अपने ज्ञान-आनन्दादि गुणों में ही रमणशील तथा निरावलम्बन स्वभाववाली होती है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/३५८

गाथा - १४८

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो।।१४८।।

योगनिमित्तं ग्रहणं योगो मनोवचनकायसम्भूतः।
भावनिमित्तो बन्धो भावो रतिरागद्वेषमोहयुतः।।१४८।।

बहिरङ्गान्तरङ्गबन्धकारणाख्यानमेतत् ।

ग्रहणं हि कर्मपुद्गलानां जीवप्रदेशवर्तिकर्मरस्कन्धानुप्रवेशः । तत् खलु योगनिमित्तम् । योगो वाङ्मनःकायकर्मवर्गणालम्बन आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः । बन्धस्तु कर्मपुद्गलानां विशिष्टशक्ति-परिणामेनवस्थानम् । स पुनर्जीवभावनिमित्तः । जीवभावः पुना रतिरागद्वेषमोहयुतः, मोहनीयविपाकसम्पादितविकार इत्यर्थः । तदत्र पुद्गलानां ग्रहणहेतुत्वाद्बहिरंगकारणं योगः विशिष्टशक्तिस्थितिहेतुत्वादन्तरङ्गकारणं जीवभाव एवेति ।। १४८ ।।

है योग हेतुक कर्म आस्रव योग तन-मन जनित हैं।
है भाव हेतुक बन्ध अर भाव रतिरुष सहित है।।१४८।।

अन्वयार्थ :— [योगनिमित्तं ग्रहणम्] ग्रहण का (कर्मग्रहण का) निमित्त योग है; [योगः मनोवचनकायसंभूतः] योग मनवचनकायजनित (आत्मप्रदेश-परिस्पन्द) है। [भावनिमित्तः बन्धः] बन्ध का निमित्त भाव है; [भावः रतिराग-द्वेषमोहयुतः] भाव रतिरागद्वेषमोह से युक्त (आत्म-परिणाम) है।

टीका :- यह, बन्ध के बहिरंग कारण और अन्तरंग कारण का कथन है।

ग्रहण अर्थात् कर्मपुद्गलों का जीवप्रदेशवर्ती (-जीव के प्रदेशों के साथ एक क्षेत्र में स्थित) कर्मस्कन्धों में प्रवेश; उसका निमित्त योग है। योग अर्थात् वचनवर्गणा, मनोवर्गणा, कायवर्गणा और कर्मवर्गणा का जिसमें आलम्बन होता है, ऐसा आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द (अर्थात् जीव के प्रदेशों का कम्पन)।

बन्ध अर्थात् कर्मपुद्गलों का विशिष्ट शक्तिरूप परिणामसहित स्थित रहना (अर्थात् कर्मपुद्गलों का अमुक अनुभागरूप शक्तिसहित अमुक काल तक टिकना); उसका निमित्त जीवभाव है। जीवभाव रतिरागद्वेषमोहयुक्त (परिणाम) है अर्थात् मोहनीय के विपाक से उत्पन्न होनेवाला विकार है।

इसलिए यहाँ (बन्ध में), बहिरंग कारण (-निमित्त) योग है क्योंकि वह पुद्गलों के ग्रहण का हेतु है, और अन्तरंग कारण (-निमित्त) जीवभाव ही है क्योंकि वह (कर्मपुद्गलों की) विशिष्ट शक्ति तथा स्थिति का हेतु है।

भावार्थ :- कर्मबन्ध पर्याय के चार विशेष हैं : प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध। इसमें स्थिति-अनुभाग ही अत्यन्त मुख्य विशेष हैं, प्रकृति-प्रदेश तो अत्यन्त गौण विशेष हैं; क्योंकि स्थिति-अनुभाग के बिना कर्मबन्धपर्याय नाममात्र ही रहती है। इसलिए यहाँ प्रकृति-प्रदेशबन्ध का मात्र 'ग्रहण' शब्द से कथन किया है और स्थिति-अनुभागबन्ध का ही 'बन्ध' शब्द से कहा है।

जीव के किसी भी परिणाम में वर्तता हुआ योग, कर्म के प्रकृति-प्रदेश का अर्थात् 'ग्रहण' का निमित्त होता है और जीव के उसी परिणाम में वर्तता हुआ मोहरागद्वेषभाव, कर्म के स्थिति-अनुभाग का अर्थात् 'बन्ध' का निमित्त होता है; इसलिए मोहरागद्वेषभाव को 'बन्ध' का अन्तरंग कारण (अन्तरंग निमित्त) कहा है और योग को—जो कि 'ग्रहण' का निमित्त है उसे—'बन्ध' का बहिरंग कारण (बाह्य निमित्त) कहा है॥१४८॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण १३, बुधवार

अब, बन्ध का बहिरंग और अन्तरंग स्वरूप कहते हैं।

जड़कर्म बँधते हैं, वे उनकी योग्यता से बँधते हैं, उसके दो कारण हैं। अन्तरंग और बहिरंग। योग को बहिरंगकारण कहते हैं और राग-द्वेष को अन्तरंगकारण कहते हैं। जीव, अजीव इत्यादि नौ पदार्थ पृथक्-पृथक् है। पृथक् न हो तो नौ नहीं रहते। सिद्ध को द्रव्यकर्म क्यों नहीं होते? उसका कोई ऐसा जवाब दे कि सिद्ध को विकार नहीं है इसलिए। तो वह बराबर नहीं है। ऐसा माना जाये तो कर्ता-कर्मसम्बन्ध हो जाता है। वहाँ कर्म होने के योग्य परमाणु नहीं है, इसलिए कर्म नहीं होते और जीव की अविकारी दशा निमित्त है और कर्म होते हैं, उसमें विकारीदशा निमित्त है। अब उसमें

दो कारण हैं। आत्मा के प्रदेशों का कम्पन होना, वह योग है। उसमें मन, वचन, काया निमित्त है। मन, वचन, काया की क्रिया, वह योग नहीं, परन्तु प्रदेशों का कम्पन होना, वह योग है। वह योग नये कर्म आवें, उनमें बहिरंगकारण है और मोह-राग-द्वेष नये कर्म में अन्तरंगकारण है।

एक माँ को दो साथ में जन्मी हुई पुत्रियाँ हों तो भी एक-दूसरे के अन्तर से भिन्न-भिन्न परख लेते हैं। पृथक्ता का ज्ञान वर्तता है, उसी प्रकार आत्मा में योग का कम्पन और कषाय एक समय में होते हैं, तथापि दोनों का कार्य भिन्न है।

योग का निमित्त पाकर कर्म पुद्गल जीव के प्रदेशों में परस्पर एकक्षेत्रावहगाहरूप से ग्रहण होते हैं। योग, वह मन-वचन-काया की क्रिया से उत्पन्न होता है, इसका अर्थ यह है कि जब प्रदेशों के कम्पन में मन निमित्त हो तो मनोयोग कहलाता है; वचन निमित्त हो तो वचनयोग कहलाता है; काया निमित्त हो तो काययोग कहलाता है। इस प्रकार मन-वचन-काया के निमित्त से जो कम्पन होता है, उसके कारण से कर्म के परमाणु आते हैं और कर्म की प्रकृतियाँ बँधती हैं। उस योग को बहिरंगकारण कहा है और मोह-राग-द्वेष को अन्तरंगकारण कहा है।

प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है, किसी के कारण से कोई भटकता नहीं। सुदृष्टितरंगिणी में कथन आता है कि गिरिगुफा में छह वीतरागी मुनि ध्यान में बैठे हों, उसमें किसी को विकल्प आवे और बाहर आ जायें तो दूसरे को उसकी पड़ी नहीं होती। सब अपने-अपने में लवलीन हैं। उसी प्रकार जगत के छह द्रव्य वीतरागी मुनि जैसे हैं, अपने-अपने से काम कर रहे हैं। जीव राग-द्वेष करता है, वह स्वयं से करता है और कर्म भी स्वयं अपने कारण से बँधते हैं। दोनों एक समय में हैं तो भी चैतन्य को पड़ी नहीं कि कैसे कर्म बँधते हैं तथा जड़ को पड़ी नहीं कि चैतन्य कैसा विकार करता है। दोनों स्वतन्त्र है। यहाँ द्रव्यबन्ध में निमित्तकारण बतलाते हैं। द्रव्यकर्म बँधते हैं, वे अपनी योग्यता से बँधते हैं। उस बन्धन का मूल कारण योग नहीं, इसलिए उसे बहिरंगकारण कहा और मिथ्याभ्रान्ति राग-द्वेषादि अशुद्धोपयोग अन्तरंगकारण है। इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में रति-राग-द्वेष-मोह, वह अन्तरंगकारण है। परवस्तु अनुकूल या प्रतिकूल नहीं, परन्तु

यह अनुकूल है और यह प्रतिकूल है, ऐसा मोह-राग-द्वेष, वह भावबन्ध है। वह अन्तरंगकारण है।

नियमसार में कहा है कि सम्यग्दर्शन होने में जिनसूत्र तो बहिरंग कारण है और ज्ञानी पुरुष, वह अन्तरंगकारण है। वहाँ सम्यग्दर्शन होने में वास्तव में अन्तरंग अथवा उपादानकारण तो शिष्य का आत्मा ही है और अपने कारण से ही सम्यग्दर्शन पाता है। अन्तरंग उपादानकारण तो स्वयं ही है और वाणी तथा ज्ञानी पुरुष दोनों बाह्य निमित्तकारण हैं, तथापि दो निमित्तकारणों में अन्तर—भेद बतलाने तथा ज्ञानी पुरुष के निमित्तपने को वजन देने के लिये ज्ञानी पुरुष को अन्तरंग कारण कहा और वाणी को बाह्यकारण कहा।

उसी प्रकार यहाँ भी कर्म के परमाणु बँधते हैं, उसमें अन्तरंगकारण तो वे परमाणु स्वयं ही हैं। बाह्यकारण के कारण परमाणु बँधते नहीं, परन्तु उनमें दो निमित्त होते हैं। (१) जीव के मोह-राग-द्वेष और (२) योग। ऐसे दोनों एक साथ हैं, तथापि दोनों निमित्तकारणों में अन्तर बतलाने और जीव के मोह-राग-द्वेष के निमित्तपने का वजन देने के लिये उसे अन्तरंगकारण कहा और योग को बहिरंगकारण कहा है। केवली को योग होने पर भी भावमोक्ष है। उन्हें इष्ट-अनिष्ट पदार्थों के निमित्त से मोह-राग-द्वेष नहीं होते। वे पदार्थ ज्ञान का ज्ञेय है। द्रव्यकर्म का वास्तव में निमित्तकारण तो मोह-राग-द्वेष है, इसलिए उसे अन्तरंगकारण कहा है और योग को बाह्यकारण कहा है।

चारों गति दुःख का निधान है। सुख सेठाई में, स्वर्ग में, जुगलिया में, महाविदेह में नहीं है। अज्ञानी जीव पर में रुचि करके दुःखी हो रहा है। शरीर में श्वास चले, धबकारा चले, वह सब जड़ है। आत्मा उसकी अवस्था कर नहीं सकता तो भी अज्ञानी जीव मेरे मानकर विपरीत भाव करता है। जीव इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में मोह-राग-द्वेष करता है, वह कर्मबन्ध में अन्तरंगकारण है और योग बहिरंगकारण है।

भावार्थ : जीव के प्रदेशों में कर्म का आना योग द्वारा होता है। परमाणु परमाणु के कारण से आते हैं, उसमें योग निमित्त है। पूर्व में बाँधे हुए कर्मों का निमित्त पाकर आत्मा के प्रदेशों का कम्पन होता है। निमित्त कम्पन कराता नहीं। आत्मा की योग्यता के कारण से कम्पन होता है, उसमें पुराने कर्म निमित्त हैं और नये कर्म के रजकण आते हैं,

वे अपने कारण से आये हैं और जीव के प्रदेशों में बन्धरूप रहे हैं, उसे बन्ध कहते हैं। यह बन्ध मोहनीयकर्म-संयुक्त जीव के अशुद्धोपयोग बिना नहीं होता। जीव के मलिन परिणाम बिना बन्धन नहीं हो सकता। यद्यपि योग द्वारा बन्ध होता है, तथापि स्थिति-अनुभाग बिना नये कर्म नाममात्र ग्रहण होते हैं। क्योंकि बन्ध उसका नाम है कि जो स्थिति-अनुभाग विशेषतासहित है। इससे निश्चित होता है कि द्रव्यकर्म में योग बहिरंगकारण हैं और अन्तरंगकारण जीव के रागादिक भाव हैं। प्रदेश कम्पन जीव का उदयभाव है, परन्तु उसे विशेष भाव नहीं गिनकर राग-द्वेष-मोह को खास कारण कहा गया है। मोह के अभाव में योग टिकता नहीं—टल जाता है, इसलिए मोह को अन्तरंगकारण कहा है और योग को बहिरंग कारण कहा गया है। ●●

सन्तों ने किया है गजब का काम

अहो! कुन्दकुन्दस्वामी तो भगवान थे; उन्होंने तो तीर्थङ्कर जैसा कार्य किया है और अमृतचन्द्राचार्य उनके गणधर जैसे थे। सन्तों ने अजब-गजब का काम किया है। अहो! आकाशवत् निरालम्बी मुनिराज तो जैनधर्म के स्तम्भ हैं। उनकी वाणी निरालम्बी आत्मा का स्पर्श करके निकलती है। ऐसे वीतरागी सन्तों का परम हितोपदेश प्राप्त करके आत्मा को ऊर्ध्व ले जाना अर्थात् अन्तर्मुख होकर आत्मा की उन्नति करना ही जिज्ञासु आत्मार्थी का पहला कर्तव्य है।

अहा! सुख के सागर दिगम्बर सन्तों को देखते ही सर्वज्ञ की और जिनशासन की प्रतीति हो जाती है। कुन्दकुन्दाचार्य की क्या बात! उन्होंने तो तीर्थङ्करदेव और केवली भगवन्तों को साक्षात् देखा और समयसार, प्रवचनसार इत्यादि में समस्त श्रुत का रहस्य संग्रहीत करके आत्मा का साक्षात्कार कराया है। सन्त भगवन्तों द्वारा कथित श्रुत/शास्त्र अतीन्द्रिय आत्मसुख की रुचि कराकर बाह्य विषयों से विरक्त कराता है।

नमस्कार हो, श्रुत और श्रुत प्रकाशक सन्तों को।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, रत्नसंग्रह, पृष्ठ ९९

गाथा - १४९

हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं।
तेसिं पि य रागादि तेसिमभावे ण बज्झंति।।१४९।।

हेतुश्चतुर्विकल्पोऽष्टविकल्पस्य कारणं भणितम्।
तेषामपि च रागादयस्तेषामभावे न बध्यन्ते।।१४९।।

मिथ्यात्वादिद्रव्यपर्यायाणामपि बहिरणङ्गकारणद्योतनमेतत् ।

तन्त्रान्तरे किलाष्टविकल्पकर्मकारणत्वेन बन्धहेतुर्द्रव्यहेतुरूपश्चतुर्विकल्पः प्रोक्तः मिथ्यात्वासंयमकषाययोगा इति । तेषामपि जीवभावभूता रागादयो बन्धहेतुत्वस्य हेतवः, यतो रागादिभावानामभावे द्रव्यमिथ्यात्वासंयमकषाययोगसद्भावेऽपि जीवा न बध्यन्ते । ततो रागादीनामन्तरङ्गत्वान्निश्चयेन बन्धहेतुत्वमवसेयमिति ।। १४९ ।।

–इति बन्धपदार्थव्याख्यानं समाप्तम् ।

प्रकृति प्रदेश आदि चतुर्विधि कर्म के कारण कहे।
रागादि कारण उन्हें भी, रागादि बिन वे ना बंधे।।१४९।।

अन्वयार्थ :- [चतुर्विकल्पः हेतुः] (द्रव्यमिथ्यात्वादि) चार प्रकार के हेतु [अष्टविकल्पस्य कारणम्] आठ प्रकार के कर्मों के कारण [भणितम्] कहे गये हैं; [तेषाम् अपि च] उन्हें भी [रागादयः] (जीव के) रागादिभाव कारण हैं; [तेषाम् अभावे] रागादिभावों के अभाव में [न बध्यन्ते] जीव नहीं बँधते।

टीका :- यह, मिथ्यात्वादि द्रव्यपर्यायों को (-द्रव्यमिथ्यात्वादि पुद्गलपर्यायों को) भी (बन्ध के) बहिरंग-कारणपने का [१]प्रकाशन है।

ग्रन्थान्तर में (अन्य शास्त्र में) मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग इन चार प्रकार के द्रव्यहेतुओं को (द्रव्यप्रत्ययों को) आठ प्रकार के कर्मों के कारणरूप से बन्धहेतु कहे हैं। उन्हें भी बन्धहेतुपने के हेतु जीवभावभूत रागादिक हैं; क्योंकि [२]रागादिकभावों का अभाव होने से द्रव्यमिथ्यात्व, द्रव्य-असंयम, द्रव्यकषाय और

---

१. प्रकाशन=प्रसिद्ध करना; समझाना; दर्शाना।

२. जीवगत रागादिरूप भावप्रत्ययों का अभाव होने से द्रव्यप्रत्ययों के विद्यमानपने में भी जीव बँधते नहीं हैं। यदि जीवगत रागदिभावों के अभाव में भी द्रव्यप्रत्ययों के उदयमात्र

द्रव्ययोग के सद्भाव में भी जीव बँधते नहीं हैं। इसलिए रागादिभावों को अन्तरंग बन्धहेतुपना होने के कारण [३]निश्चय से बन्धहेतुपना है, ऐसा निर्णय करना॥१४९॥

इस प्रकार बन्धपदार्थ का व्याख्यान समाप्त हुआ।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण १३, बुधवार

अब, द्रव्यमिथ्यात्वादि बन्ध के बहिरंगकारण कहे हैं।

यह गाथा समयसार गाथा १७८ जैसी है।

पुराने द्रव्यकर्म–द्रव्यमिथ्यात्व, असंयम, कषाय, योग, वे नये आठ कर्मों में भी निमित्तकारण होते हैं। मोहनीयकर्म और नामकर्म नये आठ कर्मों का कारण होते हैं। चार प्रत्ययों का कारण जीव के मोह–राग–द्वेषादि विभावभाव हैं। जीव के विभावभाव न हो तो पुराने कर्म के उदय को निमित्त नहीं कहा जाता। मोह–राग–द्वेष के निमित्त से नये कर्म बँधते हैं, उनका विनाश होने से नये कर्म नहीं बँधते।

जीव अपने स्वभाव को चूकता है। पर में सुखबुद्धि करके मोह–राग–द्वेष करता है, इसलिए पुराने जड़कर्म का उदय नये कर्म में निमित्त कहलाता है। (इसमें) परतन्त्रता की बात नहीं है। जैसे ज्ञानावरणीय का उदय हो, तब केवलज्ञान नहीं होता; वीर्यान्तराय का उदय हो, तब अनन्तवीर्य नहीं होता। जीव की योग्यता है तो कर्म का उदय निमित्त है। दोनों स्वतन्त्र हैं, उसी प्रकार मोह–राग–द्वेष करता है तो चार पुराने प्रत्यय निमित्त कहलाते हैं और वे नये आठ कर्म के बन्धन में निमित्त कहलाते हैं।

से बन्ध हो तो सर्वदा बन्ध ही रहे (–मोक्ष का अवकाश ही न रहे), क्योंकि संसारियों को सदैव कर्मोदय का विद्यमानपना होता है।

३. उदयगत द्रव्यमिथ्यात्वादि प्रत्ययों की भाँति रागादिभाव नवीन कर्मबन्ध में मात्र बहिरंग निमित्त नहीं हैं किन्तु वे नवीन कर्मबन्ध में 'अन्तरंग निमित्त' हैं, इसलिए उन्हें 'निश्चय से बन्धहेतु' कहे हैं।

वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण १४, गुरुवार

यह बन्ध अधिकार है। आत्मा अपना ज्ञानानन्दस्वभाव चूककर मिथ्यात्व—राग-द्वेष, प्रमाद, कषाय, योग करता है, उसे भावबन्ध कहते हैं। उसका निमित्त पाकर नये द्रव्यकर्म बँधते हैं, वह द्रव्यबन्ध है। वे परमाणु अपने कारण से बँधते हैं। उसमें अन्तरंगकारण जीव के मोह-राग-द्वेष हैं और जीव के प्रदेशों का कम्पन अर्थात् योग बहिरंगकारण है। केवली को अकेला कम्पन है, इसलिए उनके आस्रव होता है, परन्तु बन्ध नहीं होता। कम्पन बन्ध का वास्तविक कारण नहीं, परन्तु अपना स्वभाव चूककर होनेवाले दया-दानादि के परिणाम, वही वास्तव में बन्ध का कारण है।

जड़ नये कर्म वास्तव में बँधते हैं तो उनके अपने कारण से, और जड़कर्म के लिये कम्पन और राग-द्वेष दोनों बहिरंगकारण हैं, तथापि कम्पन की मुख्यता नहीं, गौणता है; इसलिए उसे बहिरंगकारण कहा और राग-द्वेषादि को अन्तरंगकारण कहा। अब, इस गाथा में पुराने कर्म के उदय को भी नये कर्म बँधते हैं, उसमें बहिरंगकारण कहते हैं। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय वे तीन मोहकर्म में आते हैं और योग नामकर्म में आता है अर्थात् पुराना मोहकर्म और नामकर्म का उदय नये ज्ञानावरणीयादि आठ कर्म में बहिरंगकारण है, ऐसा इस गाथा में बतलाना है। आठ कर्म बँधते हैं तो स्वयं के कारण से, परन्तु गाथा १४८ में दो निमित्तकारणों में राग-द्वेष को अन्तरंगकारण और योग को बहिरंगकारण कहा गया है, इसी प्रकार इस गाथा में पुराने मोहनीय और नामकर्म के उदय को भी बहिरंगकारण कहते हैं।

द्रव्यसंग्रह में निश्चयकर्ता और व्यवहारकर्ता की बात आती है, उस सम्बन्धी स्पष्टता।

(१) जीव अपनी पर्याय में विकार और योग करता है, उसका जीव अशुद्धनिश्चयनय से कर्ता है। जीव विकार करे तो पुराने कर्म का उदय उसे निमित्त कहलाता है। इसलिए मोहनीय आदि पुराने कर्म जीव के विकारादि परिणाम के व्यवहार से कर्ता हैं। निमित्त है, इसलिए व्यवहार से कर्ता कहा जाता है।

(२) नये द्रव्यकर्म बँधे, उसका निश्चय से कर्ता परमाणु स्वयं है और जीव के

राग-द्वेष उसमें निमित्त है, इसलिए राग-द्वेषादि नये द्रव्यकर्म के व्यवहार से कर्ता कहलाते हैं।

प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र बतलाकर, निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध बतलाते हैं। जड़कर्म जड़कर्म से बँधता है। राग-द्वेष स्वयं के कारण से है। राग-द्वेष स्वतन्त्र होते हैं। कर्म उन्हें नहीं कराते। जो वर्तमान स्वतन्त्रता न माने, उसे त्रिकाली स्वभाव स्वतन्त्र मानने का प्रसंग नहीं रहता। नये कर्म बँधते हैं, उसमें कम्पन और पुराने कर्म गौण कारण है; मुख्य कारण तो राग-द्वेष है। वे राग-द्वेषादि तेरा स्वरूप नहीं, तू चैतन्यस्वभावी है—ऐसा भेदज्ञान कर।

भावार्थ : ज्ञानावरणीयादि आठ प्रकार के नये कर्मबन्ध का गौणकारण पुराने कर्म—मिथ्यात्व (दर्शनमोह), असंयम और कषाय (चारित्रमोह) और योग (अर्थात् नामकर्म)—यह चार प्रकार के द्रव्यप्रत्यय हैं। अज्ञानी जीव मिथ्याभाव करता है। शरीर की क्रिया मैंने की, पैसे मैंने प्रयोग किये, पर की दया पालन की, ऐसी मिथ्याभ्रान्ति करता है तो पुराने कर्म के उदय को निमित्त कहा जाता है।

अज्ञानी जीव कहता है कि भाई! कर्म का उदय आवे, तब राग-द्वेष करना ही पड़ता है, परन्तु उसे वस्तु की खबर नहीं। जड़कर्म जीव को भटकाते नहीं। स्वयं विकार करता है तो भटकता है। विकार आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं, ऐसा भान करे तो धर्म हो, परन्तु जो भान नहीं करता और नये कर्म बाँधता है, उसके यहाँ कारण बताते हैं।

जिस प्रकार सम्यग्दर्शन होने में स्वयं ही वास्तविक कारण है और उसमें ज्ञानी पुरुष तथा भगवान की वाणी दोनों बहिरंगकारण हैं, तथापि दोनों निमित्त कारणों में अन्तर बतलाने के लिये ज्ञानी पुरुष को वजन देने के लिये अन्तरंग कारण कहा और वाणी को बहिरंग निमित्त कहा। उसी प्रकार नये आठ कर्म बँधते हैं, उनमें वास्तव में पुद्गल परमाणु ही अपने कारण से बँधते हैं और उसमें योग और मोह-राग-द्वेष दोनों निमित्तकारण हैं। तथापि राग-द्वेषादि परिणाम को वजन देने के लिये उन्हें अन्तरंगकारण कहा और कम्पन को बहिरंगकारण कहा। अब इस गाथा में कहते हैं कि पुराने कर्मों का उदय नये कर्म में गौण बहिरंगकारण है। जीव स्वयं राग-द्वेषादि परिणाम करता है, तब

पुराने कर्मों का उदय निमित्त कहलाता है, इसलिए पुराने कर्मों को नये कर्मों में भी गौण निमित्तकारण कहा गया है। पुराने द्रव्यप्रत्यय का कारण राग-द्वेषादि परिणाम हैं, इसलिए नये द्रव्यकर्मबन्ध का कारण पुराने कर्म हैं और उनका कारण रागादिभाव है।

क्योंकि राग-द्वेषादि परिणाम का अभाव होता है, तब द्रव्यमिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग—इन चार पुराने द्रव्यकर्मों का उदय होने पर भी जीव को बन्ध नहीं होता।

देखो, यहाँ अलग प्रकार की शैली ली है। मोह-राग-द्वेषादि परिणाम होते नहीं, तब उस-उस कर्म का उदय भी होता नहीं, जैसे कि जीव सम्यग्दर्शन पावे, तब दर्शनमोहनीय कर्म का उदय होता ही नहीं और वीतरागता पावे, तब चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होता ही नहीं। तथापि मोह-राग-द्वेषादि के अभाव के समय चार द्रव्यकर्म का उदय क्यों कहा? '**चार प्रत्ययों के होते संते**' ऐसा कैसे कहा? चार द्रव्य प्रत्यय जो कहे हैं, उनकी सत्ता की बात नहीं। परन्तु उनके उदय की बात है, ऐसा कैसे कहा?

अज्ञानी जीव इसमें से तर्क करता है कि 'लाओ एक दृष्टान्त कि जिसमें जीव सम्यग्दर्शन पाया हो और उसे दर्शनमोहनीय कर्म का उदय रह गया हो! तथा मिथ्यादर्शन का उदय हो और जीव समकित पा गया हो, ऐसा दृष्टान्त बताओ। इस प्रकार अज्ञानी जीव इस कथन के ऊपर से तर्क निकालता है और कहता है कि जीव समकित पावे, तब दर्शनमोह का उदय नहीं होता और दर्शनमोह का उदय हो, तब समकित नहीं होता। ऐसी दलील करता है तो उसकी स्पष्टता।

यहाँ जीव चैतन्यस्वभाव सन्मुख ढला हुआ है, उसका वजन देना है। शास्त्रकार का आशय समझना चाहिए। परपदार्थ से और विकार से आत्मा भिन्न है, ऐसे भानपूर्वक स्वभाव की रुचि करके अपने सन्मुख ढलकर सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, उसे दर्शनमोहनीयकर्म के परमाणु उदय में हो नहीं तो भी यहाँ पुराने द्रव्यप्रत्यय होने पर भी ज्ञानी को नये बन्ध का कारण नहीं है, ऐसा कहकर वजन स्वभाव के पुरुषार्थ का बतलाना है। तू तेरे स्वभाव-सन्मुख ढला, फिर भले मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, योग—ऐसे चार द्रव्यप्रत्यय का उदय हो, तो भी नया बन्धन नहीं होता, ऐसा कहकर नये बन्धन

का सम्बन्ध राग-द्वेषादि के साथ है। पुराने प्रत्यय के साथ नहीं, ऐसा कहने का भाव है।

गोम्मटसार में इस प्रकार कथन नहीं आता, वहाँ तो जैसी कर्म की अवस्था होती है, तत्प्रमाण बात कहते हैं। जीव को सम्यग्दर्शन होता है, तब दर्शनमोह के परमाणु जो उदय में आनेवाले थे, उन्हें आगे-पीछे करता है, यह भी व्यवहार से है। यहाँ स्वभाव में रुचि की, तब दर्शनमोह के परमाणु उदय में आ नहीं सकते।

यहाँ मिथ्यात्वादि का उदय होने पर भी ज्ञानी को कर्म बँधते नहीं, ऐसा कहने का आशय यह है कि यहाँ जीव का पुरुषार्थ सिद्ध करना है। पहले से पुरुषार्थ है और स्वभाव-सन्मुख लम्बित है, उसे कर्म नहीं बँधते, ऐसा कहकर यह कहना है कि योग और पुराने जड़कर्म दोनों बहिरंगकारण उपस्थित है, परन्तु अन्तरंगकारण जो राग-द्वेष है, वह नहीं, इसलिए कर्म नहीं बँधते अर्थात् कि मुख्य कारण का अभाव हो गया, उसे बहिरंगकारण होने पर भी कर्म नहीं बँधते। जो जीव चैतन्यस्वभाव को अवलम्बकर पड़ा है, उसे योग और जड़कर्म भले हों, तो भी उसे नये कर्म नहीं बँधते।

स्वभाव की दृष्टि चूके तो बन्धन है और स्वभाव की दृष्टि करे तो बन्धन नहीं, ऐसा बतलाकर स्वपर्याय में होता योग का कम्पन और पुराने द्रव्यकर्म का उदय जो कि बहिरंगकारण है, उसे उड़ाया है। तो फिर देह, वाणी आदि नये कर्म में निमित्त हों, ऐसा तो हो सकता ही नहीं।

जीव राग-द्वेष करता है तो कर्मबन्ध में बहिरंगकारण का आरोप जड़कर्म के उदय के ऊपर और योग के कम्पन के ऊपर आता है, परन्तु पैसा, देह की क्रिया और दूसरे नोकर्म में आरोप नहीं आता।

सामान्य रीति से मुख्य, वह निश्चय और गौण, वह व्यवहार—ऐसा अर्थ होता है, वह यहाँ नहीं लेना है। यहाँ अज्ञान-राग-द्वेष को मुख्य कारण कहा गया है, परन्तु इससे वह उपादानकारण नहीं। उपादानकारण तो जड़ पुद्गल परमाणु स्वयं ही है और राग-द्वेष इत्यादि सब निमित्तकारण हैं। परन्तु निमित्तकारणों में भेद बतलाने के लिये राग-द्वेष को मुख्य कारण कहा और योग तथा पुराने कर्म को गौण कारण कहा गया है।

इस प्रकार बन्धपदार्थ का व्याख्यान पूर्ण हुआ। ●●

गाथा - १५०-१५१

अथ मोक्षपदार्थव्याख्यानम् ।

हेदुमभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो।।१५०।।
कम्मसाभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरिसी य।
पावदि इंदियरहिदं अव्वाबाहं सुहमणंतं।।१५१।।

हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिनः आस्रवनिरोधः।
आस्रवभावेन विना जायते कर्मणस्तु निरोधः।।१५०।।
कर्मणामभावेन च सर्वज्ञः सर्वलोकदर्शी च।
प्राप्नोतीन्द्रियरहितमव्याबाधं सुखमनन्तम्।।१५१।।

द्रव्यकर्ममोक्षहेतुपरमसंवररूपेण भावमोक्षस्वरूपाख्यानमेतत् ।

आस्रवहेतुर्हि जीवस्य मोहरागद्वेषरूपो भावः । तदभावो भवति ज्ञानिनः । तदभावे भवत्यास्रवभावाभावः । आस्रवभावाभावे भवति कर्माभावः । कर्माभावेन भवति सार्वज्ञं सर्वदर्शित्वमव्याबाधमिन्द्रियव्यापारातीतमनन्तसुखत्वञ्चेति । स एष जीवन्मुक्तिनामा भावमोक्षः । कथमिति चेत् । भावः खल्वत्र विवक्षितः कर्मावृत्तचैतन्यस्य क्रमप्रवर्तमानज्ञप्ति-क्रियारूपः । स खलु संसारिणोऽनादिमोहनीयकर्मोदयानुवृत्तिवशादशुद्धो द्रव्यकर्मास्रवहेतुः । स तु ज्ञानिनो मोहरागद्वेषानुबृत्तिरूपेण प्रहीयते । ततोऽस्य आस्रवभावो निरुध्यते । ततो निरुद्धास्रवभावस्यास्य मोहक्षयेणात्यन्तनिर्विकारमनादिमुद्रितानन्तचैतन्यवीर्यस्य शुद्धज्ञप्तिक्रियारूपेणान्त-र्मुहूर्तमणिवाह्य युगपज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयेण कथञ्चित् कूटस्थज्ञानत्वमवाप्य ज्ञप्तिक्रियारूपे क्रमप्रवृत्त्यभावाद्भावकर्म विनश्यति । ततः कर्माभावे स हि भगवान्सर्वज्ञः सर्वदर्शी व्युपरतेन्द्रियव्यापाराव्याबाधानन्तसुखश्च नित्यमेवावतिष्ठते । इत्येष भावकर्ममोक्षप्रकारः द्रव्यकर्ममोक्षहेतुः परमसंवरप्रकारश्च ।। १५०-१५१)

अब मोक्षपदार्थ का व्याख्यान है।

मोहादि हेतु अभाव से ज्ञानी निरास्रव नियम से।
भावास्रवों के नाश से ही कर्म का आस्रव रुके।।१५०।।
कर्म आस्रवरोध से सर्वत्र समदर्शी बने।
इन्द्रिसुख से रहित अव्याबाध सुख को प्राप्त हों।।१५१।।

अन्वयार्थ :- [हेत्वभावे] (मोहरागद्वेषरूप) हेतु का अभाव होने से; [ज्ञानिनः] ज्ञानी को [नियमात्] नियम से [आस्त्रवनिरोध जायते] आस्त्रव का निरोध होता है [तु] और; [आस्त्रवभावेन विना] आस्त्रवभाव के अभाव में [कर्मणः निरोधः जायते] कर्म का निरोध होता है। [च] और [कर्मणाम् अभावेन] कर्मों का अभाव होने से वह [सर्वज्ञः सर्वलोकदर्शी च] सर्वज्ञ तथा सर्वलोकदर्शी होता हुआ [इन्द्रियरहितम्] इन्द्रिय रहित, [अव्याबाधम्] अव्याबाध, [अनन्तम् सुखम् प्राप्नोति] अनन्त सुख को प्राप्त करता है।

टीका :- यह, [१]द्रव्यकर्ममोक्ष के हेतुभूत परम-संवररूप से भावमोक्ष के स्वरूप का कथन है।

आस्त्रव का हेतु वास्तव में जीव का मोहरागद्वेषरूप भाव है। ज्ञानी को उसका अभाव होता है। उसका अभाव होने से आस्त्रवभाव का अभाव होता है। आस्त्रवभाव का अभाव होने से कर्म का अभाव होता है। कर्म का अभाव होने से सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता और अव्याबाध, [२]इन्द्रियव्यापारातीत, अनन्त सुख होता है। यह [३]जीवन्मुक्ति नाम का भावमोक्ष है। 'किस प्रकार ?' ऐसा प्रश्न किया जाए तो निम्नानुसार स्पष्टीकरण है:—

यहाँ जो 'भाव' [४]विवक्षित है, वह कर्मावृत (कर्म से आवृत हुए) चैतन्य की क्रमानुसार प्रवर्तती ज्ञप्तिक्रियारूप है। वह (क्रमानुसार प्रवर्तती ज्ञप्तिक्रियारूप भाव) वास्तव में संसारी को अनादि काल से मोहनीयकर्म के उदय का अनुसरण करती हुई परिणति के कारण अशुद्ध है, द्रव्यकर्मास्त्रव का हेतु है। परन्तु वह (क्रमानुसार प्रवर्तती ज्ञप्तिक्रियारूप भाव) ज्ञानी को मोहरागद्वेषवाली परिणतिरूप से हानि को प्राप्त होता है, इसलिए उसे आस्त्रवभाव का निरोध होता है। इसलिए जिसे आस्त्रवभाव

---

१. द्रव्यकर्ममोक्ष=द्रव्यकर्म का सर्वथा छूट जाना; द्रव्यमोक्ष। (यहाँ भावमोक्ष का स्वरूप द्रव्यमोक्ष के निमित्तभूत परम संवररूप से दर्शाया है।)

२. इन्द्रियव्यापारातीत=इन्द्रियव्यापार रहित।

३. जीवन्मुक्ति = जीवित रहते हुए मुक्ति; देह होने पर भी मुक्ति।

४. विवक्षित = जिसका कथन करना है।

का निरोध हुआ है ऐसे उस ज्ञानी को मोह के क्षय द्वारा अत्यन्त निर्विकारपना होने से, जिसे अनादि काल से अनन्त चैतन्य और (अनन्त) वीर्य मूँद गया है ऐसा वह ज्ञानी (क्षीणमोह गुणस्थान में) शुद्ध ज्ञप्तिक्रियारूप से अन्तर्मुहूर्त व्यतीत करके युगपद ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का क्षय होने से कथंचित् [१]कूटस्थ ज्ञान को प्राप्त करता है और इस प्रकार वे ज्ञप्तिक्रिया के रूप में क्रमप्रवृत्ति का अभाव होने से भावकर्म का विनाश होता है। इसलिए कर्म का अभाव होने पर वह वास्तव में भगवान सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा इन्द्रियव्यापारातीत—अव्याबाध—अनन्त सुखवाला सदैव रहता है।

इस प्रकार यह (जो यहाँ कहा है), [२]भावकर्ममोक्ष का [३] प्रकार तथा द्रव्यकर्ममोक्ष का हेतुभूत परम संवर का प्रकार है॥१५०-१५१॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण १४, गुरुवार

अब, मोक्षपदार्थ की व्याख्या की जाती है। प्रथम द्रव्यमोक्ष का कारण परम संवररूप मोक्ष का स्वरूप कहते हैं।

दया-दानादि के परिणाम, वह मेरा स्वरूप नहीं। शरीर वह मेरा नहीं, उससे मुझे लाभ-नुकसान नहीं, मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूपी हूँ, ऐसी मान्यतावाला भेदविज्ञानी है। उसे श्रावकपना और मुनिपना प्रगट सकता है। उसे जितना स्वसंवेदनज्ञान प्रगट होकर अन्तर

---

१. कूटस्थ= सर्व काल एकरूप रहनेवाला; अचल। [ज्ञानावरणादि घातिकर्मों का नाश होने पर ज्ञान कहीं सर्वथा अपरिणामी नहीं हो जाता; परन्तु वह अन्य-अन्य ज्ञेयों को जाननेरूप परिवर्तित नहीं होता—सर्वदा तीनों काल के समस्त ज्ञेयों को जानता रहता है, इसलिए उसे कथंचित् कूटस्थ कहा है।]

२. भावकर्ममोक्ष= भावकर्म का सर्वथा छूट जाना; भावमोक्ष। ज्ञप्तिक्रिया में क्रमप्रवृत्ति का अभाव होना, वह भावमोक्ष है अथवा सर्वज्ञ-सर्वदर्शीपने की और अनन्तानन्दमयपने की प्रगटता, वह भावमोक्ष है।

३. प्रकार=स्वरूप; रीति।

में रुकता है, उतना आस्रवभाव नहीं होता और सर्वथा राग-द्वेष के परिणाम का अभाव होने से कर्म का आस्रव नहीं होता। स्वयं अपने स्वभाव-सन्मुख ढलता है, इसलिए राग-द्वेष होते नहीं और नये कर्म बँधते नहीं और पुराने कर्म ज्ञानावरणीयादि उसके अपने कारण से नाश पाते हैं, इससे सर्वज्ञदशा प्राप्त करते हैं। प्रथम, ज्ञान राग-द्वेष में अटकता था और बन्ध होता था। अब, वह ज्ञान राग-द्वेष में नहीं अटककर स्वभाव में एकाग्र होने पर सर्वज्ञदशा प्रगट होती है और ज्ञानावरणादि कर्म बँधते नहीं। इस क्रिया से सर्वज्ञपद प्राप्त होता है और तीन काल-तीन लोक के पदार्थ एक साथ जानता है और देखता है। और वह इन्द्रियों की आधीनता रहित बाधारहित अपार आत्मिक सुख को प्राप्त करता है।

लोग कहते हैं कि भगवान ने सुख से पानी पीया नहीं, अनाज खाया नहीं। चारित्र में बहुत दु:ख भोगा।—यह बात एकदम खोटी है। चारित्र दु:खदायक नहीं; वह सुखदायक है। राग से भिन्न पड़कर अन्तर आनन्द में स्थिर हो गये, वे सुखदायक हैं और आनन्द अमृत का पूर्ण अनुभव हुआ, पश्चात् वहाँ विघ्न नहीं होता। अपार आत्मिक आनन्द को प्राप्त करते हैं। ऐसे आनन्दवाले भगवान को आहार हो और राग हो, ऐसा नहीं होता। भगवान को आहार और रोग माननेवाले, भगवान के स्वरूप को समझते नहीं। सर्वज्ञ भगवान अपार आनन्ददशा को प्राप्त हुए हैं।

वीर संवत् २४७८, वैशाख कृष्ण अमावस्या, शुक्रवार

आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति अनादि-अनन्त है। उसे चूककर विकार करना, वह संसार है और उस विकार का अभाव होना और पूर्ण शुद्धदशा प्रगट करना, वह मोक्ष है। शरीर को अपना मानना और पुण्य-पाप जो कि दु:खदायक है, उसे हितरूपी मानना, वह भ्रान्ति है। अनुकूल चीजों में प्रेम करना, वह अज्ञान है। अज्ञानी जीव शरीर की अवस्था मुझसे हुई, ऐसा मानकर, पुण्य-पाप को हितरूप मानकर, आस्रव से मोक्ष मानकर अज्ञान तथा राग-द्वेष करता है। कर्म के नये परमाणु आने का कारण राग-द्वेष के परिणाम हैं। तालाब में पानी आने का कारण छिद्र है तथा आत्मा को चूककर

मिथ्याभ्रान्ति और राग-द्वेष के छिद्र पड़े हैं, उन द्वारा कर्म के परमाणु आते हैं।

आत्मा वस्तु है। जो है, वह किसी से उत्पन्न नहीं होती। यदि किसी से उत्पन्न हो तो वह 'है' नहीं रह सकती। आत्मा देह से भिन्न तत्त्व है, तथापि देह अनुकूल हो तो ठीक और प्रतिकूल हो तो ठीक नहीं, ऐसा मानना, वह अज्ञानभाव है। मेरा मजा मुझमें नहीं परन्तु पर से है, ऐसी मान्यता से छिद्र पड़ते हैं। जीव को नये जड़ आस्रव का कारण मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम हैं। जब अशुद्धभावों का विनाश होता है, तब ज्ञानी जीव को अवश्य आस्रवभावों का अभाव होता है। परपदार्थ मेरा स्वरूप नहीं तथा कोई पदार्थ मेरे लिये इष्ट-अनिष्टरूप नहीं, वे पदार्थ मेरे लिये ज्ञेयमात्र हैं, ऐसा अन्तर स्वभाव में स्थिर हो जाता है, तब आस्रव नहीं होता और तब कर्म भी आना रुक जाते हैं। कर्मों का सर्वथा नाश होने से निरावरण सर्वज्ञपद तथा सर्वदर्शीपद प्रगट होता है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, उसे चूककर पुण्य-पाप में अटकने से ज्ञान की हीनदशा होती थी, परन्तु अन्तर ज्ञानस्वभाव शक्तिरूप से है, उसमें एकाग्र होने से केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट होता है और अल्पज्ञता और राग-द्वेष का नाश होता है। इन्द्रियरहित सुख का अनुभव करता है। मुक्ति, वह सम्पूर्ण सुखदशा है। अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है। देह और आयुष्य होने पर भी अर्हंत होता है।

अर्हंतपद किसे कहा जाता है और वह किस क्रिया से प्रगट हो, उसकी खबर बिना पुण्य हो, परन्तु धर्म नहीं होता। शरीर और आयुष्य होने पर भी परम ज्ञान और आनन्द प्रगट हुए हैं, वह जीवन्मुक्त अर्हंतपद कहलाता है। उनको क्षुधा, तृषा नहीं लगती, आहार नहीं लेते परन्तु आनन्द को अनुभव करे, ऐसे अर्हंतभगवान सर्वथा शुद्धभावसंयुक्त हैं, इस कारण से जीवन्मुक्त कहलाते हैं।

कोई प्रश्न पूछता है कि किस प्रकार से जीवन्मुक्त होते हैं ? इस प्रश्न के ऊपर से शिष्य की जिज्ञासा और पात्रता कितनी है, यह बतलाते हैं। यह आत्मा है। वर्तमान दशा में अशुद्धता है, उस आवरण में निमित्तरूप कर्म है। आवरण टलकर केवलज्ञान हो सकता है। ऐसी भावनावाला पूछता है। गुरु कहते हैं, उसे सुनना चाहता है। इससे विपरीत कहनेवाले की बात सुनता नहीं। और जिसे संसार अथवा पुण्य-पाप की

मिठास हो, वह यह प्रश्न नहीं पूछता। और देह होने पर भी केवलज्ञान प्रगट हो सकता है। किसी को ऐसा लगे कि केवलज्ञान होने के बाद देह कैसे रहती है? तो यह बात खोटी है। अपनी योग्यता से देह में रहा है, तथापि केवलज्ञान है। परन्तु विदेहमुक्त हुए नहीं, ऐसा वह निर्णय करता है। इन्द्रियाँ हैं, तथापि अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होता है।

शिष्य **प्रश्न** करता है कि देह में रहते हैं। आयुष्य होने पर भी जीवन्मुक्त कैसे हुए? इन्द्रियाँ होने पर भी इन्द्रियों का व्यापार नहीं, अक्रम दर्शन-ज्ञान प्रगट हुए हैं। देह और वाणी होने पर भी ज्ञान-दर्शन और आनन्द का अनुभव करते हैं।

जीवन्मुक्त कैसे होते हैं, ऐसा पूछता है, इसलिए शिष्य को देव का विश्वास आया है। गुरु कहते हैं वह सच्चा है, इसलिए गुरु का विश्वास भी आया है और गुरु की वाणी का तथा शास्त्र का विश्वास भी आया है। अर्थात् सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की प्रतीति आयी है। कुदेवादि की प्रतीति छोड़ी है।

और कोई कहे कि जीव मुक्त नहीं हो सकता, तो यह बात भी खोटी है। और वे मोक्ष में से वापस आते हैं, ऐसा भी देव का स्वरूप नहीं। जीवन्मुक्त उसे कहते हैं कि फिर से देह में आवे नहीं। वे विदेहमुक्त होकर संसार में वापस नहीं आते।

बन्ध और बन्ध के कारण से आत्मा को सहायता होगी, ऐसा माननेवाला जीव जीवन्मुक्त दशा को नहीं समझता। स्वभाव की रुचिवाला और स्वभाव की अरुचिवाला जीवन्मुक्त कैसे हो, उसकी बात है।

वह विचारता है कि अहो! देह होने पर भी सर्वज्ञदशा प्रगट हो सकती है। अल्पज्ञता टलकर सर्वज्ञदशा होगी, आकुलता मिटकर आनन्द प्रगट होगा, पर्याय पलट जायेगी और द्रव्य कायम रहेगा। अशुद्धता को स्वीकारता होने पर भी अशुद्धता का द्रव्य के आधार से नाश होगा, ऐसे द्रव्य की श्रद्धा करता हुआ देव-गुरु-शास्त्र का श्रद्धानी है। ऐसी जिज्ञासावाले शिष्य को गुरु उत्तर देते हैं।

अज्ञानी जीव को अनादि से अपने स्वरूप का भान नहीं, उस भूल में कर्म निमित्त है, इसलिए भूल और भूल में जो निमित्त है, उसका ज्ञान कराया। अपनी ज्ञान-दर्शनशक्ति को स्वीकारता नहीं। श्रद्धा-आनन्द को स्वीकारता नहीं और राग-द्वेषादि

परिणाम को स्वीकारता है, वह आवरण है। उसने अपनी शुद्ध सत्ता को ढाँक दिया है। मैं विकारी हूँ, ऐसा मानता हुआ त्रिकाली स्वभाव को ढाँक दिया है। दूसरी चीज़ निमित्त है। निमित्त के आश्रय से भूल स्वयं करता है, कर्म भूल कराता नहीं।

जो जीव राग-द्वेष में अटकता है, उसका ज्ञान अक्रम से प्रवर्तता नहीं, परन्तु एक-एक इन्द्रिय में अटककर जानत है। वह संसार है। शब्द को जानने के पश्चात् स्पर्श को जाने, ऐसा एक के बाद एक विषय को जानता है, वह खण्ड-खण्ड प्रवर्त रहा है। मैं अखण्ड हूँ, ऐसी दृष्टि चूक गयी है।

शिष्य ने पूछा था, उसे गुरु उत्तर देते हैं। संसार कैसे है, यह प्रथम बतलाते हैं। अज्ञानी जीव अपने ज्ञानस्वभाव को चूककर विषयों को क्रम-क्रम से अटकता हुआ जानता है और उसे वह सर्वस्व मान बैठा है।

शिष्य को देव-गुरु-शास्त्र में श्रद्धा है, परन्तु राग में जो ज्ञान अटकता है, वह ज्ञान दोषवाला है, ऐसा गुरु समझाते हैं। अटकता ज्ञान, वह संसार है। मलिनतावाला आस्रव और बन्ध का कारण है।

आत्मा का स्वभाव ज्ञान है। क्रम से जानना, वह उसका स्वभाव नहीं। यहाँ सर्वज्ञ और सर्वदर्शीपना सिद्ध करना है, वह कैसे नहीं, उसका उत्तर देते हैं। अनादि से आत्मा का ज्ञान क्रम से प्रवर्तता है। दया के तथा हिंसा इत्यादि के परिणाम की क्रिया को एक के बाद एक जानता हुआ खण्डित काम करता है। वह संसार और अज्ञानभाव है, ज्ञान क्रम से प्रवर्तता है, वहाँ अशुद्धता आये बिना नहीं रहती। जानने-देखने की क्रिया एक के बाद एक पर में जाती है। अखण्ड स्वभाव की रुचि नहीं करके, क्रम से प्रवर्तती क्रिया की रुचि करता है, वह संसार है।

देखो, जिसे तृषा लगी हो, उसे पानी पीने को दिया जाता है। आत्मा की पर्याय में भूल है, वह कैसे टले, ऐसी भूल टालने की जिज्ञासावाले को जवाब दिया जाता है।

सुनने के समय भी ज्ञान श्रवण में अटकता है, वह क्रम से प्रवर्तता ज्ञानक्रियारूप भाव है, खण्ड-खण्ड होकर अशुद्ध होता है। मैं ज्ञायक हूँ, ऐसे अखण्ड स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान नहीं करके, मोह को अनुसरकर होता भाव है, इसलिए अशुद्ध है। ज्ञानक्रियाभाव

अशुद्ध है, ऐसा कहने पर उसमें मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र आ जाते हैं। क्रम से प्रवर्तती दशा मलिन है। उसे सर्वस्व मानना, वह मिथ्यादर्शन है; वैसे ज्ञान का वेदन, वह मिथ्याज्ञान है और राग का वेदन, वह मिथ्याचारित्र है।

और कोई पूछे कि क्रम से प्रवर्तता भाव आत्मा में होगा? ऐसा कहकर जो जीव को कूटस्थ मानता है, उसका निषेध किया। ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को चूककर क्रम से प्रवर्तते भावरूप दशा को भी जो स्वीकार नहीं करे, उसे संसार का नाश कैसे करना, यह खबर नहीं पड़ती। और पर्याय मानकर, क्रम से प्रवर्तता भाव माना, परन्तु क्रियारूप भाव जितना मैं हूँ, ऐसा माने उसे भी शुद्ध चैतन्य की प्रतीति नहीं आती। आत्मा में अक्रम दृष्टि प्रगटे, तब से धर्म की शुरुआत होती है। संसार में भूल कैसे होती है, यह बताते हैं। अपना ज्ञानस्वभाव चूककर पुण्य-पाप के अशुद्ध परिणाम, निमित्त और परज्ञेयों को अनुसरकर होते ज्ञान और राग जितना ही मैं हूँ, यह मान्यता संसार है। वह जीव त्रिकाल द्रव्य को मानता नहीं। पर में और राग में अटकता भाव अशुद्ध है और वह संसार है।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल १, शनिवार

जीव को पूर्ण आनन्ददशा कैसे प्रगट हो? देह में रहने पर भी केवलज्ञान और पूर्ण आनन्द का अनुभव किस विधि से होगा? किसे पूछते हैं? केवली को केवलज्ञान और केवलदर्शन का उपयोग अखण्ड एक समय में है, ऐसा जो मुनि मानते हैं, उसे पूछते हैं। जो जीव एक समय में केवलज्ञान मानते हैं और दूसरे समय में केवलदर्शन मानते हैं—ऐसा क्रमसर उपयोग मानते हैं, ऐसे को पूछता नहीं। जब तक अल्पज्ञता और राग-द्वेष हों, तब तक ज्ञान-दर्शन का उपयोग क्रमसर होता है, परन्तु केवली को वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट होने के पश्चात् क्रम से उपयोग नहीं होता। वह केवली का स्वरूप हो सकता ही नहीं। इसलिए पूछनेवाले को सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा है और वह सच्ची बात जानना चाहता है।

जीव चैतन्यस्वभावी होने पर भी जितना निमित्त का आश्रय लेता है, उतना

स्वभाव का आश्रय छूटा है, उसकी ज्ञानपर्याय क्रम से प्रवर्तती है। एक बार हिंसा के भाव में, एक बार चोरी के भाव में, ऐसे क्रम से प्रवर्तती है और शुभभाव करे—एक बार सत्य बोलने के भाव में, दूसरी बार परिग्रह का भाव न करूँ, ऐसे भाव में—ऐसे क्रम-क्रम से लक्ष्य जाता है। राग के कारण से ज्ञान में क्रम पड़ता है। जीव को न मारूँ, ऐसा भाव भी राग है। वह ज्ञान क्रम-क्रम से काम करता है। अवस्था में अशुद्धता है, इसलिए बन्ध होता है।

भगवान आत्मा और उसका ज्ञानस्वभाव अनादि-अनन्त होने पर भी ज्ञान की वर्तमान पर्याय दया-दानादि के परिणाम में वह बन्ध का कारण है। पुण्य के समय पुण्य को और काम-क्रोधादि के परिणाम के समय उसके आधीन होकर उपयोग प्रवर्तता है। वह नये जड़कर्म आने का कारण है। इसलिए जिसका उपयोग क्रम-क्रम से होता है, वह केवली नहीं हो सकता। ज्ञानस्वभाव पर्याय में परिपूर्ण प्रगट हो गया, पश्चात् उसे क्रम रहे, ऐसा माना जाये तो नये कर्म आने का कारण होता है। वह जीवन्मुक्त नहीं हो सकता, वह केवली नहीं। जो गुरु और शास्त्र केवली को क्रम उपयोग कहते हैं, वे सच्चे गुरु नहीं और सच्चे शास्त्र नहीं। वे मिथ्यादृष्टि के कहे हुए शास्त्र हैं।

जिसे हीरा चाहिए हो, वह कुम्हार के यहाँ जाकर पूछे तो वह मूर्ख है। उसे हीरा की खबर नहीं। उसे झबेरी के यहाँ पूछना चाहिए, उसी प्रकार जिसे धर्म करना हो, उसे जिन्हें धर्म प्रगट हुआ है, ऐसे निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनियों को पूछना चाहिए। भगवान को क्रम से उपयोग माननेवालों को पूछने से धर्म का रहस्य जानने को नहीं मिलता।

ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि जीव ने स्वयं अटककर अशुद्धभाव खड़ा किया है। परन्तु सच्ची समझण करे तो उसका निषेध होता है। ज्ञानी जीव को मोह-राग-द्वेष की प्रवृत्ति नहीं होती। मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ऐसे भान के कारण राग-द्वेष की प्रवृत्ति अल्प होती है, इसलिए अशुद्धभाव हीन होता जाता है। अज्ञानदशा में ज्ञानरूपभाव क्रम से प्रवर्तता था—अटकता था। धर्मी जीव को चैतन्य को अनुसरण करते हुए मिथ्यात्व की क्रिया तो गयी है और जितना ज्ञान को अनुसरण किया, उतना राग-द्वेष घटता जाता है। जितना ज्ञाता-दृष्टा का आश्रय लेता है, उतना पराश्रय होता नहीं। इसलिए भेदविज्ञानी को आस्रवभाव का निरोध होता जाता है।

ढोर जो पूरे दिन जंगल में चरने गया हो, वह शाम पड़ने पर गाँव में आवे, तब दूसरे ढोर से पृथक् पड़कर सब अपने-अपने घर जाते हैं। किसी की गली में और किसी के घर में वह ढोर जाता नहीं। अपने घर का दरवाजा बन्द हो तो, उसे उघाड़ने का प्रयत्न करता है। उसी प्रकार अनादि से मिथ्यादृष्टि का ज्ञान उपयोग बाहर में भटकता था, वह अब सच्चा ज्ञान होने पर अपने घर अर्थात् अपने त्रिकाली स्वभाव सन्मुख आया और राग-द्वेष मैं नहीं; मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ, इतनी श्रद्धा-ज्ञान करके स्वरूप में स्थिर हुआ, उतना राग-द्वेष नहीं होता। ज्ञानक्रियारूपभाव राग में अटकता था। वह अब ज्ञानस्वभाव सन्मुख दृष्टि होने से पर को अनुसरण करना घटता जाता है।

लोग कहते हैं कि कंचन, कामिनी, कुटुम्ब छोड़ो। परन्तु वे तो छूटे हुए ही पड़े हैं। तेरी ज्ञानपर्याय जड़ में क्रम से प्रवर्ते, वह तेरा स्वभाव नहीं। पुण्य-पाप में अटके, जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति बँधे, उस भाव में अटके, वह तेरा स्वभाव नहीं, वह संसार है। यहाँ पर्यायबुद्धि छुड़ाई है और स्वभावबुद्धि करायी है।

कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनावे, उस मिट्टी में जरा चूने की छांट रह गयी हो तो उसके सब बर्तन फट जाते हैं, उसी प्रकार अज्ञानी की सब बातें पर्यायबुद्धिसहित होने से व्यर्थ है। अज्ञानी की एक भी बात सच्ची नहीं।

राग को अनुसरे तो संसार है और शरीर से रहित, पुण्य से रहित शुद्धस्वभाव को अनुसरे तो धर्म है। जितना कषायभाव रुकता है, उतनी एकाग्रता बढ़ती जाती है और वह धर्म है।

एक महिला कमोद खांडती थी, उसमें खांडते-खांडते चावल नीचे जाने लगे और छिलके ऊपर दिखने लगे। दूसरी महिला ने वे छिलके देखे और उन्हें खांडने से चावल निकलेंगे, ऐसा मानकर छिलके खांडने लगी, परन्तु चावल निकले नहीं। उसी प्रकार अज्ञानी की दृष्टि बाहर के व्यवहार के ऊपर है। बाह्य नग्न शरीर तथा राग की क्रिया को देखकर उससे उसका अनुसरण करने लगा परन्तु उससे धर्म नहीं पाता। ज्ञानी को ऐसी क्रिया दिखने पर भी शरीर और राग की क्रिया के ऊपर दृष्टि नहीं है और छद्मस्थदशा में ज्ञान में क्रम पड़ता है, तथापि क्रम के ऊपर दृष्टि नहीं; दृष्टि तो अखण्ड

स्वभाव के ऊपर है। महावीर भगवान ने साढ़े बारह वर्ष तप किये, उसमें अज्ञानी ने बाह्य से देखा कि भगवान ने रोटियाँ नहीं खायीं, इसलिए लोग बाहर को अनुसरण करने लगे, परन्तु अन्तर अखण्ड ज्ञान तथा वीतरागता को देखा नहीं।

ज्ञानी और अज्ञानी की बाहर की क्रिया एकसरीखी दिखती है, परन्तु अज्ञानी को बहिर्मुख दृष्टि है, इसलिए संसार है और ज्ञानी को अन्तर्मुख दृष्टि है, इसलिए आस्रव का निरोध होकर धर्मदशा प्रगट होती जाती है।

जब मोहनीयकर्म का क्षय होता है, तब अत्यन्त निर्विकार वीतरागचारित्र प्रगट होता है। मैं शुद्ध चैतन्य हूँ, ऐसी दृष्टि तो थी, परन्तु स्वभाव में विशेष स्थिरता करने से अशुद्धता नाश होकर वीतरागता प्रगट होती है, तब मोहकर्म नाश पाता है। इस क्रिया से चारित्र प्रगट होता है।

अभी लोग बाहर में चारित्र मान बैठे हैं और व्रत, तप करे तो धर्म होता है, ऐसा मानते हैं। आठ उपवास किये हों और सगे-सम्बन्धी साता पूछने न आवे तो सामने से दोष निकाले। देखो, तप के अभिमान की दशा! शरीर की क्रिया और राग की क्रिया से आत्मा भिन्न है, उसका भेदज्ञान वर्तता नहीं, ऐसे सामान्य तप तो क्या, परन्तु नौवें ग्रैवेयक में जाये, वैसे महाव्रत पालन किये। दया पालन की, ब्रह्मचर्य पालन किये परन्तु चैतन्य के भान बिना सब मेहनत व्यर्थ गयी। ज्वार के डण्ठल से बनाई हुई ऊँटनी और खाट लड़के बनाते हैं परन्तु वह सोने के काम में या दूसरे काम में नहीं आते। उसी प्रकार पुण्य-पाप की वृत्तियाँ ज्वार के डण्ठल से बनाई हुई ऊँटनी जैसी है। उससे धर्म प्राप्त करूँगा ऐसा मानना, वह ज्वार के डण्ठल से बनाई हुई ऊँटनी पर सवार होने जैसा है।

आत्मा में एक समय में अनन्त गुण हैं और भूतकाल की अशुद्ध पर्यायों से भविष्यकाल की शुद्ध पर्यायें अनन्तगुणी भरी हैं। ऐसे गुण-पर्याय के पिण्डस्वरूप आत्मद्रव्य में श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता से निर्विकल्पता होती है। देखो! अमृतचन्द्राचार्य ने टीका लिखी है। वे छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते थे। शास्त्र लिखने की जड़ की पर्याय जड़ के कारण से है। राग उठता है और ज्ञान क्रम से प्रवर्तता है, उतना आस्रव

है और ज्ञायकभाव का जितना अनुसरण है, उतनी वीतरागता है। लिखने के विकल्प का आदर नहीं परन्तु स्वभाव का आदर है। वे कहते हैं कि पंचास्तिकाय की टीका मैंने बनायी नहीं, मैंने तो ज्ञायकस्वभाव को अनुसरण करता हुआ भाव रचा है, उस रचना से वीतरागता प्रगट होती है।

अनादि काल से आस्रव द्वारा आत्मा में अनन्त शक्ति ढँक गयी है। विपरीत भाव शक्ति को प्रगट होने नहीं देता, परन्तु ज्ञानी ने अपने आत्मा का अवलम्बन लिया है, जड़ की क्रिया और पुण्य-पाप की क्रिया, वह मेरा स्वरूप नहीं; मैं तो शुद्ध चैतन्य हूँ, ऐसे आत्मा के आश्रय से वीतरागता बारहवें गुणस्थान में प्रगट होती है और तेरहवें गुणस्थान में राग नहीं होने पर भी क्षायोपशमिक ज्ञानदशा अन्तर्मुहूर्त रहती है और तत्पश्चात् एक समय में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय कर्म का नाश होने से कथंचित् कूटस्थ-अचल केवलज्ञानदशा प्राप्त करते हैं। एक समय की ज्ञानपर्याय में, जिसमें से अनन्त केवलज्ञान इत्यादि की पर्यायें प्रगटेंगी, ऐसे पूरे द्रव्य को स्वीकार किया, पश्चात् बाकी क्या रहा? एकाग्रता होते क्रम से प्रवर्तती दशा घटने लगी, मोह का नाश हुआ और फिर ज्ञानावरणीयादि निमित्तरूप से थे, वे भी नाश पाते हुए केवलज्ञान प्रगट हुआ।

मुनि को साक्षात् केवलज्ञान नहीं, परन्तु इसी मार्ग से केवलज्ञान है, ऐसा प्रतीति में आ जाने से उसमें सब आ जाता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रदशा प्रगट हुई, उसे केवलज्ञान नियम से होगा।

केवलज्ञान पर्याय समय-समय में पलटती है, परन्तु राग के साथ क्रम से प्रवर्तने के भाव का उसमें अभाव है, इसलिए कथंचित् कूटस्थ कहा है। क्षेत्र बदले बिना केवलज्ञान पर्याय पलटन पाया करती है। राग को अवलम्बकर क्रम से प्रवर्तती थी, वह अब नहीं, इसलिए अचल-कूटस्थ कहा परन्तु इससे पलटन नहीं, ऐसा नहीं है। केवलज्ञान पर्याय समय-समय में पलटन पाती है, परन्तु ऐसी की ऐसी रहती है; इसलिए कूटस्थ है, ऐसा कहा। इस प्रकार जीवन्मुक्त दशा अथवा केवलज्ञान अवस्था प्राप्त करने की विधि बतायी।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल २, रविवार

शिष्य ने प्रश्न पूछा है कि जीवन्मुक्त किस प्रकार से होता है ? उसका उत्तर देते हैं। आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है, वह राग-द्वेष में अटकता है, वह संसार का कारण है और चैतन्य में एकाग्रता करने से निर्मोहदशा बारहवें गुणस्थान में प्रगट होती है और तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रगट होता है। जिसे राग होता है, उसे उपयोग क्रमसर वर्ते, परन्तु जो वीतराग और केवलज्ञानी हुए, उसे क्रमसर उपयोग होता नहीं। यहाँ मोक्षतत्त्व बतलाते हैं, उस मोक्षतत्त्व में क्रमसर उपयोग माने तो मोक्षतत्त्व की भूल है।

छहढाला में सात तत्त्व की सात भूलें बतायी है। मैं सुखी-दुःखी हूँ, शरीर वही मैं हूँ, वह जीवतत्त्व की भूल है। शरीर उत्पन्न होने से मैं उत्पन्न हुआ, यह अजीवतत्त्व की भूल है। पुण्य-पाप के विकल्प दुःखदायक होने पर भी उन्हें सुखदायक मानना, वह आस्रवतत्त्व की भूल है। पुण्य को ठीक माने और पाप को अठीक माने, वह बन्ध की भूल है, आत्मा के आश्रय से संवर होता है, वह सुखदायक है, उसे दुःखदायक मानना, वह संवर की भूल है। आत्मा की समझण करने में उकताहट आवे, वह भी संवरतत्त्व की भूल है, इच्छा रोकने में मजा है, उसके बदले इच्छा में मजा मानना, वह निर्जरा में भूल है। मोक्ष में आकुलता मानना, वह मोक्ष की भूल है। अर्थात् जीव की सातों तत्त्वों के सन्दर्भ में उपर्युक्त भूलें हैं।

और जो जीव केवलज्ञान और केवलदर्शन क्रमसर माने और एकसाथ उपयोगरूप न माने, वह भी मोक्ष की भूल है। राग-द्वेषादि परिणाम का अभाव होने के बाद ज्ञान-दर्शन में क्रम पड़े, ऐसा बनता नहीं, केवली भगवान को एक साथ दोनों उपयोग होते हैं।

कोई **पूछता** है कि वह तो अनुमान का विषय है न ?

समाधान : अनुमान ज्ञान भी प्रमाण ज्ञान है। ज्ञान-दर्शन दो गुण हैं, परन्तु उनका कर्ता एक है। जब केवली को ज्ञान उपयोगरूप परिणमे, तब दर्शन भी पूर्ण उपयोगरूप

प्रगटे, दोनों साथ में होते हैं। केवली भगवान को इन्द्रियों का व्यापार नहीं होता। अनन्त सुख शक्तिरूप था, वह व्यक्त हो गया है। स्वरूप में गुप्त रहते हैं। किसी का कुछ करते नहीं।

और कोई कहे कि केवली भगवान पहले भाषा के परमाणु ग्रहण करते हैं और फिर छोड़ते हैं तो वह भी भूल है।

कोई आत्मा भाषा के परमाणु को ग्रहण नहीं करता। भाषा के परमाणु अपने कारण से आते और जाते हैं, इसलिए केवली भगवान का स्वरूप यथार्थ जानना चाहिए।

केवली भगवान को ज्ञान क्रिया की प्रवृत्ति क्रम से नहीं होती, परन्तु दोनों अखण्ड उपयोगरूप है, क्योंकि उन्हें भावकर्म का अभाव है। ऐसी अवस्था होने से भगवान सर्वज्ञ—सर्वदर्शी हैं। उनको इन्द्रियों का व्यापार नहीं, अव्याबाध अनन्त सुख संयुक्त सदाकाल स्थिर स्वभाव से स्वरूप गुप्त रहते हैं। यह भावकर्म से मुक्त जीव का स्वरूप बतलाया। केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय प्रगट हुए, वह द्रव्यकर्म से मुक्त होने का परम संवर स्वरूप है। जब जीव को केवलज्ञानदशा प्राप्त होती है, तब चार अघातियाकर्म जली हुई रस्सी के समान रहते हैं। घातिकर्मों का नाश होने पर अनन्त चतुष्टय प्रगट होते हैं। ●●

निद्रा-विजयी मुनिराज

मुनिराज को बहुत निद्रा नहीं होती, छठवें गुणस्थान में अत्यन्त अल्प निद्रा होती है। छहढाला में आता है न! **'भू माहिं पिछली रयनि में कछु शयन एकासन करन'** बस, मुनि एक करवट सोते हैं, वह भी पौन सैकेण्ड की निद्रा होती है, छठा गुणस्थान भी पौन सैकेण्ड की अवधिवाला है, इसलिए इतनी निद्रा आ जाती है, परन्तु इससे अधिक निद्रा उन्हें नहीं होती।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/१३४

गाथा - १५२

दंसणणाणसम्मग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं।
जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्यस साधुस्स।।१५२।।

दर्शनज्ञानसमग्रं ध्यानं नो अन्यद्रव्यसंयुक्तम्।
जायते निर्जराहेतुः स्वभावसहितस्य साधोः।।१५२।।

द्रव्यकर्ममोक्षहेतुपरमनिर्जराकारणध्यानाख्यानमेतत् ।

एवमस्य खलु भावमुक्तस्य भगवतः केवलिनः स्वरूपतृप्तत्वाद्विश्रान्तसुखदुःख-कर्मविपाककृतविक्रियस्य प्रक्षीणावरणत्वादनन्तज्ञानदर्शनसम्पूर्णशुद्धज्ञानचेतनामयत्वाद-तीन्द्रियत्वात् चान्यद्रव्यसंयोगवियुक्तं शुद्धस्वरूपेऽविचलितचैतन्यवृत्तिरूपत्वात्कथञ्चिद्ध्यान-व्यपदेशर्हमात्मनः स्वरूपं पूर्वसञ्चितकर्मणां शक्तिशातनं पतनं वा विलोक्य निर्जरा-हेतुत्वेनोपवर्ण्यत इति ।। १५२ ।।

ज्ञान दर्शन पूर्ण अर परद्रव्य विरहित ध्यान जो।
वह निर्जरा का हेतु है निजभाव परिणत जीव को।।१५२।।

अन्वयार्थ :- [स्वभावसहितस्य साधोः] स्वभावसहित साधु को (-स्वभाव-परिणत केवलीभगवान को); [दर्शनज्ञानसमग्रं] दर्शनज्ञान से सम्पूर्ण और [नो अन्यद्रव्यसंयुक्तम्] अन्य द्रव्य से असंयुक्त ऐसा [ध्यानं] ध्यान [निर्जरा हेतुः जायते] निर्जरा का हेतु होता है।

टीका :- यह, द्रव्यकर्ममोक्ष के हेतुभूत ऐसी परम निर्जरा के कारणभूत ध्यान का कथन है।

इस प्रकार वास्तव में यह (-पूर्वोक्त) भावमुक्त (-भावमोक्षवाले) भगवान केवली को—कि जिन्हें स्वरूपतृप्तपने के कारण [1]कर्मविपाककृत सुखदुःखरूप विक्रिया अटक गई है, उन्हें—आवरण के प्रक्षीणपने के कारण, अनन्त ज्ञानदर्शन से सम्पूर्ण शुद्धज्ञानचेतनामयपने के कारण तथा अतीन्द्रियपने के कारण जो अन्य द्रव्य

१. केवलीभगवान निर्विकार-परमानन्दस्वरूप स्वात्मोत्पन्न सुख से तृप्त हैं, इसलिए कर्म का विपाक जिसमें निमित्तभूत होता है ऐसी सांसारिक सुख-दुःखरूप (-हर्षविसादरूप) विक्रिया उन्हें विराम को प्राप्त हुई हैं।

के संयोग रहित है और शुद्ध स्वरूप में अविचलित चैतन्यवृत्तिरूप होने के कारण जो कथंचित् 'ध्यान' नाम के योग्य है, ऐसा आत्मा का स्वरूप (-आत्मा की निज दशा) पूर्वसंचित कर्मों की शक्ति का [१]शातन अथवा उनका [२]पतन देखकर निर्जरा के हेतुरूप के वर्णन किया जाता है।

भावार्थ :- केवलीभगवान के आत्मा की दशा ज्ञानदर्शनावरण के क्षयवाली होने के कारण, शुद्धज्ञानचेतनामय होने के कारण तथा इन्द्रियव्यापारादि बहिर्द्रव्य के आलम्बनरहित होने के कारण अन्य द्रव्य के संसर्गरहित है और शुद्धस्वरूप में निश्चल चैतन्यपरिणतिरूप होने के कारण किसी प्रकार 'ध्यान' नाम के योग्य है। उनकी ऐसी आत्मदशा का निर्जरा के निमित्तरूप से वर्णन किया जाता है, क्योंकि उन्हें पूर्वोपार्जित कर्मों की शक्तिहीन होती जाती है तथा वे कर्म खिरते जाते हैं॥१५२॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल २, रविवार

अब, द्रव्यकर्म के मोक्ष का कारण अथवा परम निर्जरा का कारण जो ध्यान, उसका स्वरूप बतलाते हैं।

अखण्ड परिपूर्ण शुद्ध चैतन्य है। सामान्य देखना, वह दर्शन है और विशेष जानना, वह ज्ञान है। सर्वज्ञ भगवान को ज्ञान-दर्शन में परिपूर्णता एक साथ है, दर्शन-ज्ञान में अपूर्णता नहीं तथा क्रम उपयोग भी नहीं, यदि क्रम हो तो आवरण होना चाहिए और आवरण हो तो सर्वज्ञता रहती नहीं। भगवान को अनन्त चतुष्टय प्रगट हुए हैं, इसलिए परद्रव्य की चिन्ता के निरोधरूप ध्यान उनको होता है, और वह ध्यान चार अघातिकर्म की निर्जरा का कारण है। ध्यान किसे होता है? केवली भगवान को ध्यान होता है कैसा? परद्रव्य के सम्बन्ध से रहित है, और आत्मिक स्वभाव संयुक्त है। केवली भगवान को ज्ञान-दर्शन की परिपूर्णता है, उनको चार अघातिकर्म जली हुई

---

१. शातन= पतला होना; हीन होना; क्षीण होना।

२. पतन=नाश; गलन; खिर जाना।

रस्सी के समान हैं। कोई कहता है कि भगवान अघातिकर्म को टालने के लिये विहार करते हैं और उपदेश करते हैं, परन्तु यह बात खोटी है। भगवान को विहार करने का या उपदेश का राग रहता नहीं। विहाररूप क्रिया और उपदेश इच्छा बिना सहज हो जाता है, अनन्त चतुष्टय प्रगट हुए, वही पुराने कर्म टलने का कारण है।

भावार्थ : जब आत्मा विकारी परिणाम से मुक्त होकर केवल अवस्था को प्राप्त करता है, तब केवली भगवान अपने स्वरूप के आत्मिकसुख से तृप्त होते हैं। भगवान लोकालोक को देखते हैं, इसलिए सुखी हैं न ? नहीं, वस्तु में तृप्त हैं, इसलिए सुखी हैं। भगवान कर्मजनित सुख-दुःख के वेदन से रहित हैं और ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्म का नाश होने से अनन्त ज्ञान-अनन्त दर्शन से शुद्धचेतनामय है। उनको इन्द्रियों के सुख-दुःख नहीं होते। भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते हैं। बाह्य पदार्थ के रस का भोग उनके नहीं है, वे परमेश्वर अपने अखण्ड चैतन्यस्वरूप में प्रवर्तते हैं। भेद किये बिना निर्विकल्प रस का अनुभव करते हैं, इस कारण से कथंचित् प्रकार से अपने स्वरूप के ध्यानी हैं अथवा परद्रव्य संयोगरहित आत्मस्वरूप के ध्यानी, ऐसा नाम पाते हैं। स्वरूप अनुभव की अपेक्षा से केवली भगवान को उपचार से ध्यान कहा है। पूर्व में बँधे हुए कर्म समय-समय में खिर जाते हैं, इस अपेक्षा से उनका ध्यान निर्जरा का कारण है, ऐसा कहा है।

देखो, यह अर्हंत का स्वरूप बतलाया। 'णमो अरहंताणं' रट जाये परन्तु अर्हंत कैसे होते हैं, इसकी खबर बिना व्यर्थ है। अभी तो बहुत फेरफार हो गया है। भगवान के आहारादि माने, ज्ञान-दर्शन का क्रम उपयोग माने, रोग माने, भगवान को लोकालोक के नाटक से आनन्द हुआ माने, भाषा के परमाणु ग्रहते और छोड़ते हैं, यह सब केवली का कद्रूप है। इसलिए कुन्दकुन्दाचार्य ने सब स्पष्टता की है। भगवान को आहार और रोग नहीं होते, एकसाथ ज्ञान-दर्शन होते हैं इत्यादि प्रकार से जानना। ऐसा भावमोक्ष का स्वरूप जानना। ●●

गाथा - १५३

जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकमाणि।
ववगदवेदाउस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो।।१५३।।

यः संवरेण युक्तो निर्जरन्नथ सर्वकर्माणि।
व्यपगतवेद्यायुष्को मुञ्चति भवं तेन स मोक्षः।।१५३।।

द्रव्यमोक्षस्वरूपाख्यानमेतत् ।

अथ खलु भगवतः केवलिनो भावमोक्षे सति प्रसिद्धपरमसंवरस्योत्तरकर्मसन्ततौ निरुद्धायां परमनिर्जराकारणध्यानप्रसिद्धौ सत्यां पूर्वकर्मसन्ततौ कदाचित्सवभावेनैव कदाचित्समुद्धात-विधानेनायुःकर्मसमभूतस्थित्यामायुःकर्मानुसारेणैव निर्जीर्यमाणायामपुनर्भवाय तद्भवत्यागसमये वेदनीयायुर्नामगोत्ररूपाणां जीवेन सहात्यन्तविश्लेषः कर्मपुद्गलानां द्रव्यमोक्षः।।१५३।।

– इति मोक्ष पदार्थव्याख्यानं समाप्तम्।

समाप्तं च मोक्षमार्गावयवरूपसम्यग्दर्शनज्ञानविषयभूतनवपदार्थव्याख्यानम्।।

जो सर्व संवर युक्त हैं अरु कर्म सब निर्जर करें।
वे रहित आयु वेदनीय और सर्व कर्म विमुक्त है।।१५३।।

अन्वयार्थ :- [यः संवरेण युक्तः] जो संवर से युक्त है ऐसा (-केवलज्ञान प्राप्त) जीव [निर्जरन् अर्थ सर्वकर्माणि] सर्व कर्मों की निर्जरा करता हुआ [व्यपगतवेद्यायुष्कः] वेदनीय और आयु रहित होकर [भवं मञ्चति] भव को छोड़ता है; [तेन] इसलिए (इस प्रकार सर्व कर्मपुद्गलों का वियोग होने के कारण) [सः मोक्षः] वह मोक्ष है।

टीका :- यह, द्रव्यमोक्ष के स्वरूप का कथन है।

वास्तव में भगवान केवली को, भावमोक्ष होने पर, परम संवर सिद्ध होने के कारण [१]उत्तर कर्मसन्तति निरोध को प्राप्त होकर और परम निर्जरा के कारणभूत ध्यान सिद्ध होने के कारण [२]पूर्व कर्मसन्तति—कि जिसकी स्थिति कदाचित् स्वभाव से ही

---

१. उत्तर कर्मसन्तति=बाद का कर्मप्रवाह; भावी कर्मपरम्परा।
२. पूर्व=पहले की।

आयुकर्म के जितनी होती है और कदाचित् [१]समुद्घातविधान से आयुकर्म के जितनी होती है वह—आयुकर्म के अनुसार ही निर्जरित होती हुई, [२]अपुनर्भव के लिए वह भव छूटने के समय होनवाला जो वेदनीय-आयु-नाम-गोत्ररूप कर्मपुद्गलों का जीव के साथ अत्यन्त विश्लेष (वियोग), वह द्रव्यमोक्ष है॥१५३॥

इस प्रकार मोक्षपदार्थ व्याख्यान समाप्त हुआ। और मोक्षमार्ग के अवयवरूप सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान के विषयभूत नव पदार्थों का व्याख्यान भी समाप्त हुआ।

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल २, रविवार

अब, द्रव्यमोक्ष का स्वरूप कहते हैं।

केवलज्ञान होने पर भावमोक्ष कहलाता है और सिद्ध अवस्था होने पर भावमोक्ष तथा द्रव्यमोक्ष दोनों कहलाता है। केवलज्ञान होने के बाद केवली भगवान को ध्यान उपचार से होता है और समय-समय में शुद्धता बढ़ती है। कर्ता, करण, सम्प्रदान आदि तथा योग इत्यादि गुण अशुद्ध हैं। उनमें अशुद्धता टलकर शुद्धता होती है। चारित्रगुण की शुद्धता हुई होने पर भी पूरे आत्मा का परिपूर्ण चारित्र बाकी है। ऐसा केवली के स्वरूप को जानना चाहिए, कोई कहे कि केवली भगवान ने मोक्ष जाते समय उपवास किये तो यह बात भूलभरी है। वह मोक्षतत्त्व में भूल करता है। (जिसकी) एक तत्त्व में भूल है, उसकी सब तत्त्वों में भूल है।

---

१. केवली भगवान को वेदनीय, नाम और गोत्रकर्म की स्थिति कभी स्वभाव से ही (अर्थात् केवलीसमुद्घातरूप निमित्त हुए बिना ही) आयुकर्म के जितनी होती है और कभी उन तीन कर्मों की स्थिति आयुकर्म से अधिक होने पर भी वह स्थिति घटकर आयुकर्म जितनी होने में केवलीसमुद्घात निमित्त बनता है।

२. अपुनर्भव=फिर से भव नहीं होना। (केवली भगवान को फिर से भव हुए बिना ही उस भव का त्याग होता है; इसलिए उनके आत्मा से कर्मपुद्गलों का सदा के लिए सर्वथा वियोग होता है।)

द्रव्यदृष्टि होती है अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है। एक समय की पर्यायबुद्धि टलने पर वह त्रिकाल बुद्धि होने से सम्यग्दर्शनरूप संवर होता है। वह आगे बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञानी को परम संवर होता है। यहाँ भावमोक्षवाले केवली भगवान की बात ली है। उनके राग-द्वेषरूपी भावकर्म का अभाव वर्तता है परन्तु छह कारक, योग का कम्पन तथा प्रतिजीवी गुण इत्यादि की अशुद्धता बाकी है, उतना भावकर्म बाकी है। असिद्धत्व उदयभाव से है। उतनी अशुद्धता न हो तो सिद्ध हो जाये। चार अघातिकर्म बाकी हैं, इसलिए अशुद्धता रही हुई है, यह बात खोटी है। अपनी योग्यता से अशुद्धता रही हुई है। कोई कहे कि केवली होने के बाद अशुद्धता नहीं होती अथवा कोई कर्म के कारण से अशुद्धता माने तो दोनों बात खोटी है, चौदहवें गुणस्थान तक भी असिद्धत्व नाम का उदय भाव है, उतना संसार बाकी है।

केवली भगवान अपने में समग्ररूप से एकाग्र हुए हैं, इसलिए पूर्व कर्म खिरते जाते हैं और वेदनीय, नाम, गोत्र, आयु इन अघातिकर्म के निमित्त से अपने प्रतिजीवी गुणों की तथा दूसरी अशुद्धता है, उसका नाश करते हैं, तब उन भगवान का द्रव्यमोक्ष हुआ कहलाता है।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल ३, सोमवार

यह नौ तत्त्व का अधिकार चलता है। उसमें मोक्षतत्त्व की बात करते हैं। नौ तत्त्व को जैसा है, वैसा श्रद्धा और ज्ञान में ले तो सम्यग्दर्शन होता है, परन्तु यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान में न ले तो सम्यग्दर्शन नहीं होता और उसे चारित्र भी नहीं होता। जिस प्रकार जमीन बिना वृक्ष नहीं होते; उसी प्रकार आत्मा की सच्ची श्रद्धा बिना एकाग्रतारूपी वृक्ष उगता नहीं। नौ तत्त्व में जीव और अजीव दो द्रव्य हैं और सात उनकी पर्यायें हैं। दया, दानादि के परिणाम करे, वह भावपुण्य है और उसके निमित्त से जड़कर्म आवे, वह द्रव्यपुण्य है। हिंसादि के परिणाम, वे भावपाप हैं और उनके निमित्त से जड़कर्म आवे, वह द्रव्यपाप है। दोनों आस्रव है। कर्मों का आना, वह द्रव्य आस्रव है। पुण्य-पाप के परिणाम में

अटकना, वह भावबन्ध है और कर्मों का बँधना, वह द्रव्यबन्ध है। आत्मा के भान से अशुद्धि का रुकना और सम्यग्दर्शनादि का होना, वह भावसंवर है और कर्मों का रुकना, वह द्रव्यसंवर है। शुद्धता का बढ़ना और अशुद्धता का टलना, वह भावनिर्जरा है और कर्म का खिर जाना, वह द्रव्यनिर्जरा है। पूर्णशुद्धता प्रगट होना, वह मोक्ष है और कर्मों का टल जाना, वह द्रव्यमोक्ष है। ऐसे नौ तत्त्व का ज्ञान करना चाहिए।

आत्मा का कल्याण करना है, वह कहाँ से आयेगा? आनन्द बाहर में से आता नहीं। दया-दानादि परिणाम में से, स्वर्ग, नरक या सेठाई इत्यादि में से सुख आता होगा? नहीं, आत्मा स्वयं चैतन्य सुखनिधान है, उसमें से सुख प्रगट होता है। इस बात की पहले परोक्षरूप से प्रतीति न करे, उसे प्रत्यक्ष आत्मा के आनन्द का अनुभव नहीं होता। दियासलाई सुलगाने से पहले टोप में अग्नि की शक्ति है, ऐसी प्रतीति करनी चाहिए, उसी प्रकार आत्मा में सुखशक्ति है, उसकी प्रतीति करनी चाहिए। शरीर-मन-वाणी इत्यादि अजीव हैं। दया-दानादि के भाव और काम-क्रोध के भाव दु:खदायक हैं और आत्मा का स्वभाव सुखदायक है, ऐसी परोक्ष प्रतीति किये बिना और अन्तर्मुख झुकाव किये बिना आत्मा के आनन्द का अनुभव नहीं होता।

जीव वर्तमान जिसकी-जिसकी रुचि करे, उसे याद करता है। अज्ञानी जहाँ-जहाँ जाये, वहाँ-वहाँ वर्तमान संयोग को ही देखकर उसमें आनन्द मानता है। पूर्व में आलू का-निगोद का भव था, वह अभी याद आता है? नहीं, वह भूल गया है। वर्तमान को ही वह सर्वस्व मान बैठा है। आज सोमवार है। आगामी कल मंगलवार होगा और गत कल रविवार था, यह याद रहता है और उसका विश्वास भी है। परन्तु मैं कौन था? और अभी कौन हूँ? भविष्य में क्या होऊँगा? इसकी खबर नहीं। आत्मा त्रिकाल रहनेवाला ध्रुव पदार्थ है। उसकी रुचि नहीं करके अकेले वर्तमान की रुचि कर रहा है। शास्त्र में कथन आता है कि जिसने जो मार्ग देखा है, वह वहाँ तुरन्त ही जाता है। जो संसार की रुचि करता है और संसारमार्ग देखा है, वह वहाँ जाता है और आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है, ऐसी प्रतीति करके मोक्षमार्ग जानेवाला उस रास्ते जाता है।

यहाँ मोक्षतत्त्व की बात चलती है। मोक्ष पर्याय है, उसकी प्रतीति और ज्ञान

किया हो तो अनुक्रम से मोक्ष जाये। भगवान मोक्ष पधारे, (वे) फिर अवतार धारण करें, ऐसा नहीं होता। बीज जल जाने के बाद फिर उगता नहीं है, उसी प्रकार आत्मा के भानपूर्वक मिथ्यात्व और राग-द्वेष जला डालने के बाद फिर वे फिर से नहीं होते।

अर्हंत भगवान को भावमोक्ष होता है और चार अघातिकर्म टल जाने से द्रव्य-मोक्ष होता है, अर्थात् सिद्धभगवान को भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष दोनों होते हैं।

भावार्थ : आत्मा शुद्ध चिदानन्द है, ऐसी प्रतीति करने के पश्चात् लीनता करके केवलज्ञान प्रगट होता है, इससे केवली भगवान को भावमोक्ष हुआ है। उनको परमसंवर होता है, परन्तु सम्पूर्ण संवर नहीं, क्योंकि कर्ता, करण, कर्म, क्रियावती, वैभाविक इत्यादि गुणों में अशुद्धता है। भावमोक्ष होने पर भी द्रव्यमोक्ष नहीं हुआ, इतनी स्वयं में अशुद्धता है। परन्तु केवलज्ञान, केवलदर्शनादि चतुष्टय प्रगट हुए होने से आगामी काल सम्बन्धी नये कर्म का बन्ध नहीं होता।

अज्ञानी लोग कहते हैं कि भगवान ने उपवास किये, इसलिए चार अघातिकर्म टले। यह बात खोटी है। अनन्त चतुष्टय प्रगट हुए और परम संवर हुआ, इसलिए कर्म का निरोध होता है। पूर्व में बाँधे हुए कर्मों की निर्जरा के लिये कारण ध्यान होता है। भगवान स्वभाव में एकाग्र रहते हैं, वह भगवान का ध्यान है। उस ध्यान द्वारा निर्जरा होने के दो प्रकार हैं। कोई केवली भगवान को पूर्व के अघातिकर्म अपनी स्थिति पूरी होने पर खिर जाते हैं और किन्हीं केवली भगवान को आत्मा के प्रदेश लोकप्रमाण चौड़े होकर अर्थात् कि केवलीसमुद्घात होकर कर्मों की निर्जरा होती है।

इस प्रकार भावमोक्षवाले केवली भगवान को द्रव्यमोक्ष होने पर दो प्रकार होते हैं। यदि किसी समय वेदनीय, नाम, गोत्र ऐसे तीन कर्मों की स्थिति आयुकर्म के बराबर हो तो चारों अघातिकर्मों की स्थिति बराबर पूरी होकर मोक्ष अवस्था होती है और यदि किसी को आयुकर्म की स्थिति कम हो और वेदनीय, नाम, गोत्र की स्थिति अधिक हो तो समुद्घात होकर कर्मों का नाश होने से द्रव्यमोक्ष अवस्था होती है। इस प्रकार जीव से सर्वथा प्रकार से कर्मपुद्गलों का अत्यन्त वियोग होना, उसका नाम द्रव्यमोक्ष है।

केवलज्ञान की पर्याय में अन्तर नहीं। परन्तु किसी को समुद्घात हो तो इस

प्रकार का अन्तर पड़ता है। और सबको समुद्घात होवे ही, ऐसा नहीं है। भगवान मोक्ष जाने के बाद अवतार धारण नहीं करते। मोक्षदशा में परिपूर्ण सुख है।

इस प्रकार द्रव्यमोक्ष का व्याख्यान पूरा हुआ तथा मोक्षमार्ग के अंग सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के निमित्तभूत नौ पदार्थों का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

अब, मोक्षमार्ग का विस्तार सूचनामात्र कहा जाता है। उसमें मोक्षमार्ग अर्थात् चारित्र का स्वरूप बतलाया जाता है। ●●

धन्य उनका जीवन! धन्य उनका वैराग्य!!

दीक्षा के लिए तैयार हुए श्री जम्बूस्वामी अपनी शोकमग्न माता को वैराग्यपूर्वक सम्बोधन करते हैं – हे माता! तू शीघ्र ही शोक को छोड़... कायरता को छोड़.... इस संसार की समस्त अवस्थाएँ क्षणभङ्गुर हैं। जीव ने संसार के इन्द्रियसुख बारम्बार भोगे परन्तु उनसे तृप्ति नहीं हुई; इसलिए उन विषयों से अब बस होओ... अब तो मैं चैतन्य के अविनाशी सुख की साधना करूँगा। माता! तू आनन्दित होकर मुझे जिनदीक्षा की आज्ञा प्रदान कर। क्योंकि –

यह जीव संसार में परिभ्रमण करता हुआ। बारम्बार महान विभूतिसहित राजा भी हुआ है और बारम्बार कीड़ा भी हुआ है। तरङ्गरूप इस संसार में किसी को सुख अथवा दुःख स्थिर नहीं रहते। तब फिर हे माता! इसमें हर्ष अथवा शोक क्या? एक चैतन्य तत्त्व ही स्थायी शरणरूप है, मैं अब उसी की साधना करूँगा और इसी भव में जन्म-मरण का अन्त करूँगा।

इस प्रकार वैराग्यरूपी अमृत से माता को सम्बोधन कर, जम्बूकुमार ने वन की ओर प्रयाण किया। सुधर्मस्वामी के समीप जिनदीक्षा अङ्गीकार की और कुछ ही वर्षों में केवलज्ञान प्रगट करके उसी भव से मोक्ष प्राप्त किया। अहो! धन्य उनका जीवन और वैराग्य! *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, रत्नसंग्रह, पृष्ठ ७१*

गाथा - १५४

अथ मोक्षमार्गप्रपञ्चसूचिका चूलिका ।

जीवसहावं णाणं अप्पडिहददंसणं अणण्णमयं।
चरियं च तेसु णियदं अत्थित्तमणिंदियं भणियं।।१५४।।

जीवस्वभावं ज्ञानमप्रतिहतदर्शनमनन्यमयम्।
चारित्रं व तयोर्नियतमस्तित्वमनिन्दितं भणितम्।।१५४।।

मोक्षमार्गस्वरूपाख्यानमेतत् ।

जीवस्वभावनियतं चरितं मोक्षमार्गः। जीवस्वभावो हि ज्ञानदर्शने अनन्यमयत्वात्। अनन्यमयत्वं च तयोर्विशेषसामान्यचैतन्यस्वभावजीवनिर्वृत्तत्वात्। अथ तयोजीर्ववस्वरूपभूतयोर्ज्ञानदर्शनयोर्यन्नियतमवस्थितमुत्पादव्ययध्रौव्यरूपवृत्तिमयमस्तित्वं रागादिपरिणत्यभावादनिन्दितं तच्चरितं; तदेव मोक्षमार्ग इति। द्विविधं हि किल संसारिषु चरितं–स्वचरितं परचरितं च; स्वसमयपरसमयावित्यर्थः। तत्र स्वभावावस्थितास्तित्वस्वरूपं स्वचरितं, परभावावस्थितास्तित्वस्वरूपं परचरितम्। तत्र यत्स्वभावावस्थितास्तिस्वरूपं परभावावस्थितास्तित्वव्यावृत्तत्वेनात्यन्तमनिन्दितं तदत्र साक्षान्मोक्षमार्गत्वेनावधारणीयमिति।। १५४ ।।

अब [१]मोक्षामार्गप्रपंचसूचक [२]चूलिका है।

चेतन स्वभाव अनन्यमय निर्बाध दर्शन–ज्ञान है।
दृग ज्ञानस्थित अस्तित्व ही चारित्र जिनवर ने कहा।।१५४।।

अन्वयार्थ :- [जीवस्वभावं] जीव का स्वभाव [ज्ञानम्] ज्ञान और [अप्रतिहतदर्शनम्] अप्रतिहत दर्शन है— [अनन्यमयम्] जो कि (जीव से) अनन्यमय हैं। [तयोः] उन ज्ञानदर्शन में [नियतम्] नियत [अस्तित्वम्] अस्तित्व [अनिन्दितं] जो कि अनिन्दित हैं—[चारित्रं च भणितम्] उसे (जिनेन्द्रों ने) चारित्र कहा है।

---

१. मोक्षमार्गप्रपंचसूचक= मोक्षमार्ग का विस्तार बतलानेवाली; मोक्षमार्ग का विस्तार से कथन करनेवाली; मोक्षमार्ग का विस्तृत कथन करनेवाली।

२. चूलिका = शास्त्र में जिसका कथन न हुआ हो, उसका व्याख्यान करना अथवा जिसका कथन हो चुका हो, उसका विशेष व्याख्यान करना अथवा दोनों का यथायोग्य व्याख्यान करना।

टीका :- यह, मोक्षमार्ग के स्वरूप का कथन है।

जीवस्वभाव में नियत चारित्र, वह मोक्षमार्ग है। जीवस्वभाव वास्तव में ज्ञान-दर्शन है, क्योंकि वे (जीव से) अनन्यमय हैं। ज्ञानदर्शन का (जीव से) अनन्यमयपना होने का कारण यह है कि [१]विशेषचैतन्य और सामान्यचैतन्य जिसका स्वभाव है, ऐसे जीव से वे निष्पन्न हैं (अर्थात् जीव द्वारा ज्ञानदर्शन रचे गये हैं)। अब जीव के स्वरूपभूत ऐसे उन ज्ञानदर्शन में [२]नियत—अवस्थित ऐसा जो उत्पादव्ययध्रौव्यरूप [३]वृत्तिमय अस्तित्व—जो कि रागादिपरिणाम के अभाव के कारण अनिन्दित है—वह चारित्र है; वही मोक्षमार्ग है।

संसारियों में चारित्र वास्तव में दो प्रकार का है :- (१) स्वचारित्र और (२) परचारित्र; (१) स्वसमय और (२) परसमय ऐसा अर्थ है। वहाँ, स्वभाव में अवस्थित अस्तित्वस्वरूप (चारित्र), वह स्वचारित्र है और परभाव में अवस्थित अस्तित्वस्वरूप (चारित्र), वह परचारित्र है। उसमें से (अर्थात् दो प्रकार के चारित्र में से), स्वभाव में अवस्थित अस्तित्वरूप चारित्र—जो कि परभाव में अवस्थित अस्तित्व से भिन्न होने के कारण अत्यन्त अनिन्दित है वह—यहाँ साक्षात् मोक्षमार्गरूप अवधारणा।

[यही चारित्र 'परमार्थ' शब्द से वाच्य ऐसे मोक्ष का कारण है, अन्य नहीं—ऐसा न जानकर, मोक्ष से भिन्न ऐसे असार संसार के कारणभूत मिथ्यात्वरागादि में लीन वर्तते हुए अपना अनन्त काल गया; ऐसा जानकर उसी जीवस्वभावनियत चारित्र की—जो कि मोक्ष के कारणभूत है उसकी—निरन्तर भावना करना योग्य है। इस प्रकार सूत्रतात्पर्य है।]॥१५४॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल ३, सोमवार

आत्मा शुद्धस्वभावी है, उसे जीव मानना। पुण्य को विकार मानना। जड़द्रव्य को

---

१. विशेषचैतन्य वह ज्ञान है और सामान्य चैतन्य वह दर्शन है।

२. नियत=अवस्थित; स्थित; स्थिर; दृढ़रूप स्थित।

३. वृत्ति=वर्तना; होना। [उत्पादव्ययध्रौव्यरूप वृत्ति वह अस्तित्व है।]

जड़ जानना, ऐसे प्रत्येक पदार्थ के द्रव्य-गुण-पर्याय को जैसा है, वैसा बँटवारा करके जानना, ऐसा ज्ञान का स्वभाव है। किसी का कर दे, ऐसा ज्ञान का स्वभाव नहीं। यह जड़ है या यह चेतन है, ऐसा भेद किये बिना सामान्यरूप से देखना, उसे दर्शन कहते हैं और भेद पाड़कर जानना, उसे ज्ञान कहते हैं। दोनों को चैतन्य (इस) एक नाम से कहा जाता है। वह जीव का असाधारण लक्षण है। जानना-देखना, वह जीव का स्वभाव है। पर का करना या दया-दान करना, वह जीव का लक्षण नहीं। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, पाँच महाव्रत का राग, वह जीव का असली स्वभाव नहीं। जीव तो उसका भी जाननेवाला है। इस प्रकार निमित्त और पुण्य-पाप की रुचि छोड़े बिना और ज्ञान-दर्शनस्वभावी आत्मा की दृष्टि हुए बिना धर्म नहीं होता।

तुझे शान्ति और धर्म चाहिए है न? वस्तु का स्वभाव, वह धर्म है। पुण्य-पाप और राग तेरा स्वभाव है? भाषा बोलना, वह तेरा स्वभाव है? आत्मा शरीर को चला सके या पर की दया पाल सके, ऐसा आत्मा का स्वभाव है? किस निधान पर नजर डालने से धर्म होगा? शरीर-मन-वाणी तेरा निधान नहीं। पुण्य-पाप तेरा निधान नहीं। व्रतादि पालना, दया करना, वह तेरा निधान नहीं, परन्तु तेरा निधान तो ज्ञान-दर्शनमय आत्मा है। उसके ऊपर दृष्टि करने से धर्म होता है।

जैसा वस्तु का स्वभाव है, वैसा सर्वज्ञ ने देखा है, वाणी द्वारा आया है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान-दर्शन एकरूप है। उस ज्ञान-दर्शन स्वभाव का अस्तित्व टिका रखना, उसे स्थिर कर देना, वह चारित्र है। यहाँ अस्ति से व्याख्या ली है। पुण्य-पाप न होने देना, वह बात नहीं ली है।

यहाँ चारित्र की बात ली है। दर्शन-ज्ञानगुणों का धारक आत्मा है। विकार को तो एक समयमात्र पर्याय में धारता है। परन्तु वह उसका त्रिकाली स्वभाव नहीं। अपने ज्ञान-दर्शनस्वभाव में टिके रहना—स्वरूप में चरना, ज्ञान-दर्शन के अस्तिभाव में चरना, वह चारित्र है। आत्मा में निश्चय स्थिरता, वह चारित्र है, वह वीतरागभाव है।

देह की क्रिया या विकल्प उठना, वह चारित्र नहीं। अनन्त काल से जीव ने वास्तविक तत्त्व जाना नहीं। जीव का स्वभाव जानने-देखने का है। जो-जो संयोग होते हैं, जो-जो राग-द्वेष की वृत्ति उठती है, उस-उस समय उसका ज्ञान स्व में रहकर मुनि

करते हैं। वह जानना-देखना शरीर-मन-वाणी में नहीं। क्योंकि वह जड़ है। पुण्य-पाप के परिणाम में जानना-देखना नहीं है। अरूपी आत्मा जाननेवाला-देखनेवाला है, ऐसी दृष्टि होना और ऐसा ज्ञान होना, वह सम्यग्दर्शन और ज्ञान है और उसमें स्थिर होना, वह चारित्र है।

प्रथम सच्ची बात ग्रहण करनी चाहिए। पहले धड़ाके कहा कि जीव किसे कहना? ज्ञान-दर्शन का धारक, वह जीव है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष—ऐसे नौ भेद का ज्ञान किया, परन्तु भेद पड़े वह जीव नहीं परन्तु ज्ञान में अभेदता वर्तती है अथवा ज्ञान एकरूप होकर जाने, वह जीव है। उसकी प्रतीति, वह सम्यग्दर्शन है।

ज्ञान-दर्शनस्वभाव के अस्तित्व में टिकना और पुण्य-पाप में न जाना, उसे चारित्र कहते हैं। पाँच महाव्रत के परिणाम, २८ मूलगुण के पालन के परिणाम, आहार लेने की वृत्ति उठे इत्यादि जो राग की वृत्ति उठती है, वह चारित्र नहीं है।

यह कल्पना की बात नहीं। सर्वज्ञ भगवान ने वाणी द्वारा ढिंढ़ोरा पीटा है। वाणी में जो आया, वही यह कहा जाता है। ज्ञान-दर्शनस्वभाव का अस्तित्व रखता है और राग-द्वेष होने नहीं देता, उसे चारित्र अथवा मोक्षमार्ग कहते हैं। वह जीव की पर्याय में होता है, बाहर में होता नहीं। एक ही बात ली है। अपने दर्शन-ज्ञानस्वभाव को टिका रखना, उसे चारित्र कहते हैं। दूसरे को चारित्र नहीं कहते।

जो जीव दूसरे प्रकार से अर्थात् कि राग से और शरीर की क्रिया से चारित्र कहते हों, उसे चारित्र नहीं कहते। छठवें गुणस्थान में जितना राग वर्तता है, वह चारित्र नहीं, परन्तु अन्तर अकषायी परिणति हुई है, वह चारित्र है—ऐसा सर्वज्ञ भगवान कहते हैं।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल ४, मंगलवार

यह मोक्षमार्ग का अधिकार है। मोक्ष अर्थात् पूर्ण पवित्र दशा और चारित्र उसका मार्ग है। वह किसे होता है, उसकी बात चलती है। कोई लिंग या वेश चारित्र नहीं है। महाव्रतादि के परिणाम, नग्नदशा, वह चारित्र नहीं। अन्तर स्वभाव की रमणता, वह

चारित्र है। मोक्षमार्ग मोक्ष का कारण है।

भावार्थ : जीव के स्वभावभावों की स्थिरता का नाम चारित्र है। जीव का स्वभाव क्या है ? जीव का स्वभाव दर्शन और ज्ञान है। शरीर, मन, वाणी उसका स्वभाव नहीं। पर को लेने-देने का भाव जीव का स्वभाव नहीं। दया-दानादि भाव जीव का स्वभाव नहीं। किसमें स्थिर होने से चारित्र होता है ? चैतन्य—ज्ञान-दर्शन जीव का स्वभाव है। दूसरा स्वभाव नहीं। कोई पूछे कि क्या आत्मा में दो ही गुण होंगे ? नहीं। वीर्य, आनन्द, वस्तुत्व, स्वच्छत्व इत्यादि अनन्त शक्तियाँ हैं परन्तु मुख्य वस्तु ख्याल में आवे, इसलिए जीव का स्वभाव ज्ञान-दर्शन कहा। उसमें स्थिरता करना, वह चारित्र है।

जीव के स्वाभाविक भाव ज्ञान-दर्शन हैं। वह आत्मा में अभेद और भेदरूप है। अकेले चैतन्यस्वभाव की अपेक्षा से अभेदस्वरूप है और सामान्य और विशेष की अपेक्षा से भेदरूप है। उसमें सामान्य देखना, उसे दर्शन कहते हैं। यहाँ दर्शन अर्थात् श्रद्धा नहीं लेना, परन्तु यह शरीर है, मैं आत्मा हूँ, ऐसा भेद किये बिना के सामान्य अवलोकन को दर्शन कहते हैं। ज्ञान विशेष है। ज्ञान सब वस्तुओं को भेद पाड़कर जानता है। चेतना की अपेक्षा से दोनों एक हैं। वे दोनों जीव का स्वरूप हैं। उनके साथ गौण में दूसरे गुण आ जाते हैं। उस स्वभाव में स्थिर रहना, वह चारित्र है।

ऐसा वस्तु का स्वरूप समझे बिना बाह्य में चारित्र माने, वह खोटा है। पाँच महाव्रत चारित्र नहीं, यह चलता है और यह नहीं चलता, वह चारित्र नहीं। वस्त्र-पात्र रखे वह मुनि नहीं, वस्त्र-पात्र रखकर मुनिपना मनावे, वह मिथ्यादृष्टि है। वैसा कथन करनेवाले शास्त्र कुशास्त्र हैं। वे देव के अथवा मुनि के कहे हुए नहीं हैं। वस्त्र-पात्रसहित साधु को द्रव्यलिंग भी नहीं कहते, परन्तु वह कुलिंग है। जो मुनि बाह्य से नग्न दिगम्बर हों, जिन्हें मात्र मोरपिच्छी और कमण्डल हो, परन्तु वह पुण्य से धर्म मनावे तो वह द्रव्यलिंगी है।

जिसे आत्मा का भान है, और छठवीं-सातवीं भूमिका जिन्हें बारम्बार आती है, वे भावलिंगी मुनि हैं। उन्हें बाह्य नग्न-दिगम्बरदशा सहज हो जाती है। नग्नदशा है, इसलिए भावलिंगपना आता है, ऐसा नहीं है। अपना स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा है, ऐसी दृष्टि तो हुई है, तदुपरान्त लीनता होने पर राग छूट जाता है और नग्नदशा हो जाती है और वस्त्र

छूट जाते हैं। सनातन जैनमार्ग में इस एक ही प्रकार से मुनिपना है। दूसरे प्रकार से मुनिपना नहीं।

गृहस्थदशा में अथवा वस्त्र का परिग्रह हो, उस भूमिका में सम्यग्दर्शन हो सकता है, साधकपना हो सकता है परन्तु वस्त्रादि रखने की रागवाली भूमिका में मुनिपना नहीं हो सकता, तथापि वहाँ मुनिपना माने तो सम्यग्दर्शन भी नहीं। अन्तर आनन्द आवे, ऐसी मुनिदशा है। मात्र नग्न हो और अन्तर में मिथ्यादर्शन हो तो मुनिपना नहीं और भावलिंगपना प्रगट हो और बाह्य में नग्नपना न हो, ऐसा भी नहीं होता।

एक रजकण का फेरफार करना, वह मेरे अधिकार की बात नहीं। पुण्य-पाप, वह ज्ञान का कर्तव्य नहीं। आत्मा का स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा है। ऐसी दृष्टि बिना मात्र द्रव्यलिंग धारण करे, वह मुनि नहीं है।

अभी बहुत फेरफार हो गया है। वस्त्र-पात्र से मुनिपना मनावे-स्थापित करे, वह शास्त्र सच्चे देव-गुरु और समकिती के कहे हुए नहीं हैं, मिथ्यादृष्टि के कहे हुए हैं। आज मानो, कल मानो, चाहे जिस दिन मानो, यह समझे बिना छुटकारा नहीं है। कुशास्त्र में से सच्ची बात निकले, ऐसा नहीं होता। जिसे स्वभाव की खबर नहीं, उसे सम्यग्दर्शन होता नहीं। जो वस्त्र-पात्र से मुनिपना मनावे, वह कुलिंगीसहित मिथ्यादृष्टि है।

कोई बाह्य से नग्न दिगम्बर हो और पुण्य से धर्म मनावे तो वह भी भावलिंगी साधु नहीं, परन्तु द्रव्यलिंगी है। अन्तर में वीतरागता हो और बाह्य में नग्न हो, उसे मुनि कहते हैं।

यह स्वभाव की बात है। सर्वज्ञ के मुख में से जो वाणी निकली, उसका सार ग्रहण करके, अन्तर में अनुभव करके यह बात कुन्दकुन्दाचार्य ने, समन्तभद्राचार्य ने, पूज्यपादस्वामी आदि सन्तों ने कही हुई है। वे जैनधर्म के स्तम्भ हैं। तीर्थंकरों ने कहा हुआ, गणधरों ने अनुभव किया हुआ, इन्द्रों ने मान्य रखा हुआ यह एक ही मार्ग है। कुन्दकुन्दाचार्य ने सनातन मार्ग को टिका रखा है।

चारित्र की बात भी अभी दुर्लभ हो गयी है। कुदेवादि की श्रद्धा छोड़े नहीं और

सुदेवादि की श्रद्धा न हो, तब तक मिथ्यात्व छूटता नहीं और उसे साधुपना होता नहीं। जैनदर्शन में प्रत्याख्यान न ले तो दण्ड नहीं है, परन्तु चारित्र नहीं होने पर भी चारित्र मनावे, वह दण्ड का पात्र है।

यहाँ मानस्तम्भ होगा, उसमें दिगम्बर प्रतिमाएँ रखी जायेंगी, दिगम्बर मुनियों के चित्र लगाये जायेंगे। वह बड़ा धर्मध्वज है। सनातन जैन राजमार्ग कैसा होता है, उसकी पहिचान प्रदान करता हुआ यह धर्मध्वज—धर्म का चिह्न है।

जो ईश्वर को जगत का कर्ता मानता है, वह तो गृहीतमिथ्यादृष्टि है, उसे महन्तपना नहीं होता। अहिंसा, सत्य किसे कहना, उसकी लोगों को खबर नहीं। प्रत्येक आत्मा स्वयंसिद्ध वस्तु है। ईश्वर की प्रार्थना से कुछ मिले, ऐसा नहीं। वे कुछ दें, ऐसा नहीं। वस्तु है, उसे कौन करे और न हो उसे कौन करे? वस्तु को जाने बिना मात्र क्रियाकाण्ड करे, वह मूढ़ है।

और जो जीव वस्त्रसहित मुनिपना माने, वह कुलिंगी है। तथा व्यवहार से निश्चय प्राप्त होगा, ऐसा माननेवाला भी मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ चारित्र की बात करते हैं।

ये ज्ञानदर्शन जीव के स्वरूप हैं। इनका जो निश्चल थिर होना अपनी उत्पाद-व्यय ध्रुव अवस्था से अस्तित्वरूप और रागादि परिणति के अभाव से निर्मल होना, उसका नाम चारित्र है, वही मोक्ष का मार्ग है।

ज्ञान-दर्शन जीव का स्वभाव है। है, उसकी बात है। जीव अपने ज्ञान-दर्शनस्वभाव के अस्तित्वरूप है। पाँच महाव्रत का उत्पाद होता है, इसलिए चारित्र होता है, ऐसा नहीं परन्तु अपने ज्ञान-दर्शनस्वभाव में एकाग्र होने से चारित्र प्रगट होता है। छठवें गुणस्थान में २८ मूलगुण के पालन का राग, छह आवश्यक के पालन का राग, खड़े-खड़े आहार लेना इत्यादि का जो विकल्प उठता है, उस विकल्प के कारण से चारित्र नहीं है परन्तु अपने ज्ञान-दर्शनस्वभाव में लीनता, वह चारित्र है।

भावलिंगी मुनि का स्वरूप कैसा होता है, उसकी बात चलती है। जिन्हें गणधर कि जो चौदह पूर्व के जाननेवाले हैं, वे नमस्कार करें, वह मुनि कैसे हों, उसकी बात

चलती है। ज्ञान-दर्शन अस्तित्वरूप स्वभाव है। उसमें स्थिरता, वह चारित्र है। पूर्व अवस्था में विकल्प हुआ और महाव्रतादि के परिणाम का उत्पाद हुआ, वह चारित्र नहीं है।

जैसे मेरुपर्वत के ऊपर चोटी है, उसी प्रकार यह मोक्षमार्ग की चूलिका है। ज्ञान-दर्शनस्वभाव में एकाग्र होने से पुरानी अवस्था का व्यय होना, नयी अवस्था का उपजना और ज्ञान-दर्शनस्वभाव का टिका रहना, वह चारित्र है।

अभी वर्तमान में सच्चे मुनि का विरह पड़ा है। व्यवहार श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं, छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हों, ऐसे भावलिंगी सन्त के दर्शन नहीं होते। जीवों के उपादान की योग्यता अनुसार निमित्त होते हैं। कहाँ छठी-सातवीं भूमिका में झूलनेवाले कुन्दकुन्दाचार्य भगवान और कहाँ वर्तमान में माने जानेवाले साधु! मिलान खाये, ऐसा नहीं है।

अहो! आत्मा की पहिचान होने पर चिदानन्द की आँखें उघड़ जाये, ऐसा है। पुण्य-पाप में अटकना, वह क्रियाकाण्ड है और पुण्य-पापरूप विकाररहित स्वभाव की एकाग्रता करना, वह ज्ञानकाण्ड है। किसी रजकण के साथ मुझे सम्बन्ध नहीं, व्रतादि के विकल्प उठते हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं। जितनी चैतन्यस्वभाव में लीनता वर्ते, उतने प्रमाण में रागादि का अभाव है। मुनिपना प्रगटे और वस्त्र-पात्र का राग रहे, ऐसा नहीं होता। वस्त्र-पात्रसहित मुनिपना माननेवाले जीव छठवें गुणस्थान की पर्याय को, उस समय के राग के अभाव को और संयोग के अभाव को नहीं जानता, वह नौ तत्त्व को, सम्यग्दर्शन के स्वरूप को और मुनि के स्वरूप को नहीं जानता। छठवें गुणस्थान की जो पर्याय है, उसे समझने में जो भूल करता है, उसे नौ तत्त्वों में भूल होती है। छठवें गुणस्थान में जितना राग का अभाव, वह संवर-निर्जरा है। वह संवर-निर्जरा कैसे होते हैं, उन्हें जानता नहीं, अजीव की निमित्तता कैसी होती है, आनन्द, वीर्य, चारित्र इत्यादि कितने प्रगट हुए, उन्हें वह जानता नहीं अर्थात् एक भी तत्त्व को यथार्थ नहीं जानता।

और कितने ही जीव श्रीमद् राजचन्द्र के वचनों का आधार देकर स्वच्छन्द पोषते हैं, उन्होंने किसे लक्ष्य कर, किस भूमिकानुसार वाक्य लिखे, उसका मर्म अज्ञानी जीव नहीं जान सकेगा।

चारित्रदशा के समय मुनि को अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणीय और प्रत्याख्यानावरणीय—यह तीन कषायें (चौकड़ी) टले हैं और संज्वलनकषाय अल्प बाकी है। जितना राग नहीं, उतने प्रमाण में छठवें में भी वीतरागी शान्ति, आनन्द, वीर्य, प्रगट हुए हैं। जिसे ऐसा यथार्थ ज्ञान नहीं, उसे सम्यग्दर्शन भी नहीं।

मुनिदशा अभी तो सुनना भी मुश्किल पड़े ऐसा है। बहुत जीव उल्टे मार्ग में चढ़ गये हैं। राग-द्वेष, हर्ष-शोक इत्यादि विकार का अभाव होकर निर्मलता प्रगट हो, उतना चारित्र है।

कुन्दकुन्दाचार्यदेव को तीर्थंकर भगवान का विरह खटकता था। 'रे रे सीमन्धरनाथ का विरहा पड़ा इस भरत में!' परन्तु उनकी योग्यता और पुण्य का योग था तो सीमन्धरनाथ की भेंट हो गयी और अभी इस क्षेत्र में सर्वज्ञ का तो विरह ही है, परन्तु सन्त-मुनियों का भी विरह पड़ा है! अहो! अभी भावलिंगी मुनि का नमूना भी नहीं दिखाई देता।

यहाँ ऐसा कहा कि अपने ज्ञान-दर्शनस्वभाव में स्थिरता और रागादि परिणति का अभाव, वह चारित्र है, वही मोक्ष का मार्ग है। मोक्ष का कारण चारित्र है और चारित्र का कारण जीव का ज्ञान-दर्शनमय स्वभाव है।

चारित्र दो प्रकार का है। एक स्वचारित्र है और दूसरा परचारित्र है। स्वचारित्र को स्वसमय और परचारित्र को परसमय कहते हैं। अखण्ड ज्ञान-दर्शनस्वभाव में लीनता, वह स्वचारित्र है और वैसी लीनता न हो, तब महाव्रतादि के परिणाम हों, उसे परचारित्र कहते हैं। ध्रुव नित्यानन्द शुद्धस्वभाव में जितना स्थिरभाव, वह स्वचारित्र अथवा स्वसमय है और देव-गुरु-शास्त्र के प्रति राग, पंच महाव्रतादि का राग, वह परद्रव्य में जुड़ान है। स्वभाव में से लीनता छूटकर पंच महाव्रतादि का राग, आहार लेने का राग इत्यादि परचारित्र है। देह की क्रिया तो जड़ की है। वह परचारित्र नहीं। मुनि को राग उठता है, वह मोक्षमार्ग नहीं, क्योंकि वह परचारित्र है। परन्तु अपने आत्मभाव में निर्विकल्पता और पुण्य-पाप के विकल्प बिना की स्वभाव में स्थिरता, वह साक्षात् मोक्षमार्ग है। राग को उपचार से मोक्षमार्ग कहते हैं। अज्ञानी तो राग को अच्छा मानता है। ज्ञानी उसे हेय समझते हैं। आत्मस्वभाव में साक्षात् रमणता, वह एक ही मोक्षमार्ग है।

वीर संवत् २४७८, वैशाख शुक्ल ५, बुधवार

आत्मा चिदानन्द वस्तु है, उसकी वर्तमान पर्याय विकारवाली है। वर्तमान में विकार न हो तो आनन्द होना चाहिए। शरीर, मन, वाणी पर है। उन्हें अपना मानकर राग करना, वह दु:ख है। जिसे दु:ख लगता हो और शान्ति चाहिए हो, उसकी बात है। आत्मा वर्तमान सुखी है या दु:खी ? परवस्तु की आशा रखना, वह पराधीनता है। चैतन्य स्वभाव में सुख नहीं मानकर पर के कारण से सुख मानना, वह भ्रान्ति है। ज्ञानस्वभावी आत्मा पर का लक्ष्य करके राग करे, वह दु:खदायक है। जब आशा स्वयं दु:खदायक है तो आशा का जो विषय है, उसमें सुख हो, ऐसा कभी नहीं होता। ज्ञानस्वभावी आत्मा अपने अतिरिक्त पर की आशा रखे, वह दु:खदायक है। ऐसा जो निर्णय करे, वह इच्छासहित मेरे आत्मा में शान्ति कैसे प्रगट हो, ऐसा निर्णय कर सकता है। शरीर, लक्ष्मी, देव-गुरु-शास्त्र की आशा रखना, वह दु:ख है।

पर के प्रति इच्छा करना, वह दु:ख का कारण है—फिर वह इच्छा पूजा की हो, भोग की हो या चाहे जिसे शुभाशुभभाव की हो—वह सब दु:खदायक है। वह सब पराधीनता है। परसन्मुख झुकाव न करना, वह स्वाधीनता है, परन्तु अपनी शक्ति का भरोसा आना चाहिए।

जीव को छोटी पीपर का भरोसा आता है। अभ्रक के पड़ का भरोसा आता है कि हजार पुटवाला हो तो क्षय (टी.बी.) मिटा दे। परन्तु अपने आत्मतत्त्व में शक्ति है, वहाँ एकाग्रता करूँ तो सर्वज्ञता और आनन्द प्रगट हो, इसका भरोसा नहीं आता। यह आत्मा खाली है या भरपूर ? ज्ञाता-दृष्टा है, इसकी प्रतीति न होने से इसमें रमणता नहीं कर सकता। इसलिए परचीज़ को विषय बनाकर राग में रमणता करता है, इसलिए सुखी नहीं होता।

जिस प्रकार दियासलाई के टोप में अग्नि की शक्ति भरी हुई है; उसी प्रकार चैतन्यस्वभाव में आनन्द की शक्ति है। उसे चूककर काम, क्रोधादि की वृत्ति उठे, वह विकृति है, इसलिए परपदार्थ को ध्येय बनाकर स्वभाव से भ्रष्ट रहता है। मैं स्वभाव से ज्ञानस्वरूप हूँ। मेरा उद्धार कोई न करता, यह इसे समझ में आया नहीं। स्वभाव में आये

बिना शान्ति नहीं होती। नित्यानन्द ध्रुव स्वभाव है, ऐसी प्रतीति छोड़कर स्वसमय का त्याग करता है, उसे शान्ति नहीं मिलती। मैं ज्ञायक हूँ। मेरी शान्ति पर में या पर सन्मुख के झुकाव में नहीं हो सकती। मैं ध्रुव हूँ। आदि-अन्तरहित हूँ, ऐसी अन्तर ज्ञान द्वारा स्थिरता करना, वह चारित्र है।

चैतन्य के विरुद्ध कर्म है, उनका नाश करने का उपाय क्या? मैं शुद्ध आनन्दकन्द हूँ, ऐसे स्वरूप में एकाग्रतारूप रमणता, वह कर्मक्षय का उपाय है। मैं परमब्रह्म हूँ, परसन्मुख की शुभ-अशुभ वृत्ति विकार है, व्यापार करने का भाव, वह अशुभराग है। चैतन्य ज्ञानस्वभाव को राग में रोके रखना, वह दुःखदायक है।

अज्ञानी जीव को पर चीज़ सुखदायक लगती है और उसका विश्वास आता है। पर में रुका अथवा व्रत-तप की इच्छा में रुका, परन्तु इच्छारहित चैतन्य का भरोसा नहीं आता।

स्व में लाभ हो या पर में लाभ हो? तुझमें सुख नहीं तो तू नपुंसक है? जिस जीव को चैतन्य की रुचि नहीं होती और पर में लाभ मानता है, वह पावैया-नपुंसक है, वह चैतन्यसत्ता को मानता नहीं। त्रिकाली शुद्ध सत्ता के आश्रय से शान्ति मिले, ऐसा है तो भी पर से शान्ति माननेवाला स्वभाव को नहीं मानता, उसे सामर्थ्यहीन कहा है।

जो जीव पैसे को सुखदायक मानता है, वही जीव पैसे के लुटेरे मिलने पर पैसे को दुःखदायक मानता है। पैसा नहीं होता तो ठीक पड़ता, ऐसी उस समय कल्पना करता है। कल्पना बिना का जो आत्मतत्त्व है, उसकी उसे खबर नहीं। वह पर को महत्ता देता है, परन्तु महत्तावाला स्वयं है, इसकी उसे खबर नहीं। शुभाशुभ दोनों इच्छा दुःखदायक है, उसे छोड़कर इच्छारहित स्वभाव की प्रतीति करके, एकाग्रता करे तो धर्म होता है।

स्वसमय का ग्रहण अर्थात् अपने शुद्ध आत्मा का ग्रहण और राग-द्वेष का त्याग करता है, तब कर्मक्षय होता है और इसलिए जीवस्वभाव की निश्चल स्थिरतारूप मोक्षमार्ग बतलाते हैं। ●●

गाथा - १५५

जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जओध परसमओ।
जदि कुणदि सगं समयं पब्भस्सदि कम्मबंधादो।।१५५।।

जीवः स्वभावनियतः अनियतगुणपर्यायोऽथ परसमयः।
यदि कुरुते स्वकं समयं प्रभ्रस्यति कर्मबन्धात्।।१५५।।

स्वसमयपरसमयोपादानव्युदासपुरस्सरकर्मक्षयद्वारेण जीवस्वभावनियतचरितस्य मोक्ष-मार्गत्वद्योतनमेतत् ।

संसारिणो हि जीवस्य ज्ञानदर्शनावस्थितत्वात् स्वभावनियतस्याप्यनादिमोहनीयोदया-नुवृत्तिपरत्वेनोपरक्तोपयोगस्य सतः समुपात्तभाववैश्वरूप्यत्वादनियतगुणपर्यायत्वं परसमयः परचरितमिति यावत् । तस्यैवानादिमोहनीयोदयानुवृत्तिपरत्वमपास्यात्यन्तशुद्धोपयोगस्य सतः समुपात्तभावैक्यरूप्यत्वान्नियतगुणपर्यायत्वं स्वसमयः स्वचरितमिति यावत् । अथ खलु यदि कथञ्चनोद्भिन्नसम्यग्ज्ञानज्योतिर्जीवः परसमयं व्युदस्य स्वसमयमुपादत्ते तदा तर्कबन्धादवश्यं भ्रश्यति । यतो हि जीवस्वभावनियतं चरितं मोक्षमार्ग इति ।। १५५ ।।

स्व समय स्वयं से नियत है पर भाव अनियत पर समय।
चेतन रहे जब स्वयं में तब कर्मबंधन पर विजय।।१५५।।

अन्वयार्थ :- [जीवः] जीव, [स्वभावनियतः] (द्रव्य-अपेक्षा से) स्वभाव नियत होने पर भी, [अनियतगुणपर्यायः अथ परसमयः] यदि अनियत गुणपर्यायवाला हो तो परसमय है। [यदि] यदि वह [स्वकं समयं कुरुते] (नियत गुणपर्याय से परिणमित होकर) स्वसमय को करता है तो [कर्मबन्धात्] कर्मबन्ध से [प्रभ्रस्यति] छूटता है।

टीका :- स्वसमय के ग्रहण और परसमय के त्यागपूर्वक कर्मक्षय होता है— ऐसे प्रतिपादन द्वारा यहाँ (इस गाथा में) 'जीवस्वभाव में नियत चारित्र, वह मोक्षमार्ग है' ऐसा दर्शाया है।

संसारी जीव, (द्रव्य-अपेक्षा से) ज्ञानदर्शन में अवस्थित होने के कारण स्वभाव में नियत (-निश्चलरूप से स्थित) होने पर भी, जब अनादि मोहनीय के उदय का

अनुसरण करके परिणति करने के कारण [१]उपरक्त उपयोगवाला (-अशुद्ध उपयोगवाला) होता है, तब (स्वयं) भावों का विश्वरूपपना (-अनेकरूपपना) ग्रहण किया होन के कारण, उसे जो [२]अनियतगुणपर्यायपना होता है, वह परसमय अर्थात् परचारित्र है; वही (जीव) जब अनादि मोहनीय के उदय का अनुसरण करनेवाली परिणति करना छोड़कर अत्यन्त शुद्ध उपयोगवाला होता है, तब (स्वयं) भाव का एकरूपपना ग्रहण किया होने के कारण, उसे जो [३]नियतगुणपर्यायपना होता है, वह स्वसमय अर्थात् स्वचारित्र है।

अब, वास्तव में यदि किसी भी प्रकार सम्यग्ज्ञानज्योति प्रगट करके जीव परसमय को छोड़कर स्वसमय को ग्रहण करता है तो कर्मबन्ध से अवश्य छूटता है; इसलिए वास्तव में (ऐसा निश्चित होता है कि) जीवस्वभाव में नियत चारित्र, वह मोक्षमार्ग है॥१५५॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल ५, बुधवार

यह आत्मा निश्चय से अपने शुद्ध आत्मिक भावों में निश्चल है। चौंसठ पहरी छोटी पीपर में चरपराई भरी है। वह व्यक्त होकर बाहर आती है, उसी प्रकार आत्मा में अन्तरशक्ति भरी हुई है। परन्तु परसन्मुख के झुकाव से उसे शान्ति नहीं दिखती। वह त्रिकाली स्वरूप कहीं गया नहीं। गुण-गुणी एक है, स्वयं अपने स्वभाव में निश्चल है, और ज्ञानादि शक्तियों से भरपूर है।

परन्तु अनादि से जीव को अविद्या की वासना रही हुई है। दान देंगे तो धर्म होगा, ऐसा मानता है। तृष्ण घटाना, वह पुण्य है, वह भी विकार होने से दु:खदायक है। अभी

१. उपरक्त=उपरागयुक्त। [किसी पदार्थ में होनेवाला। अन्य उपाधि के अनुरूप विकार (अर्थात् अन्य उपाधि जिसमें निमित्तभूत होती है, ऐसी औपाधिक विकृति-मलिनता-अशुद्धि), वह उपराग है।]

२. अनियत = अनिश्चित; अनेकरूप; विविध प्रकार के।

३. नियत=निश्चत; एकरूप, अमुक एक ही प्रकार के।

तो पुण्य की भी खबर नहीं। परचीज़ के कारण से पुण्य मानता है, परन्तु राग घटाऊँ तो पुण्य होता है, इसकी खबर नहीं तो फिर पुण्यरहित पवित्र आत्मा की प्रतीति नहीं हो सकती। पुण्य-पाप दोनों विकार हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ के परिणाम १०५ डिग्री के बुखार जैसे हैं और दया-दानादि के शुभभाव ९९ डिग्री के बुखार जैसे हैं। दोनों रोग है। ९९ डिग्री बुखार छह महीने आया करे तो क्षय लागू पड़े, उसी प्रकार पुण्य-पाप को अच्छा माने और चैतन्यतत्त्व का भरोसा न करे तो चौरासी में भटकना पड़े। पुण्य-पापरहित शुद्धस्वभाव में स्थिर हो, वह चारित्र है। पुण्य-पाप कृत्रिम है। उनमें धर्म माननेवाले को अनादि का क्षय लागू पड़ा है।

बारह वर्ष के लड़के को क्षय की खबर नहीं पड़ती, उसके बड़े हों अथवा डॉक्टर कहे कि तुझे क्षय लागू पड़ा है। उसी प्रकार अनादि से अज्ञानी को अविद्या का क्षय लागू पड़ा है, परन्तु इसकी उसे खबर नहीं। सम्यग्ज्ञानी गुरु कहते हैं कि उसे मिथ्यादर्शन का रोग लागू पड़ा है।

यह संसार अनादि का है। यदि मुक्तदशा हो गयी हो तो संसार में फिर से आवे नहीं। अज्ञान-राग-द्वेष टल जाने के बाद पूर्ण पवित्रदशा प्रगट हो और देह रहे नहीं। अनादि का जीव कैसे भटकता है, उसकी भी अज्ञानी को खबर नहीं। अनादि से अज्ञानी की वासना पर में पड़ी है। अपने आत्मा के अतिरिक्त स्त्री, पुत्र, देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि सब पर हैं। उनकी ओर प्रीति करके अन्तर में राग-द्वेष से सुलग रहा है। पुण्य-पाप के भाव करके, गुण-गुणी की तन्मयता छोड़कर, पर में एकपना मानता है। शरीर अनुकूल हो तो धर्म होता है। शास्त्र अच्छे हों तो धर्म होता है, ऐसा परसन्मुख झुकाव करता है परन्तु मैं चैतन्य हूँ, मेरा ज्ञान और मेरा धर्म मुझमें है—ऐसी रुचि नहीं करता।

बुखार लम्बे काल रहे तो लोगों को शंका पड़ती है कि अवश्य क्षय होगा, उसी प्रकार अनादि का संसार चालू है। अनन्त काल में अनन्त अवतार किये, कीड़ी के, कंथवा के, सेठ के, राजा के, निर्धन के इत्यादि बहुत अवतार किये। मेरी शान्ति मुझमें है, ऐसा नहीं मानकर पर में मान रहा है, मैं ज्ञायकस्वरूप हूँ, विकार मेरा स्वरूप नहीं, ऐसा नहीं मानकर अनादि से पर में उपयोग होने से पुण्य-पाप में लीन हुआ है और राग और वासना की आड़ में चैतन्य कौन है, उसका विश्वास नहीं करता।

लोग अभी करते हैं, वैसे दान, पुण्य क्या पूर्व में नहीं किये होंगे? बहुत बार

किये हैं। परन्तु चिदानन्द आत्मा की रुचि बिना परिभ्रमण टला नहीं। भगवान की ओर का राग भी पुण्य है। उससे धर्म मनावे, वह मूढ़ है, क्योंकि उमसें इच्छा का उत्थान है। तथापि अज्ञानी उसमें रत है—लीन है। और किसी जीव की कृपा से भूल टले, ऐसा अज्ञानी मानता है, तो फिर दूसरे ने भूल करायी और दूसरा टाले। तो इसे कुछ करना रहा नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि शुद्ध चैतन्य का भरोसा करके अन्तर्मुख विश्वास करता नहीं, इसलिए स्वयं भूल करता है और स्वयं विश्वास लाकर भूल टाल सकता है।

सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि तू तेरे अपने गुण-पर्याय में निश्चल है, पर का तू कुछ भी नहीं कर सकता। पर का कर सकने की सामर्थ्य तुझमें हो तो शरीर में रोग क्यों आने देता है? स्त्री को क्यों मरने देता है? दाँत क्यों गिरने देता है? पर में तेरा विचारा कुछ होता नहीं, जीव मात्र अभिमान करता है। इसलिए श्रद्धा का विषय बदल। शरीर का तथा पर का कर सकता हूँ, ऐसी श्रद्धा छोड़। पुण्य-पाप की श्रद्धा छोड़ और स्वभाव की श्रद्धा कर। ऐसी श्रद्धा करने से पुण्य-पाप होने पर भी उनका जोर नहीं रहेगा।

जो जीव अपने ज्ञानादि गुण-पर्याय में लीन नहीं और बाहर में लीन है, वह पर आचरण है। पुण्य-पाप के भाव सब पर आचरण है। उस जीव को अपने स्वभाव में रमना सुहाता नहीं। अपने स्वरूप की रुचि के अभाव में पुण्य-पाप की रुचि करके उसमें आचरण करता है, वह पर आचरण है। जिसे स्वभाव का भान नहीं और पर का आचरण करता है, वह संसार में भटकता है।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल ६, गुरुवार

चारित्र किसे कहना? आत्मा का स्वभाव ज्ञान-दर्शन है, उसका आचरण करना, वह चारित्र है। संसारी जीव पुरुषार्थ करके, आत्मिक स्वरूप का आचरण करता है, तब बन्धरहितदशा को पाता है।

भावार्थ : ज्ञानस्वभाव और स्वभाववान अभेद है, अपना स्वभाव एकरूप निश्चल है। जीव अपने स्वभाव से कभी च्युत नहीं होता। पर्याय में च्युतपना न हो तो संसार न हो और स्वभाव में च्युतपना हो तो स्वभाव का नाश होने से द्रव्य का नाश हो जाये, चेतन पदार्थ असंख्य प्रदेश में गुण-गुणी अभेद एकाकार है। द्रव्य और गुण में कभी भी

विकार प्रविष्ट नहीं हुआ, ऐसा स्वभाव होने पर भी स्वयं मोहनीयकर्म के वश होकर अशुद्ध उपयोगी होकर अनेक परभावों को धारण करता है। आत्मा के स्वभाव का भान नहीं, इसलिए विकार में पड़ा है। सम्यग्दर्शन बिना व्रत, तप इत्यादि बालव्रत, तप है। जिस भाव से नौवें ग्रैवेयक में गया, पाँच समिति के आचरण किये, वह आत्मा का आचरण नहीं। वैसे आचरण अनन्त बार किये। अज्ञानी जीव पुण्य से लाभ मानकर भटकता है। मिथ्याभ्रान्ति का आचरण करे और निजगुण का आचरण करे, ऐसा साथ में बनता नहीं, दोनों में एक होता है, ज्ञाता-दृष्टा स्वभावरूप नहीं परिणमने से परसमयरूप प्रवर्तता है। विकार में आचरण, वह परभाव है; इसलिए उस जीव को परचारित्र के आचरणवाला कहते हैं। ज्ञानस्वभाववाला होने पर भी, पुण्य-पाप में रुकना, वह ज्ञानस्वभाव का आचरण नहीं। बाहर में सुधारा कर दूँ, ऐसा पर में झुक रहा है और दया, दानादि के भाव में रुकता है, वह परचारित्र है।

जो जीव कुदेवादि की मान्यता छोड़कर सच्चे देवादि की मान्यता करता है और सच्चे देवादि की ओर के राग को भी छोड़कर अन्तर में लीन होता है, उसे चारित्र होता है, जिसे कुदेवादि और सुदेवादि के बीच का विवेक नहीं, उसे तो सम्यग्दर्शन भी नहीं। मोहनीयकर्म की प्रवृत्ति दूर करके, इसका अर्थ यह कि उस प्रकृति की ओर के झुकाव को छोड़कर, चिदानन्दस्वभाव में लीन होता है, तब निज रूप धारण करता है, और दया, दानादि के रागरूप परिणाम धारण करता हुआ अपने गुण-पर्याय में परिणमता है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का राग होता है, परन्तु वह पर के आश्रय से है, इसलिए वह परगुण पर्याय है। स्व के आश्रय से प्रगटे, वह निज गुणपर्याय है। दया, दानादि के परिणाम को निज पर्याय कहा नहीं। ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप से प्रवर्ते, तब आत्मिक चारित्र का धारक कहलाता है। दया, दानादि रूप से प्रवर्ते, वह आत्मा का आचरण नहीं। शुद्धोपयोग, वह चारित्र है। अट्ठाईस मूलगुण का पालन या महाव्रतादि का पालन, वह अनात्मा का आचरण है।

यह आत्मा जब निसर्गज अथवा अधिगम सम्यग्ज्ञान ज्योति प्रगट करता है और परसमय को त्यागकर स्वसमय को अंगीकार करता है, तब अवश्य कर्मबन्धन से रहित होता है, धर्म प्राप्त करते समय सच्चे देव और गुरु की उपस्थिति हो तो अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता है और उस समय उपस्थिति न हो परन्तु पूर्व में ज्ञानी से देशना

सुनी हो, उस समय सम्यग्दर्शन नहीं प्राप्त किया हो और बाद में पूर्वसंस्कार याद लाकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करे, वह निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है, ज्ञानी किसी भव में न मिले हों और अपने आप समकित पा जाये, ऐसा निसर्गज का अर्थ नहीं है, परन्तु धर्म प्राप्त करनेवाले को उस भव में ज्ञानी की समीपता नहीं, ऐसा निसर्गज बतलाता है। ज्ञानी बिना अपने आप धर्म प्राप्त कर जाये, ऐसा भी नहीं है और अपनी योग्यता हो और ज्ञानी न मिले, ऐसा भी नहीं होता, दोनों में पुरुषार्थ समान है। ज्ञानी पुरुष ने बात की थी कि आत्मा गुण-गुणी अभेद है, ऐसा मेरा समस्वभावी चैतन्य सूर्य शुद्ध है, ऐसा भान होना, शरीरादि अजीव है, पुण्य-पाप मेरा स्वभाव नहीं, वस्तु में दु:ख नहीं, विकल्प नहीं— ऐसा भान होने पर सम्यग्ज्ञान ज्योति प्रगट होती है। इस प्रकार विकारी अवस्था का व्यय हो जाता है और मैं पूर्ण हूँ, ऐसे आत्मा को आदरणीय मानता है, तब आत्मा अवश्य कर्मबन्धन से रहित होता है। चारित्र, वह साक्षात् धर्म है। वह मोक्ष का कारण है। निश्चल भावों के आचरण से मोक्ष सधता है।

अज्ञानी जीव को अपने ज्ञानस्वभाव का विश्वास नहीं आता। चिदानन्दस्वभाव में लीन होना, उसे तप कहते हैं। जिस प्रकार कोई निंबोली को नीलमणि माने तो मूर्ख है, उसी प्रकार आत्मा के स्वभाव को छोड़कर बाह्य प्रवृत्ति में रोके, वह मूर्ख है। किसी महिला को कमोद खांडती देखकर दूसरी महिला उसकी नकल करके वे छिलके खांडने लगे तो उसे चावल की प्राप्ति नहीं होगी, उसी प्रकार ज्ञानी को अपने ज्ञानस्वभाव में लीन होने से आहार की वृत्ति ही नहीं हुई और आहार छूट गया। ज्ञानी वीतरागता देखता है। अज्ञानी बाहर की रोटियाँ छूट गयी, उन्हें देखता है। रोटियाँ तो अजीव हैं, उन्हें आत्मा कैसे छोड़े? भगवान तो आत्मा के शुद्ध चिदानन्दस्वरूप में लीन थे, इसलिए आहार लेने का विकल्प नहीं उठा। रोटियाँ नहीं ली, ऐसा लोग देखते हैं, यह अज्ञानभाव है। आत्मा के भेदज्ञान बिना अज्ञानी जीवों ने व्रत, तप, उपवास किये, संथारा किये, हड्डियाँ खडखड हों, ऐसी क्रिया की, परन्तु आत्मा के ज्ञान बिना धर्म नहीं हुआ।

जयसेन आचार्य टीका में लिखते हैं कि आत्मा शुद्ध-बुद्ध एकरूप स्वभाववाला है, ऐसे भानसहित जो अपने स्वभाव को भाता है, उसे ही चारित्र होता है और उसे कर्मबन्ध नाश पाता है। ●●

गाथा - १५६

जो परदव्वम्हि सुहं असुहं रागेण कुणदि जदि भावं।
सो सगचरित्तभट्ठो परचरियचरो हवदि जीवो।।१५६।।

यः परद्रव्ये शुभमशुभं रागेण करोति यदि भावम्।
स स्वकचरित्रभ्रष्टः परचरितचरो भवति जीवः।।१५६।।

परचरितप्रवृत्तस्वरूपाख्यानमेतत् ।

यो हि मोहनीयोदयानुवृत्तिवशाद्रज्यमानोपयोगः सन् परद्रव्ये शुभमशुभं वा भावमादधाति, स स्वकचरित्रभ्रष्टः परचरित्रचर इत्युपगीयते, यतो हि स्वद्रव्ये शुद्धोपयोगवृत्तिः स्वचरितं, परद्रव्ये सोपरागोपयोगवृत्तिः परचरितमिति ।।१५६।।

जो राग से परद्रव्य में करते शुभाशुभभाव हैं।
परचरित में लवलीन वे स्व-चरित्र से परिभ्रष्ट है।।१५६।।

अन्वयार्थ :- [यः] जो, [रागेण] राग से (-रंजित अर्थात् मलिन उपयोग से), [परद्रव्ये] परद्रव्य में [शुभ अशुभम् भावम्] शुभ या अशुभभाव [यदि करोति] करता है, [सः जीवः] वह जीव [स्वकचरित्रभ्रष्टः] स्वचारित्रभ्रष्ट ऐसा [परचरितचरः भवति] परचारित्र का आचरण करनेवाला है।

टीका :- यह, परचारित्र में प्रवर्तन करनेवाले के स्वरूप का कथन है।

जो (जीव) वास्तव में मोहनीय के उदय का अनुसरण करनेवाली परिणति के वश (अर्थात् मोहनीय के उदय का अनुसरण करके परिणमित होने के कारण) रंजित-उपयोगवाला (उपरक्त-उपयोगवाला) वर्तता हुआ, परद्रव्य में शुभ या अशुभभाव को धारण करता है, वह (जीव) स्वचारित्र से भ्रष्ट ऐसा परचारित्र का आचरण करनेवाला कहा जाता है; क्योंकि वास्तव में स्वद्रव्य में शुद्ध-उपयोगरूप परिणति, वह स्वचारित्र है और परद्रव्य में [१]सोपराग-उपयोगरूप परिणति, वह परचारित्र है।।१५६।।

---

१. सोपराग=उपरागयुक्त; उपरक्त; मलिन; विकारी; अशुद्ध। [उपयोग में होनेवाला, कर्मोदयरूप उपाधि के अनुरूप विकार (अर्थात् कर्मोदयरूप उपाधि जिसमें निमित्तभूत होती है, ऐसी औपाधिक विकृति) वह उपराग है।]

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल ६, गुरुवार

यह बात यहाँ से बाहर आयी, इसलिए कितने ही प्ररूपक यह तत्त्व की बात हमारे शास्त्रों में भी है, ऐसा कहकर माया करके ज्ञानी का अनादर करते हैं, कुशास्त्र को पोषते हैं। सन्तों का अनादर करना, खोटे को पोषने के लिये और लोगों को भ्रम में डालने के लिये वे दोगुना गुनाह करते हैं, वे स्वच्छन्द से प्रवर्तते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य भगवान अष्टपाहुड़ में बतलाते हैं कि जो जीव लज्जा, भय, कुतूहलादि से कुदेवादि की भक्ति करता है, उन्हें पूजता है, वह मिथ्यादृष्टि है। पर से भेदज्ञान करने की सामर्थ्य नहीं, उसे राग से भेदज्ञान हो, ऐसा नहीं होता। धर्मी को कुदेवादि का प्रेम नहीं होता, सुदेवादि का प्रेम होता है।

अब परचारित्ररूप परसमय का स्वरूप कहते हैं।

अविद्यारूपी डाकन अज्ञानी को लग रही है, जो जीव चैतन्यस्वभाव को चूकता है और राग में एकाकार बनता है, उसे मोहरूपी चुडैल लगी है। दया-दानादि के भाव में लाभ माने, वह मदिरा पीये हुए पागल जैसा है। व्रत, संयम, भक्तिभाव तथा पाँच इन्द्रियों के विषय-कषाय के भाव असत् भाव हैं। उन्हें जो करता है, वह जीव आत्मिक शुद्ध आचरण से रहित है और परसमय के आचरणवाला है।

व्यापार में लाईसेन्स से अधिक माल रखे, उसे सरकार पकड़ती है और लाईसेन्स बिना मँगावे, उसका भी दण्ड करती है, उसी प्रकार यहाँ वस्तुस्वरूप के दृष्टि और ज्ञान बिना व्रत, तप करे, वह चौरासी के अवतार में दण्डित होता है। अपनी आत्मिक वस्तु को छोड़कर व्रत, भक्ति, संयम, विनय में धर्म मानता है, उसने मिथ्यात्व की मदिरा पी है, वह महामूढ़ है। धर्मी जीव को सुदेवादि के प्रति भक्ति का राग आता है, परन्तु वह उसमें धर्म नहीं मानता; अज्ञानी उसमें धर्म मानता है।

कोई **पूछे** कि शुभराग में धर्म नहीं तो यह सब किसलिए करते हो?

समाधान : जड़ की अवस्था का आत्मा कर्ता नहीं। शुभभाव आता है, उसे धर्मी

जानता है, परन्तु अज्ञानी उससे भला मानता है।

सच्चे ज्ञानपूर्वक के वैराग्य में उकताहट आना, वह संवरतत्त्व की भूल है। उसे संवर दु:खदायक लगता है। मिथ्यादृष्टि जीव को अन्तर की बात रुचती नहीं, उसे अज्ञान में मजा लगता है।

यहाँ कहते हैं कि जो अपने शुद्ध आत्मा के आचरण को भूलकर व्रत, तप तथा विषय-कषायादिभावों को आचरता है, वह जीव आत्मिक शुद्ध आचरण से रहित है, वह परसमय के आचरणवाला है अर्थात् कि उसे शुद्धि नहीं होती।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल ६, शुक्रवार

भावार्थ : यह अधिकार मोक्षमार्ग का है। सम्यग्दर्शन हुए बिना चारित्र होता नहीं और चारित्र बिना मुक्ति होती नहीं। आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है, उसे चूककर दया, दानादि के भाव करे, वह पुण्य है। हिंसा, झूठ, चोरी के भाव, वे पाप हैं—वह अशुद्धोपयोग है। उसमें रमनेवाला जीव ज्ञानानन्दस्वभाव के आचरण से भ्रष्ट हुआ है। भगवान की वाणी में प्रसिद्ध है कि दया, दानादि के विकल्प आत्मिक भाव नहीं है।

अनाकुल स्वभाव में प्रवृत्ति या रमणता होना, वह स्वचारित्र है। वह चारित्र कोई क्रियाकाण्ड के आश्रय से नहीं होता। ज्ञानानन्दस्वभाव के आश्रय से विकाररहित दशा होना, वह मोक्ष का कारण है।

इसमें क्रिया क्या आयी ?

इसमें समझने की क्रिया आयी। आत्मा की ओर के झुकाव में शुद्ध चैतन्य की क्रिया आती है। द्रव्य त्रिकाल है, विकार क्षणिक है, विकाररहित स्वरूप में आचरण, वह क्रिया है। वह बढ़कर शुक्लध्यान और केवलज्ञान प्रगट होता है। वह क्रिया है।

कितने ही लोग मुनि को आहारादि देने में धर्म मानते हैं और आहार लेनेवाला और देनेवाला दोनों मोक्ष जाते हैं, ऐसा कहते हैं, वह बात बराबर नहीं है। आहारादि देने का भाव शुभ है, उससे पुण्य होता है परन्तु धर्म नहीं होता तो भी पुण्य से धर्म मानते हैं,

इसलिए मिथ्यात्व का महापाप लगता है। लोग अशुभ को पाप गिनते हैं, परन्तु मिथ्यात्व का ख्याल आता नहीं कि बड़े में बड़ा पाप तो वही है। वह पाप स्वरूप की समझण से टलता है।

यहाँ कहा कि आत्मिक भावों में प्रवृत्ति, वह स्वसमय है और परद्रव्य में प्रवृत्ति, वह परसमय है। स्वसमय में लीन होना, वह आध्यात्मिक पुरुषों का विलास है।

अब, जो पुरुष परसमय में प्रवर्तते हैं, उन्हें बन्ध होता है और उन्हें मोक्षमार्ग का निषेध है, ऐसा कहते हैं। ●●

गणधरदेव द्वारा वन्दनीय अद्भुत मुनिदशा

अभी महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान समवसरण में विराजमान हैं, उनकी देह पाँच सौ धनुष की है। उनके समवसरण में गणधर विराजते हैं। वे भगवान की दिव्यध्वनि झेलकर दो घड़ी में द्वादशाङ्ग की रचना करने की अद्भुत सामर्थ्यवाले हैं। तीर्थङ्कर भगवान अर्थात् धर्म के राजा और गणधर अर्थात् धर्म के दीवान; ऐसे गणधरदेव भी जब नमस्कार मन्त्र बोलकर पञ्च परमेष्ठी को भावनमस्कार करते हैं, तब वीतरागी आनन्द में झूलनेवाले सभी मुनि उसमें आ जाते हैं।

अहो! गणधरदेव जिन्हें नमस्कार करें, उन सन्तों की दशा कैसी! उन मुनिराज की महिमा कितनी!! मुनि भी परमेष्ठी हैं। वे मुनि अत्यन्त भवभीरु हैं और रागरहित निष्कर्म परिणतिवाले हैं। बाहर के किसी कार्य का बोझ वे अपने सिर पर नहीं लेते; अन्तर में आनन्द के अनुभव में ही उनकी परिणति लीन है। ऐसे सन्त शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति-आराधना करते हैं। अन्तर में रत्नत्रय की आराधना हो और बाह्य में निष्परिग्रही मुद्रा हो – ऐसी मुनि की दशा है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, सम्यग्दर्शन, भाग २, पृष्ठ ४४-४५)

गाथा - १५७

आसवदि जेण पुण्यं पावं वा अप्पणोध भावेण।
सो तेण परचरित्तो हवदि त्ति जिणा परूवेंति।।१५७।।

आस्रवति येन पुण्यं पापं वात्मनोऽथ भावेन।
स तेन परचरित्रः भवतीति जिनाः प्ररूपयन्ति।।१५७।।

परचरितप्रवृत्तेर्बन्धहेतुत्वेन मोक्षमार्गत्वनिषेधनमेतत् ।

इह किल शुभोपरक्तो भावः पुण्यास्रवः, अशुभोपरक्तः पापस्रव इति । तत्र पुण्यं पापं वा येन भावेनास्रवति यस्य जीवस्य यदि स भावो भवति स जीवस्तदा तेन परचरित इति प्ररूप्यते । ततः परचरितप्रवृत्तिर्बन्धमार्ग एव, न मोक्षमार्ग इति ।। १५७ ।।

पुण्य एवं पाप आस्रव आतम करे जिस भाव से।
वह भाव है परचरित ऐसा कहा है जिनदेव ने।।१५७।।

अन्वयार्थ :- [येन भावेन] जिस भाव से, [आत्मनः] आत्मा को [पुण्यं पापं वा] पुण्य अथवा पाप [अथ आस्त्रवति] आस्त्रवित होते हैं, [तेन] उस भाव द्वारा [सः] वह (जीव) [परचरित्रः भवति] परचारित्र है—[इति] ऐसा [जिनाः] जिन [प्ररूपयन्ति] प्ररूपित करते हैं।

टीका :- यहाँ, परचारित्रवृत्ति बन्धहेतुभूत होने से उसे मोक्षमार्गपने का निषेध किया गया है (अर्थात् परचारित्र में प्रवर्तन बन्ध का हेतु होने से वह मोक्षमार्ग नहीं है, ऐसा इस गाथा में दर्शाया गया है)।

यहाँ वास्तव में शुभोपरक्त भाव (-शुभरूप विकारी भाव), वह पुण्यास्त्रव है और अशुभोपरक्त भाव (-अशुभरूप विकारी भाव) पापस्त्रव है। वहाँ, पुण्य अथवा पाप जिस भाव से आस्त्रवित होते हैं, वह भाव जब जिस जीव को हो, तब वह जीव उस भाव द्वारा परचारित्र है—ऐसा (जिनेन्द्रों द्वारा) प्ररूपित किया जाता है। इसलिए (ऐसा निश्चित होता है कि) परचारित्र में प्रवृत्ति, सो बन्धमार्ग ही है; मोक्षमार्ग नहीं है॥१५७॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल ६, शुक्रवार

आत्मा में शुभाशुभभाव हों, वह अशुद्धोपयोग है। दया-दान से पुण्य के परमाणु आते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी से पाप के परमाणु आते हैं। वह अशुद्धभाव परसमय का आचरण करनेवाला है। स्वभाव को चूककर जितनी परसन्मुख की प्रवृत्ति होती है, उतना सब परचारित्र है, वह बन्ध का कारण है, ऐसा सर्वज्ञ भगवान कहते हैं।

भावार्थ : भगवान ने कहा और शास्त्र कहते हैं कि आत्मा का स्वभाव चूककर जो शुभभाव होता है, वह नये पुण्य का कारण है और मिथ्यात्व आदि अशुभभाव होता है, वह नये पाप का कारण है। जिन भावों से पुण्य अथवा पापरूप कर्म आते हैं, उनका नाम भावआस्रव है। जो पुण्य को भला माने, वह उससे भिन्न नहीं पड़ना चाहता। अपने शुद्धचिदानन्दस्वभाव को चूककर पुण्य-पाप होते हैं, तथापि अज्ञानी उनमें मजा मानता है। पुण्य-पाप की रुचि करता है और मानता है कि हम धर्म करते हैं, यही भ्रान्ति है। जीव को जिस समय शुभाशुभभाव होते हैं, उस समय वह अशुद्ध परिणाम से परद्रव्य के आचरणवाला कहलाता है। इस कारण से निश्चित होता है कि परद्रव्य की आचरणरूप प्रवृत्ति, वह बन्ध का मार्ग है; मोक्षमार्ग नहीं—ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है। ●●

मुनिराज का दर्शन : हमारा धन्य भाग्य

अहो! भावलिङ्गी मुनि अर्थात् चलते-फिरते परमेश्वर, जो अन्दर में आनन्दकन्द का झूला झूलते हैं और पञ्च महाव्रत के राग को जहर जानते हैं। अहो! जिनके दर्शन अहो भाग्य से होते हैं। जो आनन्द की क्रीड़ा करते हैं, वह धन्य दशा अलौकिक है। अरे! गणधरों का नमस्कार जिसे पहुँचे, उस दशा की क्या बात!

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, दृष्टि ना निधान, बोल १५७

गाथा - १५८

जो सव्वसंगमुक्को णण्णमणो अप्पणं सहावेण।
जाणदि पस्सदि णियदं सो सगचरियं चरदि जीवो।।१५८।।

यः सर्वसङ्गमुक्तः अनन्यमनाः आत्मानं स्वभावेन।
जानाति पश्यति नियतं सः स्वकचरितं चरति जीवः।।१५८।।

स्वचरितप्रवृत्तस्वरूपाख्यानमेतत् ।

यः खलु निरुपरागोपयोगत्वात्सर्वसङ्गमुक्तः परद्रव्यव्यावृत्तोपयोगत्वादनन्यमनाः आत्मानं स्वभावेन ज्ञानदर्शनरूपेण जानाति पश्यति नियतमवस्थितत्वेन, स खलु स्वकं चरितं चरति जीवः । यतो हि दृशिज्ञप्तिस्वरूपे पुरुषे तन्मात्रत्वेन वर्तनं स्वचरितमिति ।। १५८ ।।

जो सर्व संगविमुक्त एवं अनन्य आत्मस्वभाव से।
जाने तथा देखे नियत रह उसे चारित्र है कहा।।१५८।।

अन्वयार्थ :- [यः] जो, [सर्वसङ्गमुक्तः] सर्वसंगमुक्त और [अनन्यमनाः] अनन्यमनवाला वर्तता हुआ [आत्मानं] आत्मा को [स्वभावेन] (ज्ञानदर्शनरूप) स्वभाव द्वारा [नियतं] नियतरूप से (-स्थिरतापूर्वक) [जानाति पश्यति] जानता-देखता है, [सः जीवः] वह जीव [स्वकचरितं] स्वचारित्र [चरति] आचरता है।

टीका :- यह, स्वचारित्र में प्रवर्तन करनेवाले के स्वरूप का कथन है।

जो (जीव) वास्तव में [१]निरुपराग उपयोगवाला होने के कारण सर्वसंगमुक्त वर्तता हुआ, परद्रव्य से [२]व्यावृत्त उपयोगवाला होने के कारण [३]अनन्यमनवाला वर्तता

---

१. निरुपराग=उपराग रहित; निर्मल; अविकारी; शुद्ध।[निरुपराग उपयोगवाला जीव समस्त बाह्य-अभ्यन्तर संग से शून्य है तथापि निःसंग परमात्मा की भावना द्वारा उत्पन्न सुन्दर आनन्दस्यन्दी परमानन्दस्वरूप सुखसुधारस के आस्वाद से, पूर्ण कलश की भाँति, सर्व आत्मप्रदेश में भरपूर होता है।]

२. व्यावृत्त=विमुख हुआ; पृथक् हुआ; निवृत्त हुआ; निवृत्त; भिन्न।

३. अनन्यमनवाला=जिसकी परिणति अन्य के प्रति नहीं ऐसा।(मन=चित्त; परिणति; भाव)

हुआ, आत्मा को ज्ञानदर्शनरूप स्वभाव द्वारा नियतरूप से अर्थात् अवस्थितरूप से जानता-देखता है; वह जीव वास्तव में स्वचारित्र आचरता है; क्योंकि वास्तव में [१]दृशिज्ञप्तिस्वरूप पुरुष में (-आत्मा में) तन्मात्ररूप से वर्तना, सो स्वचारित्र है।

भावार्थ :- जो जीव शुद्धोपयोगी वर्तता हुआ और जिसकी परिणति पर की ओर नहीं जाती, ऐसा वर्तता हुआ, आत्मा को स्वभावभूत ज्ञानदर्शनपरिणाम द्वारा स्थिरतापूर्वक जानता-देखता है, वह जीव स्वचारित्र का आचरण करनेवाला है; क्योंकि दृशिज्ञप्तिस्वरूप आत्मा में मात्र दृशिज्ञप्तिरूप से परिणमित होकर रहना, वह स्वचारित्र है॥१५८॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल ६, गुरुवार

अब, स्वसमय में विचरनेवाले पुरुष का स्वरूप विशेषता से बतलाते हैं।

स्वसमय के आचरणवाला कौन होता है? सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्धभाव से शुद्ध जीव को जानता है। शुभाशुभभाव से रहित अन्तरंग में लीनता होना, वह शुद्धभाव है। चैतन्य और जड़ के बीच का भेदज्ञान होना चाहिए। ज्ञानस्वभावी आत्मा को जड़ स्पर्शता ही नहीं।

एक आत्मद्रव्य पुद्गलद्रव्य को स्पर्शता नहीं, पुद्गल परमाणु दूसरे को स्पर्शता नहीं। ऐसे अनन्त तत्त्व पृथक् हैं, एक-दूसरे के अभावरूप से रहे हुए पदार्थ एक-दूसरे को स्पर्शते नहीं, तभी अनन्त रहते हैं। संयोगीदृष्टिवाले को स्वभाव नहीं दिखता। त्रिकाली जीव कर्म को स्पर्शा नहीं और वर्तमान राग भी कर्म के कारण से नहीं है। राग निर्बलता से है, परन्तु स्वभाव में नहीं। ऐसा निर्णय करे तो धर्म होता है।

प्रत्येक समय प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नहीं। धर्मी जीव का ज्ञान स्वतन्त्रता को देखता है। प्रत्येक का

---

१. दृशि=दर्शनक्रिया; सामान्य अवलोकन।

स्वभाव पृथक् है, ऐसा वह जानता है। शरीर को कर्म स्पर्शा नहीं। तो फिर कर्म आत्मा को स्पर्शता ही नहीं। ऐसी दृष्टि बिना धर्म होता नहीं। संयोग से देखनेवाला स्वभाव को नहीं देखता। जीव लड्डू को स्पर्शता नहीं। लड्डू जीव को स्पर्शते नहीं। ज्ञान को स्वतन्त्र माननेवाला ज्ञेय को भी स्वतन्त्र मानता है। ज्ञेय को स्वतन्त्र माननेवाला ज्ञान को भी स्वतन्त्र मानता है। परन्तु अपने को पराधीन माननेवाला सबको पराधीन मानता है।

मेरे ज्ञान-दर्शनस्वभाव से सब ज्ञात होता-दिखता है, तथापि अज्ञानी मानता है कि चश्मा चढ़ाया, इसलिए ज्ञान हुआ। अज्ञानी की दृष्टि विपरीत है। आत्मा का स्वभाव जानना-देखना है। कर्म एक क्षेत्र में होने पर भी और एक समय की क्षणिक विकारी पर्याय होने पर भी स्वभाव तो शुद्ध है, ज्ञानस्वभाव स्वतन्त्र है। ऐसे भान बिना चारित्र होता नहीं। यह बात चौथे काल में भी सबको बैठी नहीं तो पंचम काल में सबको बैठे (जँचे) ऐसा नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ की वर्तमान पर्याय अपने-अपने से होती है, पर से नहीं होती। चैतन्यमूर्ति आत्मा त्रिकाल है और पर्याय में पलटा खाना, वह उसका स्वभाव है। पर के कारण से विकार होता नहीं और मेरे कारण से पर में लाभ-नुकसान नहीं—ऐसी मान्यता होने पर स्व में दृष्टि जाती है।

यह अलौकिक बात है। निद्धत और निकाचितकर्म जीव को चिपटे ही नहीं, कर्म कर्म में है, जीव जीव में है। शरीर, राग और कर्म होने पर भी शुद्ध आत्मा उन्हें स्पर्शता नहीं। शुद्ध आत्मा सबसे भिन्न है। इस प्रकार आत्मा ज्ञानप्रत्यक्ष है।

कितने ही जीव यह बात एल.एल.बी. की है, सूक्ष्म है, ऐसा कहकर बात को टाल देते हैं। अपने गृहस्थ कहलाते हैं। पूरे दिन काम करें और नहीं करना, ऐसा कैसे कहा जाये ? भाई ! पर का काम कोई नहीं कर सकता। आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है। आत्मा अपने गुण-पर्याय को स्पर्शता है और परमाणु अपने गुण-पर्याय को स्पर्शता है, एक-दूसरे एक-दूसरे को स्पर्शते नहीं।

आईसक्रीम खाते समय आईसक्रीम, जीभ और आत्मा तीनों भिन्न हैं। प्रत्येक की क्रिया अपने-अपने में होती है। आत्मा आत्मा में काम करता है। यह बात बैठे तो काम का है।

श्रीमद् ने कहा है कि 'इस लोक की रचना असत्य का आग्रह करानेवाली है।'

ज्ञानस्वभाव पर से भिन्न है, वह कर्म को स्पर्शा नहीं, भटकने की पर्याय स्वयं अपने से की है। स्वयं पर से पृथक् है, ऐसा निर्णय करे तो राग से त्रिकाली स्वभाव पृथक् है, ऐसा निर्णय करने का प्रसंग आवे, परन्तु पर से पृथक् पड़ा नहीं, उसे राग से स्वभाव भिन्न है, यह बात बैठेगी नहीं।

सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्धभाव से शुद्ध जीव को निश्चय से जानता है। पर से या राग से जानता नहीं। परन्तु ज्ञान से जानता है। ऐसे भानवाला आत्मा पर से अस्पर्शी आत्मा—अपना भान करने के पश्चात् सर्वसंगविमुक्त होता है। मैं सर्वसंगविमुक्त हूँ, ऐसी प्रथम दृष्टि हो, वह सर्वसंगविमुक्त पर्याय में होता है। परन्तु शरीर-मन-वाणी, देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि के संग से लाभ माने, उसकी तो दृष्टि भी सच्ची नहीं। सर्वसंग से मैं पृथक् हूँ, ऐसा भान होने के पश्चात् मुनिदशा होती है। अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह से रहित होकर एकाग्रता से चित्त का निरोध करके स्वरूप में मग्न होता है, वह जीव स्वसमय के आचरणवाला कहलाता है।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल ७, शनिवार

चारित्र मोक्षमार्ग है। वह दर्शन-ज्ञानपूर्वक होता है। मुनि अन्तरबाह्य परिग्रह से रहित होते हैं। सर्वसंग से मुक्त हो, तब चारित्र होता है। स्वरूप की एकाग्रता, वह चारित्र है।

जयसेन आचार्य टीका में लिखते हैं कि मुनि सर्वसंगविमुक्त होते हैं। तीन काल और तीन लोक के पदार्थों के प्रति उदासीनता वर्तती है। हिंसा, झूठ, चोरी आदि के भाव, मन-वचन-काया से करना, कराना और अनुमोदना, ऐसे नौ प्रकार से छोड़े होते हैं। समस्त बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त है और रागरहित आत्मा की भावना से उत्पन्न होनेवाले सुन्दर अमृत का आनन्द बहता है—चैतन्य में से वीतरागता का आनन्द बहता है—सुधामृत असंख्य प्रदेशों से झरता है, ऐसी मुनिदशा है। वे मुनि सहजानन्ददशा का अनुभव करते हैं। वे आत्मा का आचरण करनेवाले हैं।

भावार्थ : आत्मस्वरूप में—निजगुणपर्याय में निश्चलस्वरूप अनुभवन करनेवाले को स्वसमय कहते हैं, उसका नाम स्वचारित्र है। चारित्रदशा, वही मुक्ति का मार्ग है।

●●

गाथा - १५९

चरियं चरदि सगं सो जो परदव्वप्पभावरहिदप्पा।
दंसणणाणवियप्पं अवियप्पं चरदि अप्पादो।।१५९।।

चरितं चरति स्वकं स यः परद्रव्यात्मभावरहितात्मा।
दर्शनज्ञानविकल्पमविकल्पं चरत्यात्मनः।।१५९।।

शुद्धस्वचरितप्रवृत्तिपथप्रतिपादनमेतत् ।

यो हि योगीन्द्रः समस्तमोहव्यूहबहिर्भूतत्वात्परद्रव्यस्वभावभावरहितात्मा सन्, स्वद्रव्यमेकमेवाभिमुख्येनानुवर्तमानः स्वस्वभावभूतं दर्शनज्ञानविकल्पमप्यात्मनोऽविकल्पत्वेन चरति, न खलु स्वकं चरितं चरति । एवं हि शुद्धद्रव्याश्रितमभिन्नसाध्यसाधनभावं निश्चयनयमाश्रित्य मोक्षमार्गप्ररूपणम् । यत्तु पूर्वमुद्दिष्टं तत्स्वपरप्रत्ययपर्यायाश्रितं भिन्नसाध्यसाधनभावं व्यवहारनयमाश्रित्य प्ररूपितम् । न चैतद्विप्रतिषिद्धं निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात्सुवर्णसुवर्णपाषाणवत् । अत एवोभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनेति ।। १५९ ।।

पर द्रव्य से जो विरत हो निजभाव में वर्तन करे।
गुणभेद से भी पार जो वह स्व-चरित को आचरे।।१५९।।

अन्वयार्थ :- [यः] जो, [परद्रव्यात्मभावरहितात्मा] परद्रव्यात्मक भावों से रहित स्वरूपवाला वर्तता हुआ, [दर्शनज्ञानविकल्पम्] (निजस्वभावभूत) दर्शनज्ञानरूप भेद को [आत्मनः अविकल्पं] आत्मा से अभेदरूप [चरति] आचरता है, [सः] वह [स्वकं चरितं चरति] स्वचारित्र को आचरता है।

टीका :- यह, शुद्ध स्वचारित्रप्रवृत्ति के मार्ग का कथन है।

जो योगेन्द्र, समस्त [१]मोहव्यूह से बहिर्भूत होने के कारण परद्रव्य के स्वभावरूप

---

१. मोहव्यूह=मोहसमूह [जिन मुनीन्द्र ने समस्त मोहसमूह का नाश किया होने से 'अपना स्वरूप परद्रव्य के स्वभावरूप भावों से रहित है' ऐसी प्रतीति और ज्ञान जिन्हें वर्तता है, तथा तदुपरान्त जो केवल स्वद्रव्य में ही निर्विकल्परूप से अत्यन्त लीन होकर निजस्वभावभूत दर्शनज्ञान भेदों को आत्मा से अभेदरूप आचरते हैं, वे मुनीन्द्र स्वचारित्र का आचरण करनेवाले हैं।]

भावों से रहित स्वरूपवाले वर्तते हुए, स्वद्रव्य को एक को ही अभिमुखता से अनुसरते हुए निजस्वभावभूत दर्शनज्ञान भेद को भी आत्मा से अभेदरूप से आचरते हैं, वे वास्तव में स्वचारित्र को आचरते हैं।

इस प्रकार वास्तव में [२]शुद्धद्रव्य के आश्रित, [३]अभिन्नसाध्यसाधनभाववाले निश्चयनय के आश्रय से मोक्षमार्ग का प्ररूपण किया गया। और जो पहले (१०७वीं गाथा में) दर्शाया गया था, वह [४]स्वपरहेतुक पर्याय के आश्रित, [५]भिन्नसाध्यसाधन-भाववाले व्यवहारनय के आश्रय से (-व्यवहारनय की अपेक्षा से) प्ररूपित किया गया था। इसमें परस्पर विरोध आता है, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि सुवर्ण और

---

२. यहाँ निश्चयनय का विषय शुद्धद्रव्य अर्थात् शुद्धपर्यायपरिणत द्रव्य है, अर्थात् अकेले द्रव्य की (-परनिमित्त रहित) शुद्धपर्याय है; जैसे कि, निर्विकल्प शुद्धपर्यायपरिणत मुनि को निश्चयनय से मोक्षमार्ग है।

३. जिस नय में साध्य और साधन अभिन्न (अर्थात् एक प्रकार के) हों, वह यहाँ निश्चयनय है। जैसे कि, निर्विकल्पध्यानपरिणत (-शुद्धात्मश्रद्धानज्ञानचारित्र परिणत) मुनि को निश्चयनय से मोक्षमार्ग है क्योंकि वहाँ (मोक्षरूप) साध्य और (मोक्षमार्गरूप) साधन एक प्रकार के अर्थात् शुद्धात्मरूप (-शुद्धात्मपर्यायरूप) हैं।

४. जिन पर्यायों में स्व तथा पर कारण होते हैं अर्थात् उपादानकारण तथा निमित्तकारण होते हैं, वे पर्यायें स्वपरहेतुक पर्यायें हैं; जैसे कि छठवें गुणस्थान में (द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत शुद्धात्मस्वरूप के आंशिक अवलम्बन सहित) वर्तते हुए तत्त्वार्थश्रद्धान (नवपदार्थगत श्रद्धान), तत्त्वार्थज्ञान (नवपदार्थगत ज्ञान) और पंचमहाव्रतादिरूप चारित्र—यह सब स्वपरहेतुक पर्यायें हैं। वे यहाँ व्यवहारनय के विषयभूत हैं।

५. जिस नय में साध्य और साधन भिन्न हों (-भिन्न प्ररूपित किए जाएं), वह यहाँ व्यवहारनय हैं; जैसे कि, छठवें गुणस्थान में (द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत शुद्धात्मस्वरूप के आंशिक आलम्बन सहित) वर्तते हुए तत्त्वार्थश्रद्धान (नवपदार्थसम्बन्धी श्रद्धान), तत्त्वार्थज्ञान और पंचमहाव्रतादिरूप चारित्र व्यवहारनय से मोक्षमार्ग है क्योंकि (मोक्षरूप) साध्य स्वहेतुक पर्याय है और (तत्त्वार्थश्रद्धानादिमय मोक्षमार्गरूप) साधन स्वपरहेतुक पर्याय है।

६. जिस पाषाण में सुवर्ण हो, उसे सुवर्णपाषाण कहा जाता है। जिस प्रकार व्यवहारनय से सुवर्णपाषाण सुवर्ण का साधन है; उसी प्रकार व्यवहारनय से व्यवहारमोक्षमार्ग

[६]सुवर्णपाषाण की भाँति निश्चय-व्यवहार को साध्य-साधनपना है; इसलिए पारमेश्वरी (-जिनभगवान की) [७]तीर्थप्रवर्तना [८]दोनों नयों के आधीन है ॥१५९॥

निश्चयमोक्षमार्ग का साधन है; अर्थात् व्यवहारनय से भावलिंगी मुनि को सविकल्प दशा में वर्तते हुए तत्त्वार्थश्रद्धान, तत्त्वार्थज्ञान और महाव्रतादिरूप चारित्र निर्विकल्प दशा में वर्तते हुए शुद्धात्म-श्रद्धानज्ञानानुष्ठान के साधन हैं।

७. तीर्थ=मार्ग (अर्थात् मोक्षमार्ग); उपाय (अर्थात् मोक्ष का उपाय); उपदेश; शासन।

८. जिनभगवान के उपदेश में दो नयों द्वारा निरूपण होता है। वहाँ, निश्चयनय द्वारा तो सत्यार्थ निरूपण किया जाता है और व्यवहारनय द्वारा अभूतार्थ उपचरित निरूपण किया जाता है।

प्रश्न :- सत्यार्थ निरूपण ही करना चाहिए; अभूतार्थ उपचरित निरूपण किसलिए किया जाता है ?

उत्तर :- जिसे सिंह का यथार्थ स्वरूप सीधा समझ में न आता हो, उसे सिंह के स्वरूप के उपचरित निरूपण द्वारा अर्थात् बिल्ली के स्वरूप के निरूपण द्वारा सिंह के यथार्थ स्वरूप की समझ की ओर ले जाते हैं; उसी प्रकार जिसे वस्तु का यथार्थस्वरूप सीधा समझ में न आता हो, उसे वस्तुस्वरूप के उपचरित निरूपण द्वारा वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझ की ओर ले जाते हैं और लम्बे कथन के बदले में संक्षिप्त कथन करने के लिये भी व्यवहारनय द्वारा उपचरित निरूपण किया जाता है। यहाँ इतना लक्ष्य में रखनेयोग्य है कि—जो पुरुष बिल्ली के निरूपण को ही सिंह का निरूपण मानकर, बिल्ली को ही सिंह समझ ले, वह तो उपदेश के ही योग्य नहीं है, उसी प्रकार जो पुरुष उपचरित निरूपण को ही सत्यार्थ निरूपण मानकर, वस्तुस्वरूप को मिथ्यारीति से समझ बैठे, वह तो उपदेश के ही योग्य नहीं हैं।

[यहाँ एक उदाहरण लिया जाता है :— साध्य-साधन सम्बन्धी सत्यार्थ निरूपण इस प्रकार है कि 'छठवें गुणस्थान में वर्तती हुई आंशिक शुद्धि सातवें गुणस्थानयोग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणति का साधन है। अब, 'छठवें गुणस्थान में कैसी अथवा कितनी शुद्धि होती है'—इस बात को भी साथ ही समझना हो तो विस्तार से ऐसा निरूपण किया जाता है कि 'जिस शुद्धि के सद्भाव में, उसके साथ-साथ महाव्रतादि के शुभविकल्प हठ बिना सहजरूप से प्रवर्तमान हो, वह छठवें गुणस्थानयोग्य शुद्धि सातवें

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल ७, शनिवार

अब, शुद्ध स्वचारित्र की प्रवृत्ति का मार्ग बतलाते हैं।

जो पुरुष अपने स्वरूप का आचरण करता है, वह दर्शन और ज्ञान अथवा निराकार और साकार अवस्था के भेदरहित अभेद का आचरण करता है। दर्शन का विषय अभेद है, इसलिए निराकार और ज्ञान भेदसहित जानता है, इसलिए साकार, ऐसे दर्शन-ज्ञान के भेदरहित अभेदरूप से जानता है, वह भेदविज्ञानी परद्रव्य के अहंभाव से रहित है।

भावार्थ : यहाँ मुनि की बात है। उन मुनि को वीतरागता का स्वसंवेदन है। राग का वेदन आकुलता है। अपने ज्ञान का वेदन, वह स्वसंवेदन है। वह वीतरागी ज्ञानी समस्त प्रकार के मोहचक्र से रहित है। उन्हें स्वभाव की अधिकता वर्तती है। शुभाशुभभावों का त्यागी होकर स्वभाव-सन्मुख होकर उसमें अधिकरूप से प्रवर्तता है। चौथे गुणस्थान में भी धर्मी जीव को दया-दानादि के भाव की मुख्यता नहीं होती। स्वद्रव्य की ही मुख्यता वर्तती है। यदि राग की मुख्यता हो जाये तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन उपरान्त विशेष वीतरागता बढ़ी है, ऐसे मुनि की बात है। छठवें गुणस्थान में मुनि को महाव्रतादि के विकल्प होने पर भी उस ओर की मुख्यता नहीं होती। व्यवहार की मुख्यता हो जाती है तो निश्चय-व्यवहार एक भी नहीं रहता। मुनि को सदा स्वभाव की अधिकता वर्तती है।

आत्मद्रव्य में जो स्वाभाविक ज्ञान-दर्शनादि गुण हैं, उनके भेदरहित अभेद

गुणस्थानयोग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणति का साधन है।' ऐसे लम्बे कथन के बदले, ऐसा कहा जाये कि 'छठवें गुणस्थान में प्रवर्तमान महाव्रतादि के शुभ विकल्प सातवें गुणस्थानयोग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणति का साधन है,' तो वह उपचरित निरूपण है। ऐसे उपचरित निरूपण में से ऐसा अर्थ निकालना चाहिए कि 'महाव्रतादि के शुभ विकल्प नहीं किन्तु उनके द्वारा जिस छठवें गुणस्थानयोग्य शुद्धि को बताना था, वह शुद्धि वास्तव में सातवें गुणस्थानयोग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणति का साधन है।']

ज्ञाता-दृष्टास्वभाव को जानता है। शरीर, मन, वाणी तो आत्मा के नहीं, विकार भी आत्मा का स्वभाव नहीं। परन्तु आत्मा स्वभाववान है और ज्ञान-दर्शन उसके स्वभाव— ऐसा गुण-गुणीभेद भी आत्मा में नहीं है। ऐसा अभेद जानकर आचरण करता है— करता है, ऐसे मुनि को स्वसमय के अनुभवी कहते हैं।

वीतराग सर्वज्ञ भगवान ने निश्चय-व्यवहार ऐसे दो भेद से मोक्षमार्ग बतलाया है। उन दो में निश्चयनय के अवलम्बन से अभेदभावरूप साध्य-साधन की प्रवृत्ति है, वह निश्चयमोक्षमार्ग है। निश्चय से शुद्ध द्रव्य स्वयं साध्य है और वीतरागी पर्याय साधन है। ऐसे अभेदभावरूप साध्य-साधन निश्चय से है।

व्यवहारनयाश्रित मोक्षमार्ग की प्ररूपणा पहले दो गाथा १०६-१०७ में कही है। उन दो गाथाओं में व्यवहारमोक्षमार्ग का स्वरूप कहने में आया है।

'सो स्वद्रव्य परद्रव्य का कारण पाकर जो अशुद्धपर्याय उपजा है, उसकी अधीनता से भिन्न साध्यसाधनरूप है, सो यह व्यवहारमोक्षमार्ग सर्वथा निषेधरूप नहीं है, कथंचित् महापुरुषों ने ग्रहण किया है, निश्चय और व्यवहार में परस्पर साध्य-साधनभाव है।'

स्वद्रव्य अखण्ड है, उसकी पर्याय में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति राग आता है। ऐसी अपनी पर्याय में पर के निमित्त से अशुद्धता उपजती है। स्वद्रव्य की मलिनता का कारण अपना अपराध है। अशुद्ध उपादान की योग्यता है और कर्म उसमें निमित्त हैं। वीतरागता न हो, तब तक मुनि को विकल्प उठते हैं, वह अशुद्धपर्याय है। उस विकल्प को टालकर वीतरागता प्रगट करते हैं, इसलिए वहाँ वीतरागता को साध्य और राग को साधन कहा गया है। वह भिन्न साध्य साधनरूप है। उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं। वह सर्वथा निषेधरूप नहीं। अर्थात् कि उस भूमिका में उस प्रकार का राग होता है। सच्चे देव की भक्ति, पंच महाव्रतादि का राग होता है, परन्तु कुदेवादि का राग होता नहीं। और सुदेवादि के राग का अभाव करके वीतरागता करता है। उस शुभराग का अभाव निमित्त होता होने से शुभराग को साधन कहा गया है। यदि वीतरागता प्रगट न करे तो शुभराग को साधन भी नहीं कहा जाता।

देखो, मुनि को गुण-गुणी अभेद है, ऐसी प्रतीति तो हुई है, परन्तु अपनी निर्बलता के कारण देव-गुरु के प्रति प्रमोद आता है, परन्तु उस प्रमोद से धर्म नहीं होता।

मुनि को स्वभाव की मुख्यता ही वर्तती है। राग होने पर भी राग की मुख्यता नहीं होती। और मुनि को राग होता ही नहीं, ऐसा भी नहीं है।

मुनियों को भी जैनधर्म की प्रभावना का विकल्प उठता है, जिनमन्दिर का भी विकल्प उठता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने उनके शिष्य जयसेन आचार्य को कहा कि 'जैन मन्दिर की प्रतिष्ठा विधि का पाठ बनाओ।' देखो, मुनि को भी ऐसा राग आता है, तथापि उसकी अधिकता नहीं है। गुण-गुणी अभेद स्वभाव की अधिकता है और राग आया, इसलिए राग सम्यग्दर्शन को बाधक है, ऐसा भी नहीं। जयसेन आचार्य ने दो दिन में प्रतिष्ठापाठ बनाया, उसमें बहुत प्रकार से व्यवहार और निमित्त की बात आती है। 'जिनमन्दिर की प्रतिष्ठा करानेवाले को अपने आत्मा के कल्याण के लिये धन का सद्व्यय करना, वह जिनमन्दिर की जगह इस प्रकार से खोदना, ऐसी उत्कीर्ण करना, प्रतिमा ऐसी करना, प्रतिमा का मूल्य निश्चित नहीं करना।' ऐसे बहुत प्रकार से कथन आते हैं। वे पाठ पढ़कर कुन्दकुन्दाचार्य ने जयसेनाचार्य को कहा कि 'तेरा आठ कर्मों का नाश होगा। कर्म से शून्य हो जायेगा।' इससे उनका नाम वसुबिन्दु (आठ कर्म से शून्य ऐसा शब्दार्थ होता है) रखा गया है।

अज्ञानी को लगता है कि मुनि सर्वसंगपरित्यागी हैं, तथापि इस प्रकार का राग क्यों आता है? इसे ऐसा करना, प्रतिमा ऐसी करना इत्यादि—यह क्या? और राग को अधर्म मानते हैं, तो फिर करते किसलिए हैं?—ऐसे अनेक कुतर्क अज्ञानी को उठते हैं।

समाधान : भाई! मुनि सम्पूर्ण वीतरागदशा को प्राप्त नहीं है। राग की भूमिका है। स्वद्रव्य अपनी उस प्रकार की योग्यता का प्रसंग है और परद्रव्य निमित्त है। ऐसे स्वद्रव्य परद्रव्य का कारण पाकर अशुद्ध पर्याय उपजती है। वह व्यवहारमार्ग—बन्धमार्ग है। वहाँ राग का वर्णन करते हैं। अपनी भूमिका अनुसार राग आता है।

नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती महामुनि थे। मन्दिरों की प्रतिष्ठा के समय उपस्थित थे। लोगों को हिंसा-अहिंसा की खबर नहीं। जड़ की पर्याय में हिंसा मानते हैं, उसे निश्चय-व्यवहार एक का भी भान नहीं है। एक जीव निश्चय को समझे बिना निश्चय का पकड़ बैठे और पूछे कि मुनि को ऐसा राग क्यों? दूसरा जीव राग आया, इसलिए धर्म मान बैठे—तो इस प्रकार से दोनों खोटे हैं।

छठवीं-सातवीं भूमिका में झूलते हों, ऐसे मुनि पधारें, तब श्रावकों को उल्लास आता है कि अहो! हमारे आँगन में कल्पवृक्ष आया, ऐसे उस प्रसंग में उल्लसित हो जाते हैं। वहाँ अज्ञानी तर्क करता है कि 'तुम कहते थे न कि परद्रव्य से लाभ नहीं तो फिर गुरु का बहुमान क्यों करते हो?'

समाधान : तू भूमिका को समझता नहीं। अपनी भूमिका अनुसार राग आता है, तथापि श्रावक उस शुभराग से धर्म नहीं मानता। मुनि दूसरे मुनि को इकट्ठे हों तो प्रमोद आ जाता है। दो कोस सामने लेने जाये। गुणी के प्रति प्रमोद आता है। पारस्परिक प्रमोद बताते हैं, ईर्ष्या नहीं करते। उस समय शुभराग आता है। शुभराग आता ही नहीं, ऐसा कोई कहे तो वह बात खोटी है। परन्तु उस शुभराग को धर्म नहीं कहते।

'कथंचित् महापुरुषों ने ग्रहण किया है' इसका अर्थ ऐसा है कि मुनियों को भी अपनी भूमिका अनुसार राग आये बिना नहीं रहता। वह अंगीकार करनेयोग्य है, ऐसा माने तो मिथ्यादृष्टि हो जाये। वीतरागता का साधन तो द्रव्य स्वयं है। ध्रुव स्वभाव के अवलम्बन से वीतरागी पर्याय प्रगट होती है। ऐसे द्रव्यस्वभाव की ही अधिकता वर्तती है, तथापि मुनि को विकल्प आता है, उसका ज्ञान वर्तता है।

कुन्दकुन्दाचार्य भगवान को गिरनार की यात्रा का विकल्प उठा। अहो! नेमिनाथ भगवान की निर्वाणभूमि है। वासुदेव, बलदेव इत्यादि निर्वाण के समय उपस्थित थे। इन्द्र-इन्द्राणी गिरनार पर उतरते थे। उस निर्वाणक्षेत्र में इन्द्रों ने मुकुट से चिह्न किये हैं। ऐसी निर्वाणभूमि की यात्रा का विकल्प आता है। समझते हैं कि गिरनार परपदार्थ है। निर्वाण पर का हुआ है। पर की क्रिया कर सकता नहीं। पर में लाभ नहीं, राग से धर्म नहीं, तथापि जब तक पूर्ण वीतरागदशा न हो, तब तक राग आता है, इसलिए उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं।

मक्खन विलोते समय रस्सी-डोरी का एक छोर खींचने का और दूसरा ढीला करने का है, उसी प्रकार यहाँ अखण्ड अभेद स्वभाव की दृष्टि मुख्य है, उसे पकड़कर रखनेयोग्य है और व्यवहार है, उसे जानकर ढीला करने जैसा है। उसका यहाँ ज्ञान कराते हैं।

तीर्थंकर का जन्म होता है, तब इन्द्र का आसन कम्पायमान होता है, वह उपयोग लगाता है, खबर पड़ती है कि भरतक्षेत्र में भगवान जन्मे हैं। देवों को बुलाता है और सौ इन्द्र देव इत्यादि जन्मोत्सव मनाते हैं, तथापि राग से धर्म नहीं मानते।

कोई **पूछता** है कि भगवान आत्मा तो अन्दर में विराजता है तो मन्दिर किसलिए बनाते हो?

समाधान : सुन तो सही! जड़पदार्थ की अवस्था कोई जीव कर नहीं सकता। पूर्ण वीतरागदशा न हो, तब तक राग आता है, उसे व्यवहारसाधन कहा गया है। जिसे द्रव्यसाधन प्रगट हुआ है उसके। ऐसे द्रव्य के आश्रय से वीतरागता प्रगटे, वह निश्चय और राग हो, वह व्यवहार है। वीतरागता साध्य है और राग व्यवहार से साधन है। ऐसे निश्चय और व्यवहार में साध्यसाधनभाव है। निश्चय साध्य और व्यवहार साधन है।

अब दृष्टान्त देते हैं : जिस प्रकार सोना साध्य है और जिस पत्थर में से सोना निकलता है, वह पत्थर साधन है। जिस पत्थर में से सोना पृथक् पड़ने की योग्यता है, उस पत्थर को साधन कहा गया है। अन्धपाषाण में से सोना निकलने की योग्यता नहीं है, इसलिए अन्धपाषाण को साधन नहीं कहा जाता। सोना अपनी योग्यता से निकलता है। पत्थर के कारण से निकलता नहीं, परन्तु निकले तो साधन कहलाता है और न निकले तो साधन नहीं कहलाता।

उसी प्रकार आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, ऐसी दृष्टि तो की है, पृथक् पड़ने की योग्यता हुई है, ऐसी शुद्धता को सोना समान कहा गया है, परन्तु सर्वथा पृथक् हुआ नहीं, इसलिए राग होता है। उस राग को पत्थर समान कहकर साधन कहा गया है। राग में से वीतरागता नहीं होती। राग साधन कब? जैसे सोना निकले तो पत्थर को साधन कहा जाता है, उसी प्रकार मैं चैतन्यस्वभावी हूँ और राग से पृथक् होनेयोग्य माना, उसके लिये शुद्धता सोना समान साध्य है और राग पत्थर समान साधन है। मैं अखण्ड ज्ञायक ज्योति हूँ, इत्यादि प्रकार से विकल्प उठे, वह साधन है। द्रव्य का निश्चय साधन प्रतीति और ज्ञान है, उसे राग उपचार साधन कहा जाता है। वरना राग को उपचार साधन भी नहीं कहा जाता।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल ८, रविवार

यहाँ निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग की बात करते हैं। आत्मा शुद्ध ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, उसकी शुद्धता प्रगट होती है, वह निश्चय है और जितना राग रहता है, वह व्यवहार साधन है। वास्तव में तो ज्ञायकस्वभाव साध्य है और मोक्षमार्ग साधन है, परन्तु यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है। मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ऐसी प्रतीति और रमणता हुई, तब राग को निमित्तरूप साधन कहा जाता है। जिस प्रकार सोना साध्य है और सोना का पत्थर साधन है। जो सोना पृथक् पड़ने की योग्यतावाला है, वह सोना साध्य है और पत्थर वह साधन है। व्यवहार से सोना और पत्थर इकट्ठे हैं, ऐसा कहा है। उसी प्रकार 'जीवपुद्गलाश्रित व्यवहार है।' आत्मा शरीर, कर्म आदि से भिन्न है, ऐसा भान वह सोनासमान है, परन्तु पर्याय में राग की योग्यता है, उसमें कर्म का निमित्त है, इसलिए पुद्गल के आश्रय से व्यवहार होता है। अकेले जीव के आश्रय से व्यवहार नहीं होता। देव-गुरु-शास्त्र के प्रति शुभराग के परिणाम जीव-पुद्गल आश्रित होते हैं। अकेले शुद्ध आनन्दमूर्ति आत्मा के आश्रय से वीतरागीदशा हो, वह निश्चय है। उस समय छह द्रव्यों की श्रद्धा, शास्त्र का ज्ञान, २८ मूलगुण आदि के पालन का राग, वह जीव और कर्माश्रित हुआ है, इसलिए उस राग को व्यवहार कहा है।

वस्तुस्वभाव के आश्रय से वीतरागता प्रगट होती है, वह सच्चा मोक्षमार्ग है और पूर्णदशा न हो, तब तक मुनि को जो शुभराग होता है, वह व्यवहारमोक्षमार्ग है। राग कर्म के आश्रय से होता है और वीतरागता जीव के आश्रय से होती है।

सोना जिस पत्थर में से निकला और जिसे पत्थर के साथ सम्बन्ध नहीं रहा, वह वास्तव में सोना है, उसी प्रकार यहाँ कर्म पत्थर की भाँति है। अन्दर में आठ कर्म सूक्ष्म पत्थर समान हैं। आत्मा ध्रुव आनन्दकन्द सोना समान है। शुद्ध ज्ञानानन्द की प्रतीति करके रमणता करना, वह अकेले निर्मल सोना की भाँति सच्चा मोक्षमार्ग है। परन्तु वीतरागता न प्रगटे, तब तक वीतराग ने कहे हुए शुभराग को कर्मरूपी पत्थर के साथ सम्बन्ध है, इसलिए राग को व्यवहार कहा गया है।

चिदानन्द भगवान आत्मा कर्म की खान में एकक्षेत्र में अनादि से है। अब कर्म से और राग से भिन्न है, ऐसा भान करे, उसे सच्चा मोक्षमार्ग प्रगट होता है। मैं ज्ञायक हूँ, देह, मन, वाणी, कर्म और राग से भिन्न हूँ—ऐसा निर्णय करे उसे राग साधन है—निमित्त है। क्योंकि वह राग कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र का निषेध करता है और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को निश्चित करता है, इसलिए निमित्त कहलाता है।

आत्मा की अन्दर शुद्धता प्रगटाने का और बढ़ने का कारण निमित्त, राग और पर्याय नहीं है। शुद्ध उपादान—वस्तु के आश्रय से जिसे वीतरागता प्रगट होती है, उसे राग निमित्त कहलाता है।

अनेकान्तवादी श्रद्धानी जीव निश्चयव्यवहाररूप दोनों मोक्षमार्ग को ग्रहण करता है। अर्थात् कि निश्चय को ग्रहण करता है और व्यवहारमोक्षमार्ग अर्थात् जो राग आता है, उसे जानता है। जो कोई ऐसा कहे कि मुझे निश्चय प्रगट हो गया है, मैं मुनि हुआ हूँ। आत्मा का भान हो गया है, इसलिए मुझे राग नहीं आता। भगवान ने कहे हुए छह द्रव्यों का विचार नहीं आता। बोलते समय राग होने पर भी राग नहीं है, ऐसा कहे। पंच महाव्रतादि के परिणाम सर्वज्ञ ने कहे हुए आते ही नहीं। हम तो शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, केवल अलिप्त ही रहते हैं—ऐसा कहे तो वह मुनि नहीं, एकान्तवादी है, निश्चयाभासी है। दूसरा जीव कहे कि पंच महाव्रतादि के परिणाम या पूजा, भक्ति इत्यादि के परिणाम भूमिका के योग्य आते हैं, वे हमको तिरा देंगे, कषायमन्दता से धर्म प्राप्त करूँगा—तो वह जीव पुण्य से धर्म मानता है, उसे एकान्त व्यवहार का पक्ष होने से वह व्यवहाराभासी है—इस प्रकार वे दोनों खोटे हैं।

आत्मा में शुद्धता अथवा धर्म, द्रव्य के आश्रय से ही प्रगट होता है, तथापि रागवाली दशा में भूमिका अनुसार जिस प्रकार का राग आता है, उसे जानना चाहिए। राग को जानना, वह व्यवहार है, इसलिए व्यवहार से ग्रहण करता है, ऐसा कहा गया है।

अभी तो जैन होने पर भी कितनों को व्यवहार की भी खबर नहीं। जो जीव पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व और नौ पदार्थ को मानता नहीं, उसे व्यवहार का भी ठिकाना नहीं, वह तो मिथ्यादृष्टि ही है। यहाँ तो कहते हैं कि सर्वज्ञ ने कहे हुए नौ तत्त्वों

को स्वीकारे और उसमें से अपने आत्मा के आश्रय से रमणता प्रगट हो, ऐसा माने वह निश्चय है। परन्तु पूर्ण नहीं है, तब तक देव-गुरु-शास्त्र का राग आये बिना नहीं रहता।

निश्चय और व्यवहार दो नयों के आधीन धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति जानना। केवली भगवान को राग नहीं है, इसलिए धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति नहीं होती और अज्ञानी को आत्मा का भान नहीं, इसलिए उसे भी नहीं होती। ज्ञानी को चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान में राग होता है, इसलिए वहाँ धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति जानना। स्वभाव में स्थिर न हो, तब कर्म के अवलम्बन से हुआ उपाधिभाव है। निश्चय और व्यवहार दोनों नय जानना। अकेले व्यवहार से धर्म माने तो वह मूढ़ है। चौथे गुणस्थान में देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का ठिकाना न हो; पाँचवें गुणस्थान में बारह व्रत का ठिकाना न हो और मुनि को छठवें गुणस्थान में अट्ठाईस मूलगुण के पालन का ठिकाना न हो तो वैसा जीव निश्चय-व्यवहार एक को भी जानता नहीं। परन्तु दोनों नयों द्वारा यथायोग्य स्थान में धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति जानना। ●●

हे माता! मैं अब दूसरी माता को नहीं रुलाऊँगा

माता! मुझे संयमधर्म अङ्गीकार करने की अनुमति दो। मैं अपने आनन्द के विशेष वेदन के लिए वन में जाता हूँ। जिसने अन्तर्मुख दृष्टि द्वारा अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लिया है, स्वानुभूति प्रगट की है, उस स्वानुभूतिजनित आनन्द के विशेष स्वाद के लिए अन्तर के वैराग्यभीने भावपूर्वक अपनी माता से कहता है – 'हे माता! हमारी रुचि अन्तर में आनन्दनिधान आत्मा के सिवा अन्यत्र नहीं लगती; अन्तर में दृष्टि के विषयभूत जो ज्ञायकस्वभावी ध्रुव आत्मा है, उस पर से हमारी रुचि बिलकुल नहीं हटती। उस रुचि के जोर से विशेष आनन्द प्राप्त करने हेतु हम वन में जा रहे हैं। हे जनेता! पुत्र मोहवश तुझे रोना हो तो एक बार रो ले; परन्तु हम शपथ लेते हैं कि अब पुनः दूसरी माता को नहीं रुलाएँगे, पुनः अवतार नहीं लेंगे, इसी भव में भवातीत होकर पूर्ण परमात्मदशा को प्राप्त करेंगे।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, भाग २, पृष्ठ ३०९

गाथा - १६०

धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चेट्ठा तवम्हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति।।१६०।।

धर्मादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं ज्ञानमङ्गपूर्वगतम् ।
चेष्टा तपसि चर्या व्यवहारो मोक्षमार्ग इति ।। १६० ।।

निश्चयमोक्षमार्गसाधनभावेन पूर्वोदिष्टव्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम् ।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । तत्र धर्मादीनां द्रव्यपदार्थविकल्पवतां तत्त्वार्थ-श्रद्धानभावस्वभावं भावान्तरं श्रद्धानाख्यं सम्यक्त्वं, तत्त्वार्थश्रद्धाननिर्वृत्तौ सत्यामङ्गपूर्वगतार्थ-परिच्छित्तिर्ज्ञानम्, आचारादिसूत्रप्रपञ्चितविचित्रयतिवृत्तसमस्तसमुदयरूपे तपसि चेष्टा चर्या-इत्येषः स्वपरप्रत्यपर्यायाश्रितं भिन्नसाध्यसाधनभावं व्यवहारनयमाश्रित्यानुगम्यमानो मोक्षमार्गः कार्तस्वरपाषाणार्पितदीप्तजातवेदोवत्समाहितान्तरङ्गस्य प्रतिपदमुपरितनशुद्ध-भूमिकासु परमरम्यासु विश्रान्तिमभिन्नां निष्पादयन्, जात्यकार्तस्वरस्येव शुद्धजीवस्य कथञ्चिद्भिन्न-साध्यसाधन-भावाभावात्स्वयं शुद्धस्वभावेन विपरिणममानस्यापि, निश्चय-मोक्षमार्गस्य साधनभावमापद्यत इति ।। १६० ।।

धर्मादि की श्रद्धा सुदृग पूर्वांग बोध-सुबोध है।
तप माँहि चेष्टा चरण मिल व्यवहार मुक्तिमार्ग है।।१६०।।

अन्वयार्थ :- [धर्मादिश्रद्धानं सम्यक्त्वम्] धर्मास्तिकायादि का श्रद्धान सो सम्यक्त्व, [अंगपूर्वगतम् ज्ञानम्] अंगपूर्वसम्बन्धी ज्ञान सो ज्ञान और [तपसि चेष्टा चर्या] तप में चेष्टा (-प्रवृत्ति) सो चारित्र; [इति] इस प्रकार [व्यवहारः मोक्षमार्गः] व्यवहारमोक्षमार्ग है।

टीका :- निश्चयमोक्षमार्ग के साधनरूप से, पूर्वोदिष्ट (१०७वीं गाथा में उल्लिखित) व्यवहारमोक्षमार्ग का यह निर्देश है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, सो मोक्षमार्ग है। वहाँ, (छह) द्रव्यरूप और (नव) पदार्थरूप जिनके भेद हैं, ऐसे धर्मादि के तत्त्वार्थश्रद्धानरूप भाव (-धर्मास्तिकायादि की तत्त्वार्थप्रतीतिरूप भाव) जिसका स्वभाव है ऐसा, 'श्रद्धान' नाम का भावविशेष, सो सम्यक्त्व; तत्त्वार्थश्रद्धान के सद्भाव में अंगपूर्वगत पदार्थों का अवबोधन

(-जानना), सो ज्ञान; आचारादि सूत्रों द्वारा कहे गए अनेकविध मुनि-आचारों के समस्त समुदायरूप तप में चेष्टा (-प्रवर्तन), सो चारित्र;—ऐसा यह, स्वपरहेतुक पर्याय के आश्रित, भिन्नसाध्यसाधनभाववाले व्यवहारनय के आश्रय से (-व्यवहारनय की अपेक्षा से) अनुसरण किया जानेवाला मोक्षमार्ग, सुवर्णपाषाण को लगायी जानेवाली प्रदीप्त अग्नि की भाँति, [१]समाहित अन्तरंगवाले जीव को (अर्थात् जिसका अन्तरंग एकाग्र—समाधिप्राप्त है, ऐसे जीव को) पद-पद पर परम रम्य ऐसी ऊपर की शुद्ध भूमिकाओं में अभिन्न विश्रान्ति (-अभेदरूप स्थिरता) उत्पन्न करता हुआ—यद्यपि उत्तम सुवर्ण की भाँति शुद्ध जीव कथंचित् भिन्नसाध्यसाधनभाव के अभाव के कारण स्वयं (अपने आप) शुद्ध स्वभाव से परिणमित होता है तथापि—निश्चयमोक्षमार्ग के साधनपने को प्राप्त होता है।

भावार्थ :— जिसे अन्तरंग में शुद्धि का अंश परिणमित हुआ है, उस जीव को तत्त्वार्थश्रद्धान, अंगपूर्वगत ज्ञान और मुनि-आचार में प्रवर्तनरूप [२]व्यवहारमोक्षमार्ग विशेष-विशेष शुद्धि का व्यवहारसाधन बनता हुआ, यद्यपि निर्विकल्पशुद्धभावपरिणत जीव को परमार्थ से तो उत्तम सुवर्ण की भाँति अभिन्नसाध्यसाधनभाव के कारण स्वयमेव शुद्धभावरूप परिणमन होता है तथापि, व्यवहारनय से निश्चयमोक्षमार्ग के साधनपने को प्राप्त होता है।

---

१. समाहित=एकाग्र; एकता को प्राप्त। अभेदता को प्राप्त; छिन्नभिन्नता रहित; समाधिप्राप्त; शुद्ध; प्रशान्त।

२. इस गाथा की श्री जयसेनाचार्यदेवकृत टीका में पंचमगुणस्थानवर्ती गृहस्थ को भी व्यवहारमोक्षमार्ग कहा है। वहाँ व्यवहारमोक्षमार्ग के स्वरूप का निम्नानुसार वर्णन किया है :—'वीतरागसर्वज्ञप्रणीत जीवादिपदार्थों सम्बन्धी सम्यक् श्रद्धान तथा ज्ञान दोनों, गृहस्थ को और तपोधन को समान होते हैं; चारित्र, तपोधनों को आचारादि चरणग्रन्थों में विहित किए हुए मार्गानुसार प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थानयोग्य पंचमहाव्रत-पंचसमिति-त्रिगुप्ति-षडावश्यकादिरूप होता है और गृहस्थों को उपासकाध्ययनग्रन्थ में विहित हुए मार्ग के अनुसार पंचम गुणस्थानयोग्य दान-शील-पूजा-उपवासादिरूप अथवा दार्शनिक-व्रतिकादि ग्यारह स्थानरूप (ग्यारह प्रतिमारूप) होता है; इस प्रकार व्यवहारमोक्षमार्ग का लक्षण है।'

[अज्ञानी द्रव्यलिंगी मुनि का अन्तरंग लेशमात्र भी समाहित न होने से अर्थात् उसे (द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत शुद्धात्मस्वरूप के अज्ञान के कारण) शुद्धि का अंश भी परिणमित न होने से उसे व्यवहारमोक्षमार्ग भी नहीं है।]॥१६०॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल ८, रविवार

अब, निश्चयमोक्षमार्ग के साधनरूप व्यवहारमोक्षमार्ग का स्वरूप कहते हैं।

यह व्यवहारमोक्षमार्ग की व्याख्या है। भगवान ने छह द्रव्य देखे हैं और कहे हैं। धर्मी जीव कि जिसे आत्मा के आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान प्रगट हुए हैं, उसे रागरहित ऐसी प्रतीति होती है। जीवादि छह द्रव्यों की प्रतीति, वह व्यवहार समकित है। वह शुभराग है, पुण्यबन्ध का कारण है। और नौ तत्त्व की प्रतीति होनी चाहिए। नौ को ही न माने, वह तो मूढ़ है। और चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्म और राग से पृथक् है, ऐसी दृष्टि हुई है, उसे नौ तत्त्व की श्रद्धा व्यवहार नाम को पाती है। दूसरे को नहीं।

भगवान ने दो नय कहे हैं। दो नय सच्चे कब कहलाये ? कि अपना शुद्ध आत्मा आदरणीय है, ऐसा माने और व्यवहारनय का विषय जाननेयोग्य है, ऐसा माने, उसे वस्तु के आश्रय से वीतरागता प्रगट होती है, उसे जो शुभराग होता है, उसे व्यवहार कहा जाता है।

भगवान की दिव्यध्वनि में आये हुए बारह अंग के ज्ञान को व्यवहाररूप सम्यग्ज्ञान कहते हैं। अभी कितने ही जीव ग्यारह अंग मौजूद कहते हैं, परन्तु वह बात खोटी है। अंग तो विच्छेद हो गये हैं, परन्तु अंग के थोड़े अंश का ज्ञान धरसेनादि आचार्य को था, उसमें से षट्खण्ड आगमादि शास्त्रों की रचना हुई और कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसारादि की रचना की, उसमें अंग का अंश रहा हुआ है। आत्मा के आश्रय से प्रगटे, वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है और उस समय सन्त-मुनियों को जो ज्ञान रागरहित प्रवर्तता हो, वह व्यवहार ज्ञान है, वह पुण्यबन्ध का कारण है।

अब व्यवहारचारित्र की बात करते हैं। बारह प्रकार का तप और तेरह प्रकार का

चारित्र, वह सब शुभराग है। व्यवहारचारित्र है। पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति, यह तेरह प्रकार का चारित्र शुभराग है। उसमें वृत्ति का उत्थान है। अशुभ से बचने के लिये शुभविकल्प मुनि को आता है। पूर्ण वीतरागदशा हुई नहीं, तब तक राग आये बिना रहता नहीं। इस प्रकार छह द्रव्यों की प्रतीति का राग, दिव्यध्वनि अनुसार रागसहित प्रवर्तता ज्ञान और महाव्रतादि के पालन का राग, वह व्यवहारमोक्षमार्ग है। वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं।

पण्डित टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशक में लिखते हैं कि मोक्षमार्ग दो नहीं, मोक्षमार्ग एक है। परन्तु उसका कथन दो प्रकार से है। शुद्ध आत्मा के आश्रय से प्रगट होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वास्तव में मोक्षमार्ग है और राग के समय नौ तत्त्व का, छह द्रव्य का, महाव्रतादि के पालन का जो विकल्प उठता है, वह व्यवहारमोक्षमार्ग है।

प्रद्युम्न के बहुत वर्षों के बाद मिलने पर उसकी माता को प्रेम उल्लसित होने से छाती में से दूध की धारा प्रवाहित हुई थी, उसी प्रकार धर्मी जीव शुद्ध चैतन्यस्वभाव की प्रतीतिपूर्वक स्वज्ञेय का अनुभव करे, तब उसके बतलानेवाले सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति उसे प्रमोद आये बिना नहीं रहता। व्यवहार नहीं है, ऐसा कहे और ना करे तो चले नहीं, वह अकेला निश्चयाभासी है और जो व्यवहार की हाँ करे, परन्तु व्यवहार से धर्म माने और निश्चय माने ही नहीं, यह भी नहीं चलता, वह व्यवहाराभासी है।

यहाँ व्यवहार कैसा होता है, यह बतलाते हैं। माल लेने जाये, तब बारदान चाहिए, तो भी माल, वह बारदान नहीं है। चावल का बारदान चावल की भाँति खाने में काम नहीं आता। आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, वह वेदनयोग्य है, वह चावल समान है। बीच में राग आता है, वह बारदान समान है। चैतन्य के अवलम्बन से अविकारी दशा प्रगट हो, वह अनुभव करने के लिये खुराक है, परन्तु राग वर्ते, वह शान्त अनुभव के लिये खुराक नहीं। बारदान की कीमत माल जितनी नहीं दी जाती तथा बारदान माल के बदले में मददगार नहीं होता; उसी प्रकार व्यवहारमोक्षमार्ग शुद्ध चैतन्य द्रव्य में वीतरागता प्रगट करने के लिये जरा भी मददगार नहीं। व्यवहार का जो विकल्प उठता है, उसका अखण्ड ज्ञायकस्वभाव में निश्चयदृष्टि से अभाव वर्तता है, इसलिए जैसा है, वैसा जानना चाहिए।

जहाँ जहाँ जो जो योग्य है, वहाँ समझना वही,
वहाँ वहाँ वह वह आचरे, आत्मार्थी जन सही।

कोई कहे कि हमको रागवाली भूमिका होने पर भी सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, उनकी प्रतिमा इत्यादि के प्रति उल्लास नहीं आता—तो वह मूढ़ है, और वह राग आया, इसलिए धर्म हुआ, ऐसा माने तो वह भी मूढ़ है, ऐसे दो नय के आधीन धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति है।

इस प्रकार व्यवहारमोक्षमार्ग का स्वरूप कहा है।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल ९, सोमवार

भावार्थ : सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता, वह मोक्षमार्ग है। मोक्ष अर्थात् परम पवित्र दशा—उसका कारण मोक्षमार्ग है। आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है। अखण्ड तत्त्व की प्रतीति, अन्तरस्वरूप का ज्ञान और रमणता—ऐसे तीन की एकता, वह मोक्षमार्ग है। पूर्ण एकता न हो, तब तक शुभ विकल्प हों, उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहा जाता है। निश्चय और व्यवहार को निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध कहा जाता है। आत्मा के अखण्ड स्वभाव में एकता हुई, वह नैमित्तिक-कार्य है। वहाँ व्यवहार का निमित्तपना है। जब तक स्वभाव में स्थिर न हो सके, तब तक विकल्प आता है। पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थों को जैसा है, वैसा जानना चाहिए। उसमें से एक भी तत्त्व निकाल डाले तो उसका व्यवहार सच्चा नहीं है।

गाथा १०३ भावार्थ में कहा है कि 'द्वादशांगवाणी के अनुसार जितने सिद्धान्त हैं, तिनमें कालसहित पंचास्तिकाय का निरूपण है और किसी जगह कुछ भी छूट नहीं किया है' भगवान की आज्ञाप्रमाण शास्त्र में कालद्रव्य की बात है। जो द्रव्य कहे गये हैं, उनमें से एक भी द्रव्य को निकाल देने की छूट नहीं दी गयी है। जो शास्त्र काल को नहीं मानते, वे वीतराग के शास्त्र नहीं। वे द्वादशांगवाणी अनुसार के शास्त्र नहीं। आत्मा का ज्ञान भी छह द्रव्यों को जाने इतना है। कम-ज्यादा जाने, वह ज्ञानसामर्थ्य को भी मानता नहीं।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ऐसे छह द्रव्यों में से काल के अतिरिक्त बाकी के पाँच अस्तिकाय हैं, पुण्य-पाप को आस्रव के साथ गिनने में आवे तो सात तत्त्व और भिन्न-भिन्न गिनने में आवे तो नौ पदार्थ—उनका श्रद्धान वह व्यवहार सम्यग्दर्शन है। वह पुण्यबन्ध का कारण है। शुद्ध आत्मा की श्रद्धा, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है, शुद्ध आत्मा का ज्ञान, वह निश्चय ज्ञान है, तब बारह अंग को अनुसरकर होनेवाला शास्त्र का रागरहित ज्ञान, वह व्यवहारज्ञान है। वह पुण्यबन्ध का कारण है। लौकिक पठन पाप का कारण है। त्रिलोकनाथ की वाणी में सात तत्त्व, छह द्रव्य इत्यादि का जो स्वरूप कहा गया है, उसके अनुसार जो ज्ञान, वह व्यवहारज्ञान है। उससे विपरीत कहे, वह तो व्यवहारज्ञान भी नहीं। मुनि हो या गृहस्थ हो, दोनों के श्रद्धा-ज्ञान में समानता है। हीनाधिक ज्ञान के उघाड़ का प्रश्न नहीं, परन्तु दोनों में सम्यक्पना होना चाहिए। मन, वाणी और देह से पार और पुण्य-पाप से भिन्न ऐसे आत्मा का श्रद्धा-ज्ञान, वह निश्चय है और तब सात तत्त्व, नौ पदार्थ, बारह अंग इत्यादि के श्रद्धा-ज्ञान रागवाले हों, वह व्यवहार है। यह निश्चय और व्यवहार में मुनि को तथा श्रावक को अन्तर नहीं होता, मात्र चारित्र में अन्तर है।

आचारांग आदि शास्त्रों-कथित मुनि का आचरण, वह व्यवहारचारित्र है। शुद्ध आत्मा आनन्दकन्द है, उसमें लीनता, वह निश्चयचारित्र है और महाव्रत का विकल्प उठता है, वह व्यवहारचारित्र है। गृहस्थों को दान, शील, पूजादि का राग उठता है, वह व्यवहारचारित्र है, मुनि को आहार देने का विकल्प, भगवान की पूजा का भाव, वह शुभ है। जैनदर्शन में प्रतिमा की पूजा अनादि से है, वह शुभभाव है। उसका निषेध करके अन्तर में स्थिर हो, वह निश्चयचारित्र है। श्रावक को ग्यारह प्रतिमा होती है, वह सम्यग्दृष्टि को ही होती है। आत्मा पर से भिन्न है। विकार से भिन्न है, ऐसा भान होने के बाद राग को व्यवहारचारित्र कहा जाता है। मुनियों को अट्ठाईस मूलगुण के पालन का राग उठता है। वह व्यवहार है। शुद्ध चैतन्य के अवलम्बन से शुद्धता अथवा चारित्र प्रगट किया है, उनके रागादि व्यवहार नाम पाते हैं।

यह व्यवहारमोक्षमार्ग वह जीव-पुद्गल के सम्बन्ध का कारण पाकर जो पर्याय उत्पन्न होती है, उसके आधीन है। जीव की योग्यता है और कर्म का निमित्त है। इसलिए

राग होता है। प्रथम सच्चा ज्ञान करना चाहिए। चैतन्यघन के ज्ञान बिना सच्चा व्यवहार नहीं हो सकता। शरीर की क्रिया मैंने की, ऐसा अज्ञानी मानता है, उसे जड़ से भिन्न आत्मा का भान नहीं है। दया, दानादि भाग राग का भाग है, वह आत्मा नहीं। पर से और राग से आत्मा भिन्न है, ऐसे आत्मा के भानवाले को पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण, ग्यारह प्रतिमादि पालन का जो राग होता है, वह जीव-पुद्गल का सम्बन्ध पाकर होता है। जीव की पर्याय में राग की योग्यता है और पुद्गलकर्म का निमित्त है। कर्म और कर्म की ओर के झुकाव के सम्बन्ध से आत्मा पृथक् है, ऐसा भान तो है परन्तु अभी साधकदशा में राग की योग्यता है और कर्म का निमित्त है। उतना राग होता है। वह व्यवहारमोक्षमार्ग है। वह बन्ध का कारण है।

यह हाथ ऊँचा-नीचा होता है, वह तो जड़ के कारण से होता है; आत्मा के कारण से नहीं होता। जिसे जड़ और आत्मा की भिन्नता की खबर नहीं, उसे निश्चय और व्यवहार एक का भी ज्ञान नहीं। यहाँ तो आत्मा का भान वर्तता है, उस जीव की बात चलती है। निश्चय से आत्मा को कर्म का सम्बन्ध नहीं है, परन्तु यहाँ निमित्त की पहिचान दी है। श्रद्धा-ज्ञान तो वीतराग ने कहे हुए नौ तत्त्वादि के होते हैं और राग आवे तो बारह व्रत, ग्यारह प्रतिमा, पंच महाव्रतादि का भूमिका अनुसार होता है, दूसरा नहीं होता।

आत्मा के आश्रय से होनेवाली वीतरागीदशा साध्य है, उसका साधन निश्चय से तो शुद्ध आत्मद्रव्य है, परन्तु रागवाली दशा में जो महाव्रतादि का विकल्प उठता है, उसे व्यवहार से साधन कहते हैं। मुनि को अथवा समकिती को जो शुभराग होता है, वह वीतरागता से भिन्न है। वीतरागता साध्य भिन्न है और राग साधन भी भिन्न है। यहाँ चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान की बात चलती है। अन्तरशुद्धता प्रगट हुई है, वह निश्चयमोक्षमार्ग है, वह साध्य है और देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, महाव्रतादि का राग, वह व्यवहारमोक्षमार्ग साधन है।

चैतन्य का मार्ग भिन्न है और राग का मार्ग भिन्न है। यहाँ भिन्न साध्यसाधन कहा अर्थात् राग से वीतरागता प्रगट हो, ऐसा इसका अर्थ नहीं है। यहाँ व्यवहार का ज्ञान कराते हैं। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र आदि का राग होता है, परन्तु कुदेवादि की श्रद्धा नहीं

होती। राग हो तो ऐसा ही होता है, तो भी उस राग को धर्मी जीव मोक्ष का कारण नहीं मानता।

दृष्टान्त में सुवर्णमय पाषाण की बात है। जिस पत्थर में से सोना पृथक् पड़ता है, ऐसे पत्थर की बात ली है, अन्ध पाषाण की बात नहीं।

सोना पृथक् पड़ने का वास्तव में अन्तरंग कारण तो सोना की योग्यता है, तब अग्नि को बहिरंग कारण कहा जाता है। पाषाण में से सोना पृथक् करते हैं, यह निमित्त से कथन है। उसी प्रकार जीव पुद्गल के भेद का कारण व्यवहारमोक्षमार्ग है, यह निमित्त से कथन है। जो सोना पाषाण में से पृथक् नहीं पड़ता। उस सोना को अग्नि निमित्त नहीं कहलाती, उसी प्रकार जिसे पुण्य-पाप से मैं आत्मा भिन्न हूँ, ऐसी दृष्टि हुई नहीं, उसके राग को बहिरंग कारण नहीं कहा जाता।

जैसे सोना को दैदीप्यमान अग्नि पृथक् करती है, उसी प्रकार मैं चैतन्य आनन्दकन्द हूँ, ऐसी दृष्टि करके मन, वाणी, देह से भिन्न पड़ा और सम्यग्दर्शन प्रगट किया, उसे शुद्धस्वभाव अन्तरंग कारण है, परन्तु वीतराग नहीं होता, तब तक उसे राग आता है। कर्म का उदय आवे उससे मैं भिन्न हूँ, ऐसा शुभराग उठता है, उसे बहिरंगकारण कहते हैं।

अज्ञानी जीव गड़बड़ करते हैं और कहते हैं कि अग्नि ने सोना को अलग किया। परन्तु यह बात खोटी है। सोना पृथक् होने की योग्यता से पृथक् हुआ है, तो अग्नि को निमित्त कहा जाता है। मिथ्यादृष्टि को चैतन्य की खबर नहीं। हिले-चले वह जीव, बोले वह जीव, दया-दानादि के भाव करे वह जीव—ऐसा वह मान रहा है, वह अन्धपाषाण जैसा है। उसका राग निमित्त नहीं कहलाता।

आत्मा के ज्ञान-दर्शन हुए हैं। वीतरागदशा में हजारों बार झूलते हैं। जिन्हें शरीर की सहज नग्नदशा वर्तती है, ऐसे आनन्दकन्द में झूलते मुनि का व्यवहार कैसा होता है, उसकी बात चलती है।

एक रजकण की पर्याय और दूसरे रजकण की पर्याय के बीच अन्योन्याभाव है। अग्नि सोना को स्पर्शती नहीं, जो अभावरूप वर्ते, वह पर को क्या करे ? परन्तु जो सोना

में अपने में पृथक् पड़ने की योग्यता है, उसे अग्नि और पत्थर निमित्त कहलाते हैं। उसी प्रकार भगवान आत्मा पृथक् पड़ने के योग्य होकर पर से पृथक् पड़ता है, तब कर्म अपने कारण से पृथक् पड़ जाते हैं, तब जो राग होता है, उसे पृथक् पड़ने का कारण कहा जाता है। चैतन्यस्वभाव सोना समान है और जड़कर्म पाषाण समान हैं। सम्यग्दर्शन होने के बाद जो विकल्प उठता है, वह राग आत्मा को कर्म से पृथक् पाड़ने में निमित्त कहलाता है। वह राग व्यवहारमोक्षमार्ग है। इसलिए व्यवहारमोक्षमार्ग जीव-पुद्गल की एकता के भेद का कारण कहलाता है।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल १०, मंगलवार

यहाँ व्यवहारमोक्षमार्ग की बात चलती है। छह द्रव्यों की श्रद्धा, बारह अंग अनुसार ज्ञान और महाव्रतादि का राग—ऐसे व्यवहार श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र को निश्चय का साधन कहा गया है। मैं शुद्ध जीव हूँ, कर्म तो जड़ है, वे मुझसे भिन्न हैं, ऐसा ज्ञान और श्रद्धा होने पर आत्मा कर्म से भिन्न पड़ता है, वहाँ शुद्ध प्रतीति और रमणता, वह अन्तरंगकारण है, तब राग को बहिरंग साधन कहा जाता है। वास्तव में तो अखण्ड शुद्ध द्रव्य साध्य है, उसमें करण (साधन) नाम का गुण है। कर्तारूप से होनेवाला स्वयं, कर्मरूप से हो स्वयं, और साधनरूप से होनेवाला स्वयं द्रव्यस्वभाव है। ऐसा अन्तरसाधन जिसे प्रगट हुआ है, उसे सच्चे देवादि की श्रद्धा का राग आता है, परन्तु कुदेवादि के प्रति राग नहीं होता; इसलिए उसके राग को उपचार साधन कहते हैं। ज्ञान से ज्ञान प्रगट हुआ है और रमणतारूप दशा हुई है, वह अन्तरंग स्वरूप में सावधान है। मैं तो ज्ञाता-दृष्टा हूँ, राग उठता है, वह मेरा स्वरूप नहीं। पर को जिलाऊँ-बचाऊँ, वह मेरे हाथ की बात नहीं। ऐसे अन्तर में सावधान है। मुझे मेरे नित्याननद ध्रुवतत्त्व के साथ सम्बन्ध है, पर के साथ सम्बन्ध नहीं। पर और मेरे बीच अभाव है, इसलिए पर की पर्याय को मैं करता नहीं, इस प्रकार पर से पृथक् होकर चैतन्यस्वभाव में रमणता करके सावधान है, उसे व्यवहार निमित्त है।

(१) मिथ्या अवस्था में जड़ की क्रिया और पुण्य से धर्म माने, उसे तो

मिथ्यात्वसहितह का राग होता है, वह राग व्यवहार नाम नहीं पाता।

(२) चौथे गुणस्थान में आत्मा का भान हुआ है। अनन्तानुबन्धी कषाय टला है, उस जीव को देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा आदि का राग आता है, वह व्यवहार है।

(३) पाँचवें गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानी कषाय टले हैं, उसे श्रावक के बारह व्रत, ग्यारह प्रतिमा आदि का राग आता है, वह व्यवहार है।

(४) छठवें गुणस्थान में तीन कषाय टले हैं, उसे महाव्रतादि का विकल्प आता है, वह व्यवहार है।

इस प्रकार जिसे शुद्ध आत्मा का अवलम्बन वर्तता है, उसे राग घटता जाता है और शुद्धता बढ़ती जाती है। भूमिका के योग्य राग की मन्दता का प्रकार भी अलग जाति का होता है, जैसे कि जिनमन्दिर बनाने का विकल्प चौथे-पाँचवें (गुणस्थान) में होता है, परन्तु छठवें में इस प्रकार का राग नहीं आता।

जो जीव सम्यग्दर्शनादि से अन्तरंग में सावधान है उस जीव को ऊपर के गुणस्थानों में शुद्धता बढ़ती जाती है, उस शुद्धता का कारण तो शुद्ध द्रव्य है। उसके अवलम्बन से शुद्धता बढ़ती है, परन्तु जैसे-जैसे गुणस्थान की दशा बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे राग की मन्दता होती जाती है और राग के प्रकार में भी अन्तर पड़ता है। पाँचवें में बारह व्रत के परिणाम का राग होता है और छठवें में महाव्रत का राग होता है। वहाँ अकेली संज्वलन कषाय होती है। पाँचवें गुणस्थान की अपेक्षा राग बहुत घट गया है। इसलिए उस प्रकार के व्यवहार मोक्षमार्ग से गुणस्थान की स्थिरता रहती है, ऐसा कहा जाता है। वास्तव में गुणस्थान की स्थिरता का कारण तो शुद्ध आत्मा है, परन्तु राग को उपचार से कारण कहा गया है।

'शुद्ध जीव को भिन्न साध्य-साधनभाव की सिद्धि है।' मैं ज्ञायक शुद्ध जीव हूँ, शरीर, मन, वाणी अजीव है। सबकी वर्तमानदशा उसके कारण से होती है। मेरे कारण से नहीं। मेरी पर्याय पर के कारण से नहीं। और दया-दानादि के परिणाम होते हैं, वह मेरा स्वभाव नहीं। (इस प्रकार जिसे) चिदानन्द आत्मा का भान वर्तता है, उसे राग के समय राग आता है, उस राग को साधन कहा जाता है। जो परिपूर्ण शुद्ध हो गये, उन्हें

सिद्धि करना बाकी नहीं है, साधक को सिद्धि करना बाकी है। पर्याय में पूर्ण शुद्धता हुई नहीं, ऐसे जीव को सच्चे देव-गुरु का राग, अट्ठाईस मूलगुण का राग निमित्त है। जो जीव पुण्य से धर्म माने, उसकी बात नहीं है। उसे भिन्न साध्य-साधनभाव की सिद्धि नहीं है। परन्तु राग से और जड़ से मैं भिन्न हूँ—ऐसा भेदज्ञान हुआ है, उसे सर्वज्ञ के प्रति और प्रतिमा के प्रति भक्ति का विकल्प उठता है, उसे साधन कहा जाता है।

राग जितना नहीं, अवस्था जितना नहीं; मैं ध्रुव हूँ—ऐसी उपादान दृष्टि धर्मी को प्रगट हुई है। जगत के पदार्थ अपने कारण से टिककर बदल रहे हैं, मेरी पर्याय मेरे त्रिकाली स्वभाव के अवलम्बन से हो रही है। ऐसी उपादान दृष्टि के कारण से स्वयं शुद्धभावरूप परिणम रहा है। मेरी शुद्धता मेरे द्रव्य में से आती है। पुण्य-पाप के भावों में से नहीं आती। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र निश्चयमोक्षमार्ग प्रगट होता है, तब सर्वज्ञ ने कथित व्यवहारमोक्षमार्ग को उपचार कहा जाता है। छह द्रव्यों की श्रद्धा, बारह अंग अनुसार ज्ञान और अट्ठाईस मूलगुण का पालन, ऐसा व्यवहार निमित्तरूप से होता है।

सोना अपनी सामर्थ्य से क्रम-क्रम से उज्ज्वल होता है, तब अग्नि आदि वस्तु का प्रयत्न निमित्त कहलाता है। आगे-पीछे नहीं। निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध एकसाथ है। अग्नि की प्रत्येक आँच के समय सोना की शुद्धरूप होती अवस्था—नैमित्तिक स्वतन्त्र है तो अग्नि को निमित्त कहा जाता है। दोनों में एक-दूसरे का अभाव है। सोना अपने कारण से स्पष्ट पीली अवस्था धारण करता है, तब अग्नि, सोनी इत्यादि को बहिरंग निमित्त कहा जाता है। उसी प्रकार आत्मा अपने शुद्ध चैतन्य की दृष्टि से ज्ञातारूप से परिणमा है, तब वीतराग ने कहे हुए छह द्रव्य, नौ तत्त्व, महाव्रतादि का राग होता है। दूसरे प्रकार का राग नहीं होता। सोना पृथक् पड़ते समय अग्नि निमित्त होती है, पानी नहीं होता; उसी प्रकार शुद्धता प्रगट होने के समय वीतराग ने कहा हुआ राग निमित्त होता है, दूसरा नहीं होता।

शुभराग बहिरंग साधन अथवा निमित्त कहलाता है, वह किसको? छह द्रव्यों की प्रतीति की है, उनके प्रति का राग हेय माना है और शुद्ध आत्मा को अन्तरंग साधन मानकर उपादेय माना है, उसे शुभराग निमित्त कहलाता है।

जो जीव धर्म, अधर्म, कालादि द्रव्यों को मानते नहीं, राग को वीतरागता का

कारण मानते हैं, सबने कही हुई बात सच्ची है—ऐसा कहकर समन्वय करते हैं, उनका व्यवहार भी सच्चा नहीं। अमृत और जहर की समानता नहीं हो सकती; उसी प्रकार वीतराग के साथ दूसरे का समन्वय हो सकता है, ऐसा नहीं है। इसलिए इस गाथा में व्यवहार का स्वरूप यथार्थ बतलाया है। तीन निमित्त की बात की है।

(१) धम्मादिसद्दहणं सम्मत्तं — वीतराग ने कहे हुए धर्म आदि द्रव्यों की श्रद्धा, वह व्यवहार सम्यग्दर्शन है। छह द्रव्य स्वतन्त्र हैं, ऐसी श्रद्धा।

(२) णाणमंगपुव्वगदं — वीतराग की दिव्यध्वनि में से निकले हुए बारह अंग अनुसार ज्ञान, वह व्यवहार ज्ञान है।

(३) चिट्ठा तवंहि चरिया — वीतराग के कहे अनुसार भूमिकानुसार शुभराग—मुनि को अट्ठाईस मूलगुण आदि का पालन।

—ऐसे व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वीतराग ने कहे, वैसे हों, वह निमित्तता धराते हैं। यदि अपने में निश्चय प्रगट करे तो दूसरों के कहे हुए व्यवहार में निमित्तता का आरोप भी नहीं आता।

मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ, परिपूर्ण होने के योग्य हूँ—ऐसा भान होने के बाद ज्ञान राग में नहीं अटककर ज्ञान, ज्ञान में स्थिर रहे, वह सर्वज्ञ होता है। तीन काल-तीन लोक को जाने, वैसा सर्वज्ञस्वभाव है। ऐसे श्रद्धा-ज्ञान हुए हैं, ऐसे जीव को सर्वज्ञ ने कहे हुए तत्त्व-शास्त्रों के प्रति राग वर्तता है, पाँच महाव्रतादि का राग वर्तता है, वह निमित्तरूप व्यवहार होता है। यहाँ देह की क्रिया की बात नहीं, शुभराग की बात है। इस प्रकार का शुभराग हो, विकल्प उठे तो सर्वज्ञ ने कहे हुए छह द्रव्य, नौ तत्त्व, पाँच महाव्रतादि के विकल्प उठें, दूसरे विकल्प नहीं होते।

केसर लेने जाने पर शण का फटा हुआ बारदान नहीं होता। टीन का डिब्बा होता है तो भी केसर डिब्बे के कारण से आती नहीं। उसी प्रकार आत्मा की शुद्ध प्रतीति, ज्ञान और रमणतारूपी माल के लिये कुदेवादि की श्रद्धा की थैली बारदानरूप से नहीं होती परन्तु सच्चे देवादि की श्रद्धा बारदानरूप से होती है, परन्तु वह रागवाली श्रद्धा वीतरागता नहीं लाती, दोनों चीज़ें भिन्न हैं, तथापि स्वयं अपने कारण से शुद्धदशा प्रगट करे, तब

ऐसा राग निमित्त होता है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध बतलाया है।

जो जीव कालद्रव्य को नहीं मानते, व्यवहार से धर्म मनवाते हैं, बारह अंग विच्छेद हो गये होने पर भी भगवान के कहे हुए अंग मौजूद हैं, ऐसा मनाते हैं, उनका तो व्यवहार भी सच्चा नहीं है। सर्वज्ञ ने कहे हुए तत्त्व-अनुसार आत्मा का भान होकर शुद्धता प्रगट हो, तब बाह्य नग्नदशा होती है। मुनि अन्तर में लीन न हों, तब उन्हें पाँच महाव्रतादि का राग उठता है। भगवान ने कहा हुआ है, वैसा ही राग उठता है, दूसरे प्रकार का नहीं उठता, (तथापि उस) राग से लाभ माने तो मिथ्यादृष्टि है।

जो निश्चयमोक्षमार्ग प्रगटाता है, उसे व्यवहारमोक्षमार्ग ऐसा निमित्तरूप से होता है, ऐसा व्यवहारमोक्षमार्ग का स्वरूप बतलाया। ●●

वाह! जैनधर्म का मुनिमार्ग कहो या मुक्तिमार्ग

आनन्दमग्न मुनिराज बिम्ब जैसे स्थिर होकर बैठे रहते हैं और सिंह, बाघ आदि शान्ति से उनके चरणों के पास आकर बैठ जाते हैं। खरगोश और हिरण उनके शरीर से टिककर बैठ जाते हैं और अपनी खाज खुजाते हैं। **अहो! वह दृश्य कैसा अद्भुत होगा?**

देखो, यह जैनधर्म का मुनिमार्ग! मुनिमार्ग कहो या मुक्तिमार्ग कहो, वह शुद्धभावपूर्वक ही होता है। मुनिराज तो चैतन्यपिण्ड हैं, उन्हें चैतन्य के ध्यान की धुन लगी है, कषायें एकदम शान्त हो गयी हैं, वैराग्य का पूर उमड़ रहा है, चैतन्य के ध्यान में स्थिरता के समय उपयोग में मन-वचन-काय का लक्ष्य छूट जाता है। मन-वचन-काय - ये तीनों परद्रव्य हैं। जब उपयोग स्वद्रव्य में एकाग्र होता है, तब परद्रव्य में प्रवृत्ति नहीं रहती अर्थात् उसका सम्यक् प्रकार से निरोध हो जाता है। उपयोग स्वरूप में ही गुप्त हो जाता है; इसलिए उसे गुप्ति कहते हैं। मुनिराज को ऐसी दशा बारम्बार आती रहती है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ६, पृष्ठ २०-२१

गाथा - १६१

णिच्छयणएण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचि वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति।।१६१।।

निश्चयनयेन भणितस्त्रिभिस्तैः समाहितः खलु यः आत्मा।
न करोति किञ्चिदप्यन्यन्न मुञ्चति स मोक्षमार्ग इति।।१६१।।

व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम् ।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसमाहित आत्मैव जीवस्वभावनियतचरितत्वान्निश्चयेन मोक्षमार्गः। अथ खलु कथञ्चनानाद्यविद्याव्यपगमाद्व्यवहारमोक्षमार्गमनुप्रपन्नो धर्मादितत्त्वार्थाश्रद्धानाङ्गपूर्वगतार्थाज्ञानातपश्चेष्टानां धर्मादितत्त्वार्थश्रद्धानाङ्गपूर्वगतार्थज्ञानतपश्चेष्टानाञ्च त्यागोपादानाय प्रारब्धविविक्तभावव्यापारः, कुतश्चिदुपादेयत्यागे त्याज्योपादाने च पुनः प्रवर्तितप्रतिविधानाभिप्रायो, यस्मिन्यावति काले विशिष्टभावनासौष्ठववशात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैः स्वभावभूतैः सममङ्गाङ्गिभावपरिणत्या तत्समाहितो भूत्वा त्यागोपादानविकल्पशून्यत्वाद्विश्रान्तभावव्यापारः सुनिष्प्रकम्पः अयमात्मावतिष्ठते, तस्मिन् तावति काले अयमेवात्मा जीवस्वभावनियतचरितत्वान्निश्चयेन मोक्षमार्ग इत्युच्यते । अतो निश्चयव्यवहार-मोक्षमार्गयोः साध्यसाधनभावो नितरामुपपन्न इति ।। १६१ ।।

जो जीव रत्नत्रय सहित आत्म चिन्तन में रमे।
छोड़े ग्रहे नहिं अन्य कुछ शिवमार्ग निश्चय है यही।।१६१।।

अन्वयार्थ :- [यः आत्मा] जो आत्मा, [तैः त्रिभिः खलु समाहितः] इन तीन द्वारा वास्तव में समाहित होता हुआ (अर्थात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र द्वारा वास्तव में एकाग्र—अभेद होता हुआ) [अन्यत् किंचित् अपि] अन्य कुछ भी [न करोति न मुंचति] करता नहीं है या छोड़ता नहीं है, [सः] वह [निश्चयनयेन] निश्चयनय से [मोक्षमार्गः इति भणितः] 'मोक्षमार्ग' कहा गया है।

टीका :- व्यवहारमोक्षमार्ग के साध्यरूप से, निश्चयमोक्षमार्ग का यह कथन है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा समाहित हुआ आत्मा ही जीवस्वभाव में नियत चारित्ररूप होने के कारण निश्चय से मोक्षमार्ग है।

अब (विस्तार ऐसा है कि), यह आत्मा वास्तव में कथंचित् (-किसी प्रकार से, निज उद्यम से) अनादि अविद्या के नाश द्वारा व्यवहारमोक्षमार्ग को प्राप्त करता हुआ, धर्मादिसम्बन्धी तत्त्वार्थ-अश्रद्धान के, अंगपूर्वगत पदार्थोंसम्बन्धी अज्ञान के और अतप में चेष्टा के त्याग हेतु से तथा धर्मादिसम्बन्धी तत्त्वार्थश्रद्धान के, अंगपूर्वगत पदार्थोंसम्बन्धी ज्ञान के और तप में चेष्टा के ग्रहण हेतु से (-तीनों के त्याग हेतु तथा तीनों के ग्रहण हेतु से) [१]विविक्त भावरूप व्यापार करता हुआ, और किसी कारण से ग्राह्य का त्याग हो जाने पर तथा त्याज्य का ग्रहण हो जाने पर उसके [२]प्रतिविधान का अभिप्राय करता हुआ, जिस काल और जितने काल तक [३]विशिष्ट भावनासौष्ठव के कारण स्वभावभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ [४]अंग-अंगीभाव से परिणति द्वारा [५]उनसे [६]समाहित होकर, त्यागग्रहण के विकल्प से शून्यपने के कारण (भेदात्मक) भावरूप व्यापार को विराम को प्राप्त होने से (अर्थात् भेदभावरूप-खण्डभावरूप व्यापार रुक जाने से) सुनिष्कम्परूप से रहता है, उस काल और उतने काल तक यही आत्मा जीवस्वभाव में नियत चारित्ररूप होने के कारण निश्चय से 'मोक्षमार्ग' कहलाता

---

१. विविक्त= विवेक से पृथक् किये हुए (अर्थात् हेय और उपादेय का विवेक करके व्यवहार से उपादेयरूप जाने हुए)। [जिसने अनादि अज्ञान का नाश करके शुद्धि का अंश प्रगट किया है, ऐसे व्यवहारमोक्षमार्ग (सविकल्प) जीव को निःशंकता-निःकांक्षा-निर्विचिकित्सादि भावरूप, स्वाध्यायविनयादि भावरूप और निरतिचार व्रतादि भावरूप व्यापार भूमिकानुसार होते हैं तथा किसी कारण उपोदय भावों का (-व्यवहार से ग्राह्य भावों का) त्याग हो जाने पर और त्याज्य भावों का उपादान अर्थात् ग्रहण हो जाने पर उसके प्रतिकाररूप से प्रायश्चित्तादि विधान भी होता है।]

२. प्रतिविधान=प्रतिकार करने की विधि; प्रतिकार का उपाय; इलाज।

३. विशिष्ट भावनासौष्ठव=विशेष अच्छी भावना (अर्थात् विशिष्ट शुद्ध भावना); विशिष्ट प्रकार की उत्तम भावना।

४. आत्मा, वह अंगी और स्वभावभूत सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र, वह अंग।

५. उनसे = स्वभावभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से।

६. समाहित= सातवाँ गुणस्थान में।

है। इसलिए, निश्चयमोक्षमार्ग और [१]व्यवहारमोक्षमार्ग को साध्य-साधनपना अत्यन्त घटित होता है।

भावार्थ :- निश्चयमोक्षमार्ग निज शुद्धात्मा की रुचि, ज्ञप्ति और निश्चल अनुभूतिरूप है। उसका साधक (अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग का व्यवहारसाधन) ऐसा जो भेदरत्नत्रायत्मक व्यवहारमोक्षमार्ग, उसे जीव कथंचित् (-किसी प्रकार, निज उद्यम से) अपने संवेदन में आनेवाली अविद्या की वासना के विलय द्वारा प्राप्त होता हुआ, जब गुणस्थानरूप सोपान के क्रमानुसार निजशुद्धात्मद्रव्य को भावना से उत्पन्न नित्यानन्दलक्षणवाले सुखामृत के रसास्वाद की तृप्तिरूप परम कला के अनुभव के कारण निजशुद्धात्माश्रित निश्चयदर्शनज्ञानचारित्ररूप से अभेदरूप परिणमित होता है, तब निश्चयनय से भिन्न साध्य-साधन के अभाव के कारण यह आत्मा ही मोक्षमार्ग है। इसलिए ऐसा सिद्ध हुआ कि सुवर्ण और सुवर्णपाषाण की भाँति निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग को साध्य-साधकपना (व्यवहारनय से) अत्यन्त घटित होता है॥१६१॥

---

१. यहाँ यह ध्यान में रखने योग्य है कि जीव व्यवहारमोक्षमार्ग को भी अनादि अविद्या का नाश करके ही प्राप्त कर सकता है; अनादि अविद्या का नाश होने से पूर्व तो (अर्थात् निश्चयनय के—द्रव्यार्थिकनय के—विषयभूत शुद्धात्मस्वरूप का भान करने से पूर्व तो) व्यवहारमोक्षमार्ग भी नहीं होता।

पुनश्च, 'निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग को साध्य-साधनपना अत्यन्त घटित होता है' ऐसा जो कहा गया है, वह व्यवहारनय द्वारा किया गया उपचरित निरूपण है। उसमें से ऐसा अर्थ निकालना चाहिए कि 'छठवें गुणस्थान में वर्तनेवाले शुभ विकल्पों को नहीं, किन्तु छठवें गुणस्थान में वर्तनेवाले शुद्धि के अंश को और सातवें गुणस्थानयोग्य निश्चयमोक्षमार्ग को वास्तव में साधन-साध्यपना है।' छठवें गुणस्थान में वर्तनेवाले शुद्धि का अंश बढ़कर जब और जितने काल तक उग्र शुद्धि के कारण शुभ विकल्पों का अभाव वर्तता है, तब और उतने काल तक सातवें गुणस्थानयोग्य निश्चयमोक्षमार्ग होता है।

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल ११, बुधवार

व्यवहारमोक्षमार्ग से साधने में आनेवाला निश्चयमोक्षमार्ग का स्वरूप अब कहते हैं। देखो, यहाँ व्यवहारमोक्षमार्ग को साधन कहा है। यह बात समझने जैसी है। पहले छह द्रव्य-सात तत्त्व इत्यादि का विकल्प आता है, परन्तु उस समय ज्ञान का झुकाव चैतन्यस्वभाव की ओर जाता है; मैं जीव हूँ; शरीरादि अजीव है; पुण्य-पाप दोनों आस्रव हैं; उनमें अटकना वह बन्ध है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा आस्रव को रोकना, वह संवर है और शुद्धता बढ़ने पर कर्म खिर जाना, वह निर्जरा है तथा पूर्ण शुद्धता प्रगट हो, वह मोक्ष है—ऐसे सात तत्त्वों का विचार करे तथा छह द्रव्यों को भिन्न-भिन्न स्वरूप से विचारे—उसमें विकल्प है, वह तो निमित्त है, परन्तु किसे? कि जो अन्तर में शुद्ध स्वभाव का श्रद्धा-ज्ञान और रमणता प्रगट करे, उसे वह व्यवहार निमित्त से साधन कहलाता है। परन्तु साध्यरूप तो निश्चय है, उस निश्चयमोक्षमार्ग बिना व्यवहार को साधन नहीं कहा जाता। उसका स्वरूप गाथा में कहते हैं :

मैं अभेद ज्ञानस्वभावी तत्त्व हूँ—ऐसे स्वभाव की शुद्ध श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें रमणता—ऐसे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप से परिणमित आत्मा, वह निश्चय से मोक्षमार्ग है। अभेदपना बतलाना है, इसलिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा परम समरसीभावरूप से परिणमित आत्मा को ही मोक्षमार्ग कहा है। ऐसा अभेद मोक्षमार्ग प्रगट करे, उसे व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र साधन कहा जाता है। ध्रुव स्वभाव के अवलम्बन से वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट होकर आत्मा के साथ एकरूप हुए, उसका नाम निश्चयमोक्षमार्ग है और भेद के विकल्प, वह व्यवहार है।

शुद्ध उपादान तो त्रिकाली चैतन्यद्रव्य है, उसके अवलम्बन से ही निश्चयमोक्षमार्ग है और व्यवहारमोक्षमार्ग, वह तो निमित्त है। वह निमित्त भी कब? कि शुद्ध उपादान के आश्रय से निश्चयमोक्षमार्ग प्रगट करे तो। परन्तु यदि विकल्प, वही अन्दर के परमार्थ स्वभाव में जाने का कारण हो तो विकल्प, वही निश्चय साधन हो गया, वहाँ निश्चय और व्यवहार वे दो भिन्न नहीं रहे। राग ने ही स्वभाव का काम किया, वहाँ राग रागरूप

नहीं रहा, परन्तु राग ही स्वभाव हो गया। चैतन्य वस्तु त्रिकाल है, वह शुद्ध है, उसमें यदि अशुद्धता हो तो वह कभी टले नहीं। अशुद्धता उसकी क्षणिक पर्याय में है। यदि पर्याय में अशुद्धता हो ही नहीं तो अशुद्धता टालने का प्रयत्न करने का रहता नहीं। इसलिए त्रिकाली शुद्ध द्रव्य, वह निश्चय और पर्याय में अशुद्धता है, वह व्यवहार—ऐसे दोनों पहलुओं को जाने बिना प्रमाणज्ञान होगा नहीं।

जीव हित करना चाहता है, अर्थात् उसकी पर्याय में वर्तमान में हित नहीं। हित कहीं बाहर में से नहीं आता, परन्तु अन्दर के स्वभाव में से ही आता है। उस स्वभाव के अवलम्बन से ही अहित टलकर हित होता है, तब पहले ऐसा विचार आता है कि सर्वज्ञदेव कैसे हैं? उन्होंने कहे हुए छह द्रव्य तथा सात तत्त्व कैसे हैं? ऐसा विचार आवे, वह व्यवहार है परन्तु यदि उस व्यवहार का अवलम्बन छोड़कर अन्तर में शुद्ध स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता करे तो उस राग को व्यवहार साधन का आरोप आता है।

देखो! दो वस्तुएँ हैं—एक अन्तर का स्वभाव और दूसरी बाहर की वस्तुएँ, उनमें किसकी सन्मुखता से कल्याण होगा? बहिर्मुख झुकाव से यदि हित होता हो तो कभी अन्तर में झुकाने का रहता नहीं और यदि अन्तर्मुख झुकाव से अहित होता हो तो अहित कभी टले नहीं। अन्तर्मुख झुकाव करता नहीं, इसीलिए जीव संसार में भटकता है। अन्तरस्वभाव के अवलम्बन से हित है और बाहर के अवलम्बन से अहित है।

शुद्धस्वभाव के अलम्बन से जिसने निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप समरसभाव प्रगट किया है, ऐसा आत्मा निश्चय से मोक्षमार्ग है। वह आत्मा किसी भी परद्रव्य का कुछ भी नहीं करता। अज्ञानी भी पर का तो कर्ता नहीं, परन्तु पर का मैं कर दूँ—ऐसा वह मानता है, धर्मी को भान हुआ कि अहो! मैं तो ज्ञायकमूर्ति हूँ—ऐसा भान होने पर ज्ञानी जीव एक भी परद्रव्य की क्रिया को अपने आधीन नहीं मानता। तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मस्वभाव को कभी नहीं छोड़ता। एक रजकण की क्रिया को भी अपनी मानता नहीं, इसलिए उसे ग्रहण नहीं करता और उसके प्रति के राग को भी करता नहीं, तथा त्रिकाल चिदानन्दस्वभाव को कभी छोड़ता नहीं, ऐसे आत्मा को मोक्षमार्ग होता है।

मैं पर को ग्रहण करूँ या पर को छोड़ूँ—ऐसी अज्ञानी को भ्रान्ति थी। परन्तु जहाँ आत्मा का भान हुआ, वहाँ धर्मीजीव को पर के ग्रहण की और त्याग की मिथ्याबुद्धि नहीं होती। परद्रव्यों का तो मुझमें अभाव है, उन्हें मैं कभी ग्रहण नहीं करता और मेरे स्वद्रव्य के स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता—ऐसा जिसे भान नहीं, उस जीव को मोक्षमार्ग होता नहीं। मैं पर को ग्रहण करनेवाला और पर को छोड़नेवाला हूँ—ऐसा जो मानता है, वह जीवतत्त्व का विराधक होकर निगोद में जाने की तैयारी करता है। तत्त्व का आराधक धर्मी जीव तो स्वभाव की श्रद्धा को कभी छोड़ता नहीं और राग के अंश को स्वभावरूप से कभी स्वीकार नहीं करता तथा परद्रव्य की क्रिया को अपनी मानता नहीं। राग हुआ, वह मुझे लाभदायक है, ऐसा किसी भी क्षण में मानता नहीं। इसका नाम शान्ति का उपाय और इसका नाम मोक्षमार्ग है। इसके अतिरिक्त सब थोथा—व्यर्थ है।

प्रमाणज्ञान कब होता है ? कि पदार्थ जैसे हों, वैसा जाने तो प्रमाणज्ञान होता है, परन्तु विपरीत माने तो वह मिथ्याज्ञान है।

ज्ञानस्वभाव में सर्वज्ञपने की सामर्थ्य भरी है। उसमें से सर्वज्ञपना प्रगट होता है। उस स्वभाव की प्रतीति और ज्ञान करके उसके ध्यान से सर्वज्ञदशा प्रगट करके भगवान ने केवलज्ञान में जैसा वस्तुस्वरूप देखा, उसकी यह बात है। जिस आत्मा ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप समरसभाव प्रगट किया है और परद्रव्य की क्रिया को जो ग्रहता नहीं तथा स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता को छोड़ता नहीं, वह आत्मा ही निश्चय से मोक्षमार्ग है। हलुवा बनाना हो तो घी-गुड़ और आटा का जिस विधि से होता हो, उस विधि से बनावे तो होता है। पहले घी में आटा सेंकने के बदले पानी डाले, तो हलुवा नहीं होता। उसी प्रकार मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप है, उसमें सम्यग्दर्शन बिना व्रतादि करके उसे चारित्र माने तो उसे मोक्षमार्ग का भान नहीं है। संयोग और संयोग के कारणरूप जो पुण्य, उन दोनों से भिन्न मैं शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसा जिसे भान नहीं, उसे मोक्षमार्ग नहीं होता। राग, वह वास्तव में चैतन्यतत्त्व नहीं, उसके अवलम्बन से मोक्षमार्ग नहीं। पहले शुद्ध आत्मा का भान करके फिर उसमें सावधान होकर रमणता करना, वह मोक्षमार्ग है। जीव क्या, अजीव क्या, पुण्य-पाप क्या... इन सब तत्त्वों को

पृथक्-पृथक् पहिचाने भी नहीं तो उसे आत्मा में सावधानी कहाँ से होगी ? ज्ञायकस्वभाव को जानकर उसके अवलम्बन में स्थिर हुआ, वह जीव आत्मस्वरूप में सावधान है और उसे ही निश्चयमोक्षमार्ग है। इस प्रकार आत्मा के स्वभाव के अवलम्बन से ही मोक्षमार्ग है।

अब **प्रश्न** करता है कि यदि अकेले आत्मा के ही आश्रय से निश्चयमोक्षमार्ग है तो फिर व्यवहारमोक्षमार्ग को उसका साधन किसलिए कहा ?

देखो, ऐसा प्रश्न किसे उठता है ? कि जो जीव समझने के लिये अन्दर विचार की घनघनाहट करता हो, उसे समझने के लिये ऐसा प्रश्न उठता है। और समझने की जिज्ञासा से वह पूछता है। उसे यहाँ समझाते हैं। जिसे समझने की दरकार ही न हो, उसे प्रश्न उठता नहीं। यहाँ शिष्य समझने की जिज्ञासा से पूछता है कि आत्मा के आश्रय से ही निश्चयमोक्षमार्ग है तो फिर व्यवहारमोक्षमार्ग को उसका साधन किसलिए कहा ?

उसका **उत्तर** कहते हैं—आत्मा अनादिकाल से अविद्यासंयुक्त है। अविद्या अर्थात् अज्ञान। वह उसका मूल स्वभाव नहीं, परन्तु पर्याय में अनादि से उसे अज्ञान है। यदि अज्ञान हो ही नहीं तो भगवानपना होना चाहिए। और यदि अज्ञान, वह स्वभाव हो तो वह कभी टले नहीं। जैसे पानी में वर्तमान उष्णता होने पर भी उस समय उसके शीतल स्वभाव का अभाव नहीं हो गया। वर्तमान उष्णता भी है और शीतल स्वभाव भी है—ऐसा जो जानता है, वह पानी को ठारने का भाव करता है। उसी प्रकार आत्मा के त्रिकाली स्वभाव में भूल नहीं है। पर्याय में असद्भूतव्यवहार से भूल है, वह टल सकती है। भूल, वह स्वभाव में नहीं, इसलिए टल जाती है; इसलिए वह असद्भूत है। कर्म के कारण से जीव को अज्ञानदशा हुई है, ऐसा नहीं, परन्तु अनादि से अपने कारण से ही जीव की पर्याय में अज्ञान है। अज्ञान, वह अविद्या है। विद्यमान ऐसे ध्रुवस्वभाव को जाने, उसका नाम विद्या है और त्रिकाली विद्यमान तत्त्व को न पहिचानकर क्षणिक राग को ही अपना स्वरूप माने, उसका नाम अविद्या है।

स्वकाललब्धि से अर्थात् कि स्वभाव सन्मुख के पुरुषार्थ की दशा से जब अनादि की अविद्या का नाश करे, तब जीव को व्यवहारमोक्षमार्ग की प्रवृत्ति होती है। देखो! यहाँ निश्चय के साथ व्यवहार को रखा है। अकेला व्यवहार नहीं लिया। स्वभाव को

पकड़े वहाँ देव-गुरु-शास्त्र के राग को व्यवहार कहा जाता है। स्वभाव के अवलम्बन से जितनी वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-रमणता हुई, वह तो निश्चयमोक्षमार्ग है। और वहाँ व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का जो राग रहा, उसे व्यवहार से साधन कहा जाता है। आत्मा के भान बिना अनन्त बार द्रव्यलिंगी मुनि हुआ, परन्तु उसे वास्तव में व्यवहार नहीं कहा जाता। अन्तर में ज्ञान द्वारा ही आत्मा पकड़ में आता है। यह बात उसके लक्ष्य में नहीं आयी। अन्तर में स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता प्रगट करता है, उसे ही यहाँ व्यवहार गिना है। अनादि से जो मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र थे, वे मिथ्यारत्नत्रय हैं। जिसमें यथार्थ स्वभाव की सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान और रमणता हुई, वहाँ उसे मिथ्यारत्नत्रय का नाश हो जाता है। यथार्थ तत्त्वों का श्रद्धान, बारह अंग का ज्ञान तथा यथार्थ चारित्र का आचरण—यह मिथ्यारत्नत्रय के नाश का उपाय है। ऐसे रत्नत्रय को ग्रहण करने का विचार आवे, वह व्यवहार है। स्वभाव के निश्चय श्रद्धा-ज्ञान करे, वैसे जीवों को ऐसा व्यवहार होता है।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल १२, गुरुवार

अज्ञानी जीव अनादि से आत्मस्वभाव को चूककर ग्रहणयोग्य शुद्धचेतनास्वभाव का आदर नहीं करता अर्थात् कि उसका त्याग करता है और त्यागयोग्य मिथ्यात्वादि को ग्रहण करता है। परचीज़ के ग्रहण-त्याग की बात नहीं है।

त्रिकाली निर्मल ज्ञानानन्दस्वभाव और वर्तमान एक समय की भूल—विकार दोनों को जाने तो प्रमाणज्ञान होता है। अज्ञानी त्रिकाली शुद्धस्वभाव को आदरनेयोग्य नहीं मानकर शुभराग को ठीक मानता है, इसलिए वह स्वभाव का आदर नहीं करता। उसके मिथ्याज्ञान का नाम अविद्या है।

मैं चिदानन्द हूँ, पर का कर्ता-भोक्ता-स्वामी नहीं, क्षणिक राग है, वह त्रिकाली स्वभाव में नहीं, ऐसा जानकर विकार जो कि अपना क्षणिक अपराध है, वह छोड़नेयोग्य है और त्रिकाली द्रव्यस्वभाव शुद्ध है, वही ग्रहण करनेयोग्य है, ऐसा जो नहीं मानता और इसलिए अन्तर्मुख दृष्टि नहीं करता, वह अनादि से भटकता है। स्वाश्रय श्रद्धा,

सम्यग्ज्ञान और स्वरूप रमणता होने से पुण्य की—व्यवहार की—कुदेवादि की श्रद्धादिरूप अज्ञान (मिथ्या) रत्नत्रय का त्याग और यथार्थ तत्त्वों का श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान और यथार्थ चारित्ररूप सम्यक् रत्नत्रय को ग्रहण करने का विचार करता है।

वर्तमान पर्यायबुद्धि थी, पुण्य-पापरूप शुभाशुभविकल्प में हित मानता था, वह विकार में एकताबुद्धि छोड़कर त्रिकाल ज्ञाता-दृष्टास्वरूप भिन्न हूँ, ऐसा स्वरूप अभेद का आश्रय करके निर्मल दृष्टिवान हुआ, वह अब चारित्र में विशेष स्थिरता के बल द्वारा शुद्धि की वृद्धि का प्रयत्न करता है। उसका कारण तो अभेद द्रव्यस्वभाव का अवलम्बनरूप एकाग्रता ही है। परन्तु व्यवहार से शुभ विकल्परूप अणुव्रत-महाव्रतादि का मन्दराग होता है, उसमें हेयबुद्धि होने से उसे उपचार से साधन कहा जाता है।

कभी आचरण में दोष लगे तो शुद्धि कर लेता है, वह व्यवहार आलोचना है। स्वभाव में स्थिर होने से निश्चय आलोचना होती है। जब विशेषरूप से शुद्धात्मतत्त्व की रमणता करता है, तब स्वाभाविक आनन्द में लीन होता है। छठवें-सातवें गुणस्थान में हजारों बार झूलता है, सातवें गुणस्थान में परमानन्द में लीन होता है। बुद्धिपूर्वक के विकल्प नहीं होते। ज्ञाता-दृष्टा आनन्दमय द्रव्यस्वभाव में विशेष निश्चल स्थिर होता है, वहाँ गुण-गुणी के भेदरहित—रागरहित अडोल—अचल होता है। यह मुनिदशा का वर्णन चलता है। अभी दृश्यमान क्षेत्र में ऐसे भावलिंगी मुनि सुने नहीं। वस्त्र-पात्र मुनिपद में होते नहीं, तीन कषाय (चौकड़ी) का अभाव होकर अतिशय शान्त, निर्मल, वीतराग, निर्विकल्पदशा निश्चलरूप से वर्ते, वह मुनिदशा है। तब कुछ भी ग्रहण-त्याग की बुद्धि मिट जाती है। स्वभाव को पकड़ूँ और राग को छोड़ूँ, ऐसा विकल्प भी नहीं होता। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा भगवान है, ऐसी दृष्टि तो थी, परन्तु मुनि ज्ञानानन्दस्वभाव की विशेष शान्ति में हजारों बार रहते हैं। वन्द्य-वन्दक का विकल्प, श्रवण करने-कराने का राग सातवीं भूमिका में होता नहीं। छठवें गुणस्थान में सविकल्प होते हैं, सातवें में निर्विकल्प आनन्द में सिद्ध भगवान के जैसा अपूर्व आनन्द होता है। सिद्ध जितना पूर्ण नहीं होता।

अखण्डानन्दस्वरूप की रुचि तो थी ही। छठवें में भी स्वसन्मुख एकता का विचार होता है, उस बुद्धिपूर्वक विकल्प से छूटकर निर्विकल्प अभेद आत्मा में लीन हो

जाता है, उस समय शरीर को बिच्छू काटे, अग्नि स्पर्शे, उसकी भी खबर नहीं रहती। स्वरूप में ऐसा निर्भय निर्विकल्प शान्ति का गढ़ बाँधा है कि वहाँ कोई उपसर्ग का ख्याल नहीं। छठवें गुणस्थान में विकल्प में आवे, तब ही संयोग का ख्याल आता है; क्योंकि एक साथ दो ओर का उपयोग छद्मस्थदशा में होता नहीं। ज्ञानचेतना दृष्टि में निरन्तर चालू है परन्तु साक्षात् उपयोग में अन्दर एकाग्रतारूप ज्ञानचेतना मुनि को सातवें गुणस्थान में होती है, वहाँ महाव्रत का या भक्ति आदि किसी प्रकार का बुद्धिपूर्वक राग नहीं होता। लोगों ने ऐसा भावलिंगी मुनिपना सुना भी नहीं। बाह्य वेश में और क्रियाकाण्ड में मुनिपद मान लिया है, परन्तु उसके आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं है। चौथे गुणस्थान से ही निरन्तर ज्ञानचेतना के स्वामित्वभाव से परिणमन है। परन्तु उसके उग्र आलम्बनरूप चारित्रदशा तो छठवें-सातवें गुणस्थान में है।

मुनि स्वसन्मुखता द्वारा जितने अंश में रागादिरूप नहीं वर्तते, उतने अक्रिय हैं और स्वरूपाचरण में वृद्धि करते हैं, उतने अंश में सक्रिय हैं। छठवें गुणस्थान में भी अल्पकाल होता है, वहाँ बुद्धिपूर्वक विकल्प है, परन्तु शीघ्र-शीघ्र सातवें गुणस्थान में निर्विकल्प आनन्द में लीनता बारम्बार चालू रहती है, ऐसा तीनों काल भावलिंगी मुनि का स्वरूप है और वही मोक्षमार्ग है।

मन, इन्द्रिय, विकल्प से पार निरालम्ब अभेद आत्मानुभव को साक्षात् स्वसंवेदन से जाना जा सकता है। बाह्य वचनादि से उसे बताया नहीं जा सकता। समझना चाहे तो ज्ञान द्वारा समझ ले। ज्ञानस्वभाव नित्य चिदानन्द है, उसे चूककर पराश्रय में, देह-रागादि में ठीक मानता है, उसे अनन्त पर में अनन्त एकताबुद्धि का अनन्त दुःख है। स्वाधीन ज्ञाता ही हूँ, उसमें पराश्रय में अटकनेरूप दुःख होता नहीं—यह बात ज्ञान करे तो समझ में आये। अनन्त पर से भिन्न, क्षणिक राग से भी भिन्न, त्रिकाल ज्ञानानन्द हूँ, उसमें रुचि लाकर स्थिर हो तो प्रत्यक्ष अकेले ज्ञान में जमे, ऐसा संवेदन कोई बाहर के कारण से नहीं होता।

जब परमशान्त अमृतरस में अन्तरदशा से आत्मानन्द को वेदता है, वहाँ विशेष वीतरागदशा होती है। वहाँ अतिनिश्चलभाव से यह आत्मा स्वरूपगुप्त होता है और वह जीव मोक्षमार्गी कहलाता है। वहाँ अभेद वीतरागचारित्रदशा वह साध्य है—निश्चय है

और व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प—उसे उपचार से व्यवहारसाधन कहा जाता है।

इस प्रकार निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्ग को साध्य-साधनभाव की सिद्धि है।

आचरण में निर्विकल्प लीनता जम जाये, वही मोक्षमार्ग है। वहाँ बीच में निमित्तरूप व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग आवे, उसे उपचार से साधन कहा जाता है।

जिसे वस्तुस्थिति का भान हुआ है, उसे राग हो तो सर्वज्ञ वीतरागदेव, वे देव; निर्ग्रन्थ दिगम्बर भावलिंगी मुनि, वे गुरु और स्वतन्त्र छह द्रव्य इत्यादि बतलानेवाले सत्यार्थ शास्त्र के प्रति ही होता है, दूसरे के प्रति विनयादि का राग नहीं होता। मुनि को अट्ठाईस मूलगुण इत्यादि का ही राग उस भूमिका में उचित है। उससे विरुद्ध राग हो तो वह मुनिपद के योग्य राग नहीं है। ज्ञानी को व्यवहाररत्नत्रयरूप शुभराग है, परन्तु उसके आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं है। ●●

वात्सल्यमूर्ति मुनिराज के सम्बोधन के उपाय

जैसे माता बालक को शिक्षा दे, तब कभी ऐसा कहती है कि बेटा तू तो बहुत सयाना है.... तुझे यह शोभा देता है? और कभी ऐसा भी कहती है कि तू मूर्ख है, पागल है; इस प्रकार कभी मधुर शब्दों से शिक्षा देती है तो कभी कड़क शब्दों से उलाहना देती है, परन्तु दोनों समय माता के हृदय में पुत्र के हित का ही अभिप्राय है। इसीलिए उसकी शिक्षा में भी कोमलता ही भरी है।

इसी प्रकार धर्मात्मा सन्त बालकवत् अबुध शिष्यों को समझाने के लिए उपदेश में कभी मधुरता से ऐसा कहते हैं कि हे भाई! तेरा आत्मा सिद्ध जैसा है, उसे तू जान! और कभी कठोर शब्दों में कहते हैं कि अरे मूर्ख! पुरुषार्थहीन नपुंसक! अपनी आत्मा को अब तो पहचान! यह मूढ़ता तूझे कब तक रखनी है? अब तो छोड़!

इस प्रकार कभी मधुर सम्बोधन से तो कभी कठोर शब्दों से उपदेश देते हैं, परन्तु दोनों प्रकार के उपदेश के समय उनके हृदय में शिष्य के हित का ही अभिप्राय है; इसलिए उनके उपदेश में कोमलता ही है, वात्सल्य ही है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, सम्यग्दर्शन, भाग ३, पृष्ठ १८६

गाथा - १६२

जो चरदि णादि पेच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं।
सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्छिदो होदि।।१६२।।

यश्चरति जानाति पश्यति आत्मानमात्मनानन्यमयम्।
स चारित्रं ज्ञानं दर्शनमिति निश्चितो भवति।।१६२।।

आत्मानश्चारित्रज्ञानदर्शनत्वद्योतनमेतत् ।

यः खल्वात्मानमात्ममयत्वादनन्यमयमात्मना चरति–स्वभावनियतास्तित्वेनानुवर्तते, आत्मना जानाति–स्वपरप्रकाशकत्वेन चेतयते, आत्मना पश्यति–याथातथ्येनावलोकयते, स खल्वात्मैव चारित्रं ज्ञानं दर्शनमिति कर्तृकर्मकरणानामभेदान्निश्चितो भवति । अतश्चारित्र–ज्ञानदर्शनरूपत्वाज्जीवस्वभावनियतचरितत्वलक्षणं निश्चयमोक्षमार्गत्वमात्मनो नितरामु–पपन्नमिति ।। १६२ ।।

देखे जाने आचरे जो अनन्यमय निज आत्म को।
वे जीव दर्शन–ज्ञान अर चारित्र हैं निश्चयपने।।१६२।।

अन्वयार्थ :- [यः] जो (आत्मा), [अनन्यमयम् आत्मानम्] अनन्यमय आत्मा को [आत्मना] आत्मा से [चरित] आचरता है, [जानाति] जानता है, [पश्यति] देखता है, [सः] वह (आत्मा ही) [चारित्रं] चारित्र है, [ज्ञानं] ज्ञान है, [दर्शनम्] दर्शन है—[इति] ऐसा [निश्चितः भवति] निश्चित है।

टीका :- यह, आत्मा के चारित्र-ज्ञान-दर्शनपने का प्रकाशन है (अर्थात् आत्मा ही चारित्र, ज्ञान और दर्शन है, ऐसा यहाँ समझाया है।)।

जो (आत्मा) वास्तव में आत्मा को—जो कि आत्ममय होने से अनन्यमय है उसे—आत्मा से आचरता है अर्थात् [1]स्वभावनियत अस्तित्व द्वारा अनुवर्तता है। (-स्वभावनियत अस्तित्वरूप से परिणमित होकर अनुसरता है), (अनन्मय आत्मा को ही) आत्मा से जानता है अर्थात् स्वपरप्रकाशकरूप चेतता है, (अनन्यमय आत्मा

---

१. स्वभावनियत=स्वभाव में अवस्थित; (ज्ञानदर्शनरूप) स्वभाव में दृढ़रूप से स्थित। ['स्वभावनियत अस्तित्व की' विशेष स्पष्टता के लिए १४४वीं गाथा की टीका देखो।]

को ही) आत्मा से देखता है अर्थात् यथातथरूप से अवलोकता है, वह आत्मा ही वास्तव में चारित्र है, ज्ञान है, दर्शन है— ऐसा [२]कर्ता-कर्म-करण के अभेद के कारण निश्चित है। इससे (ऐसा निश्चित हुआ कि) चारित्र-ज्ञान-दर्शनरूप होने के कारण आत्मा को जीवस्वभावनियत चारित्र जिसका लक्षण है, ऐसा निश्चयमोक्षमार्ग अत्यन्त घटित होता है (अर्थात् आत्मा ही चारित्र-ज्ञान-दर्शन होने के कारण आत्मा ही ज्ञानदर्शनरूप जीवस्वभाव में दृढ़रूप से स्थित चारित्र जिसका स्वरूप है, ऐसा निश्चयमोक्षमार्ग है।)॥१६२॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल १२, गुरुवार

अब, आत्मा के चारित्र, ज्ञान, दर्शन का प्रकाश करते हैं।

जो पुरुष अपने ज्ञातास्वरूप से ज्ञानादि गुण-पर्यायों से अभेद एकरूप आचरण करता है, जानता है, श्रद्धता है, वह आत्मा ही स्वयं चारित्र है। जाननेवाला-देखनेवाला-आचरण करनेवाला इन तीन नामभेदरहित स्वयं दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होता है। रागरहित, स्वरूपानन्द धाम में जमा, उसका नाम दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। जितना राग रहता है, वह मोक्षमार्ग नहीं। चिदानन्दमय परमशान्त वीतरागी आनन्द की क्रीड़ा अन्दर में मांडी, उसका नाम सच्चा मोक्षमार्ग है।

भावार्थ : वास्तव में जो आत्मा अपने द्वारा (मन, इन्द्रिय, विकल्प, शरीरादि द्वारा नहीं) अपने को अभेदरूप आचरण करता है, वह अन्तर ज्ञानानन्द में लीन हो जाता है, वही चारित्र है, क्योंकि अभेददृष्टि से आत्मा गुण-गुणीभाव से एक है। जैसे गुड़ और मिठास एक है, नींबू और उसकी खटास एक है; उसी प्रकार नित्य ज्ञानानन्दस्वभाव और स्वभाववान आत्मा एक है। इस प्रकार निर्मल प्रतीति अनुसार साक्षात् अपने

---

२. जब आत्मा, आत्मा को, आत्मा से आचरता है-जानता है-देखता है, तब कर्ता भी आत्मा, कर्म भी आत्मा और करण भी आत्मा है; इस प्रकार वहाँ कर्ता-कर्म-करण की अभिन्नता है।

स्वभाव से निश्चलभाव में प्रवर्तता है, वहाँ विकल्प की उत्पत्ति नहीं हुई और अन्य कारण बिना अर्थात् कि निमित्त, मन, राग बिना स्वयं ही अपने को मुक्तानन्दरूप जानता है, वह मोक्षमार्गी है।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल १३, शुक्रवार

सम्यक्चारित्र, वह मोक्ष का कारण है, उसका यह वर्णन है। स्व-परप्रकाशक चैतन्य शक्ति द्वारा आत्मा ही आत्मा का अनुभवी होता है। राग द्वारा अनुभव करे, वह वास्तविक चारित्र नहीं। आत्मा का जो शाश्वत् जाननेवाला-देखनेवाला स्वभाव है, उसके द्वारा ही अनुभव करना, वह निश्चयचारित्र है और अपने द्वारा देखता तथा जानता है, इसलिए आत्मा ही निश्चय से ज्ञान-दर्शन है। आत्मा का जानने-देखने का स्वभाव है, उस स्वभाव में अन्तरलीनता, वह चारित्र है। बाहर की क्रिया में और राग में चारित्र नहीं। आत्मा के निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान करके उसके अनुभव में जो लीन हुआ है, वह भेदविज्ञानी पुरुष स्वयं ही चारित्र है, स्वयं ही ज्ञान है और स्वयं ही दर्शन है।

गुण-गुणीभेद से आत्मा कर्ता है और ज्ञानादि उसका कार्य है—ऐसा भेद है, वह व्यवहार है। निश्चय से कर्ता-कर्म अभेद है। व्यवहार में जो राग का विकल्प उठे, वह चारित्र नहीं। आत्मा कर्ता और ज्ञान उसका कार्य—ऐसे भेद का विकल्प उठे, वह भी निश्चय से चारित्र नहीं। शरीरादि से तो आत्मा भिन्न है; राग होता है, वह भी आत्मा का स्वरूप नहीं और 'मैं आत्मा कर्ता, ज्ञान मेरा कार्य और ज्ञानशक्ति वह करण'—ऐसा जो भेद है, वह भी व्यवहार है; उस भेद का आश्रय छोड़कर अभेद आत्मा के आश्रय से ही निश्चयचारित्र होता है। आत्मा कर्ता और निर्विकारी ज्ञान-दर्शन-चारित्रपर्याय उसका कर्म और शक्ति, वह उसका साधन—इत्यादि छह कारक के भेद डालना, वह व्यवहार है, उसके लक्ष्य से विकल्प होता है, वह वास्तव में चारित्र नहीं है। आत्मा पर को करे या राग को करे—यह बात तो यहाँ ली नहीं, परन्तु आत्मा अपने ज्ञान की निर्मलदशा को करे—ऐसा भेद डालना, वह भी व्यवहार है। कर्ता-कर्म के भेदरहित एकाकार अभेद चैतन्य में लीनता होना, उसका नाम निश्चयचारित्र है और वह मोक्षमार्ग है। अज्ञानी तो अभी देह की क्रिया आत्मा करता है—ऐसा मानता है, उसे तो देह से पृथक्ता भी

भासित नहीं होती। वास्तविक आत्मा के भान बिना पुण्य करके अनन्त बार स्वर्ग में गया, परन्तु भव का अन्त नहीं आया। आत्मा के भान बिना त्यागी हो और महाव्रत पाले तो भी उसे चारित्र नहीं कहते। अन्दर में असंग चैतन्यस्वभाव में एकाकार होकर वीतरागी परिणति होना, वह निश्चयचारित्र है।

जिसे निराला चैतन्यतत्त्व का भान है, रागरहित और देहरहित मैं चिदानन्दतत्त्व हूँ, ऐसा जिसने भान किया है, उसे चारित्र कैसे हो, उसकी यह बात है। सम्यग्दर्शन के बाद भी जो दयादि के विकल्प उठे या गुण-गुणीभेद के विकल्प उठे, वह वास्तव में चारित्र नहीं है, चारित्र में भेद का आश्रय नहीं, परन्तु एकाकार चैतन्यद्रव्य के आश्रय से ही वीतरागीचारित्र होता है।

शरीरादि या रागादि कोई चारित्र का साधन नहीं, अन्तर की चैतन्यशक्ति ही मेरे चारित्र का साधन है, इस प्रकार कर्ता-कर्म और करण के भेद से विचार करना, वह भी व्यवहार है, वह वास्तविक चारित्र नहीं। भाई! अनन्त-अनन्त काल से भव का अन्त नहीं आया, तो विचार कर कि सर्वज्ञदेव ने कही हुई अचिन्त्य वस्तु समझना बाकी रह गयी है। अन्दर में देह से भिन्न चैतन्यतत्त्व क्या है, उसके भान बिना भेदज्ञान नहीं होगा और भेदज्ञान बिना चारित्र नहीं होगा। चारित्र तो अन्दर की निर्विकारीदशा है। चिदानन्द -स्वभाव में अन्तर रमणता करता हो, उसका नाम चारित्रदशा है। जहाँ मैं कर्ता, ज्ञान मेरा कार्य—ऐसे भेद का विचार उठे, वहाँ भी शुभराग है। जैसे समुद्र अपने कारण से हिलोरे चढ़ता है, उसी प्रकार अन्तर में चैतन्यस्वभाव की दृष्टि करके उसमें लीन होने से धर्मी जीव आत्मा के आनन्द के हिलोरे चढ़ा है, उसमें कर्ता-कर्म-करण—ऐसे भेद के विकल्प भी नहीं हैं। जैसे समुद्र तूफान में चढ़े, तब उसमें जहाज नहीं चल सकता, उसी प्रकार जहाँ आत्मा में आनन्द समुद्र उछला और आत्मा शान्तरस के तूफान में चढ़ा, वहाँ 'मैं कर्ता और ज्ञान मेरा कर्म' ऐसे भेद का विकल्प भी नहीं होता। वहाँ आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में आ गया है। देखो, यह चारित्रदशा!! मैं अखण्ड ज्ञानमूर्ति हूँ, मेरा सिद्धस्वरूप मेरी शक्ति में पड़ा है। ऐसी शक्ति की प्रतीति करके उसमें लीन होने पर ऐसा उपशमरस उछलता है कि वहाँ कर्ता-कर्म इत्यादि भेद के विकल्प का उत्थान भी नहीं होता। देखो, ऐसी मुनि की दशा है।

देह से और राग से तो भिन्न, और अन्दर गुण-गुणी के भेद के विकल्प से भी भिन्न, एकाकार चिदानन्द मूर्ति आत्मा लक्ष्य में लेकर उसमें एकाकार हुआ, उसका नाम चारित्र है। अहो! तू आनन्द का सागर है, स्वभाव में परिणति लीन होकर आनन्द के हिलोरे चढ़ी, वहाँ भेद का विकल्प नहीं होता—ऐसी स्वरूप की लीनता जमे, उसे भगवान चारित्र कहते हैं।

संसार का संयोग तो पुण्य से मिलता है। वे संयोग आत्मा को कुछ सहायता नहीं करते और हैरान भी नहीं करते, तथापि जो जीव, मैं संयोग को प्राप्त कर सकता हूँ, ऐसा मानता है और संयोग से अपने को लाभ-नुकसान मानता है, वह जीव संयोग का गोला (दास) होता है। यहाँ तो ऐसा कहना है कि भाई! संयोग तो प्रारब्ध के कारण से मिलते हैं, तो भी वहाँ कैसे प्रयत्न करता है? आत्मा का धर्म तो पुरुषार्थ से प्रगट होता है। वह कहीं पूर्व के प्रारब्ध से नहीं मिलता, इसलिए चैतन्य की प्रतीति करके वहाँ प्रयत्न कर। अखण्डानन्द स्वभाव की प्रतीति और ज्ञान करे, उसे राग घटे बिना नहीं रहता।

पहले व्यवहार बतलाया था कि सर्वज्ञ ने कहे हुए छह द्रव्यों की प्रतीति होनी चाहिए, उससे विपरीत माने तो वह मिथ्यादृष्टि है, सर्वज्ञदेव ने कहे हुए तत्त्वों की विचारणा हो, उसे व्यवहार कहा था, परन्तु जितने अंश में आत्मस्वभाव का आश्रय करके चारित्रदशा होती है, उतने अंश में तो वह राग भी नहीं रहता। भेद का—व्यवहार का विकल्प होता है, उसे धर्मी जीव वास्तव में चारित्र नहीं मानते। छह द्रव्य इत्यादि का विकल्प आवे, वह भी चारित्र में बाधक है। निमित्तरूप से वह बीच में होता है। उसका ज्ञान कराने के लिये उसे व्यवहार से साधन कहा था, परन्तु अन्दर स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चय जिसे प्रगट हुआ हो, उसे वह व्यवहार कहलाता है। जहाँ अन्तर में लीनता प्रगट हुई, वहाँ तो उस व्यवहार का विकल्प भी नहीं होता, वहाँ भेदरहित लीनता वर्तती है।

माल लेने जाये, वहाँ पहले कीमत-तौल इत्यादि का विचार आता है, परन्तु पश्चात् खाते समय उसका विचार नहीं होता; उसी प्रकार पहले सर्वज्ञदेव ने कहे हुए तत्त्वों का निर्णय करने के लिये विचार आता है, परन्तु तत्त्व का निर्णय करके फिर उसमें एकाग्र होकर अनुभव में लीन हुआ, उस समय भेद के विकल्प नहीं होते; चारित्रदशा में निमित्त

का, राग का और भेद का आलम्बन नहीं है, अखण्ड चैतन्य का ही अवलम्बन है।

अकेला बारदान लेकर निकले परन्तु माल को न पहिचाने तो कौनसा माल लेगा? उसी प्रकार अकेले व्यवहार के विचार में रुके, परन्तु अभेद स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता न करे तो धर्म नहीं मिलता। जिस दुकान में जो माल मिलता हो, वहाँ जाये तो वह माल मिले। अफीमवाले की दुकान में मावा नहीं मिलता और हलवाई की दुकान में अफीम नहीं मिलती। 'मावा' तो अफीम का भी कहलाता है और दूध का भी कहलाता है परन्तु उन्हें भिन्न पहिचाने नहीं तो दूध के मावा के बदले अफीम का मावा लायेगा। उसी प्रकार धर्म कहाँ मिलता है? धर्म तो अन्दर में चैतन्यस्वभाव के ही आश्रय से मिलता है, कोई निमित्त के-राग के या भेद के आश्रय से धर्म नहीं मिलता। पहले ऐसा भान भी न करे और शुभराग से धर्म मान ले, तो उसे धर्म के बदले मिथ्यात्व होगा। पहले पहिचान करके फिर अन्तर के अनुभव में एकाग्रता हो, उसका नाम चारित्रदशा है। अहो! मोक्ष के लिये आत्मा मस्ती में चढ़ा है—ऐसी चारित्रदशा है। चारित्र, वह आत्मा से भिन्न नहीं; ज्ञान-दर्शनस्वरूप आत्मा ही चारित्र है। जीव का ज्ञान-दर्शन स्वभाव है।—ऐसे स्वभाव का निर्णय करके उसमें लीनता हो, इसका नाम चारित्र है। निश्चय से आत्मा ही चारित्र है। जीव का स्वभाव ज्ञान और दर्शन है—उस स्वभाव में निश्चल होकर स्वभाव का आचरण करने से निश्चयमोक्षमार्ग सर्व प्रकार से सिद्ध होता है। ऐसे मोक्षमार्ग बिना कभी सिद्धि नहीं होती।

मैं कौन हूँ और मेरा स्वभाव क्या है? तथा वर्तमान में अल्पता क्यों है? ऐसा अन्दर में यथार्थ भान करके उसमें निश्चल होकर स्थिर हो, उसका नाम निश्चय-मोक्षमार्ग है।—यह नियम से मोक्षमार्ग है।

अहो! ऐसा मोक्षमार्ग जगत में सब जीवों को नहीं होता, इसलिए अब जगत के सब जीवों को मोक्षमार्ग की योग्यता होने का निषेध करते हैं। जगत में कितने ही अभव्य जीव हैं, उन्हें कभी मोक्षमार्ग नहीं होता। ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा में ही शान्ति है, आत्मा को स्वभाव से ही आनन्द है। इन्द्रियों का सुख, वह सुख नहीं; अन्तरस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता से ही परमानन्द प्रगट होकर मुक्ति होती है—ऐसा जो नहीं मानते, वे भी वर्तमान में तो अभव्य जैसे हैं। यह बात गाथा में कहते हैं। ●●

गाथा - १६३

जेण विजाणदि सव्वं पेच्छदि सो तेण सोक्खमणुहवदि।
इदि तं जाणदि भविओ अभवियसत्तो ण सद्दहदि।।१६३।।

येन विजानाति सर्वं पश्यति स तेन सौख्यमनुभवति ।
इति तज्जानाति भव्योऽभव्यसत्त्वो न श्रद्धत्ते ।।१६३।।

सर्वस्यात्मानः संसारिणो मोक्षमार्गार्हत्वनिरासोऽयम् ।

इह दि स्वभावप्रातिकूल्याभावहेतुकं सौख्यम् । आत्मनो हि दृशि-ज्ञप्ती स्वभावः । तयोर्विषयप्रतिबन्धः प्रातिकूल्यम् । मोक्षे खल्वात्मनः सर्वं विजानतः पश्यतश्च तदभावः । ततस्तद्धेतुकस्यानाकुलत्वलक्षणस्य परमार्थसुखस्य मोक्षेऽनुभूतिरचलिताऽस्ति । इत्येतद्द्रव्य एव भावतो विजानाति, ततः स एव मोक्षमार्गार्हः । नैतदभव्यः श्रद्धत्ते, ततः स मोक्षमार्गानर्ह एवेति । अतः कतिपये एव संसारिणो मोक्षमार्गार्हा, न सर्व एवेति ।। १६३ ।।

जाने-देखे सर्व जिससे हो सुखानुभव उसी से।
यह जानता है भव्य ही श्रद्धा करे ना अभव्य जिय।।१६३।।

अन्वयार्थ :- [येन] जिससे (आत्मा मुक्त होने पर), [सर्वं विजानाति] सर्व को जानता है और [पश्यति] देखता है, [तेन] उससे, [सः] वह, [सौख्यम् अनुभवति] सौख्य का अनुभव करता है;—[इति तद्] ऐसा [भव्यः जानाति] भव्य जीव जानता है, [अभव्यसत्त्वः न श्रद्धत्ते] अभव्य जीव श्रद्धा नहीं करता।

टीका :- यह, सर्व संसारी आत्मा मोक्षमार्ग के योग्य होने का निराकरण (निषेध) है।

वास्तव में सौख्य का कारण स्वभाव की [१]प्रतिकूलता का अभाव है। आत्मा का 'स्वभाव' वास्तव में दृशि-ज्ञप्ति (दर्शन और ज्ञान) है। उन दोनों को [२]विषयप्रतिबन्ध होना, सो 'प्रतिकूलता' है। मोक्ष में वास्तव में आत्मा को सर्व को जानता और देखता

---

१. प्रतिकूलता=विरुद्धता; विपरीतता; उलटापन।
२. विषयप्रतिबन्ध=विषय में रुकावट अर्थात् मर्यादितपना। (दर्शन और ज्ञान के विषय में मर्यादितपना होना, वह स्वभाव की प्रतिकूलता है।)

होने से उसका अभाव होता है (अर्थात् मोक्ष में स्वभाव की प्रतिकूलता का अभाव होता है)। इसलिए [१]उसका अभाव जिसका कारण है, ऐसे [२]अनाकुलतालक्षणवाले परमार्थसुख की मोक्ष में अचलित अनुभूति होती है।—इस प्रकार भव्य जीव ही [३]भाव से जानता है, इसलिए वही मोक्षमार्ग के योग्य है; अभव्य जीव इस प्रकार श्रद्धा नहीं करता, इसलिए वह मोक्षमार्ग के अयोग्य ही है।

इससे (ऐसा कहा कि) कुछ ही संसारी मोक्षमार्ग के योग्य हैं, सर्व नहीं ॥१६३॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल १३, शुक्रवार

आत्मा अपने स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रतारूप मोक्षमार्ग द्वारा परमानन्ददशा प्राप्त करता है। केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट होकर जो परमानन्ददशा प्रगट हुई, वहाँ अकेले आत्मा को अपने स्वभाव से ही आनन्द है, किसी बाहर के पदार्थ से आनन्द नहीं। संसार में जीव अपनी कल्पना से ही परपदार्थों में सुख-दुःख मानता है। वह सुखगुण की विपरीतदशा है। भगवान को पूर्ण ज्ञान और आनन्ददशा प्रगट हो गयी है। ऐसे भगवान को पूर्ण सुख का अनुभव है। ऐसे अतीन्द्रिय सुख की निकट भव्य जीव ही श्रद्धा करते हैं और वे ही मोक्षमार्ग के योग्य हैं। अभव्य जीव आत्मा के अतीन्द्रिय सुख की श्रद्धा नहीं करते, वे मोक्षमार्ग के योग्य नहीं हैं।

बीच में व्यवहार और विकल्प आवे, वह पुण्य है, उसे जो मोक्ष का कारण मानता है, उसे आत्मा के सुख की प्रतीति नहीं है। इसलिए व्यवहार के आश्रय से मोक्ष होने का मानता है, वह भी अभव्य जैसा है। केवली भगवान के और सिद्ध भगवान के ज्ञान और आनन्द में अन्तर नहीं है; वे समस्त ज्ञेयों को जानते-देखते हैं और पूर्ण सुख का अनुभव करते हैं।

---

१. पारमार्थिक सुख का कारण स्वभाव की प्रतिकूलता का अभाव है।

२. पारमार्थिक सुख का लक्षण अथवा स्वरूप अनाकुलता है।

३. श्री जयसेनाचार्यदेवकृत टीका में कहा है कि 'उस अनन्त सुख को भव्य जीव जानते हैं, उपादेयरूप से श्रद्धते हैं और अपने-अपने गुणस्थानानुसार अनुभव करते हैं।'

आत्मा का ज्ञान-दर्शन स्वभाव है, उस स्वभाव को पकड़कर उसमें रमणता करने से पूर्ण ज्ञान-दर्शन प्रगट होता है और तीन काल-तीन लोक को प्रत्यक्ष जानते-देखते हैं तथा वे अपने स्वभाव के अतीन्द्रिय सुख को भोगते हैं। भगवान को पूर्ण ज्ञान-दर्शन प्रगट हुए हैं, इसलिए पूर्ण सुख है। ऐसा परमार्थ सुख है, वही उपादेय है। ऐसे सुख की अभव्य जीव श्रद्धा नहीं करता और निकट भव्य जीव उसकी श्रद्धा करते हैं। अहो! सुख तो आत्मा में है, बाहर में सुख नहीं और भेद का विकल्प उठे, उसमें भी मेरा सुख नहीं—ऐसे शुद्ध आत्मा के सुख की प्रतीति निकट मोक्षगामी जीवों को ही आती है। देखो! यहाँ पुण्य-पाप से भिन्न शुद्ध आत्मा की प्रतीति कराते हैं। जिसने पुण्य को सुखदायक माना, उसने पुण्यरहित शुद्ध आत्मा के सुख की प्रतीति नहीं की। उस जीव को मोक्षमार्ग नहीं होता।

अहो! अनाकुलस्वभाव की रमणता से ही मुक्ति और परमानन्ददशा प्रगट होती है। ऐसे स्वभाव को धर्मी जीव उपादेय मानता है और अपने-अपने गुणस्थान अनुसार उस सुख को अनुभव करता है। आत्मा के स्वभाव में ही सुख है, ऐसी श्रद्धा तो सभी ज्ञानियों को समान है, परन्तु उस सुख का अनुभव गुणस्थान अनुसार बढ़ता जाता है। जैसे-जैसे अन्तर में एकाग्रता करता जाता है, वैसे-वैसे अनाकुल शान्ति का वेदन बढ़ता जाता है।

आत्मा का ज्ञान-दर्शन स्वभाव है। वह अपने पुरुषार्थ से रुके, तब आवरण को निमित्त कहा जाता है। आवरण तो संयोग है। उसके कारण से कहीं सुख-दुःख नहीं है। धर्मी तथा मुनि अन्तर के आनन्द के अनुभव में लीन हों और बाहर में सिंह आकर शरीर को खा जाता हो! परन्तु बाहर की प्रतिकूलता का कोई दुःख नहीं। उल्टे पुरुषार्थ से कर्म बँधा था, वह सुलटे पुरुषार्थ से नाश पाता है। स्वयं अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को भूला, तब ज्ञानावरणादिकर्म बँधे थे और ज्ञान-दर्शन स्वभाव को पहिचानकर उसमें एकाग्र होने से वे आवरण टल जाते हैं और केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रगट होता है, वहाँ आत्मिक शान्तरस उपजता है, उसका नाम सुख है—ऐसा परमार्थ सुख मोक्ष में ही है।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल १४, शनिवार

यह मोक्षमार्ग का अधिकार है। मोक्ष अर्थात् आत्मा की पूर्ण पवित्र दशा; उसका कारण चारित्र है। आत्मा के ज्ञान-दर्शन स्वभाव में रमणता करना, उसका नाम चारित्र है। अपने स्वभाव में लीनता करे, उसे चारित्र कहा जाता है या पर में लीन हो, उसे चारित्र कहा जाता है? अपने स्वभाव में लीन होना, वही चारित्र मोक्ष का कारण है। आत्मा के ज्ञान-दर्शन स्वभाव से अनन्यमयता अर्थात् कि एकता होना, उसका नाम सम्यक्चारित्र है; ऐसे चारित्र से मुक्ति होती है। आत्मा का ज्ञान-दर्शन स्वभाव है। उसे पर्याय में हीनता है, उसमें निमित्तरूप से आवरण है। वास्तव में तो भावआवरण से ज्ञान-दर्शन अटके हैं, वहाँ द्रव्यकर्म का आवरण तो निमित्त है। अपना जैसा स्वभाव है, वैसे स्वभाव में परिपूर्ण रमणता न करे और अपूर्णता रहे—उतना भावआवरण है, और उसमें निमित्तरूप जड़कर्म हैं। यदि आवरण न हो तो सर्वज्ञपना और सर्वदर्शीपना प्रगट होना चाहिए। जहाँ तक पूर्ण जानना-देखना न हो, तब तक आत्मा की पर्याय में अपराध है, अपराध कहो या भावआवरण कहो—वह एक ही है। ज्ञान-दर्शनस्वभाव की प्रतीति करके उसमें जितनी रमणता करे, उतना सुख है। आत्मा के स्वभाव का भान करके उसके सन्मुख होकर एकाग्रता करने से भावआवरण टलते हैं और भावआवरण टलने से द्रव्यकर्म का आवरण भी टल जाता है। आवरण का नाश होने पर अर्थात् कि ज्ञान-दर्शन का सम्पूर्ण विकास होने से पूर्ण आत्मिक सुख प्रगट होता है।

ज्ञान-दर्शनस्वभाव, वही आत्मा का स्वाभाविकभाव है। राग-द्वेषादि भाव हों, वह कहीं आत्मा का स्वाभाविक भाव नहीं। स्वाभाविकभाव प्रगट होने से आवरण का विनाश होता है और आत्मा का शान्तरस प्रगट होता है, उसका नाम सुख है। ज्ञान-दर्शनस्वभाव, वह आत्मा का घर है, उसमें जितनी लीनता, उतना सुख है। आत्मा के ज्ञान-दर्शनस्वभाव में जितना आवरण, उतना दुःख है। भगवान आत्मा का स्वभाव तो जानना और देखना है, उसमें राग-द्वेष-मोह से जितना आवरण है, उतना दुःख है। इसके अतिरिक्त संयोग से सुख या दुःख नहीं।

आत्मा के ज्ञान-दर्शनस्वभाव में दुःख नहीं, परन्तु राग-द्वेष-मोह की वृत्ति से

वह स्वभाव जितना प्रतिबद्धपना पाता है, उतना दुःख है। बाहर में कुछ दुःख नहीं, अपना पूर्ण ज्ञान-दर्शनस्वभाव होने पर भी, पर के अवलम्बन में अटककर अल्पज्ञरूप से परिणमे, वह दुःख है और ज्ञानानन्दस्वभाव में अन्तर्लीन होने से केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रगट होता है, वहाँ पूर्ण सुख है। स्वाधीन स्वभाव पूर्ण प्रगट हो गया, उसका नाम सुख; उस स्वभाव को चूककर रागादिभावों में अटके, उतना दुःख है।

जैसे शरीर में नख उसकी मर्यादा से बढ़ जाये तो वह दुःख का कारण होता है। यह तो दृष्टान्त है। उसी प्रकार चैतन्यस्वभाव में राग-द्वेष की उपाधि, वह दुःख है। चिदानन्दस्वभाव की जानने-देखने की मर्यादा है, उस मर्यादा से बाहर निकलकर राग-द्वेष-मोह की उपाधि में अटकना, वह दुःख है। ज्ञानस्वभाव का भान करके उसमें एकाग्रता करने से सर्व आवरण का अभाव होकर मोक्षदशा प्रगट होती है, उसमें पूर्ण सुख है। बाहर के बाग-बगीचा या आम के रस में सुख नहीं है। पर की आशा करे, वह तो दुःख है। धर्मी जीव को भी जितनी स्वरूप में लीनता है, उतना सुख है और जितनी लीनता नहीं तथा राग-द्वेष होते हैं, उतना उन्हें भी दुःख है।

मैं ज्ञाता हूँ—ऐसा भूलकर रागादि की वृत्ति में ही आत्मा को रोक रखना, वह दुःख है। जहाँ ज्ञानस्वभाव का भान करके उसमें पूर्ण रमणता की, वहाँ केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रगट होता है और आवरण का सर्वथा अभाव होता है, इसलिए वहाँ पूर्ण आनन्द है। सर्वज्ञ भगवान को निराकुल सुख का निश्चल अनुभव है, वही पारमार्थिक आत्मिक सुख है। ज्ञान-दर्शन सब जानता-देखता है, इसलिए जानने-देखने में कहीं राग-द्वेष करके अटकता नहीं, इसलिए भगवान को पूर्ण आत्मिक सुख है। इसके अतिरिक्त स्वर्ग के इन्द्र को भी पूर्ण सुख नहीं है। संयोग से सुख या दुःख नहीं है। सिद्ध भगवन्त संयोगरहित अपने स्वभाव से ही सुखी हैं और निगोद के जीव को बाहर में प्रतिकूलता का संयोग दिखाई नहीं देता, तो भी उसे नरक से भी अनन्त दुःख है। वह दुःख किसका है? अन्दर आत्मा की दशा में चैतन्य की विराधना होकर उसके ज्ञान-दर्शन अत्यन्तरूप से आवृत हो गये हैं, इसीलिए वहाँ दुःख है। ज्ञान-दर्शन की अत्यन्त हीन पर्याय हुई, वहाँ तीव्र मोह है। उसका दुःख है। आलू को तेल में तले, उसका कहीं उसे दुःख नहीं है, परन्तु अपने ज्ञान-दर्शनस्वभाव को भूलकर तीव्र मोह से उसकी

पर्याय घात हो गयी है—इसीलिए वे दु:खी हैं। आम का रस खाता हो और उसमें सुख मानता हो—उस समय भी वह जीव आकुलता से दु:खी है, परन्तु मूढ़ता से उसमें सुख मानता है। ज्ञान-दर्शनस्वभाव जहाँ पूरा प्रगट हुआ वहाँ ही पूरा सुख है। ऐसे स्वभावसुख की प्रतीति भव्यजीव ही करते हैं। बाहर के पदार्थों में तो सुख नहीं और दया के शुभपरिणाम हों, उनमें भी सुख नहीं। ज्ञान-दर्शनस्वभाव में ही सुख है। ऐसी श्रद्धा भव्यजीवों को ही होती है।

धर्मी भव्य जीव भी अपने-अपने गुणस्थान अनुसार रागवाली दशा में विषयों को भोगते हैं, परन्तु उसमें उन्हें हेयबुद्धि है। अन्दर में चिदानन्दस्वभाव के सुख को ही वे उपादेय मानते हैं। विषयों के सुख में धर्मी को कभी उपादेयबुद्धि नहीं होती, तथापि अस्थिरता के राग के कारण विषयसुख का वेदन होता है, परन्तु उसे वे हेय मानते हैं। अपने अतीन्द्रिय सुख को ही उपादेय मानते हैं। अज्ञानी जीव तो अतीन्द्रिय सुख को जानता नहीं और इन्द्रियसुख को ही आदरणीय मानता है। चक्रवर्ती सम्यग्दृष्टि हो, तो कहीं संयोग में सुख मानता नहीं। तथापि बाहर में हजारों रानियों का संयोग होता है और उस प्रकार का अल्प राग भी होता है, परन्तु अन्तर स्वभाव के सुख का भान वर्तता है। अज्ञानी तो पुण्यपरिणाम को उपादेय मानता है। उसे आत्मा के अतीन्द्रिय सुख की रुचि नहीं होती। धर्मी को स्वभाव की दृष्टि है, परन्तु प्रमाद के कारण से राग होता है, किन्तु स्वभावदृष्टि के बल से एकाग्रता करके उस राग को तोड़ डालेगा। जैसे जीभ का ऐसा लूखा स्वभाव है कि चाहे जितनी चिकनाहट हो तो भी वह उसे साफ कर डालती है, उसी प्रकार धर्मी को स्वभावदृष्टि का ऐसा जोर है कि अल्पकाल में स्वभाव में एकाग्रता करके राग-द्वेष का अभाव कर डालेगा। धर्मी को आत्मा के अतीन्द्रिय स्वभावसुख की प्रतीति है और इन्द्रियविषयों में से सुखबुद्धि उड़ गयी है। पूर्ण ज्ञानानन्ददशा जिन्हें प्रगट हो गयी है, ऐसे भगवान को अपने स्वभाव से अनाकुल परमानन्द होता है। ऐसे सुख की प्रतीति अभव्य नहीं करता। जो भव्य जीव भी वर्तमान में ऐसे स्वभावसुख की प्रतीति नहीं करते, वे भी वर्तमान में नालायक हैं।

कोई कहे कि आत्मा में सुख है, वह देखे बिना कैसे माने? पहले उसका स्वाद आवे तो फिर उसकी श्रद्धा करें। तो ज्ञानी उसे कहते हैं कि अरे भाई! पहले तू स्वभाव

सुख की हाँ पाड़कर प्रतीति तो कर; उसका विश्वास किये बिना उसका अनुभव कहाँ से होगा? उस सुख का अनुभव होने के पश्चात् प्रतीति करने का कहाँ रहा? पहले उसकी रुचि करके अन्दर में अभ्यास कर तो वैसे सुख का अनुभव होगा।

केवली भगवान को स्वभाव से ही सुख है, ऐसा जो नहीं मानते और केवली को भी आहार-पानी होना मानते हैं, वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। अहो! आत्मा के अन्तर में स्वभावसुख भरा है—उसकी प्रतीति अज्ञानियों को बैठती नहीं।

जैसे कच्चे चने में मिठास शक्तिरूप से भरी है और सेंकने से वही प्रगट होती है; उसी प्रकार चैतन्यस्वभाव में शक्तिरूप से सुख है, उसका विश्वास करके उस स्वभाव में एकाग्रता करे तो आनन्द प्रगट होता है। परन्तु अभव्य जीवों को उसकी प्रतीति बैठती नहीं। यहाँ अभव्यजीव का तो दृष्टान्त है। तत्प्रमाण जो भव्य जीव भी स्वभावसुख की श्रद्धा नहीं करते, वे वर्तमान में अभव्य जैसे हैं। यदि मोक्ष में सुख माने तो आत्मा में सुख माने और आत्मा के आश्रय से मोक्षमार्ग है, उसमें भी सुख माने; मोक्षमार्ग में दुःख नहीं। अज्ञानी को पुण्य में और उसके फल में सुख की मान्यता है, इसलिए उसे मोक्षमार्ग में और उसके फलरूप मोक्ष में स्वभावसुख की प्रतीति नहीं होती। और आत्मा के स्वभाव की प्रतीति भी नहीं होती; ऐसे जीव मोक्ष के लिये नालायक हैं।

अहो! ऐसा अवसर आया और तुझे आत्मा का ज्ञान-दर्शनस्वभाव न रुचे और तू पुण्य-पाप में धर्म माने, तो आचार्यदेव कहते हैं कि तू मोक्ष के लिये नालायक है।

जिसने पुण्य में सुख माना, उसने स्वभाव का अनादर किया, क्योंकि पुण्य विकार है और विकार में सुख माना तो अनन्तगुने विकार में अनन्तगुना सुख माना, इसलिए स्वभाव के अनन्त सुख का अनादर किया, इस कारण उस जीव को अभव्य कहा है, उसमें मोक्ष की योग्यता नहीं है। भव्य जीव हैं, वे ही आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का विश्वास करते हैं, और वे ही मोक्षमार्ग के योग्य हैं। संसार में सब जीव कहीं मोक्षमार्ग के योग्य नहीं होते; कोई भव्य है और कोई अभव्य भी है। अभव्य जीवों में मोक्षमार्ग की योग्यता नहीं है; भव्य जीव मोक्षमार्ग के योग्य हैं। आत्मा के स्वभाव के आश्रय से मोक्षमार्ग है, वह वीतरागी मोक्षमार्ग परम सत् है। परन्तु उस मोक्षमार्ग की रुचि करनेवाले सब जीव नहीं होते, विरले ही होते हैं। और जो जीव उसकी रुचि करे,

उसका कल्याण हुए बिना नहीं रहता। जगत में जो जीव योग्य होंगे, वे मोक्षमार्ग को साधेंगे, परन्तु कोई किसी को समझा दे, ऐसी किसी की सामर्थ्य नहीं है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वही मोक्षमार्ग है—ऐसा सिद्ध किया, परन्तु जहाँ वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग पूर्ण न हो, वहाँ राग होता है, वह राग बन्धन का कारण है—ऐसा अब बताते हैं। रत्नत्रय तो अबन्धस्वभावी है, वह कहीं बन्ध का कारण नहीं। परन्तु उस रत्नत्रय के साथ ज्ञानी को भी जो राग रहता है, वह बन्ध का कारण है, वह राग मोक्ष का कारण नहीं। रत्नत्रय के साथ राग वर्तता है, वह बन्ध का कारण है, इसलिए रत्नत्रय को भी बन्ध का कारण कहा है, परन्तु उसका अर्थ ऐसा समझना कि वहाँ जो व्यवहार का राग है, वही बन्धन का कारण है। रत्नत्रय की जो शुद्धता हुई है, वह कहीं बन्धन का कारण नहीं है। अपूर्णदशा में राग वर्तता है, वही बन्ध का कारण है अर्थात् कि जो व्यवहाररत्नत्रय को पूर्व में उपचार से मोक्षमार्ग का कारण कहा था, उसे यहाँ बन्ध के कारणरूप से पहिचान कराते हैं। यह बात १६४वीं गाथा में आयेगी।

●●

अहो! ये मोक्षमार्गी तो मोक्षतत्त्व ही है....

जो मुनि, शुद्धात्मप्रवृत्ति द्वारा मोक्ष के साक्षात् कारण में वर्त रहे हों, उन मुनियों को मोक्षतत्त्व ही कहा गया है और जो जीव संसार के कारणरूप मिथ्यात्व में वर्त रहा है, उसे संसारतत्त्व कहा है। **अरे! अशरीरी आत्मा को शरीर धारण करना पड़े, यह शर्मजनक बात है।** धर्मी सन्त तो कहते हैं कि मैं तो सिद्धस्वरूप हूँ। धर्मी को धर्मात्मा के प्रति उल्लास आता है। स्वयं मोक्षमार्ग में प्रवृत्त रहे आचार्य कुन्दकुन्ददेव को अन्य मोक्षमार्गी मुनिवरों के प्रति साधर्मी प्रमोद आने पर वे आह्लादपूर्वक कहते हैं कि **अहो! ये मोक्षमार्गी श्रमण तो मोक्षतत्त्व ही हैं,** हमारे मनोरथ का स्थान हैं; इन्हें नमस्कार हो।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आत्मधर्म (गुजराती), अङ्क ३०८-ए, पृष्ठ १९

गाथा - १६४

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गो त्ति सेविदव्वाणि।
साधूहि इदं भणिदं तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा।।१६४।।

दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति सेवितव्यानि।
साधुभिरिदं भणितं तैस्तु बन्धो वा मोक्षो वा।।१६४।।

दर्शनज्ञानचारित्राणां कथञ्चिद्बन्धहेतुत्वोपदर्शनेन जीवस्वभावे नियतचरितस्य साक्षान्मोक्ष-हेतुत्वद्योतनमेतत् ।

अमूनि हि दर्शनज्ञानचारित्राणि कियन्मात्रयापि परसमयप्रवृत्त्या संवलितानि कृशानुसंव-लितानीव घृतानि कथञ्चिद्विरुद्धकारणत्वरूढेर्बन्धकारणान्यपि भवन्ति । यदा तु समस्तपरसमय-प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपया स्वसमयप्रवृत्त्या सङ्गच्छन्ते, तदा निवृत्तकृशानुसंवलनानीव घृतानि विरुद्धकार्यकारणभावाभावात्साक्षान्मोक्षकारणान्येव भवन्ति । ततः स्वसमयप्रवृत्तिनाम्नो जीवस्वभावनियतचरितस्य साक्षान्मोक्षमार्गत्वमुपपन्नमिति ।। १६४ ।।

दृग-ज्ञान अर चारित्र मुक्तिपंथ मुनिजन ने कहे।
पर ये ही तीनों बंध एवं मुक्ति के भी हेतु हैं।।१६४।।

अन्वयार्थ :- [दर्शनज्ञानचारित्राणि] दर्शन-ज्ञान-चारित्र, [मोक्षमार्गः] मोक्षमार्ग है। [इति] इसलिए, [सेवितव्यानि] वे सेवनयोग्य हैं—[इदम् साधुभिः भणितम्] ऐसा वह साधुओं ने कहा है; [तैः तु] परन्तु उनसे [बन्धः वा] बन्ध भी होता है और [मोक्षः वा] मोक्ष भी होता है।

टीका :- यहाँ, दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कथंचित् बन्धहेतुपना दर्शाया है और इस प्रकार जीवस्वभाव में नियत चारित्र का साक्षात् मोक्षहेतुपना प्रकाशित किया है।

यह दर्शन-ज्ञान-चारित्र, यदि अल्प भी परसमयप्रवृत्ति के साथ मिलित हो तो, अग्नि के साथ मिलित घृत की भाँति (अर्थात् [१]उष्णतायुक्त घृत की भाँति), कथंचित्

---

१. घृत स्वभाव से शीतलता के कारणभूत होने पर भी, यदि वह किंचित् भी उष्णता से युक्त हो तो, उससे (कथंचित्) जलते भी हैं; उसी प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाव से मोक्ष के कारणभूत होने पर भी, यदि वे किंचित् भी परसमयप्रवृत्ति से युक्त हों तो, उनसे (कथंचित्) बन्ध भी होता है।

[१] विरुद्ध कार्य के कारणपने की व्याप्ति के कारण बन्धकारण भी हैं और जब वे (दर्शन-ज्ञान-चारित्र), समस्त परसमयप्रवृत्ति से निवृत्तरूप ऐसी स्वसमयप्रवृत्ति के साथ संयुक्त होते हैं तब, जिसे अग्नि के साथ मिलितपना निवृत्त हुआ है, ऐसे घृत की भाँति, विरुद्ध कार्य का कारणभाव निवृत्त हो गया होने से साक्षात् मोक्ष का कारण ही है। इसलिए 'स्वसमयप्रवृत्ति' नाम का जो जीवस्वभाव में नियत चारित्र, उसे साक्षात् मोक्षमार्गपना घटित होता है [२] ॥१६४॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ शुक्ल १५, रविवार

- **वीतराग रत्नत्रय और सराग रत्नत्रय का स्वरूप**
- **'बन्ध का कारण क्या और मोक्ष का कारण क्या ?'**

आत्मा का स्वभाव ज्ञान-दर्शनमय है, उसका भान होकर उसमें एकाग्र होने से जो वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो, वह सच्चा मोक्षमार्ग है। वहाँ अधूरी दशा में जो राग रहता है, उसे व्यवहार गिनकर बन्ध का कारण कहा है।

---

१. परसमयप्रवृत्तियुक्त दर्शन-ज्ञान-चारित्र में कथंचित् मोक्षरूप कार्य से विरुद्ध कार्य का कारणपना (अर्थात् बन्धरूप कार्य का कारणपपा) व्याप्त होता है।

[शास्त्रों में कभी-कभी दर्शन-ज्ञान-चारित्र को भी, यदि वे परसमयप्रवृत्तियुक्त हों तो, कथंचित् बन्ध का कारण कहा जाता है; और कभी ज्ञानी को वर्तनेवाले शुभभावों को भी कथंचित् मोक्ष के परम्पराहेतु कहा जाता है। शास्त्रों में आनेवाले ऐसे भिन्न-भिन्न पद्धति के कथनों को सुलझाते हुए, यह सारभूत वास्तविकता ध्यान में रखनी चाहिए कि—ज्ञानी को जब शुद्धाशुद्धरूप मिश्रपर्याय वर्तती है, तब वह मिश्रपर्याय एकान्त से संवर-निर्जरा-मोक्ष के कारणभूत नहीं होती अथवा एकान्त से आस्त्रव-बन्ध के कारणभूत नहीं होती, परन्तु उस मिश्रपर्याय का शुद्ध अंश संवर-निर्जरा-मोक्ष के कारणभूत होता है और अशुद्ध अंश आस्त्रव-बन्ध के कारणभूत होता है।]

२. इस निरूपण के साथ तुलना करने के लिये श्री प्रवचनसार की ११वीं गाथा और उसकी तत्त्वप्रदीपिका टीका देखिए।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय, वह मोक्षमार्ग है। चिदानन्द भगवान आत्मा की प्रतीति-ज्ञान-रमणता, वह मोक्ष का कारण होने से धर्मी जीवों को सेवनयोग्य है और वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जब पूर्णता को प्राप्त न हुए हों, तब साथ के राग से बन्धन होता है—इसलिए रत्नत्रय को कथंचित् बन्ध का कारण भी कहा है। परन्तु वास्तव में तो देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा इत्यादि में जो राग है, वही बन्ध का कारण है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहीं बन्ध का कारण नहीं। ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है। चिदानन्दस्वभाव के आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वह तो मोक्ष का ही कारण है। परन्तु साथ में देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, नौ तत्त्व के ज्ञान का जो उघाड़—उसमें परसन्मुख का लक्ष्य होने से वह बन्ध का कारण है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा के साथ राग होता है, वह बन्ध का कारण है, परसन्मुख के क्षयोपशमज्ञान के समय भी राग है, वह बन्ध का कारण है और पंच महाव्रत का विकल्प भी बन्ध का कारण है। जो चिदानन्दस्वभाव की प्रतीतिरूप निश्चयसम्यग्दर्शन है, वह तो निर्विकल्प है, वह कहीं बन्ध का कारण नहीं। शुद्ध ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति तो निर्विकल्प और निराकार है। निराकार अर्थात् कि वह स्व-पर को जानती नहीं। ज्ञानपर्याय स्व-पर को जानती है, वहाँ देव-गुरु-शास्त्र को जानने से ज्ञान के साथ राग वर्तता है, इसलिए उस ज्ञान को भी बन्ध का कारण गिना है। देव-गुरु-शास्त्र की व्यवहारश्रद्धा, वह भी ज्ञान का क्षयोपशमभाव है। नौ तत्त्व के ज्ञान में भी क्षयोपशमभाव है तथा पंच महाव्रत की वृत्ति, वह शुभराग है। ऐसी व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को बन्ध का कारण कहा है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसहित की साधकदशा की यह बात है। ज्ञानी को जो निश्चयरत्नत्रय है, वह मोक्ष का कारण है। और वहाँ जो व्यवहाररत्नत्रय है, वह बन्ध का कारण है। क्योंकि व्यवहाररत्नत्रय पर के आश्रय से है। परसन्मुख के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में राग है, स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र होने पर भी साधक को व्यवहाररत्नत्रय है, वह बन्ध का कारण है। एक साथ साधक को दोनों होते हैं। क्षयोपशम को बन्ध का कारण भी कहा जाता है और मोक्ष का कारण भी कहा जाता है। किस प्रकार? ज्ञान का अंश उघड़ा है, वह कहीं बन्ध का कारण नहीं, परन्तु परसन्मुख के क्षयोपशम के समय राग हुए बिना नहीं रहता। इस अपेक्षा से उस ज्ञान को बन्ध के कारण में गिना है और

वह क्षयोपशमज्ञान स्वभाव में झुकने से वही मोक्ष का कारण भी है। इसलिए यहाँ कहा कि रत्नत्रय कथंचित् बन्ध का कारण भी है और मोक्ष का कारण भी है।

भावार्थ : दर्शन-ज्ञान-चारित्र दो प्रकार के हैं—एक सराग और एक वीतराग। जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र रागसहित है, वह सरागरत्नत्रय कहलाता है और जो आत्मनिष्ठ वीतरागतासहित है, उसे वीतरागरत्नत्रय कहा जाता है।

सर्वज्ञ वीतराग अठारह दोषरहित परमात्मा, वे आप्त हैं; वैसी दशा को साधनेवाले निर्ग्रन्थ सन्त, वे गुरु हैं और उनकी अनेकान्तवाणी, वह आगम है। और उन्होंने कहे हुए छह द्रव्य—नौ तत्त्व, वे तत्त्व हैं। ऐसे आप्त-आगम-तत्त्व की श्रद्धा, वह व्यवहारश्रद्धा है, उसमें शुभराग है, इसलिए वह बन्ध का कारण है। शुद्धात्मा की निर्विकल्प प्रतीति, वह तो वीतराग सम्यक्त्व है, वह बन्ध का कारण नहीं।

ज्ञान अन्तरस्वभाव के सन्मुख होकर स्वसंवेदन करे, वह वीतरागज्ञान है और बाहर में शास्त्र के लक्ष्य से ज्ञान हो, वह सरागज्ञान है, अर्थात् कि वहाँ ज्ञान के साथ राग रहा हुआ है; इसलिए उसे बन्ध का कारण कहा है। यहाँ 'सरागज्ञान' कहा, उसमें लौकिक पठन की बात नहीं है, तथा कुशास्त्रों की भी बात नहीं है परन्तु सर्वज्ञदेव ने कहे हुए शास्त्र की ओर के झुकाववाला ज्ञान, वह सरागज्ञान है। और चिदानन्दस्वभाव के स्वसंवेदनवाला ज्ञान, वह वीतरागज्ञान है। परद्रव्य के अवलम्बनवाला ज्ञान, वह रागसहित है और स्वद्रव्य के अवलम्बनवाला ज्ञान, वह रागरहित है।

चारित्र में भी दो प्रकार हैं :—

सरागचारित्र और वीतरागचारित्र। मिथ्यादृष्टि के चारित्र की तो यहाँ बात ही नहीं। यहाँ तो जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है—छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलती वीतरागीमुनिदशा जिन्हें प्रगट हुई है, एक दिवस में हजारों बार सातवाँ गुणस्थान आ जाता है और सिद्ध जैसे अमृत-आनन्द का निर्विकल्प अनुभव करते हैं, ऐसी दशा में राग टूटकर जितनी स्वरूप में लीनता प्रगट हुई है, उतना तो वीतरागचारित्र है, वह बन्ध का कारण नहीं परन्तु मोक्ष का कारण है और वहाँ छठवें गुणस्थान में पंचमहाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण इत्यादि की शुभवृत्ति उठे, उसमें शुभराग है, उसका नाम सरागचारित्र है, वह व्यवहारचारित्र बन्ध का कारण है।

जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रागसहित है, वह तो सरागरत्नत्रय है। यह ध्यान रखना कि यह ज्ञानी की बात है। जो मोक्षमार्ग में चलता है, उसकी यह बात है। जिसे मोक्षमार्ग प्रगट नहीं हुआ, उसकी यह बात नहीं। आत्मा के स्वभाव में एकाग्रतारूप जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वह वीतरागरत्नत्रय है। आत्मा का प्रेमी होकर उसमें ही जो लिपट गये और सिद्धभगवान जैसे परम आनन्द के अनुभव में जो स्थिर हुए हैं—वे आत्मनिष्ठ हैं, उनका रत्नत्रय वह वीतरागरत्नत्रय है, वह तो मोक्ष को ही कारण है।

व्यवहाररत्नत्रय में जो रागभाव है, वह आत्मभाव नहीं परन्तु आत्मस्वभाव से रहित अनात्मस्वरूप है, परसमय है; इसलिए वह बन्ध का कारण है। सत्य बोलूँ, ब्रह्मचर्य पालन करूँ, परजीव को बचाऊँ, शास्त्र वाँचन करूँ, यह सब परद्रव्य की ओर के झुकाववाला रागभाव है, यह परसमय है। यह आत्मभाव नहीं, यह बन्ध का कारण है।

किसी समय क्षयोपशमभाव को बन्ध का कारण कहते हैं, क्योंकि परसन्मुख के झुकाववाला ज्ञान, रागसहित है, इसलिए उसे बन्ध का कारण कहा है। और स्वभाव सन्मुख झुका हुआ क्षयोपशमज्ञान, वह मोक्ष का कारण है। क्षायिकभाव तो मोक्ष का ही कारण है, तथापि उस क्षायिकभाव का आश्रय करने जाने पर विकल्प होता है, वह बन्ध का कारण है।

शुद्ध रत्नत्रय, वह मोक्ष का कारण है, परन्तु यदि उसके साथ राग हो तो वहाँ बन्धन होता है, इसलिए राग के साथ के रत्नत्रय को बन्ध का कारण कहने की रूढ़ि है। शुद्ध रत्नत्रय तो मोक्षमार्ग ही है, परन्तु साथ में राग है, वह बन्ध का कारण है—ऐसा बतलाने के लिये उसे उपचार से बन्ध का कारण भी कहा है, व्यवहाररत्नत्रय आत्मस्वभाव के आश्रय से नहीं, परन्तु पर के आश्रय से है। पराश्रितभाव वह बन्ध का कारण है। स्वाश्रितभाव कभी बन्ध का कारण नहीं होता। देखो! मोक्षमार्ग, वह कहीं बन्ध का कारण नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग के साथ का व्यवहाररत्नत्रय का राग, वह बन्ध का कारण है, ऐसा समझना चाहिए।

भगवान ने कहे हुए देव-गुरु-शास्त्र, नौ तत्त्व, पंच महाव्रत तथा २८ मूलगुण—इनके आश्रय से राग की उत्पत्ति होती है, उसे व्यवहारमार्ग कहने की रूढ़ि है, परन्तु वह बन्ध का ही कारण है। शुद्ध रत्नत्रय के साथ वर्तता राग, वह बन्ध का कारण है। रत्नत्रय

स्वयं बन्ध का कारण नहीं, तथापि राग के संयोग से उस रत्नत्रय को भी बन्ध का कारण कहा जाता है। इसका दृष्टान्त देते हैं : जैसे ताजा-मीठा घी हो, उसका स्वभाव तो शीतल है। उससे कोई जलता नहीं, परन्तु अग्नि का संयोग होने पर उस घी को भी दाह करनेवाला कहा जाता है। उसी प्रकार चैतन्यस्वभाव के आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागी मोक्षमार्ग है, वह तो आत्मा को परम शान्त-शीतल आनन्द का ही अनुभव करानेवाला है, वह कहीं बन्ध का कारण नहीं, परन्तु परद्रव्य के अवलम्बन से व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के राग की उत्पत्ति होती है। उस राग में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र अटकता है, इसलिए उसे बन्ध का कारण कहा है। आत्मा के आश्रय से जो रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग है, उसमें तो इन्द्रिय और मन का भी संग नहीं, उसमें तो अनाकुल शान्ति का ही वेदन है, परन्तु बाहर में झुकाव जाने पर राग की उत्पत्ति होती है, वह बन्ध का कारण है।

जैसे उष्णता तो अग्नि की है, घी में कहीं उष्णता नहीं है। परन्तु अग्नि के संयोग से घी को भी उष्णता का कारण कहा जाता है; उसी प्रकार चिदानन्द आत्मा का ठण्डा-शीतल मोक्षस्वभाव है, ऐसे स्वभाव में झूलते वीतरागी सन्त-मुनियों को जो निश्चयरत्नत्रय है, वह तो मोक्ष का ही कारण है, परन्तु उन्हें परद्रव्य की ओर लक्ष्य जाने पर व्यवहाररत्नत्रय के राग की उत्पत्ति होती है, उस राग के संयोग के कारण रत्नत्रय को बन्ध का कारण कहा गया है। देखो, आत्मा का वीतरागी मोक्षमार्ग तो परमशान्त घी जैसा है, और व्यवहारमोक्षमार्ग, वह अग्नि जैसा—आकुलता उपजानेवाला है अर्थात् कि व्यवहाररत्नत्रय वह वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं, परन्तु बन्धमार्ग है। मोक्षमार्ग तो एक ही है, निश्चयरत्नत्रय, वही मोक्षमार्ग है।

मुनि को पंच महाव्रत की वृत्तियाँ एकसाथ होती नहीं, घड़ीक में अहिंसा का विकल्प, घड़ीक में सत्य का विकल्प—ऐसे व्यवहाररत्नत्रय में एक प्रकार का राग नहीं रहता, परन्तु क्षण-क्षण में बदलता है, तथा ज्ञान भी क्षण-क्षण में बदलता है; इसलिए उसमें अनेकरूपता है। स्वभाव के अवलम्बन में एकरूपता रहती है। मुनि को पंच महाव्रत के विकल्प एकसाथ नहीं होते, परन्तु विकल्प आवे, तब पंच महाव्रत से या अट्ठाईस मूलगुण से विपरीत विकल्प नहीं आता, इस अपेक्षा से मुनि को अट्ठाईस मूलगुण पालनेवाले और पंच महाव्रत धारक कहा है। व्यवहार में एकरूपता नहीं रहती, और

निश्चय में तो एकरूप चिदानन्दस्वभाव का ही अवलम्बन होने से एकरूपता रहती है। चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन में तो राग की उत्पत्ति नहीं, बाहर के अवलम्बन में राग की उत्पत्ति होती है। समस्त परसमय से निवृत्ति होकर चिदानन्दस्वरूप में ही प्रवृत्ति होती है, वह शुद्धरत्नत्रय कहीं बन्ध का कारण नहीं। देखो, यह निवृत्ति और प्रवृत्ति की बात की, चिदानन्दस्वरूप में प्रवृत्ति और रागादि से निवृत्ति, वह मोक्ष का कारण है। अन्तरस्वभाव सन्मुख होकर शुद्धोपयोग हुआ, वह तो अग्नि के संयोगरहित घी की भाँति साक्षात् मोक्षदशा का कारण होता है।

आत्मा रागरहित होकर चिदानन्द निधान में प्रवृत्ति करके स्वभावभाव का आचरण करता है, वही साक्षात् मोक्ष का कारण है। व्यवहाररत्नत्रय का भाव, वह तो विरुद्ध आचरण है, जिस श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का विषय 'स्व' रहे, वह वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र है, और जिस श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में 'पर' विषय हुआ, वह सराग है। निज स्वभाव के श्रद्धा ज्ञान करके उसमें ही लीनतारूप आचरण करे, वह मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग में विचरनेवाले मुनियों को भी जिनआज्ञा में रहकर पंच महाव्रत इत्यादि का जो भाव आवे, वह भी परसन्मुख के झुकाववाला भाव होने से बन्ध का कारण है, इसलिए श्रीमद् ने कहा है कि :

संयम के हेतु से योग प्रवर्तना,
स्वरूपलक्ष्य से जिनआज्ञा आधीन जो;
वह भी क्षण क्षण घटती जाती स्थिति में,
अन्त में होवे निजस्वरूप में लीन जो।

देखो, 'जिनआज्ञा आधीन' ऐसा कहकर वीतराग ने कहा हुआ मुनियों का व्यवहार बतलाया है। परन्तु जिन आज्ञा की ओर के झुकाव का भाव, वह भी अभी शुभराग है, वह परसन्मुख का झुकाव क्षण-क्षण में टूटता जाये और स्वभाव का अवलम्बन क्षण-क्षण में बढ़ता जाये, और अन्त में स्वभाव में पूर्ण लीनता होने से परसन्मुख का झुकाव छूट जाता है और राग रहता नहीं, इसलिए केवलज्ञान और मोक्षदशा प्रगट होती है। इस प्रकार रागरहित निश्चय श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र, वही वास्तव में मोक्षमार्ग है, ऐसा समझना चाहिए। ●●

गाथा - १६५

अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो।
हवदि त्ति दुक्खमोक्खं परसमयरदो हवदि जीवो।।१६५।।

अज्ञानात् ज्ञानी यदि मन्यते शुद्धसम्प्रयोगात्।
भवतीति दुःखमोक्षः परसमयरतो भवति जीवः।।१६५।।

सूक्ष्मपरसमयस्वरूपाख्यानमेतत् ।

अर्हदादिषु भगवत्सु सिद्धिसाधनीभूतेषु भक्तिभावानुरञ्जिता चित्तवृत्तिरत्र शुद्धसम्प्रयोगः । अथ खल्वज्ञानलवावेशाद्यदि यावत् ज्ञानवानपि ततः शुद्धसम्प्रयोगान्मोक्षो भवतीत्यभिप्रायेण खिद्यमानस्तत्र प्रवर्तते तदा तावत्सोऽपि रागलवसद्भावात्परसमयरत इत्युपगीयते । अथ न किं पुनर्निरङ्कुशरागकलिकलमितान्तरङ्गवृत्तिरितरो जन इति ।। १६५ ।।

शुभभक्ति से दुखमुक्त हो जाने यदि अज्ञान से।
उस ज्ञानी को भी परसमय ही कहा है जिनदेव ने।।१६५।।

अन्वयार्थ :- [शुद्धसंप्रयोगात्] शुद्धसम्प्रयोग से (शुभ भक्तिभाव से), [दुःखमोक्षः भवति] दुःखमोक्ष होता है। [इति] ऐसा, [यदि] यदि [अज्ञानात्] अज्ञान के कारण; [ज्ञानी] ज्ञानी [मन्यते] [१]माने, तो वह [परसमयरतः जीवः] परसमयरत जीव [भवति] है। ['अर्हंतादि के प्रति भक्ति-अनुरागवाली मन्दशुद्धि से भी क्रमशः मोक्ष होता है' इस प्रकार यदि अज्ञान के कारण (-शुद्धात्मसंवेदन के अभाव के कारण, रागांश के कारण) ज्ञानी को भी (मन्द पुरुषार्थवाला) झुकाव वर्ते, तो तब तक वह भी सूक्ष्म परसमय में रत है।]

टीका :- यह, सूक्ष्म परसमय के स्वरूप का कथन है।

सिद्धि के साधनभूत ऐसे अर्हंतादि भगवन्तों के प्रति भक्तिभाव से [२]अनुरंजित चित्तवृत्ति वह यहाँ 'शुद्धसम्प्रयोग' है। अब, [३]अज्ञानलव के आवेश से यदि ज्ञानवान

१. मानना=झुकाव करना; आशय रखना; आशा रखना; इच्छा करना; अभिप्राय करना।
२. अनुरंजित=अनुरक्त; रागवाली; सराग।
३. अज्ञानलव=किंचित् अज्ञान; अल्प अज्ञान।

भी 'उस शुद्धसम्प्रयोग से मोक्ष होता है' ऐसे अभिप्राय द्वारा खेद प्राप्त करता हुआ, उसमें (शुद्धसम्प्रयोग में) प्रवर्ते, तो तब तक वह भी [१]रागलव के सद्भाव के कारण [२]'परसमयरत' कहलाता है। तो फिर निरंकुश रागरूप क्लेश से कलंकित ऐसी अन्तरंग वृत्तिवाला इतर जन क्या परसयमरत नहीं कहलाएगा? (अवश्य कहलाएगा ही।)[३] ॥१६५॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ कृष्ण १, सोमवार

अब सूक्ष्म परसमय का स्वरूप कहते हैं।

आत्मा का ज्ञान-दर्शनस्वभाव है। वह रागरहित है। जो राग होता है, वह भले भगवान की भक्ति का हो, तो भी वह बन्धन का ही कारण है। भले शास्त्र पढ़ा हो, परन्तु यदि उस सूक्ष्मराग को भी मोक्ष का कारण माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, उसमें एकाग्रता छोड़कर राग में लीन हो और उस राग को मोक्ष का कारण माने तो वह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है। अरिहन्तदेव की भक्ति का शुभराग, वह भी मोक्ष का कारण नहीं। जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म बँधता है, वह भी रागभाव है,

१. रागलव=किंचित् राग; अल्प राग।

२. परसमयरत=परसमय में रत; परसमयस्थित; परसमय की ओर झुकाववाला; परसमय में आसक्त।

३. इस गाथा की श्री जयसेनाचार्यदेवकृत टीका में इस प्रकार विवरण हैं:—कोई पुरुष निर्विकार-शुद्धात्मभावनास्वरूप परमोपेक्षासंयम में स्थित रहना चाहता है, परन्तु उसमें स्थित रहने को अशक्त वर्तता हुआ, कामक्रोधादि अशुभ परिणाम के वंचनार्थ अथवा संसारस्थिति के छेदनार्थ जब पंच परमेष्ठी के प्रति गुणस्तवनादि भक्ति करता है, तब वह सूक्ष्म परसमयरूप से परिणत वर्तता हुआ सराग सम्यग्दृष्टि है; और यदि वह पुरुष शुद्धात्मभावना में समर्थ होने पर भी, उसे (शुद्धात्मभावना को) छोड़कर 'शुभोपयोग से ही मोक्ष होता है' ऐसा एकान्त माने, तो वह स्थूल परसमयरूप परिणाम द्वारा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि होता है।

वह आदरणीय नहीं परन्तु तीर्थंकर को जो केवलज्ञान है, वह तो आत्मा का स्वभाव है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव यह मोक्षमार्ग का वर्णन करते हैं। उसमें पहले तो ऐसा कहा कि आत्मा का ज्ञान-दर्शनस्वभाव है, देहादि की क्रिया का वह कर्ता-हर्ता नहीं, परन्तु ज्ञाता-दृष्टा है। ऐसे ज्ञान-दर्शनस्वभाव में अन्तर्दृष्टि से परिणमकर जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुए, वही मोक्ष का कारण है। इसके अतिरिक्त देव-गुरु-शास्त्र की ओर का भक्तिभाव, वह बन्ध का कारण है। मोक्ष का शुद्ध उपादान तो आत्मा का चैतन्यस्वभाव है और अरिहन्तदेव इत्यादि तो मोक्ष का निमित्त है। उस निमित्त की ओर के झुकाववाला जो रागभाव है, वह ज्ञानस्वभाव नहीं, इसलिए अज्ञानभाव है। वह बन्ध का कारण है। द्रव्यस्वभाव के आश्रय से हुई सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रपर्याय, वह मोक्ष का कारण है, इसके अतिरिक्त पंच परमेष्ठी के अवलम्बन से भी जो राग होता है, वह बन्ध का कारण है।—ऐसा भगवान श्री तीर्थंकरदेव की वाणी में अनादि से आया है। वर्तमान में सीमन्धरादि तीर्थंकर विराजते हैं। भूतकाल में अनन्त तीर्थंकर हुए और भविष्य में अनन्त होंगे—उन सभी तीर्थंकरों की दिव्यवाणी में ऐसा आया है कि आत्मा के स्वभाव के अवलम्बन से जो वीतरागी रत्नत्रय है, वही मोक्ष का कारण है। और पंच परमेष्ठी इत्यादि के प्रति जो शुभराग है, वह बन्ध का कारण है; तथापि यदि उस राग को मोक्ष का कारण माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। राग वह ज्ञानस्वभाव नहीं, इसलिए वह अज्ञानभाव है, वह अज्ञानभाव मोक्ष का कारण कैसे हो? ज्ञानस्वभाव में राग तो उपाधि है। सम्यग्दृष्टि जीव उस राग को मोक्ष का कारण नहीं मानता। शास्त्रों का जाननेवाला भी यदि उस राग को मोक्ष का कारण माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। जिनवाणी में तो ऐसा कहा है कि राग, वह बन्ध का कारण है, तथापि जो जीव राग को मोक्ष का कारण मानता है, वह अज्ञानी है।

चिदानन्द द्रव्यस्वभाव का आश्रय छोड़कर राग के आश्रय से कल्याण माने तो, नौ पूर्व का पढ़नेवाला भी मिथ्यादृष्टि है। चारित्र, वह वीतरागभाव है और चारित्र, वह धर्म है। वह चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान बिना नहीं होता और शुद्ध चिदानन्द ध्रुव स्वभाव के अवलम्बन बिना सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान नहीं होता। बीच में व्यवहार आ जाता है, परन्तु वह मोक्षमार्ग नहीं है। शुभराग को व्यवहारधर्म कहा, उसका अर्थ क्या?

वहाँ निश्चयधर्म अर्थात् कि वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र है, वह यथार्थ मोक्षमार्ग है और वहाँ शुभराग को उपचार से व्यवहारधर्म कहा है, परन्तु वह बन्ध का ही कारण है। जिसे निश्चय स्वभाव का भान नहीं, उसे तो शुभराग व्यवहार भी नहीं कहलाता। आप्त, आगम और तत्त्व की श्रद्धा को व्यवहार से सम्यग्दर्शन कहा, परन्तु उसमें परसन्मुख का जो राग है, वह तो बन्ध का ही कारण है। 'अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को पहले व्यवहारनय परिणमे और बाद में निश्चयनय परिणमे'—ऐसी अज्ञानी जीवों की मान्यता है। रहस्यपूर्ण चिट्ठी में पण्डित टोडरमलजी कहते हैं :—

'जिसे स्व-पर का यथार्थ श्रद्धान नहीं, परन्तु जैनमत में कहे हुए देव, गुरु और धर्म तीनों को मानता है तथा अन्यमत में कहे हुए देवादि व तत्त्वादि को नहीं मानता तो ऐसे केवल व्यवहारसम्यक्त्व द्वारा वह सम्यक्त्वी नाम को नहीं पाता।'

अन्तर में चिदानन्दस्वभाव का भान करके निश्चय श्रद्धा-ज्ञान प्रगट किये बिना व्यवहार किसका? निश्चयरहित अकेला शुभभाव अनादि से किया है, उसे व्यवहार नहीं कहा जाता। जहाँ चिदानन्दस्वभाव का निश्चयसम्यग्दर्शन हो, वहाँ देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा जाता है। परन्तु व्यवहाररत्नत्रय में जो राग है, वह धर्म नहीं, वह मोक्षमार्ग नहीं। मोक्षमार्ग तो मोह और क्षोभरहित ऐसा वीतरागी चारित्र ही है। सर्वज्ञदेव और भावलिंगी निर्ग्रन्थ सन्तों की भक्ति के राग को भी जो मोक्षमार्ग मानता है, वह जीव मोह से खेदखिन्न होकर भटकता है। जिससे तीर्थंकरनामकर्म बँधे, ऐसा राग सम्यग्दृष्टि को ही आता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि उसे धर्म नहीं मानता।

आत्मा का ज्ञान-दर्शनस्वभाव है, उस स्वभाव के अवलम्बन से जो पर्याय प्रगट हो, वह धर्म है। चिदानन्द तत्त्व के अवलम्बन के अतिरिक्त बाहर के अवलम्बन से जो भाव हो, वह बन्ध का कारण है। तीर्थंकर को भी छठवें गुणस्थान में शुभराग आये बिना नहीं रहता, परन्तु जो जीव उस राग को मोक्ष का कारण मानता है, वह मिथ्या अभिप्राय से खेदखिन्न प्रवर्तता है, वह मिथ्याभ्रान्ति में भटका करता है। जो राग से मोक्ष माने, वह स्वसमय में रत कैसे हो? वह तो परसमय में रत है। सरागसम्यग्दृष्टि जीव को राग होता है, परन्तु उसे वह मोक्ष का कारण नहीं मानता। जो राग से कल्याण मानता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है। राग होने पर भी यदि चिदानन्दस्वभाव की श्रद्धा रखे और राग को बन्ध

का कारण जाने तो उसे सरागसम्यग्दृष्टि कहा जाता है। परन्तु राग को मोक्ष का कारण माने, तब तो मिथ्यादृष्टि ही हो जाता है। उसे सरागसम्यक्त्व होता नहीं। ज्ञायक चिदानन्द द्रव्य का अनादर करके जिसने राग से मुक्ति मानी, वह जीव मिथ्यादृष्टि है। अहो! चिदानन्दस्वभाव के अन्तर अवलम्बन के अतिरिक्त पंच परमेष्ठी भगवन्त की भक्ति का भाव, वह भी जहाँ बन्ध का कारण है, तो फिर निरर्गलरूप से स्वच्छन्दी होकर पापभाव में प्रवर्ते, उसकी तो क्या बात? वह तो बन्ध का कारण है ही। शुभ का भी जहाँ निषेध किया, वहाँ अशुभ का निषेध तो आ ही गया।

मोक्ष तो द्रव्य के अवलम्बन से होता है, इसलिए चिदानन्द द्रव्य का अवलम्बन ही मोक्ष का कारण है। मोक्षमार्ग की पूर्व पर्याय को मोक्ष का कारण कहना, वह भी अभी तो व्यवहार है, क्योंकि पूर्व पर्याय का तो अभाव होकर नयी पर्याय प्रगट होती है। पर्याय में से पर्याय प्रगट नहीं होती परन्तु द्रव्य में से प्रगट होती है। तो फिर रागपर्याय को मोक्षपर्याय का कारण कहना—यह बात तो कहाँ रही? राग, वह मोक्ष का कारण है ही नहीं। आत्मा की वीतरागदशा से विरुद्ध ऐसे रागभाव से मोक्ष नहीं होता। जिसे द्रव्य का भान नहीं, उसके शुभराग को तो व्यवहार से भी मोक्षमार्ग नहीं कहा जाता। जिसे चिदानन्दघन स्वभाव के अवलम्बन से निश्चयरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है, उसके व्यवहाररत्नत्रय को उपचार से मोक्षमार्ग कहा था, परन्तु उसमें जो शुभराग है, वह तो वास्तव में बन्ध का ही कारण है।

ज्ञानी राग में धर्म नहीं मानता और जो राग में धर्म मनवाते हों, ऐसे कुगुरुओं का वह आदर नहीं करता। शुभराग भी मोक्ष का कारण नहीं, तो अशुभराग तो आदरणीय कहाँ से होगा? शुभ का निषेध करने से अशुभ का निषेध तो सहज हो गया। ●●

गाथा - १६६

अरहंतसिद्धचेदियपवयणगणणाणभत्तिसंपण्णो।
बंधदि पुण्णं बहुसो ण हु सो कम्मक्खयं कुणदि।।१६६।।

अर्हत्सिद्धचैत्यप्रवचनगणज्ञानभक्तिसम्पन्नः।
बध्नाति पुण्यं बहुशो न खलु स कर्मक्षयं करोति।।१६६।।

उक्तशुद्धम्प्रयोगस्य कथञ्चिद्बन्धहेतुत्वेन मोक्षमार्गत्वनिरासोऽयम् ।

अर्हदादिभक्तिसम्पन्नः कथञ्चिच्छुद्धसम्प्रयोगोऽपि सन् जीवो जीवद्रागलवत्वाच्छुभोपयोगतामजहत् बहुशः पुण्यं बध्नाति, न खलु सकलकर्मक्षयमारभते । ततः सर्वत्र रागकणिकाऽपि परिहरणीया परसमयप्रवृत्तिनिबन्धनत्वादिति।।१६६।।

अरहंत सिद्ध मुनिशास्त्र की अर चैत्य की भक्ति करे।
बहु पुण्य बंधता है उसे पर कर्मक्षय वह नहि करे।।१६६।।

अन्वयार्थ :- [अर्हत्सिद्धचैत्यप्रवचनगणज्ञानभक्तिसम्पन्नः] अर्हंत, सिद्ध, चैत्य (-अर्हंतादि की प्रतिमा), प्रवचन (-शास्त्र), मुनिगण और ज्ञान के प्रति भक्तिसम्पन्न जीव [बहुशः पुण्यं बध्नाति] बहुत पुण्य बाँधता है, [न खलु सः कर्मक्षयं करोति] परन्तु वास्तव में वह कर्मों का क्षय नहीं करता।

टीका :- यहाँ, पूर्वोक्त शुद्धसम्प्रयोग को [१]कथंचित् बन्धहेतुपना होने से उसका मोक्षमार्गपना [२]निरस्त किया है (अर्थात् ज्ञानी को वर्तता हुआ, शुद्धसम्प्रयोग निश्चय से बन्धहेतुभूत होने के कारण वह मोक्षमार्ग नहीं है, ऐसा यहाँ दर्शाया है)। अर्हंतादि के प्रति भक्तिसम्पन्न जीव, कथंचित् [३]'शुद्धसम्प्रयोगवाला' होने पर भी, [४]रागलव

१. कथंचित्=किसी प्रकार; किसी अपेक्षा से (अर्थात् निश्चयनय की अपेक्षा से)।[ज्ञानी को वर्तते हुए शुद्धसम्प्रयोग को कदाचित् व्यवहार से भले मोक्ष का परम्पराहेतु कहा जाए, किन्तु निश्चय से तो वह बन्धहेतु ही है क्योंकि अशुद्धिरूप अंश है।]
२. निरस्त करना=खण्डित करना; निषिद्ध करना; निकाल देना।
३. सिद्धि के निमित्तभूत ऐसे जो अर्हंतादि उनके प्रति भक्तिभाव को पहले शुद्धसम्प्रयोग कहा था। उसमें 'शुद्ध' शब्द होने पर वह 'शुभ' उपयोगरूप रागभाव है।['शुभ' ऐसे

जीवित (विद्यमान) होने से 'शुभपयोगीपने' को न छोड़ता हुआ, बहुत पुण्य बाँधता है, परन्तु वास्तव में सकल कर्म का क्षय नहीं करता। इसलिए सर्वत्र राग को कणिका भी परिहरनेयोग्य है, क्योंकि वह परसमयप्रवृत्ति का कारण है॥१६६॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ कृष्ण १, सोमवार

श्री सीमन्धर परमात्मा अरिहन्तपद में अभी महाविदेह में समवसरण में साक्षात् विराज रहे हैं और पूर्व में इस भरतक्षेत्र में भी महावीर भगवान विराजते थे, ऐसे भगवान के प्रति भक्ति, वह पुण्यबन्ध का कारण है। अरिहन्त, सिद्ध, चैत्यालय, जिनप्रतिमा, प्रवचन और सन्त-मुनि इत्यादि के प्रति भक्ति और आदरभाव धर्मी को आये बिना नहीं रहता, परन्तु वे जानते हैं कि यह राग परद्रव्य के अवलम्बन से होनेवाला है, यह धर्म नहीं। जिनप्रतिमा के प्रति रागभाव भी बन्ध का कारण है, परन्तु इससे कहीं जिनप्रतिमा का निषेध नहीं हो सकता। धर्मी को शुभराग होने पर जिनप्रतिमा की भक्ति-पूजा का भाव आता है। धर्मी राग से धर्म नहीं मानता और राग के निमित्तरूप जिनप्रतिमा इत्यादि को उत्थापता भी नहीं। जगत में धर्मी जीव अनादि से होते ही आते हैं। उनको निश्चय से तो चैतन्य का बहुमान है, परन्तु राग के समय निमित्तरूप से जिनप्रतिमा के दर्शन-भक्ति का भाव भी आता है, और उसमें निमित्त भी जगत में अनादि से है। परन्तु निमित्त के कारण से राग हुआ नहीं और राग को धर्मी जीव मोक्षमार्ग मानता नहीं। मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव ही है और वीतरागभाव में स्वद्रव्य का ही अवलम्बन है।

धर्मी को राग होता है, वह अपने चारित्रगुण की विकारीपर्याय है। कर्म के उदय के कारण विकार हुआ नहीं तथा वह राग द्रव्य का स्वभाव भी नहीं। पर्याय की निर्बलता से हुआ है। आत्मा का चारित्रगुण त्रिकाल है और तीन काल के जितने समय हैं, उतनी

अर्थ में जिस प्रकार 'विशुद्ध' शब्द का कदाचित् प्रयोग होता है, उसी प्रकार यहाँ 'शुद्ध' शब्द का प्रयोग हुआ है]

४. रागलव= किंचित् राग; अल्प राग।

उसकी पर्यायें हैं। उसमें राग हुआ, वह भी चारित्र की पर्याय का स्वकाल है। यदि पर के कारण से राग हुआ, ऐसा कहो—तो चारित्र का स्वकाल स्वतन्त्र सिद्ध नहीं होता। पर से राग होता है, यह बात तो स्थूल मिथ्यात्व है। यहाँ तो कहते हैं कि पंच परमेष्ठी की भक्ति का शुभराग हो—उसे भी यदि मोक्ष का कारण माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। मोक्षमार्ग परद्रव्य से निरपेक्ष है। पर्याय स्वयं से है, ऐसी निरपेक्षता सिद्ध करके निमित्त का ज्ञान करे तो यथार्थ है परन्तु निरपेक्षता बिना अकेले निमित्त से होना माने तो वह वस्तुस्वरूप को जानता नहीं। धर्मी को जिस समय जिस प्रकार के राग का काल होता है, उस समय में उस प्रकार का राग आता है और उस प्रकार के निमित्त के ऊपर लक्ष्य जाता है, परन्तु धर्मी जानता है कि यह राग, वह मोक्ष का कारण नहीं है। और उस राग द्वारा परचीज़ को भी बनाया नहीं जा सकता। ऐसे भानपूर्वक धर्मीजीव को देव-गुरु-शास्त्र के प्रति प्रमोदभाव आये बिना नहीं रहता। भेदविज्ञान इत्यादि के प्रति उल्लासभाव जगे बिना नहीं रहता, भेदविज्ञान प्रगट हुआ, उसकी भक्ति का विकल्प उठता है, वह शुभराग है, उसे भी वह बन्ध का कारण जानता है। रागरहित स्वभाव की भक्ति, वही मोक्ष का कारण है।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ कृष्ण ३, मंगलवार

आत्मा ज्ञान-दर्शनस्वभावी वस्तु है, उसके मूल स्वभाव में रागादि वृत्ति नहीं है। यदि मूलस्वभाव में रागादि हो तो वे कभी टले नहीं। जिसे ऐसा आत्मज्ञान हुआ कि मैं तो ज्ञाता हूँ, रागादि मेरा स्वरूप नहीं और पर का मैं कर्ता नहीं, ऐसे धर्मी को भी जब तक पूर्ण वीतरागता न हो, तब तक शुभराग होता है और अरिहन्त-सिद्ध-सन्त-मुनि इत्यादि के प्रति भक्ति का भाव आये बिना नहीं रहता परन्तु वह शुभराग है, उसे वह धर्म नहीं समझता। आत्मा देह-मन-वाणी से भिन्न, कर्म से भिन्न और राग से भी पार चिदानन्द वस्तु है—ऐसे भेदज्ञान की महिमा का विकल्प उठे, वह भी राग है, भेदविज्ञान के बहुमान का भाव धर्मी को आता है परन्तु वह उसे बन्ध का कारण समझता है। आत्मा चैतन्यस्वरूप निधि है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें एकाग्रता, वही मोक्ष का

कारण है। धर्मी जीव को निचली दशा में शुद्धोपयोग लम्बे काल टिक नहीं सकता, इसलिए स्वरूप में लीनता न हो, तब शुभराग आता है। ऐसा शुभराग बहुत बार आता है, और वह शुभराग बहुत पुण्यबन्ध का कारण है; वह कहीं मोक्ष का कारण नहीं— ऐसी श्रद्धा तो पहले से होनी चाहिए। ज्ञान-दर्शनस्वभावी आत्मा है, ऐसा जिसे भान है, परन्तु उसमें लीनता हुई नहीं, उसे शुभराग के समय भगवान की भक्ति, साधर्मी का प्रेम, सन्तों की भक्ति, रत्नत्रय की भक्ति—बहुमान आता है। उस समय भी भेदज्ञान से स्वरूप में प्रवीणता तो धर्मी को वर्तती है, और शुभराग को पुण्यबन्ध का कारण जानता है। उस शुभराग से स्वभाव नहीं मिलता, परन्तु संयोग मिलते हैं; इसलिए वह राग मोक्ष का कारण नहीं है, इससे राग का अंशमात्र भी सर्वथा छोड़नेयोग्य है।

जिसे शुद्ध आत्मा का भान हुआ है, उसमें आंशिक लीनता वर्तती है। उसे शुभराग आता है। तब भी मोक्षमार्ग तो वर्तता है। राग स्वयं कहीं मोक्षमार्ग नहीं, राग तो बन्ध का ही कारण है, परन्तु उस राग के समय अन्दर में स्वभाव के आश्रय से जितनी शुद्धता वर्तती है, वह मोक्षमार्ग है। इस प्रकार दोनों भाव साधकदशा में एक साथ होते हैं। अन्दर की शुद्धता बिना अकेले शुभराग को जो मोक्षमार्ग मानता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। जिसे अन्दर शुद्ध चिदानन्दस्वभाव का भान है, निश्चयमोक्षमार्ग प्रगट हुआ है, उसके शुभराग को उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाता है परन्तु अनुपचार मोक्षमार्ग साथ में वर्तता है, इसलिए उसे उपचारमोक्षमार्ग कहा जाता है। जिसे अन्दर स्वभाव का भान ही नहीं, ऐसे जीव को शुभराग में व्यवहारमोक्षमार्ग का उपचार भी नहीं आता, वह अज्ञानी तो राग को ही धर्म मान बैठता है, इसलिए उसे तो अनन्तानुबन्धी का राग है। उसके राग को 'लव' राग नहीं कहा जाता। धर्मी को चिदानन्दस्वभाव का भान है, इसलिए स्वभाव की दृष्टि के जोर में उसका राग बहुत अल्प है, इसलिए उसका राग वह 'लव' है। परन्तु वह शुभराग भी मोक्ष का कारण नहीं। ज्ञानी को भी जो शुभराग है, वह पुण्यबन्ध का कारण है। धर्मी को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुआ है, इतने अंश में तो बन्धपद्धति का अभाव हुआ है। ४१ प्रकृति का बन्धन तो चौथे गुणस्थान से ही रुक गया है। परन्तु अभी उसे जितना राग है, उतना बन्धन है; इसलिए बन्धपद्धति का सर्वथा अभाव नहीं। इस प्रकार से ज्ञानी को साधकदशा में अबन्धभाव और बन्धभाव दोनों साथ में होते हैं।

परन्तु उसमें जितने अंश में शुद्धरत्नत्रय का भाव है, वह तो अबन्धभाव ही है, वह बन्ध का किंचित् कारण नहीं होता और वहाँ जितना रागादिभाव है, वह बन्ध का कारण है, वह मोक्ष का कारण नहीं, अज्ञानी तो बन्ध-मोक्ष के कारण को ही पहिचानता नहीं। पुरुषार्थसिद्धिउपाय में भी (गाथा २१२-१३-१४ में) कहा है कि :—

जितने अंश में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है, उतने अंश से बन्धन नहीं होता, परन्तु जितने अंश में राग है, उतने अंश में बन्धन होता है। साधक जीव को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होने पर भी जो बन्धन होता है, वह बन्धन रागभाव से ही होता है। रत्नत्रय, वह कहीं बन्धन का कारण नहीं; रत्नत्रय तो मोक्ष का ही कारण है। रत्नत्रय, वह धर्म है; धर्म, वह मोक्ष का ही कारण है, वह चार गति का कारण नहीं होता। पुण्य का बन्धन होता है, वह शुभराग से होता है और शुभराग, वह जीव का अपराध है, वह धर्म नहीं।

धर्म, वह आत्मा के स्वभाव में से प्रगट हुई वीतरागी अवस्था है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, यह तीनों ही पर्याय है। मोक्षमार्ग, वह पर्याय है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नवीन प्रगट होते हैं, वे कहीं त्रिकाल नहीं, गुण त्रिकाल हैं। मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र, वह विकारी पर्याय है, वह संसार है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह निर्मलदशा है, वह मोक्षमार्ग है। मैं चिदानन्दस्वभाव हूँ—ऐसे स्वभाव की प्रतीति करके उसके आश्रय से जितना वीतरागभाव हुआ, उतना तो अबन्धभाव है, परन्तु जहाँ परिपूर्ण वीतरागता न हुई हो, वहाँ देव-गुरु-धर्म के प्रति भक्ति-बहुमान का शुभराग होता है, वह राग हो, तब तक सकलकर्म का क्षय नहीं होता। इसलिए सर्वत्र राग छोड़नेयोग्य है। राग कैसे छूटे? कि चिदानन्दस्वभाव का आश्रय करके उसमें एकाग्र होने से राग छूट जाता है। धर्मी की दृष्टि में राग का निषेध वर्तता है, इसलिए उपचार से उसके शुभराग को मोक्ष का परम्पराकारण कहा जाता है। परन्तु साक्षात् तो वह बन्ध का ही कारण है। राग 'परम्परा' कारण है—यह बात किसे लागू पड़ती है? जिसे राग का आदर है, उसे तो वह परम्परा मोक्ष का कारण नहीं, परन्तु जिसे राग का आदर नहीं, रागरहित चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि वर्तती है, वह जीव अल्प काल में स्वभाव का उग्र अवलम्बन लेकर राग को तोड़ डालेगा, इसलिए उसे ही राग में परम्परा कारण का उपचार लागू

पड़ता है। वास्तव में राग तो आत्मा को बन्ध का ही कारण है। जितना राग है, उतना तो मोक्षमार्ग का घात है। चिदानन्द स्वद्रव्य का आश्रय छोड़कर किसी भी परद्रव्य का आश्रय लेने पर राग की उत्पत्ति होती है। वह बन्ध का ही कारण है, इसलिए परद्रव्य का आश्रय छोड़नेयोग्य है और स्वद्रव्य का ही आश्रय करनेयोग्य है।

जीव को स्वसमय की प्राप्ति नहीं होती, उसमें राग ही कारण है, ऐसा अब कहते हैं, अर्थात् कि कर्म के कारण से स्वसमय की प्राप्ति नहीं होती—ऐसा कोई माने तो वह बात झूठी है, अपने राग के कारण से ही स्वसमय की प्राप्ति अटकी है—ऐसा कहते हैं।

●●

मुनिराज, पौद्गलिक आहार में मूर्च्छित क्यों नहीं होते ?

जैन मुनि, कुलवान श्रावक के घर विधिपूर्वक आहार लेते हैं। वे बिना विधि के जैसे तैसे चाहे जिसके यहाँ आहार नहीं लेते। वे अपने हाथ में, शोधकर तथा छयालीस दोषरहित आहार लेते हैं। रस की गृद्धता छोड़कर किसी न किसी रस का त्याग करते हैं। मात्र संयम की रक्षा के प्रयोजन से आहार लेते हैं। **अहा हा! अन्दर में चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द का निरन्तर भोजन करनेवाले मुनिराज, पौद्गलिक आहार में मूर्च्छित कैसे हो सकते हैं?**

मुनिराज को आहार लेते समय उसमें यदि किसी जीव-जन्तु की हिंसा की शङ्का पड़ जाए या बाल जैसी अशुद्ध वस्तु आहार में दिख जाए तो वे आहार करना छोड़ देते हैं, चाहे गत एक-दो दिनों का उपवास ही क्यों न हो? जरा-सा दोषयुक्त आहार लेने से क्या बिगड़ता है? - ऐसे विचार से शिथिल होकर आहार नहीं लेते और आहार छोड़ देने पर अपने परिणामों में क्लेश नहीं करते। वे आहार सम्बन्धी विचार छोड़कर ज्ञान-ध्यान-स्वाध्याय में उपयोग जोड़ देते हैं।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ६, पृष्ठ १८

गाथा - १६७

जस्स हिदएणुमेत्तं वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो।
सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरो वि।।१६७।।

यस्य हृदयेऽणुमात्रो वा परद्रव्ये विद्यते रागः।
स न विजानाति समयं स्वकस्य सर्वागमधरोऽपि।।१६७।।

स्वसमयोपलम्भाभावस्य रागैकहेतुत्वद्योतनमेतत् ।

यस्य खलु रागरेणुकणिकाऽपि जीवति हृदये न नाम स समस्तसिद्धान्तसिन्धुपारगोऽपि निरुपरागशुद्धस्वरूपं स्वसमयं चेतयते । ततः स्वसमयप्रसिद्ध्यर्थं पिञ्जनलग्नतूलन्यासन्याय-मधिदधताऽर्हदादिविषयोऽपि क्रमेण रागरेणुरपसारणीय इति ।। १६७ ।।

अणुमात्र जिसके हृदय में परद्रव्य के प्रति राग है।
हो सर्व आगमधर भले जाने नहीं निजभक्ति को।।१६७।।

अन्वयार्थ :- [यस्य] जिसे [परद्रव्ये] परद्रव्य के प्रति, [अणुमात्रः वा] अणुमात्र भी (लेशमात्र भी) [रागः] राग [हृदये विद्यते] हृदय में वर्तता है [सः] वह, [सर्वागमधरः अपि] भले सर्व आगमधर हो तथापि, [स्वकस्य समयं न विज्ञानाति] स्वकीय समय को नहीं जानता (-अनुभव नहीं करता)।

टीका :- यहाँ, स्वसमय की उपलब्धि के अभाव का, राग एक हेतु है, ऐसा प्रकाशित किया है (अर्थात् स्वसमय की प्राप्ति के अभाव का राग ही एक कारण है, ऐसा यहाँ दर्शाया है)। जिसे रागरेणु की कणिका भी हृदय में जीवित है वह, भले ही समस्त सिद्धान्तसागर का पारंगत हो तथापि, [१]निरुपराग-शुद्धस्वरूप स्वसमय को वास्तव में नहीं चेतता (-अनुभव नहीं करता)। इसलिए, [२]धुनकी से चिपकी हुई रुई का न्याय लागू होने से, जीव को स्वसमय की प्रसिद्धि के अर्हंतादि-विषयक भी रागरेण (-अर्हंतादि के ओर की भी रागरज) क्रमशः दूर करनेयोग्य है॥१६७॥

---

१. निरुपराग-शुद्धस्वरूप=उपरागरहित (-निर्विकार) शुद्ध जिसका स्वरूप है ऐसा।
2. जिस प्रकार धुनकी से चिपकी हुई थोड़ी-सी भी रुई, धुनने के कार्य में विघ्न करती है, उसी प्रकार थोड़ा-सा भी राग स्वसमय की उपलब्धिरूप कार्य में विघ्न करता है।

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ कृष्ण ३, मंगलवार

प्रवचनसार गाथा २३९ और समयसार गाथा २०१ में भी यह बात आती है। जिसे पुद्गलादि परद्रव्यों में अंशमात्र भी प्रीतिभाव है अर्थात् कि परद्रव्य से लाभ मानकर उसमें राग करता है, वह पुरुष भले समस्त शास्त्रों को पढ़ा हो तो भी यथार्थ आत्मस्वरूप को वह नहीं जानता।

'जिस पुरुष के चित्त में आत्मिकभावरहित परभावों में राग की कणिका भी विद्यमान है, वह पुरुष समस्त सिद्धान्तशास्त्रों को जानता हुआ भी सर्वांग वीतराग शुद्धस्वरूप स्वसमय को नहीं वेदे है। इस कारण यथार्थ शुद्धस्वरूप की सिद्धि निमित्त अरहंतादिक में भी क्रम से राग छोडना योग्य है।'

चिदानन्दस्वरूप स्वद्रव्य के आश्रय से ही कल्याण है, इसके अतिरिक्त परद्रव्य के आश्रय से लाभ मानकर जो राग करता है, वह मिथ्यादृष्टि है, चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि करके क्रम-क्रम से समस्त राग छोड़नेयोग्य है। राग परद्रव्य के अवलम्बन बिना होता नहीं। समस्त शास्त्रों का सार तो यही है कि स्वद्रव्य की दृष्टि करके उसका अवलम्बन करना। जितना स्वद्रव्य का अवलम्बन लिया, उतना राग होता नहीं। जैसे-जैसे स्वद्रव्य का अवलम्बन बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे राग टूटता जाता है। परन्तु पहले स्वभाव की दृष्टि हुई होनी चाहिए। शास्त्र का जानकार हो, परन्तु यदि राग से कल्याण मानता हो तो वह मिथ्यादृष्टि है।

जिसने अन्तर में स्वद्रव्य की दृष्टि करके उसका अवलम्बन लिया है, उसे स्वभाव के आश्रय से मुनिदशा प्रगट होती है। मुनिदशा में अट्ठाईस मूलगुण का विकल्प, पंच महाव्रत का विकल्प तथा दिगम्बरदशा अवश्य होती है, परन्तु मुनिदशा कहीं उन विकल्पों के आधार से नहीं होती; मुनिदशा का वीतरागभाव तो अन्तर के स्वभाव के आश्रय से ही होता है। अन्दर में स्वभाव के आश्रय से जिसे शुद्धता प्रगट नहीं हुई और दिगम्बर शरीर तथा पंच महाव्रत के विकल्प करे, तो उससे कहीं अन्दर में मुनिदशा नहीं हो जाती। माल बिना अकेले बारदान से क्या? ज्ञानानन्द चैतन्यतत्त्व के भान बिना भले

शुभराग करे, परन्तु उसे कहीं व्यवहार से भी मोक्षमार्ग नहीं होता। यहाँ तो मोक्षमार्ग की बात है। साधक को अन्दर में रागरहित चैतन्यस्वभाव के निश्चय श्रद्धा-ज्ञान हुए हैं, उसमें एकाग्रता भी हुई है। अन्दर में क्षण-क्षण में शान्ति के कुण्ड में डूब जाता है, परन्तु साधकदशा में अभी साथ में बाधकभाव भी है, वह बन्ध का कारण है। जब तक सर्वांग शुद्ध वीतरागभाव से स्वभाव को वेदे नहीं, तब तक मुक्ति नहीं होती, इसलिए शुद्धस्वरूप की प्राप्ति के लिये अरिहन्त इत्यादि के प्रति भक्ति का राग भी छोड़नेयोग्य है। राग न छूटे तो भी पहले ऐसी दृष्टि तो करनी चाहिए। यदि ऐसी दृष्टि भी न करे और राग को मोक्षमार्ग माने तो वह मिथ्यादृष्टि है, उसे तो किंचित् धर्म नहीं होता।

अब, जिसे राग में धर्म की बुद्धि है, उस जीव को राग का अंश भी परम्परा अनर्थ का कारण है। यह बात कहते हैं। देखो! अज्ञानी मानता है कि राग परम्परा मोक्ष का कारण है। परन्तु यहाँ तो आचार्यभगवान कहते हैं कि अरे भाई! तेरा राग तो परम्परा अनर्थ का कारण है। ●●

आकुलतारहित इन्द्रियविजेता मुनिराज

मुनिराज पाँचों इन्द्रियों के शुभ या अशुभ विषय अर्थात् स्पर्श-रस-गन्ध -वर्ण और शब्दों में राग-द्वेष नहीं करते, इसलिए वे पाँचों इन्द्रियों को जीतनेवाले हैं। जहाँ अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का अतिशय वेदन वर्तता हो, वहाँ इन्द्रिय-विषयों की अधीनता कैसे हो सकती है? कोई निन्दा करे या प्रशंसा करे, कोई बाण मारे या पूजा करे, नीरस आहार मिले या सरस आहार मिले - इत्यादि अनुकूल या प्रतिकूल संयोगों में आकुलता नहीं होती। अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होने पर ही ऐसी दशा हो सकती है। जिसे चैतन्य के आनन्द का वेदन नहीं होता, वही इन्द्रिय-विषयों में सुख मानता है। धर्मी ने तो सिद्धसमान चैतन्यसुख का स्वाद चखा है, उस सुख में लीनता के बल से वे पाँचों इन्द्रियों के विषयों को जीतते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ६, पृष्ठ २२

गाथा - १६८

धरिदुं जस्स ण सक्कं चित्तुब्भामं विणा दु अप्पाणं।
रोधो तस्स ण विज्जदि सुहासुहकदस्स कम्मस्स।।१६८।।

धर्तुं यस्य न शक्यम् चित्तोद्भ्रामं विना त्वात्मानम्।
रोधस्तस्य न विद्यते शुभाशुभकृतस्य कर्मणः।।१६८।।

रागलवमूलदोषपरम्पराख्यानमेतत् ।

इह खल्वर्हदादिभक्तिरपि न रागानुवृत्तिमन्तरेण भवति । रागाद्यनूवृत्तौ च सत्यां बुद्धिप्रसरणन्तरेणात्मा न तं कथञ्चनापि धारयितुं शक्यते । बुद्धिप्रसरे च सति शुभस्याशुभस्य वा कर्मणो न निरोधोऽस्ति । ततो रागकलिविलासमूल एवायमनर्थसन्तान इति ।। १६८ ।।

चित्त भ्रम से रहित हो निःशंक जो होता नहीं।
हो नहीं सकता उसे संवर अशुभ अर शुभ दुःख का।।१६८।।

अन्वयार्थ :- [यस्य] जो [चित्तोद्भ्रामं विना तु] (राग के सद्भाव के कारण) चित्त के भ्रमण रहित [आत्मानम्] अपने को [धर्तुम् न शक्यम्] नहीं रख सकता, [तस्य] उसे [शुभाशुभकृतस्य कर्मणः] शुभाशुभ कर्म का, [रोधः न विद्यते] निरोध नहीं है।

टीका :- यह, रागलवमूलक दोषपरम्परा का निरूपण है (अर्थात् अल्प राग जिसका मूल है, ऐसी दोषों की संतति का यहाँ कथन है)। यहाँ (इस लोक में) वास्तव में अर्हंतादि के ओर की भक्ति भी रागपरिणति के बिना नहीं होती। रागादिपरिणति होने से, आत्मा [१]बुद्धिप्रसार रहित (-चित्त के भ्रमण से रहित) अपने को किसी प्रकार नहीं रख सकता; और बुद्धिप्रसार होने पर (-चित्त का भ्रमण होने पर), शुभ तथा अशुभकर्म का निरोध नहीं होता। इसलिए इस अनर्थसंतति का मूल रागरूप क्लेश का विलास ही है।

भावार्थ :- अर्हंतादि की भक्ति भी रागरहित नहीं होती। राग से चित्त का भ्रमण

---

१. बुद्धिप्रसार=विकल्पों का विस्तार; चित्त का भ्रमण; मन का भटकना; मन की चंचलता।

होता है; चित्त के भ्रमण से कर्मबन्ध होता है। इसलिए इन अनर्थों की परम्परा का मूल कारण राग ही है[१] ॥१६८॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ कृष्ण ३, मंगलवार

राग के अवलम्बन से राग का नाश नहीं होता, परन्तु रागरहित ज्ञानानन्द ध्रुव स्वभाव में लीन होने पर राग का नाश हो जाता है। ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के अवलम्बन बिना राग का नाश नहीं होता। शुभराग के अवलम्बन से कहीं धर्म नहीं होता। राग के अवलम्बन से जो लाभ मानता है, उसकी मिथ्या मान्यता महा अनर्थ का कारण है।

प्रश्न : ऐसी बात सुनने से जीव को नुकसान होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रथम तो यह बात है कि किसी के कारण से किसी को नुकसान नहीं होता, और दूसरी बात यह है कि यह वस्तुस्वरूप की सत्य बात है। सत्य किसी को नुकसान का कारण नहीं होता। भाई! तू विचार तो कर कि तेरा कल्याण कहाँ है? किसी का अवलम्बन लेने से कल्याण हो ऐसा है? तू चिदानन्द ज्ञानतत्त्व है। तेरे स्वभाव में से राग की उत्पत्ति नहीं होती, राग में तेरे ज्ञान का विस्तार फैला हुआ नहीं है, परन्तु उसमें तो मन का विस्तार है। ज्ञान में एकाग्रता से राग की उत्पत्ति नहीं होती, परन्तु मन के अवलम्बन से राग की उत्पत्ति होती है। उस राग का नाश ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से ही होता है, आत्मा के अवलम्बन से राग नहीं होता और पर के अवलम्बन से राग हुए बिना नहीं रहता। तथा आत्मा के अवलम्बन बिना राग का नाश नहीं होता

---

१. इस गाथा की श्री जयसेनाचार्यदेव विरचित टीका में निम्नानुसार विवरण दिया गया है:—मात्र नित्यानन्द जिसका स्वभाव है ऐसे निज आत्मा को जो जीव नहीं भाता, उस जीव को माया-मिथ्या-निदानशल्यत्रयादिक समस्तविभावरूप बुद्धिप्रसार रोका नहीं जा सकता और वह न रुकने से (अर्थात् बुद्धिप्रसार का निरोध नहीं होने से) शुभाशुभकर्म का संवर नहीं होता; इसलिए ऐसा सिद्ध हुआ कि समस्त अनर्थपरम्पराओं का रागादिविकल्प ही मूल है।

और पर के अवलम्बन से राग की उत्पत्ति हुए बिना नहीं रहती।

देखो, १६७ वीं गाथा में कहा था कि आत्मा को परसमय में प्रवृत्ति होती है, उसका कारण रागभाव ही है, परद्रव्य उसका कारण नहीं। एक ही कारण है, कर्म इत्यादि कोई दूसरा कारण नहीं। उसी प्रकार यहाँ भी कहते हैं कि आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई राग के नाश का कारण नहीं। आत्मा के ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से ही राग का नाश होता है। राग या वीतरागता, वे दोनों जीव के चारित्रगुण की पर्याय है। वह पर्याय पर से निरपेक्ष है, ऐसी निरपेक्षता के ज्ञानसहित कर्म को उसका निमित्त कहना, वह सापेक्षता है। जीव के औदयिकादि भावों में जीव के ही छह कारक हैं और पुद्गलकर्म की पर्याय में पुद्गल के छह कारक हैं।

आत्मा ज्ञान-दर्शनस्वभावी है, उस स्वभाव में यदि ज्ञान की एकाग्रता करे तो राग नहीं होता, परन्तु ज्ञान को परसन्मुख झुकाकर वहाँ एकाग्र करता है अर्थात् मन के साथ का जुड़ान ही राग का कारण है। यदि आत्मा अपने स्वभाव का अवलम्बन ले तो ज्ञान-दर्शन का विस्तार हो और पर का अवलम्बन ले तो राग का विस्तार हो। परन्तु दोनों में स्वयं ही कर्ता है। निगोद का जीव भी अपने भावकलंक की प्रचुरता से ही निगोद में रा है, ऐसा गोम्मटसार में भी कहा है। (बड़ी टीका पृष्ठ ४४१) ज्ञानस्वभाव में न जुड़े और चित्त अर्थात् कि मन के साथ जुडे तो राग की उत्पत्ति होती है। स्वभाव में जुड़े तो राग की उत्पत्ति नहीं होती। पर के आश्रय से राग होता है, वह संसार का कारण है और स्वभाव का आश्रय करने से वीतरागता होती है, वह मोक्ष का कारण है।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ कृष्ण ४, बुधवार

यह मोक्षमार्ग का वर्णन है। ज्ञानस्वभावी आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान और रमणता, वह मोक्षमार्ग है। देखो, यह शरीर तो जड़-मिट्टी का है, इसमें कहीं जानने-देखने का स्वभाव नहीं है। जानने-देखने का स्वभाव तो आत्मा में है। उस ज्ञान-दर्शनस्वभावी आत्मा में लीनता, वह मोक्षमार्ग है और इसके अतिरिक्त अरिहन्त-सिद्ध इत्यादि के प्रति भक्ति का भाव, वह शुभराग है। वह बन्ध का कारण है। राग, वह आत्मा का स्वभाव

नहीं। जितना ज्ञान है, उतना ही आत्मा है। उस स्वभाव की लीनता छूटकर जितना परद्रव्य की ओर झुकाव जाये, वह राग है, वह मोक्षमार्ग नहीं। धर्म करनेवाले को 'धर्म क्या है' यह तो समझना चाहिए न! आत्मा वस्तु है, उसका शाश्वत् स्वभाव तो ज्ञान-दर्शन है, उसकी प्रतीति और ज्ञान करके उसमें लीन होना, वह धर्म है—इसमें न समझ में आये, ऐसा है क्या? समझना चाहे तो सब समझ में आये ऐसा है। आत्मा के स्वभाव की अन्तर्मुख होकर भावना करना, वह वीतरागभाव है। और स्वद्रव्य की अन्तर्मुखता चूककर परद्रव्य के अवलम्बन से जो भाव हो, उसमें तो राग का विस्तार होता है। यदि भक्ति इत्यादि के राग को धर्म मनावे तो वह मोक्षमार्ग को नहीं जानता तथा यदि भगवान की भक्ति इत्यादि को सर्वथा उत्थापित करे तो वह भी साधकदशा को नहीं समझा है। साधकदशा में भक्ति इत्यादि का शुभभाव होता है, परन्तु वह मोक्षमार्ग नहीं है।

'**ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः**' ऐसा कहा जाता है। उसमें कौन सी क्रिया? शरीर की क्रिया तो जड़ की है, और अन्दर व्रत-तप इत्यादि के विकल्प हों, वह भी राग की क्रिया है। वह भी मोक्ष का कारण नहीं। परन्तु ज्ञानस्वभावी आत्मा का भान करके उसमें एकाग्रता की रागरहित क्रिया, वह मोक्ष का कारण है। बाहर की क्रिया को या राग की क्रिया को अज्ञानी मोक्ष का कारण मनवाते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है। आत्मा का ज्ञान और उसमें रागरहित स्थिरता, वह क्रिया—ऐसे ज्ञान-क्रिया, वह मोक्ष का कारण है। देखो! वीतराग की वाणी!

वीतरागदेव कहते हैं कि हमारे प्रति भक्ति का भाव भी तुझे बन्ध का कारण है। देव-गुरु-शास्त्र की पूजा-भक्ति, प्रभावना इत्यादि का भाव धर्मी को आये बिना नहीं रहता। परन्तु वह उसे बन्ध का कारण समझता है। क्षायिक समकिती इनद्र एकभवतारी होता है, तो भी उसे भी भक्ति का भाव आने पर नाच उठता है। देखो, पहले देवलोक के शकेन्द्र हैं, वे एकभवतारी हैं, मनुष्य होकर मोक्ष पानेवाले हैं, तथापि जहाँ तीर्थंकरभगवान का जन्म होता है—ऐसे प्रसंग में भक्ति से नाच उठते हैं, उस काल में वैसा राग आये बिना नहीं रहता।

धर्मी को स्वभाव का भान होने के पश्चात् राग होता ही नहीं, ऐसा नहीं। राग के काल में राग होता है, संयोग के कारण से संयोग होते हैं, क्षयोपशमभाव की योग्यता

प्रमाण ज्ञान होता है, यह सब होने पर भी धर्मी जीव की रुचि स्वभाव के ऊपर पड़ी है। रुचि बदलने की बात है। धर्मी जीव को शुभराग आवे, परन्तु वह उसे मोक्ष का कारण नहीं मानता, उसे उसकी रुचि नहीं। शुभराग के समय भी घाति-अघाति दोनों प्रकार के कर्म बँधते हैं। उसमें घातिकर्म वे पाप हैं; इसलिए शुभराग से भी शुभ-अशुभ दोनों आस्रव होते हैं। मिथ्यादृष्टि की तो यहाँ बात नहीं, परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव राग से धर्म नहीं मानते, उनको भी शुभयोग के समय घाति-अघातिकर्म बँधते हैं। जितना परद्रव्य की ओर का झुकाववाला भाव है, उससे पुण्य और पाप दोनों का आस्रव होता है। शुभराग के समय सातावेदनीय के साथ ज्ञानावरणीयादि का भी बन्धन होता है। राग से चारित्रमोह भी बँधता है। तो चारित्रमोह पाप है या पुण्य? वह पापप्रकृति है। इसलिए शुभराग से पुण्य और पाप दोनों का बन्धन होता है, शुभराग कहीं अकेले पुण्यबन्ध का कारण नहीं, साथ में पाप भी बँधता है। ऐसे शुभराग को ही मोक्ष का कारण माने, उसे तो आत्मा के स्वभाव का भान ही नहीं, सम्यग्दर्शनरूप भूमिका ही उसे नहीं। तो फिर चारित्ररूपी वृक्ष कहाँ से उगेगा?

सम्यग्दर्शन क्या है? कि एक समय में पूर्ण शक्ति का भण्डार कारणपरमात्मा है, उसकी प्रतीति, वह सम्यग्दर्शन है और उस कारणपरमात्मा के अवलम्बन से ही कार्यपरमात्मपना प्रगट होता है। देखो, कारणपरमात्मा को स्वीकार किया, वहाँ उसके अवलम्बन से शुद्ध कार्य प्रगट होता है। निगोददशा में जो ज्ञान का उघाड़ है, वह कहीं कारणपरमात्मा के अवलम्बन से हुआ कार्य नहीं है। एक समय में परिपूर्ण कारणशुद्ध जीव है, वह सम्यग्दर्शन का विषय है।

एक समय में अखण्ड चैतन्य कारणपरमात्मा है, उसकी प्रतीति अज्ञानी नहीं करता, इसलिए उसे शुद्ध कार्य प्रगट नहीं होता। सम्यग्दृष्टि ही कारणपरमात्मा की प्रतीति करता है। अहो! अन्तर में स्वभाव का भण्डार है, उसकी महिमा सम्यग्दृष्टि को वर्तती है। चाहे जिस संयोग में हो, चाहे जिस क्षेत्र में हो, चाहे जिस (शुभ या अशुभ) भाव में हो, परन्तु धर्मी जीव को अन्तर में चैतन्यभगवान शुद्धकारणपरमात्मा की रुचि नहीं छूटती। साधकदशा में बीच में बाधकभाव होता है, परन्तु धर्मीजीव की दृष्टि में से कभी स्वभाव का अवलम्बन हटता नहीं।

देखो, बारहवें गुणस्थान में भी अभी साधकदशा है। वहाँ ज्ञान-दर्शन-वीर्य अभी अधूरे परिणमते हैं, इसलिए पर्याय में भावबन्ध है और इससे द्रव्यबन्ध भी अभी खड़ा है, वहाँ नया द्रव्यबन्धन नहीं होता, परन्तु पूर्व में बँधे हुए कर्म अभी पड़े हैं। भावबन्ध खड़ा है, इसलिए अभी बारहवें गुणस्थान में भी भावमुक्ति नहीं है। चौथे-पाँचवें-छठवें गुणस्थान में तो राग होता है, उस राग से शुभाशुभ आस्रव होता है। बारहवें गुणस्थान में मोह नहीं, इसलिए नया बन्धन नहीं होता। तीर्थंकरदेव भी मुनिदशा में हों, तब छठवें गुणस्थान में उन्हें भी राग होता था और उस राग से शुभाशुभ आस्रव होता था। साधक को दो धाराएँ होती हैं। जितना स्वभाव के आश्रय से सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का वीतरागभाव प्रगट हुआ है, उतना अबन्धभाव है; जितना राग है, उतना बन्धभाव भी है। मिथ्यादृष्टि को अकेला बन्धभाव ही है और केवली परमात्मा को अकेला अबन्धस्वभाव हो गया है। साधक को स्वभाव सन्मुख की श्रेणी है, वह मोक्ष का कारण है और वहाँ जो राग है, वह बन्ध का कारण है। जीव को राग-द्वेष-मोहरूप विभावपरिणाम, वही संसारभ्रमण का कारण है और चिदानन्द कारणपरमात्मा का अवलम्बन, वह मुक्ति का कारण है। ●●

बस! केवलज्ञान लिया.... लेंगे - ऐसी दशा

मुनिवरों को अन्तरस्वभाव के आश्रय से शुद्ध रत्नत्रय की ही भक्ति होती है। मुनियों की दशा महा अलौकिक होती है। श्रावक की अपेक्षा उन्हें रत्नत्रय की विशेष उग्र आराधना होती है। वे प्रतिक्षण विकल्प से छूटकर चैतन्य-बिम्ब में जम जाते हैं, **बस! केवलज्ञान लिया.... या लेंगे.... ऐसी उनकी दशा है।**

अहो! सन्त मुनि आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्दकुण्ड में स्नान करते हैं। उनकी परिणति में वीतरागता बढ़ गयी है और राग अत्यन्त अल्प रह गया है। बाह्य में वस्त्रादि भी स्वयं छूट गये हैं और शरीर की सहज दिगम्बर निर्विकारदशा हो गयी है। ऐसे भवभयभीरु परम निष्कर्म परिणतिवाले परम तपोधन शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करते हैं। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, सम्यग्दर्शन, भाग २, पृष्ठ ४३*

गाथा - १६९

तम्हा णिव्वुदिकामो णिस्संगो णिम्ममो य हविय पुणो।
सिद्धेसु कुणदि भत्तिं णिव्वाणं तेण पप्पोदि।।१६९।।

तस्मान्निवृत्तिकामो निस्सङ्गो निर्ममश्च भूत्वा पुनः।
सिद्धेषु करोति भक्तिं निर्वाणं तेन प्राप्नोति।।१६९।।

रागकलिनिःशेषीकरणस्य करणीयत्वाख्यानमेतत् ।

यतो रागद्यनुवृत्तौ चित्तोद्भ्रान्तिः, चित्तोद्भ्रान्तौ कर्मबन्ध इत्युक्तम्, ततः खलु मोक्षार्थिना कर्मबन्धमूलचित्तोद्भ्रान्तिमूलभूता रागाद्यनुवृत्तिरेकान्तेन निःशेषीकरणीया । निःशेषितायां तस्यां प्रसिद्धनैस्सङ्ग्यनैर्मम्यः शुद्धात्मद्रव्यविश्रान्तिरूपां पारमार्थिकीं सिद्धभक्तिमनुबिभ्राणः प्रसिद्धस्वसमयप्रवृत्तिर्भवति । तैन कारणेन स एव निःशेषितकर्मबन्धः सिद्धिमवाप्नोतीति ।। १६९ ।।

निःसंग निर्मम हो मुमुक्षु सिद्ध की भक्ति करें।
सिद्धसम निज में रमन कर मुक्ति कन्या को वरें।।१६९।।

अन्वयार्थ :- [तस्मात्] इसलिए [निवृत्तिकामः] मोक्षार्थी जीव [निस्सङ्गः] निःसंग [च] और, [निर्ममः] निर्मम [भूत्वा पुनः] होकर, [सिद्धेषु भक्ति] सिद्धों की भक्ति (-शुद्धात्मद्रव्य में स्थिरतारूप पारमार्थिक सिद्धभक्ति) [करोति] करता है, [तेन] इसलिए वह [निर्वाणं प्राप्नोति] निर्वाण को प्राप्त करता है।

टीका :- यह, रागरूप क्लेश का [1]निःशेष नाश करनेयोग्य होने का निरूपण है।

रागादिपरिणति होने पर चित्त का भ्रमण होता है और चित्त का भ्रमण होने पर कर्मबन्ध होता है ऐसा (पहले) कहा गया, इसलिए मोक्षार्थी को कर्मबन्ध का मूल ऐसा जो चित्त का भ्रमण उसके मूलभूत रागादिपरिणति का एकान्त निःशेष नाश करनेयोग्य है। उसका निःशेष नाश किया जाने से, जिसे [2]निःसंगता और [3]निर्ममता

---

१. निःशेष=सम्पूर्ण; किंचित् शेष न रहे ऐसा।
२. निःसंग=आत्मतत्त्व से विपरीत ऐसा जो बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रहण उससे रहित परिणति, सो निःसंगता है।

प्रसिद्ध हुई है, ऐसा वह जीव शुद्धात्मद्रव्य में विश्रान्तिरूप पारमार्थिक सिद्धभक्ति धारण करता हुआ [४]स्वसमयप्रवृत्ति की प्रसिद्धिवाला होता है। उस कारण से वह जीव कर्मबन्ध का निःशेष नाश करके सिद्धि को प्राप्त करता है॥१६९॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ कृष्ण ४, बुधवार

अब, समस्त संक्लेशभाव के नाश से सिद्धदशा होने का बतलाते हैं।

मोक्षमार्ग में राग का निषेध है। राग, वह मोक्षमार्ग नहीं। जिस भाव से तीर्थंकरप्रकृति बँधे, वह राग भी मोक्ष का कारण नहीं। जब वह राग टलकर केवलज्ञान प्रगट करेगा, तब ही तीर्थंकरप्रकृति उदय में आयेगी। इसलिए राग से आत्मा को लाभ नहीं है। और, इस जीव के राग के कारण दूसरे जीव धर्म नहीं प्राप्त करते, जिनकी योग्यता हो, वे अपनी योग्यता से धर्म पाते हैं और तब भगवान की वाणी को निमित्त कहा जाता है।

अहो! मेरी शान्ति तो अन्दर में है, अन्दर के स्वभाव का अवलम्बन लूँ, उतनी शान्ति है, राग मेरी शान्ति का कारण नहीं। ऐसा जानकर धर्मी मोक्षाभिलाषी जीव राग छोड़कर परमात्मस्वभाव की भावना में लीन होता है।

मोक्षाभिलाषी जीव क्या करता है? कि विभावरहित अपने सिद्धस्वभाव में स्थिर होकर स्वरूप में गुप्त होता है, राग और वस्त्रादि के परिग्रह से रहित होकर चिदानन्दस्वरूप में लीन होता है। स्वरूप में शान्ति है और बाहर में निवृत्ति है—ऐसी मुनिदशा प्रगट

---

३. रागादि-उपाधिरहित चैतन्यप्रकाश जिसका लक्षण है, ऐसे आत्मतत्त्व से विपरीत मोहोदय जिसकी उत्पत्ति में निमित्तभूत होता है, ऐसे ममकार-अहंकारादिरूप विकल्पसमूह से रहित निर्मोहपरिणति, सो निर्ममता है।

४. स्वसमयप्रवृत्ति की प्रसिद्धिवाला=जिसे स्वसमय में प्रवृत्ति प्रसिद्ध है ऐसा। [जो जीव रागादिपरिणति का सम्पूर्ण नाश करके निःसंग और निर्मम हुआ है, उस परमार्थ-सिद्धभक्तिवन्त जीव ने स्वसमय में प्रवृत्ति सिद्ध की है, इसलिए स्वसमयप्रवृत्ति के कारण वही जीव कर्मबन्ध का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त करता है, अन्य नहीं।]

करके, अपने सिद्धसदृश स्वभाव में लीन होकर सिद्धदशा प्रगट करता है। देखो, यह सिद्धि का पंथ है। मुनि को बीच में व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प आवे, उसे भी छोड़कर जब वीतरागभाव से स्वरूप में स्थिर होगा, तब मुक्ति होगी। पहले भले राग सर्वथा छूटे नहीं परन्तु ऐसी दृष्टि प्रगट करनी चाहिए कि चैतन्यसमुद्र में लीनता, वही मोक्ष का कारण है। जितना राग होता है, उतनी चित्त की भ्रामकता होती है। परन्तु यदि राग को धर्म का कारण न माने तो भी जितना राग है, उतना क्षोभ है, इसलिए वह भी चारित्र की भ्रामकता है। शुभविकल्प आता है, उसमें भी चैतन्यसमुद्र की स्थिरता में क्षोभ होता है। अन्तर-बाह्य निर्ग्रन्थदशा होने के पश्चात् मुनिदशा में पंच महाव्रत की शुभवृत्ति उठे, उसे भी छोड़कर जब स्वभाव में स्थिर होता है, तब सिद्धदशा प्रगट होती है। वस्त्रादिपरिग्रह हो, वहाँ मुनिदशा नहीं होती। मुनि को अन्दर में स्वभाव के अवलम्बन से राग की प्रवृत्ति छूट गयी है और बाहर में वस्त्रादि परिग्रह भी छूट गये होते हैं। पश्चात् ऐसी मुनिदशा में ज्ञायकस्वरूप अपने सिद्धपरमात्मा में लीन होने से राग छूट जाता है और स्वसमय की प्राप्ति होती है तथा सर्व कर्म का नाश होकर सिद्धदशा प्रगट होती है।

'राग को छोड़ूँ' ऐसे लक्ष्य से राग नहीं छूटता। परन्तु स्वभाव का अवलम्बन लेने से राग की उत्पत्ति ही नहीं होती।—यह राग को छोड़ने की पद्धति है। शास्त्र कहते हैं कि 'कषाय छोड़ो'—यह उपदेशवचन है। परन्तु कषाय कैसे छूटे ? कि अकषायस्वभाव में स्थिरता होने पर कषाय की उत्पत्ति ही नहीं होती। स्वभाव का ही उद्यम है, वहाँ रागादिभाव का नाश किया, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव में स्वभाव का अवलम्बन करके उसमें स्थिर होने से मोक्षदशा होती है—जब तक राग का अंश भी हो, तब तक मोक्षदशा नहीं होती।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ कृष्ण ५, गुरुवार

मोक्ष कैसे हो, उसकी यह बात है। मोक्ष, वह आत्मा की पूर्ण शुद्धदशा है। आत्मा में मोक्ष होने की शक्ति त्रिकाल है, परन्तु मोक्ष अवस्था नयी प्रगट होती है। वह मोक्षदशा कहाँ से प्रगट होती है ? पर में से तो आत्मा की सच्ची शान्ति आवे, ऐसा नहीं,

पुण्य-पाप के विकार में भी आत्मा की शान्ति नहीं; आत्मा के स्वभाव में शान्ति भरी है, उसका भान करके उसमें एकाग्रता करने से मोक्षदशा प्रगट होती है। उसमें आत्मा की सच्ची शान्ति है।

जो जीव मोक्ष का कामी हो, उसे पहले 'मोक्ष क्या है' यह निर्णय करना चाहिए। मोक्षदशा कहाँ से आती है? पर में से, विकार में से या वर्तमान अधूरी पर्याय में से मोक्षपर्याय नहीं आती, परन्तु ध्रुव आनन्दस्वभावी आत्मा है, उसकी प्रतीति, उसका ज्ञान और उसमें लीनता करने से मोक्षदशा प्रगट होती है। बीच में राग हो, वह मोक्ष का कारण नहीं। चिदानन्द परमात्मा के आश्रय से लीन होने पर जब आत्मा को राग की प्रवृत्ति सर्वथा टल जाती है, तब आत्मा को मोक्ष होता है। पर को दूर करने का उद्यम तो धर्मी को नहीं, और राग को छोड़ने में भी धर्मी का उद्यम नहीं, धर्मी का उद्यम तो अपने चिदानन्दस्वभाव में है, स्वभाव में एकाग्रता का उद्यम करने से राग की उत्पत्ति ही नहीं होती।

सोना में से कड़ा करना हो तो वह कहाँ से होगा? कहीं ऐरण में से, हथौड़ी में से या सोनी में से वह नहीं आयेगा। परन्तु ध्रुव टिकनेवाला सोना है, वह पलटकर कुण्डल का व्यय होकर कड़ा की उत्पत्ति होती है। वह कड़ा सोना में से आया है, उसी प्रकार आत्मा की मोक्षदशा कहाँ से आयेगी? संयोग-निमित्त तो परचीज़ है, पुण्य-पाप वह मैल है—विकार है, उसमें से मोक्षदशा नहीं आती। वर्तमान में अल्पदशा है, उसमें से मोक्षदशा नहीं आती। मोक्षदशा प्रगट होने की सामर्थ्य तो ध्रुव चिदानन्दस्वभाव में पड़ी है, उसमें से मोक्षदशा का उत्पाद होता है। इसलिए निवृत्ति के कामी जीव को ध्रुवद्रव्य की प्रतीति करके उसके अवलम्बन में एकाग्र होना चाहिए।

अनादि से पर को मैं छोड़ूँ और मैं रखूँ, ऐसी विपरीत मान्यता प्रविष्ट हो गयी है, जैसे कस्तूरी की गन्ध प्रविष्ट हो जाये, वैसे अज्ञानी को मिथ्यात्व की गन्ध प्रविष्ट हो गयी है। भावपाहुड़ में कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि :—

भावविमुक्तः मुक्तः न च मुक्तः बांधवादिमित्रेण।
इति भावयित्वा उज्झय गन्धमाभ्यंतरं धीरं॥८३॥

अन्तर में मिथ्यात्वादि विकार भाव से मुक्त हुआ है, वही मुक्त है। बाहर का संग छोड़ने से कहीं मुक्ति नहीं हो जाती। ऐसा जानकर हे जीव! तू अनादि की अज्ञान की गन्ध छोड़! स्वभाव की रुचि छोड़कर अज्ञानी को संयोग की और विकार की रुचि की गन्ध प्रविष्ट हो गयी है। धर्मी जीव की दृष्टि तो ध्रुव द्रव्यस्वभाव में प्रविष्ट हो गयी है। उसकी रुचि में चिदानन्द अखण्ड द्रव्य की गन्ध और रुचि वर्तती है। मेरी मोक्षदशा का आधार ध्रुवस्वभाव है। एक समय की पर्याय, वह व्यवहार का विषय है और ध्रुव त्रिकाली द्रव्य, वह निश्चयनय का विषय है। उसमें ध्रुवद्रव्य के आश्रय से ही मोक्षदशा प्रगट होती है। पर्याय के आश्रय से मोक्षदशा प्रगट नहीं होती। ऐसी वस्तु के भान बिना धर्म या मुनिदशा नहीं होती। छहढाला में भी कहा है कि :—

'मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिन सुख लेश न पायो'

अन्तर में चिदानन्द अखण्ड द्रव्य के अवलम्बन से जिसे अत्यधिक लीनता हो गयी है और निर्ममत्वभाव हो गया है, ऐसा जीव सिद्ध जैसे अपने परमात्मस्वभाव में लीन होकर उसकी वीतरागी भक्ति करके मोक्षदशा को पाता है। **'सिद्ध समान सदा पद मेरो'**—ऐसे पहले प्रतीति और ज्ञान तो किया था, और पश्चात् उसमें निर्विकल्परूप से एकाग्र होने पर राग सर्वथा छूटकर मोक्षदशा प्रगट होती है। वह मोक्ष और मोक्षमार्ग, वह अवस्था है, वह अवस्था ध्रुव कारणपरमात्मा के अवलम्बन से ही प्रगट होती है। ध्रुव कारणपरमात्मा स्वयं कहीं मोक्षमार्ग नहीं। मोक्षमार्ग तो उसके आश्रय से प्रगट हुई अवस्था है। पर की भक्ति से तो राग होता है, इसलिए पर की भक्ति, वह मोक्षमार्ग नहीं परन्तु ध्रुव चिदानन्दस्वभाव की भक्ति अर्थात् कि उसमें निर्विकल्प एकाग्रता, वह मोक्षमार्ग है। परमानन्दस्वभाव में लीन होने से समस्त राग टलकर मुक्तदशा होती है। स्वभाव के आश्रय से आठों कर्मों का नाश होकर सिद्धदशा होती है। इस सिद्धदशा में क्षायिक और पारिणामिकभाव ही होते हैं, वहाँ राग नहीं होता; इसलिए राग सर्वथा छोड़नेयोग्य है। जब तक राग का अंश भी रहे, तब तक मोक्ष नहीं होता, तथापि साधकदशा में धर्मी को भी राग आता है, उसका ज्ञान आगे की गाथा में कराते हैं।

●●

गाथा - १७०

सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपउत्तस्स।।१७०।।

सपदार्थं तीर्थकरमभिगतबुद्धेः सूत्ररोचिनः।
दूरतरं निर्वाणं संयमतपःसम्प्रयुक्तस्य।।१७०।।

अर्हदादिभक्तिरूपपरसमयप्रवृत्तेः साक्षान्मोक्षहेतुत्वाभावेऽपि परम्परया मोक्षहेतुत्वसद्भाव-द्योतनमेतत् ।

यः खलु मोक्षार्थमुद्यतमनाः समुपार्जिताचिन्त्यसंयमतपोभारोऽप्यसम्भावितपरम्वैराग्य-भूमिकाधिरोहणसमर्थप्रभशुक्तिः पिञ्जनलग्नतूलन्यासन्यायेन नवपदार्थैः सहार्हदादिरुचिरूपां परमसमयप्रवृत्तिं परित्यक्तुं नोत्सहते, स खलु न नाम साक्षान्मोक्षं लभते किन्तु सुरलोकादि-क्लेशप्राप्तिरूपया परम्परया तमवाप्नोति ।। १७० ।।

तत्त्वार्थ अर जिनवर प्रति जिसके हृदय में भक्ति है।
संयम तथा तप युक्त को भी दूरतर निर्वाण है।।१७०।।

अन्वयार्थ :- [संयमतपःसम्प्रयुक्तस्य] संयमतपसंयुक्त होने पर भी, [सपदार्थ तीर्थंकरम्] नव पदार्थों तथा तीर्थंकर के प्रति [अभिगतबुद्धेः] जिसकी बुद्धि का झुकाव वर्तता है और [सूत्ररोचिनः] सूत्रों के प्रति जिसे रुचि (प्रीति) वर्तती है, उस जीव को, [निर्वाणं] निर्वाण [दूरतरम्] दूरतर (विशेष दूर) है।

टीका :- यहाँ, अर्हंतादि की भक्तिरूप परसमयप्रवृत्ति में साक्षात् मोक्षहेतुपने का अभाव होने पर भी परम्परा से मोक्षहेतुपने का [१]सद्भाव दर्शाया है।

जो जीव वास्तव में मोक्ष के लिये उद्यमी चित्तवाला वर्तता हुआ, अचिन्त्य

---

१. वास्तव में तो ऐसा है कि—ज्ञानी को शुद्धाशुद्धरूप मिश्र पर्याय में जो भक्ति-आदिरूप शुभ अंश वर्तता है, वह तो मात्र देवलोकादि के क्लेश की परम्परा का ही हेतु है और साथ ही साथ ज्ञानी को जो (मन्दशुद्धिरूप) शुद्ध अंश परिणमित होता है, वह संवरनिर्जरा का तथा (उतने अंश में) मोक्ष का हेतु है। वास्तव में ऐसा होने पर भी, शुद्ध अंश में स्थिर संवर-निर्जरा-मोक्षहेतुत्व का आरोप उसके साथ के भक्ति-आदिरूप शुभ अंश में करके उन शुभभावों को देवलोकादि के क्लेश की प्राप्ति की परम्परा सहित मोक्षप्राप्ति

संयमतपभार सम्प्राप्त किया होने पर भी परमवैराग्यभूमिका का आरोहण करने में समर्थ ऐसी [२]प्रभुशक्ति उत्पन्न नहीं की होने से, 'धुनकी को चिपकी हुई रुई' के न्याय से, नव पदार्थों तथा अर्हंतादि की रुचिरूप (प्रीतिरूप) परसमयप्रवृत्ति का परित्याग नहीं कर सकता, वह जीव वास्तव में साक्षात् मोक्ष को प्राप्त नहीं करता किन्तु देवलोकादि के क्लेश की प्राप्तिरूप परम्परा द्वारा उसे प्राप्त करता है ॥१७० ॥

प्रवचन :

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ कृष्ण ५, गुरुवार

जिसे चिदानन्दस्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए हैं, परन्तु अभी पूर्ण वीतरागी दशा प्रगट नहीं हुई, वहाँ राग होता है, वैसे जीव को पंच

के हेतुभूत कहा गया है। यह कथन आरोप से (उपचार से) किया गया है, ऐसा समझना। [ऐसा कथंचित् मोक्षहेतुत्व का आरोप भी ज्ञानी को ही वर्तनेवाले भक्ति-आदिरूप शुभभावों में किया जा सकता है। अज्ञानी को तो शुद्धि का अंशमात्र भी परिणमन में नहीं होने से यथार्थ मोक्षहेतु बिलकुल प्रगट ही नहीं हुआ है—विद्यमान ही नहीं है तो फिर वहाँ उसके भक्ति आदिरूप शुभभावों में आरोप किसका किया जाये ?]

२. प्रभुशक्ति= प्रबल शक्ति; उग्रशक्ति; प्रचुर शक्ति। [जिस ज्ञानी जीव ने परम उदासीनता को प्राप्त करने में समर्थ ऐसी प्रभुशक्ति उत्पन्न नहीं की वह ज्ञानी जीव कदाचित् शुद्धात्मभावना को अनुकूल, जीवादिपदार्थों का प्रतिपादन करनेवाले आगमों के प्रति रुचि (प्रीति) करता है; कदाचित् (जिस प्रकार कोई रामचन्द्रादि पुरुष देशान्तरस्थित सीतादि स्त्री के पास से आए हुए मनुष्यों को प्रेम से सुनता है, उनका सन्मानादि करता है और उन्हें दान देता है उसी प्रकार) निर्दोष-परमात्मा तीर्थंकरपरमदेवों के और गणधर-देव-भरत-सगर-राम-पाण्डवादि महापुरुषों के चरित्रपुराण शुभ धर्मानुराग से सुनता है तथा कदाचित् गृहस्थ-अवस्था में भेदाभेदरत्नत्रयपरिणत आचार्य-उपाध्याय-साधु के पूजनादि करता है और उन्हें दान देता है—इत्यादि शुभभाव करता है। इस प्रकार जो ज्ञानी जीव शुभराग को सर्वथा नहीं छोड़ सकता, वह साक्षात् मोक्ष को प्राप्त नहीं करता परन्तु देवलोकादि के क्लेश की परम्परा को पाकर फिर चरम देह से निर्विकल्पसमाधिविधान द्वारा विशुद्धदर्शन-ज्ञानस्वभाववाले निजशुद्धात्मा में स्थिर होकर उसे (मोक्ष को) प्राप्त करता है।]

परमेष्ठी भगवन्त की भक्ति इत्यादि का रागभाव आता है, इसलिए वहाँ साक्षात् मोक्ष का अभाव है, तथापि अन्दर निश्चयमोक्षमार्ग वर्तता है, इसलिए उसके राग को उपचार से परम्परा मोक्ष का कारण भी कहा जाता है। शुभराग को परम्पराकारण कहा—परन्तु किसे? कि जिसे मोक्ष के वास्तविक कारणरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए हैं, और राग का निषेधभाव वर्तता है, उसके शुभराग को परम्पराकारण का उपचार कहा है। साधक जीव को बीच में राग आवे, तो वह कैसा होता है? कुदेवादि का राग तो होता ही नहीं, परन्तु अरहन्तदेव की भक्ति इत्यादि का राग होता है। उस राग को परम्पराकारण कहा तो साक्षात्कारण दूसरा है। शुद्ध द्रव्य का अवलम्बन, वह मोक्ष का साक्षात्कारण है। ऐसा साक्षात्कारण जहाँ प्रगट हुआ है, वहाँ राग को परम्पराकारण कहा जाता है। साधक को अरिहन्तदेव की भक्ति इत्यादि का राग आता नहीं—ऐसा कोई माने तो उसकी बात खोटी है। साधकदशा में कैसा राग होता है, उसका यहाँ ज्ञान कराते हैं।

जिसे अन्तर में शुद्ध चिदानन्दस्वभाव का भान हुआ है, उसके निश्चय श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र प्रगट हुए हैं। ऐसे जीव को भी, नौ तत्त्व के ज्ञानसहित अरिहन्तदेव के प्रति भक्ति इत्यादि का शुभभाव हो, वहाँ तक मोक्ष दूर है।

निश्चय से अन्तःतत्त्व तो ज्ञायक आत्मा है, वही उपादेय है, ऐसे निश्चयतत्त्व की प्रतीति सहित नौ तत्त्व को जानना, वह व्यवहार है। नौ तत्त्व को जाना कब कहलाये? जीव को जीव माने, अजीव को अजीव माने, जीव अजीव का करे या अजीव से जीव को लाभ—नुकसान होता है—ऐसा माने, उसे नौ तत्त्व का भान नहीं है। पुण्य-पाप दोनों को आस्रव माने, पुण्य से धर्म न माने; संवर-निर्जरा वे स्वभाव के आश्रय से हैं, राग से संवर या निर्जरा नहीं है और मोक्ष, वह पूर्ण शुद्ध—रागरहित दशा है, पुण्य से मोक्ष नहीं होता—इस प्रकार नौ तत्त्व को भिन्न-भिन्न स्वरूप से पहिचाने, वह भी अभी तो व्यवहार है परन्तु जिसे अखण्ड तत्त्व का भान है, उसे वैसा व्यवहार होता है। अकेले व्यवहारवाले की यह बात नहीं है।

यहाँ तो अरिहन्तदेव की भक्ति की बात लेनी है परन्तु अरिहन्त कैसे? कि नौ तत्त्व जिन्होंने यथार्थ कहे हैं—ऐसे नौ तत्त्व की श्रद्धासहित अरिहन्तदेव की भक्ति का भाव आवे, वह शुभराग है। नौ तत्त्व में जीव-अजीव दो मूल द्रव्य हैं और सात उनकी

पर्यायें हैं। जीव और कर्म भिन्न-भिन्न तत्त्व है। कर्म के कारण से जीव को राग होता है, ऐसा माने तो उसने जीव-अजीवतत्त्व को भिन्न नहीं माना। परजीव मरा, इसलिए यहाँ पाप हुआ या परजीव बचा, इसलिए पुण्य हुआ—ऐसा माने तो उसने पुण्य-पाप को और परजीव को भिन्न नहीं जाना। पुण्य से धर्म माने तो उसने पुण्य को और संवर-निर्जरा-मोक्ष को भिन्न नहीं पहिचाना। नौ पदार्थों के भानसहित तीर्थंकर की भक्ति की बात ली है। जिसे आत्मा के स्वभाव का भान है और नौ तत्त्व के ज्ञानपूर्वक अरिहन्तदेव की भक्ति का भाव है, उसे भी शुभराग है और इसलिए उसे भी मोक्षतत्त्व अभी दूर है। आत्मा का भान है, और नौ तत्त्व के भेद के ऊपर लक्ष्य है, वहाँ राग है, उस राग का भी दृष्टि में तो निषेध है। ध्रुव चिदानन्दस्वभाव की ही रुचि है। भगवान की भक्ति के भाव के समय धर्मी को भान है कि पर के आश्रय से राग है, वह मोक्ष का कारण नहीं; मोक्ष तो मेरे स्वभाव के अवलम्बन से ही है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने तो सूत्र में इतनी ही बात की है कि जिसे नौ तत्त्वसहित तीर्थंकरदेव की भक्ति का राग वर्तता है, उसे भी मोक्ष दूर वर्तता है। उसमें से अमृतचन्द्राचार्य साधकदशा की बात लेंगे। साधकदशा में रागरहित स्वभाव की दृष्टि और अवलम्बन होने पर भी अभी राग भी होता है, वहाँ स्वभाव की दृष्टि और उसका अवलम्बन, वह मोक्ष का कारण है और शुभराग को उपचार से मोक्ष का परम्पराकारण कहा गया है। जिसे नौ तत्त्व का ही यथार्थ ज्ञान नहीं, वैसे जीव को तो उपचार से भी शुभराग मोक्ष का कारण नहीं है। जिसे निश्चयमोक्षमार्ग प्रगट हुआ है, उसे बीच में शुभराग आवे, उसे उपचार से मोक्ष का कारण कहा जाता है।

धर्मी को पूर्ण स्वभाव की दृष्टि है, परन्तु अभी पूर्ण चारित्रदशा प्रगटी नहीं—ऐसे साधक की यह बात है। जो राग से ही कल्याण मानता है, ऐसे मिथ्यादृष्टि की यह बात नहीं, तथा मोक्षदशा जिसे प्रगट हो गयी है, उसे तो राग होता ही नहीं, इसलिए उसकी भी बात नहीं, जिसे अभी साधकदशा में राग है, ऐसे जीव की यह बात है। राग होने पर भी उसका झुकाव नौ तत्त्व और अरिहन्त-सिद्ध-साधु इत्यादि पूज्य पुरुषों के प्रति झुका है। वह विपरीत तत्त्वों को नहीं मानता, कुदेवादि का आदर नहीं करता और राग को धर्म नहीं मानता, स्वभाव के अवलम्बन से ही लाभ मानता है। ऐसे जीव को शुभराग उपचार से परम्परा मोक्ष का कारण है। परन्तु जब तक राग है, तब तक तो उसे भी मोक्ष दूरवर्ती ही है।

यह तो अचरमशरीरी जीव की बात है, अर्थात् जिसे इस भव में मोक्षदशा नहीं, स्वभाव की दृष्टि होने पर भी जिसे राग वर्तता है। दृष्टि में तो राग का निषेध वर्तता है। ऐसा जीव एकाध भव करके मोक्ष पानेवाला है, इसलिए उसके शुभराग को उपचार से मोक्ष का परम्पराकारण कहा है।

१७० और १७१वीं गाथा पूर्ण करते हुए जयसेनाचार्यदेव कहेंगे कि '**इति अचरमदेहपुरुषव्याख्यानमुख्यत्वेन दशमस्थले गाथाद्वयं गतं ॥**' अर्थात् कि जिसे स्वभाव का भान वर्तता है, परन्तु पूर्ण चारित्र नहीं; इसलिए इस भव में मोक्षदशा होनी नहीं है; राग है, इसलिए स्वर्ग में जायेगा। परन्तु उसकी श्रद्धा में राग का निषेध वर्तता होने से ध्रुवस्वभाव में लीन होकर—राग तोड़कर एकाध भव में मोक्ष पा जायेगा। इसलिए उसके राग को उपचार से परम्पराकारण कहा है। परन्तु जिसे स्वभाव का भान ही नहीं, ऐसे जीव के राग को तो व्यवहार से भी मोक्ष का परम्पराकारण नहीं कहते। स्वभाव की दृष्टि होने पर भी वीतरागता होती नहीं और अभी पंच परमेष्ठी इत्यादि के प्रति रागभाव आता है, उसे मोक्ष दूरतर है, एकाध दो भव करना बाकी है, इस अपेक्षा से उसे मोक्ष 'दूरतर' कहा है, परन्तु 'दूरतम' नहीं। अर्थात् कि अनन्तभव करना नहीं है। सम्यग्दृष्टि को नौ तत्त्व की श्रद्धा इत्यादि का विकल्प, वह व्यवहारसम्यग्दर्शन है, परन्तु व्यवहार सम्यक्त्व के समय भी शुद्ध आत्मा के श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व साथ ही वर्तता है, धर्मी को निश्चयपूर्वक जो व्यवहार का शुभराग है, उस राग का भी स्वभाव की दृष्टि में निषेध वर्तता है। इसलिए उसके राग को परम्परा मोक्ष का कारण उपचार से कहा है। स्वभाव की दृष्टि है और राग का निषेध है, इसलिए स्वभाव का उग्र अवलम्बन लेकर वह राग का सर्वथा अभाव करेगा, तब मोक्षदशा प्रगट होगी अर्थात् ध्रुव स्वभाव का अवलम्बन, वही मोक्ष का वास्तविक कारण है।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ कृष्ण ६, शुक्रवार

आत्मा ज्ञान-दर्शनस्वभावी है, उसमें एकाग्रता, वह मोक्ष का कारण है और बीच में राग आवे, वह अनर्थ परम्परा का कारण है। धर्मी जीव को शुद्ध आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान

और एकाग्रता होने पर भी छठवें गुणस्थान तक शुभराग आता है, उस राग को उपचार से मोक्ष का परम्पराकारण कहते हैं। भक्ति इत्यादि का शुभराग छठवें गुणस्थान तक होता है; सातवें गुणस्थान में तो ध्यान में एकाग्रता है, वहाँ बुद्धिपूर्वक राग नहीं होता। निश्चय से राग, वह मोक्ष का कारण नहीं। मोक्ष का कारण तो वीतरागी चारित्र है, ऐसा जिसे भान है, परन्तु अभी शुभराग छूटा नहीं, उसे वह उपचार से मोक्ष का परम्पराकारण कहा जाता है। मोक्ष का साक्षात् कारण प्रगट हुआ है, वहाँ राग में परम्पराकारण का उपचार किया है। जिसे रागरहित चैतन्यस्वभाव का भान नहीं और राग को धर्म का कारण मानता है, ऐसे जीव का राग तो अनर्थ का ही कारण है, उसके राग को परम्परा मोक्ष का कारण उपचार से भी नहीं कहा जाता।

जो जीव ज्ञान-आनन्दस्वभाव का ज्ञान करके उसमें एकाग्रता से मोक्ष के उद्यम में प्रवर्त रहा है, ऐसे जीव की बात है। '**मोक्ष कहा निज शुद्धता**'—आत्मा की पूर्ण शुद्धता, वह मोक्ष है और उस मोक्ष का मार्ग भी शुद्धता है। बीच में राग आवे, वह अशुद्धता है, वह मोक्षमार्ग नहीं। शुद्ध उपयोग मुख्यरूप से सातवें गुणस्थान से होता है, परन्तु आंशिक शुद्धउपयोग की शुरुआत तो चौथे गुणस्थान से ही हो जाती है। चौथे गुणस्थान में भी कभी-कभी निर्विकल्प उपयोग हो जाता है। पूर्ण शुद्ध उपयोग बारहवें गुणस्थान में होता है। चौथे गुणस्थान में शुद्ध उपयोग कभी-कभी आता है और उसका काल अल्प है, इसलिए वहाँ शुद्धोपयोग को मुख्य नहीं गिना। शुद्धोपयोग की मुख्यता सातवें गुणस्थान से है। छठवें गुणस्थानवाले मुनि को शुभ उपयोगी गिना है और सातवें से शुद्ध उपयोग गिना है। परन्तु अभी सातवें गुणस्थान में भी राग का अंश है, उतनी अशुद्धता है, इसलिए पूर्ण शुद्ध उपयोग वहाँ नहीं है। बारहवें गुणस्थान में पूर्ण शुद्ध उपयोग होता है। सम्यग्दर्शन अपेक्षा से तो सम्यग्दृष्टि को भी शुद्ध उपयोग गिनने में आता है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसहित चारित्रदशा जिसे प्रगट हुई है, ऐसे मुनि को भी छठवें गुणस्थान में शुभराग होता है, उसकी बात है। अन्तर में निर्विकल्प अनुभव करके चैतन्य में बहुत स्थिरता प्रगट की है, ऐसे मुनियों को संयम-तप होता है। ज्ञानानन्दस्वभाव में बहुत लीनता वर्तती है, उसका नाम ही संयम और तप है। मुनियों ने संयम-तप का भार अंगीकार किया है, यहाँ संयम-तप का 'भार' कहा, वह दोषरूप

नहीं, परन्तु गुणरूप है। भार अर्थात् कहीं बोझा नहीं, परन्तु चैतन्य की उग्रता हुई है, यह बतलाना है। ऐसी मुनिदशा हुई है, ऐसे मुनि को परमवैराग्यरूप सातवीं भूमिका में स्थिरता की और श्रेणी मांडने की उत्कृष्ट शक्ति न हो, तब छठवें गुणस्थान में शुभराग होता है। विषयों का अनुराग नहीं, परन्तु भगवान की भक्ति इत्यादि का प्रशस्त राग आये बिना नहीं रहता। गणधरों को भी छठवें गुणस्थान में राग आता है। उस राग के समय नौ तत्त्व की श्रद्धा तथा पंच परमेष्ठी की भक्ति का भाव होता है। देखो, अन्तर में वस्तुस्वरूप की श्रद्धा और अवलम्बन तो हटता नहीं। परन्तु अभी पूर्ण वीतरागीदशा हुई नहीं, इसलिए ऐसा राग होता है। सातवें गुणस्थान का काल अल्प है। सदा सातवाँ गुणस्थान किसी को नहीं रहता। क्षण-क्षण में सातवाँ और छठवाँ गुणस्थान मुनि को आया करता है। उसमें सातवें गुणस्थान की अपेक्षा छठवें गुणस्थान का काल दुगुना है। छठवें गुणस्थान के समय नौ तत्त्व के विचार का विकल्प उठता है, पंच परमेष्ठी के भक्ति का विकल्प उठता है, मोक्षमार्ग की दशा प्रगटी होने पर भी बीच में राग होता है, उसकी पहिचान कराते हैं। छठे गुणस्थान में शुभराग छूट नहीं सकता। यदि राग छूट जाये तो छठवाँ गुणस्थान न रहे। छठवें गुणस्थान के समय भगवान के प्रति भक्ति का भाव आवे, तथा अपने को मोक्ष की प्रीति होने से मोक्षगत पुरुषों की कथा के श्रवण का भाव भी आता है। जैसे रामचन्द्रजी को सीता का विरह था, उस समय कोई पुरुष सीताजी के पास से आवे और उनके समाचार कहे, तब रामचन्द्रजी उसका आदर करे। उसी प्रकार धर्मी को मोक्षदशा की प्रीति है, इसलिए मोक्षपरिणति की वार्ता सुनने का भाव आता है। मुक्तिरूपी स्त्री को वश करने के लिये तीर्थंकरों तथा भरत चक्रवर्ती इत्यादि के चारित्र सुनते हैं, शुभराग के समय धर्मी को ऐसा भाव आता है परन्तु धर्मी जानता है कि यह राग धर्म नहीं है। वीतराग श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र, वही मोक्षमार्ग है। बीच में राग है, उससे तो स्वर्ग के क्लेश की प्राप्ति होगी और पश्चात् मनुष्य होकर, चारित्रदशा प्रगट करके राग को सर्वथा छोड़ेगा, तब मोक्षदशा होगी। सम्यग्दृष्टि को राग में आदरबुद्धि नहीं होती।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि अहो! जिसे अन्तर में चिदानन्दस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान है, तथा उसमें बहुत लीनता भी प्रगट हुई है, ऐसे सन्तों को मोक्ष का उद्यम करते-करते बीच में शुभराग रह जाता है, वहाँ छठवें गुणस्थान में पंच परमेष्ठी

की भक्ति, नौ तत्त्व की श्रद्धा का विकल्प इत्यादि भाव आते हैं। जैसे रुई पींजनेवाले को तांत में रुई लग जाती है, उसे दूर नहीं कर सकता, उसी प्रकार मुनिवरों को स्वरूप में एकाग्रता करते-करते किंचित् राग रह जाता है, तब शास्त्रस्वाध्याय इत्यादि का विकल्प उठता है। गणधरदेव स्वयं बारह अंग गूँथते हैं, तब उन्हें भी शुभराग होता है। जहाँ तक राग रहता है, वहाँ तक साक्षात् मोक्षदशा प्राप्त नहीं होती, परन्तु स्वर्ग का एकाध भव करके पश्चात् मोक्ष पाता है। स्वर्ग में सम्यग्दृष्टि इन्द्रपद की विभूति को भी तृणवत् जानता है, उसमें सुख नहीं मानता, परन्तु उस ओर के राग को अग्निसमान जानता है। इस प्रकार स्वर्ग का भव पूरा करके वहाँ से च्युत होकर महाविदेहक्षेत्र इत्यादि में जन्मता है और वहाँ सीमन्धरादि परमात्मा को साक्षात् देखता है और धर्मभावना विशेष दृढ़ करके, मुनि होकर मोक्ष पाता है। धर्मी ने शुद्ध आत्मा की भावना पूर्व में भायी है, वह शुद्धात्मा की भावना स्वर्ग में भी छूटती नहीं, इसलिए उसे वहाँ पुण्य के फल में रुचि नहीं होती, उसे राग में और राग के फल में आदरबुद्धि नहीं, वह चक्रवर्ती इत्यादि पद पावे, वहाँ भी शुद्धात्मा की भावना के बल के कारण उसे विषयसुख की प्रीति नहीं होती, इसलिए शुद्धात्मभावना उग्र होने से परिग्रह छोड़कर मुनि होकर केवलज्ञान प्रगट करता है—इस प्रकार परम्परा मोक्षदशा पाता है।

जिसे निश्चय श्रद्धा-ज्ञान प्रगट हुए हैं और मुनिदशा प्रगट हुई है परन्तु अल्प शुभराग रह जाता है। तो वह साक्षात् मोक्ष नहीं पाता, जिसे शुद्ध उपादानकारण प्रगट हुआ है, उसे राग में निमित्तकारण का आरोप आता है। परन्तु उपादान ही प्रगट नहीं हुआ हो तो निमित्त किसका?

स्वर्ग के संयोग में तो सुख नहीं। अज्ञानी राग करके उसमें सुख मानता है, धर्मी जानता है कि ज्ञानानन्दस्वभाव में ही मेरा सुख है, संयोग के ओर की वृत्ति हो, वह भी दुःखदायक है; ऐसे धर्मी जीव को शुद्धात्मा की भावना हटती नहीं और पूर्ण वीतरागता न हो, वहाँ भक्ति इत्यादि का शुभराग भी आता है, परन्तु शुद्धात्मा की भावना के बल से उस राग को छेदकर मोक्षदशा प्रगट करेगा। इस अपेक्षा से राग को उपचार से मोक्ष का परम्परा निमित्त कहा जाता है, परन्तु साक्षात्रूप से तो वह राग मोक्ष को अन्तराय ही करता है—ऐसा अब कहते हैं। ●●

गाथा - १७१

अरहंतसिद्धचेदियपवयणभत्तो परेण णियमेण।
जो कुणदि तवोकम्मं सो सुरलोगं समादियदि।।१७१।।

अर्हत्सिद्धचैत्यप्रवचनभक्तः परेण नियमेन।
यः करोति तपःकर्म स सुरलोकं समादत्ते।।१७१।।

अर्हदादिभक्तिमात्ररागजनितसाक्षान्मोक्षस्यान्तरायद्योतनमेतत् ।

यः खल्वर्हदादिभक्तिविधेयबुद्धिः सन् परमसंयमप्रधानमतितीव्रं तपस्तप्यते, स तावन्मात्ररागकलिकलमि तस्वान्तः साक्षान्मोक्षस्यान्तरायीभूतं विषयविषद्रुमामोदमोहितान्तरङ्गं स्वर्गलोकं समासाद्य, सुचिरं रागाङ्गैरः पच्यमानोऽन्तस्ताम्यतीति ।। १७१ ।।

अरहंत-सिद्ध-जिनवचन सह जिनप्रतिमाओं के भजन को।
संयम सहित तप जो करें वे जीव पाते स्वर्ग को।।१७१।।

अन्वयार्थ :- [यः] जो (जीव), [अर्हत्सिद्धचैत्यप्रवचनभक्तः] अर्हंत, सिद्ध, चैत्य (—अर्हंतादि की प्रतिमा) और प्रवचन (-शास्त्र) के प्रति भक्तियुक्त वर्तता हुआ, [परेण नियमेन] परम संयम सहित [तपःकर्म] तपकर्म (-तपरूप कार्य), [करोति] करता है, [सः] वह [सुरलोकं] देवलोक को [समादत्ते] सम्प्राप्त करता है।

टीका :- यह, मात्र अर्हंतादि की भक्ति जितने राग से उत्पन्न होनेवाला जो साक्षात् मोक्ष का अन्तराय उसका प्रकाशन है।

जो (जीव) वास्तव में अर्हंतादि की भक्ति के आधीन बुद्धिवाला वर्तता हुआ [1]परमसंयमप्रधान अतितीव्र तप तपता है, वह (जीव), मात्र उतने रागरूप क्लेश से जिसका निज अन्तःकरण कलंकित (-मलिन) है; ऐसा वर्तता हुआ, विषयविषवृक्ष के [2]आमोद से जहाँ अन्तरंग (-अन्तःकरण) मोहित होता है ऐसे स्वर्गलोक को— जो कि साक्षात् मोक्ष को अन्तरायभूत है उसे—सम्प्राप्त करके, सुचिरकाल पर्यन्त (-बहुत लम्बे काल तक) रागरूपी अंगारों से दह्यमान हुआ अन्तर में सन्तप्त (-दुःखी, व्यथित) होता है।।१७१।।

---

१. परसंयमप्रधान = जिसमें उत्कृष्ट संयम मुख्य हो ऐसा।
२. आमोद = (१) सुगन्ध; (२) मौज।

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ कृष्ण ६, शुक्रवार

अरिहन्त-सिद्ध-चैत्य तथा प्रवचन इत्यादि के प्रति जिसे भक्ति है, ऐसा जीव शुभराग के कारण स्वर्ग में जाता है। राग रहे, वहाँ तक मोक्षदशा नहीं होती।

पहले गाथा १६६ में कहा था कि अरिहन्त परमात्मा इत्यादि के प्रति भक्ति का राग जिसे वर्तता है, ऐसा जीव पुण्य बाँधता है, परन्तु कर्मक्षय नहीं करता। फिर चैतन्यस्वभाव की दृष्टिवाले को तो राग उपचार से मोक्ष का निमित्त कहलाता है, ऐसा कहा। अब और कहते हैं कि जिसे अरिहन्तदेव के प्रति भक्ति का रागभाव है, वैसा जीव स्वर्ग में जाता है। इससे राग वह मोक्ष में अन्तराय करनेवाला है। ऐसा भान होने पर भी कुन्दकुन्दाचार्य जैसे मुनिवरों को भी तीर्थयात्रा, शास्त्ररचना इत्यादि का शुभराग आता था। छठवें गुणस्थान के समय वैसा विकल्प आये बिना रहता नहीं। धरसेनाचार्य जैसे महामुनि गिरनार के ऊपर रहते थे। उनको भी श्रुतज्ञान के लिये विकल्प उठा कि श्रुतज्ञान की धारा अविच्छिन्न रहा करे। पश्चात् दो मुनियों को बुलाया और मुनि आते थे, तब रात्रि में शुभस्वप्न आया कि 'दो महासुन्दर सफेद बैल अपने चरणों में नमते हैं'— इसके ऊपर से श्रुत का भार वहन कर सके ऐसे दो समर्थ मुनि आ रहे हैं—ऐसा जानकर उनके मुख से ऐसा वचन निकला कि 'जय हो श्रुतदेवता की!' देखो, ऐसा शुभराग छठवें गुणस्थान में मुनियों को भी आता है। परन्तु वह शुभराग मोक्ष का कारण नहीं है। अन्दर में स्वभाव के आश्रय से शुद्ध उपादान प्रगट हुआ, वहाँ उस राग को निमित्त गिनकर उपचार से मोक्ष का परम्पराकारण कहा जाता है, परन्तु राग करते-करते शुद्ध उपादान प्रगट होगा—ऐसा इसका अर्थ नहीं है।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ कृष्ण ७, शनिवार

आत्मा का ज्ञान स्वभाव है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता, वह धर्म है; बीच में पंच परमेष्ठी की भक्ति इत्यादि का जो शुभराग आता है, वह मोक्ष का कारण नहीं; राग

तो बन्ध का ही कारण है। जो पंच परमेष्ठी की भक्ति के राग से धर्म मानता है, वह तो अज्ञानी है। यहाँ तो कहते हैं कि धर्मी जीव को पंच परमेष्ठी की भक्ति इत्यादि का जो भाव आता है, वह भी धर्म नहीं। जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित अन्दर में बहुत स्थिरता प्रगटी है, अन्तर में चैतन्य की बहुत आनन्ददशा प्रगटी है, ऐसे भावलिंगी सन्त को भी पंच परमेष्ठी की भक्ति इत्यादि का जो शुभभाव है, वह मोक्ष का कारण नहीं परन्तु बन्ध का ही कारण है। अन्दर तीन कषाय (चौकड़ी) का अभाव होकर बहुत वीतरागता प्रगट हुई है, वह मोक्ष का कारण है। मुनिदशा में चैतन्य के आनन्द में झूलते हुए पाँच इन्द्रियों का दमन हो गया होता है, इसलिए वे उत्कृष्ट इन्द्रियदमन से शोभायमान हैं; जो राग से धर्म मनवाते हों, देह की क्रिया से धर्म मनवाते हों, उनकी तो व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं है। वे तो मिथ्यादृष्टि हैं। यहाँ तो भावलिंगी सन्त की बात है। भावलिंगी मुनि को भी छठवें गुणस्थान में अरिहन्तदेव इत्यादि की भक्ति का भाव आये बिना नहीं रहता, तथापि उस भक्ति से मुक्ति नहीं होती।

देखो, यहाँ अरिहन्तदेव की भक्ति की बात ली है, तो अरिहन्तदेव कैसे होते हैं, यह प्रथम पहिचानना चाहिए। अरिहन्त वे सर्वज्ञ हैं, सर्वज्ञ की भक्ति उसे ही सच्ची हो सकती है कि जिसे मेरा आत्मा ज्ञानस्वभावी है, ऐसी प्रतीति हुई हो। सर्वज्ञदेव ने सब प्रत्यक्ष देखा है और उसी अनुसार जगत के पदार्थों की क्रमबद्ध अवस्था उसके स्वयं के कारण से होती है। सर्वज्ञ ने देखा वैसा ही होता है, उसमें फेरफार नहीं होता—ऐसा जो न माने, उसे अरिहन्त-सिद्ध की सच्ची भक्ति होती नहीं। जिसे सर्वज्ञ की सच्ची भक्ति हुई हो, वह जीव निमित्त को—राग को और अल्पज्ञता को भी हेय जानता है और अपने ज्ञानस्वभाव में सर्वज्ञ होने की सामर्थ्य भरी है, उसे उपादेय जानता है। जगत के पदार्थों में क्रमबद्ध—नियमबद्ध अवस्थायें होने का स्वभाव है, यदि ऐसा न हो तो केवलज्ञान उन्हें किस प्रकार से जान सके? तीन काल में प्रत्येक समय की पर्याय नियत है, कोई पर्याय आड़ी-टेढ़ी नहीं होती। सर्वज्ञदेव उसे प्रत्यक्ष जानते हैं। उन सर्वज्ञदेव को भी पर्याय में पहले अल्पज्ञता और मिथ्यात्व था, पश्चात् आत्मस्वभाव का भान करके उसके आश्रय से मिथ्यात्व और अल्पज्ञता का अभाव करके सर्वज्ञ हुए। वह सर्वज्ञपना कहाँ से आया? कि स्वभाव में वह शक्ति पड़ी है, उसमें से वह सर्वज्ञदशा प्रगटी है।

जिसे अपने स्वभावसामर्थ्य की प्रतीति बैठी है, उसे अल्पज्ञता में सर्वज्ञता की प्रतीति आयी; अल्पज्ञता के आश्रय से वह प्रतीति नहीं की, परन्तु गुणी ऐसे अपने स्वभाव के आश्रय से सर्वज्ञता की प्रतीति की है। वह प्रतीति करनेवाली पर्याय स्वयं अल्पज्ञ है, परन्तु उसे आश्रय स्वभाव का है। समयसार के परिशिष्ट में आत्मा की सर्वज्ञशक्ति का वर्णन किया है। आत्मा में सर्वज्ञशक्ति त्रिकाल है। वह शक्ति नयी नहीं होती, परन्तु उसकी पर्याय नयी होती है। इतनी प्रतीति करे, तब सर्वज्ञ को मान सकता है और उसे सर्वज्ञ की सच्ची भक्ति होती है, तथापि उसे भी पर की भक्ति का जो राग है, वह तो बन्ध का ही कारण है।

अज्ञानी को तो सर्वज्ञता की प्रतीति भी नहीं आती; त्रिकाली ज्ञान उपादेय है और पर्यायबुद्धि हेय है—ऐसे निर्णय बिना सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं होती और उसे सर्वज्ञ की यथार्थ भक्ति भी नहीं होती। इसलिए यहाँ कहा कि '**यः खलु अर्हदादिभक्तिविधेयबुद्धिः सन्...**' धर्मी को अखण्ड ज्ञानस्वभाव की प्रतीति हुई है; इसलिए उसे सर्वज्ञ की वास्तविक भक्ति है।

सर्वज्ञदेव ने जैसा देखा है, तद्नुसार वस्तु की क्रमबद्धपर्याय होती है—ऐसा जिसने निर्णय किया, उसे ज्ञानस्वभाव का निर्णय हो गया, और उसे ज्ञानस्वभाव का पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहता। ज्ञानस्वभाव के निर्णय में क्रमबद्धपर्याय का निर्णय आ जाता है। जितने त्रिकाल के समय, उतनी द्रव्य की पर्यायें हैं। उसका निश्चय जिसने किया, उसे स्वद्रव्य सन्मुख दृष्टि हुई है और संसार की रुचि टल गयी है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय अन्तर्मुख होने का—ज्ञातापने का पुरुषार्थ ही बतलाता है, कर्तापने का निषेध करता है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया, वहाँ स्वयं ज्ञाता रहा, वह निमित्त को तो पलटाना चाहता नहीं, परन्तु अपनी पर्याय को भी आगे-पीछे करने का कर्तृत्व नहीं मानता। परन्तु वस्तु के ऊपर उसकी दृष्टि जाती है, इसलिए उसमें वस्तुदृष्टि का पुरुषार्थ आ जाता है।

एक बार एक व्यक्ति ने पूछा कि यदि तुम सर्वज्ञ को मानते हो और सर्वज्ञ ने देखा, वैसा ही होगा तो फिर पुरुषार्थ करने का कहाँ रहा? तब उत्तर दिया कि भाई! तू सर्वज्ञ का प्रश्न पूछता है तो तूने सर्वज्ञ का निर्णय किया है? यदि सर्वज्ञ का निर्णय न हो

तो पहले उसका निर्णय करना चाहिए। यदि सर्वज्ञ का निर्णय करे तो उसमें ज्ञानस्वभाव का निर्णय आ जाता है। और ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया, वहाँ ज्ञाताबुद्धि का अपूर्व पुरुषार्थ हुआ, उसे पुरुषार्थ की शंका नहीं रहती। क्रमबद्धपर्याय होती है और मैं उसका ज्ञाता हूँ—ऐसा निर्णय किसने किया? जिसने ऐसा निर्णय किया, उसके ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। देखो, यह सम्यग्दृष्टि की प्रतीति कैसी होती है, उसकी बात है। जिसे क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं, उसे सर्वज्ञ का और आत्मा के स्वभाव का निर्णय नहीं। द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्याय को पाता है, ऐसा निर्णय करने पर सबसे उदास हो गया और अपनी पर्याय द्रव्य में से आती है, इसलिए द्रव्य में बुद्धि घुस गयी। इसलिए द्रव्य के आश्रय से मोक्ष का पुरुषार्थ उसमें आ जाता है। इसके अतिरिक्त पर्याय में फेरफार करने की बुद्धि से तो मिथ्यात्व होगा। तीन काल में जिस समय जो पर्याय होने का वस्तु का स्वभाव है। वही सर्वज्ञ ने देखा है। इसलिए सर्वज्ञ के निर्णय में क्रमबद्धपर्याय का निर्णय आ ही जाता है, और क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता का पुरुषार्थ आ जाता है। जिसे ऐसी श्रद्धा नहीं, वह सर्वज्ञ को, आगम को, वस्तु को और आत्मा को जानता नहीं। क्रमबद्धपर्याय में जैनदर्शन का मर्म है।

बनारसीदासजी कहते हैं कि :—

'यही भांति आतम दरबके अनेक अंग,
एक मानै एककौं न मानै सो कुमति है।
टेक डारि एकमैं अनेक खोजै सो सुबुद्धि,
खोजी जीवै वादी मरैं सांची कहवति है॥' (समयसार नाटक)

आत्मवस्तु में अनेक धर्म है, उसमें ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होने पर एकसाथ पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियति—इन चारों समवाय की अस्तिरूप तथा कर्म की नास्तिरूप परिणमन हो जाता है। ऐसे आत्मा के अनेक धर्मों में से एक को माने और एक को न माने तो मिथ्याज्ञान है, नियत को माने परन्तु पुरुषार्थ को न माने, अथवा पुरुषार्थ को माने परन्तु नियत को न माने तो वह मिथ्याज्ञान है। पाँचों समवाय एक साथ हैं। जो जीव दुराग्रह छोड़कर एक में अनेक को देखता है अथवा स्वभाव-सन्मुख के पुरुषार्थ में एक समय में पाँचों समवाय आ जाते हैं, ऐसा जानता है—वह ज्ञानी है। खोजी जीवे और

वादी मरे अर्थात् संसार में भटके—ऐसी कहावत है, वह यथार्थ है।

देखो, निश्चय से एक समय में पाँचों समवाय है। ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया, उसमें पाँचों समवाय एक समय में समा जाते हैं। परन्तु ऐसी प्रतीति सम्यग्दृष्टि को ही होती है। इस निर्णय में ही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है। सर्वज्ञ की प्रतीति करे, उसे अपने पुरुषार्थ की शंका नहीं रहती।

अहो! सर्वज्ञ पूर्ण ज्ञानी, निरावरण ज्ञानी, अतीन्द्रिय ज्ञानी, उन्हें किसने माना? किसने अपने ज्ञान में स्वीकार किया? जिस ज्ञान ने सर्वज्ञ की प्रतीति की, उस ज्ञान में स्वभाव-सन्मुख का पुरुषार्थ आ गया है। इस प्रकार सर्वज्ञदेव की पहिचान हो, उसे अरिहन्त की सच्ची भक्ति होती है।

भैया भगवतीदासजी ने भी कहा है कि :—

जो जो देख्यो वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।
बीन देख्यो होसी नहिं कबहू, काहे होत अधीरा रे॥ १॥
समयो एक बढै नहिं घट सी, जो सुख दुख की पीरा रे।
तू क्यों सोच करै मन कूडो होय वज्र ज्यों हीरा रे॥ २॥
लगै न तीर कमान बान कहुं, मार सकै नहिं मीरा रे।
तूं सम्हारि पौरुष बल अपनो, सुख अनंत तो तीरा रे॥ ३॥
निश्चय ध्यान धरहुं वा प्रभु को, जो टौरे भव भीरा रे।
'भैया' चेत धरम निज अपनो, जो तारै भव नीरा रे॥ ४॥

भगवान ने देखा है, इसलिए भगवान के ज्ञान के कारण पदार्थ की पर्याय होती है, ऐसा नहीं। पर्याय तो पदार्थ के कारण से ही होती है। वस्तु का स्वभाव ही समय-समय में क्रमबद्धपर्याय हो, ऐसा है। यह निर्णय करके तू तेरे स्वभाव की ओर ढलकर ज्ञाता-दृष्टा हो। शुभाशुभराग आयेगा, उसका भी ज्ञाता रह। पर्याय बदलने जायेगा, वहाँ मिथ्यात्व होगा, परन्तु ज्ञाता-दृष्टा की रुचि करेगा, वहाँ राग घट ही जायेगा। धर्मी को अर्हंत-सिद्ध का केवलज्ञान तो बैठा है। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति भी हुई है, परन्तु अभी स्वभाव में पूर्ण लीनता नहीं होती, तब व्यवहारभक्ति का राग उठता है, मुनिदशा में भी भक्ति तथा तपश्चर्या का विकल्प आता है, वह भी प्रशस्त राग है, वह कलंक है। यहाँ

तो पर्याय का ज्ञान कराकर जैसा है, वैसा समझाते हैं। अन्तरंग परमसंयमरूप अतीन्द्रिय स्वभाव प्रगट हुआ है, तब इन्द्रिय की ओर का झुकाव नहीं होता, वह वास्तविक इन्द्रियदमन है। यहाँ तो निश्चयपूर्वक व्यवहार का ज्ञान कराते हैं।

सम्यग्दर्शन होने पर श्रद्धा अपेक्षा से तो जितेन्द्रियपना प्रगट हुआ है और यहाँ मुनिदशा में तीन कषाय (चौकड़ी) का नाश होने से उत्कृष्ट अतीन्द्रियदशा प्रगट हुई है, और यही स्वरूप की शोभारूप तप है। आहारादि का त्याग, वह तप नहीं, क्योंकि आत्मा को परपदार्थ के ग्रहण-त्याग तो है ही नहीं।

मुनि को भी भक्ति इत्यादि के रागरूप जितने परिणाम होते हैं, उतना क्लेश है, कलंक है। मुनि उसे साक्षात् मोक्ष के अन्तरायरूप मानते हैं।

धरसेनाचार्य जैसे महामुनि को भी श्रुतभक्ति का राग आया था, परन्तु वे उस राग को कलंक जानते थे। गणधरदेव को भी शास्त्ररचना का विकल्प उठता था, उसे वे मोक्ष के अन्तरायरूप जानते थे। इस प्रकार प्रशस्त राग को भी ज्ञानी आदरणीय नहीं मानते थे। राग होने पर भी पहले ऐसी पहिचान करनी चाहिए।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ कृष्ण ८, रविवार

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है। उसकी दृष्टि-ज्ञान और उसमें लीनतारूप वीतरागभाव, वह मोक्ष का कारण है। बीच में राग आता है, वह बन्ध का कारण है। कोई कहे कि 'राग, वह कर्मजन्य है।' और फिर कहे कि—'शुभराग से-व्यवहार से मोक्ष होगा'—तो इसका अर्थ तो यह हुआ कि कर्मजन्य भाव से मोक्ष हुआ! परन्तु यह बात झूठी है। आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव में विकार नहीं—इसलिए उस स्वभाव की दृष्टि से विकार को कर्मजन्य कहा है, परन्तु पर्याय में जीव का अपना अपराध है। वह विकार आत्मा के स्वभाव को मददगार नहीं और विकार, वह मोक्ष का कारण नहीं होता। आत्मा के ज्ञानस्वभाव की रुचि करके उसमें एकाग्र होना, वही जीव का पुरुषार्थ है।

इसके अतिरिक्त बाहर में पर का करने में तो जीव का पुरुषार्थ नहीं, जड़कर्म को टालने में भी जीव का पुरुषार्थ नहीं और वास्तव में राग को भी टालना नहीं पड़ता, परन्तु

स्वभाव का आश्रय किया, वहाँ राग की उत्पत्ति ही नहीं होती। ज्ञानानन्दस्वभाव को पहिचानकर उसकी रुचि करे तो पहले राग और ज्ञान की एकत्वबुद्धि का मिथ्यात्व टलता है, पश्चात् उस स्वभाव में स्थिरता न हो, तब तक राग रहता अवश्य है, परन्तु स्वभाव की दृष्टि में ज्ञानी उसका स्वामी नहीं होता, तथापि कर्म ने विकार कराया ऐसा भी वह नहीं मानता। कर्म ने विकार कराया, ऐसा माने तो वह भी भूल है और विकार को ही अपना स्वरूप मान ले तो वह भी भूल है, स्वभाव में विकार नहीं, परन्तु पर्याय में अपने अपराध से विकार है, आत्मा को विकार के साथ अनित्य तादात्म्य है, ऐसा पहिचानकर स्वभाव के सन्मुख एकाग्र होने से विकारभाव छूट जाता है। परन्तु बीच में पंच परमेष्ठी की भक्ति इत्यादि का भाव रहता है तो उसके फल में स्वर्ग की प्राप्ति होती है; इसलिए राग, वह मोक्ष में अन्तराय करनेवाला है। यह साधक जीव की बात है। केवली हो गये उन्हें तो राग होता ही नहीं और मिथ्यादृष्टि जीव को धर्म का भान नहीं, इसलिए उसे मोक्षमार्ग नहीं। मोक्षमार्ग में बीच में राग आता है, उसकी यह बात है। **धर्मी जीव का पुरुषार्थ स्वभाव में उद्यम करने का है।** राग को छोड़ने का अलग उद्यम नहीं करना पड़ता परन्तु स्वभाव का उद्यम करने से राग की उत्पत्ति ही नहीं होती। स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक मुनिदशा में बहुत स्थिरता होती है, इसलिए वहाँ अध्यात्म का बहुत आनन्द होता है, परन्तु अभी राग रह जाये तो उसके फल में स्वर्ग का भव करना पड़ता है, वहाँ चौथा गुणस्थान हो जाता है। वहाँ आत्मा के स्वभाव का भान होता है। परन्तु विशेष स्थिरता नहीं, इसलिए वहाँ विशेष अध्यात्मरस का अभाव है और इन्द्रिय विषयों की वासना से आकुलता है। देखो, यहाँ पुण्य को भी विषवृक्ष कहते हैं। चिदानन्द आत्मा वह अमृत का वृक्ष है और पुण्य के फल में इन्द्रिय विषय मिले, वे जहर के वृक्ष है। धर्मी जीव को अन्तर के चिदानन्दस्वभाव के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी सुखबुद्धि नहीं है, परन्तु राग के कारण आसक्ति होती है। स्वर्ग में वह जीव स्वयं अपनी पर्याय के अपराध से विषयों में चित्तवृत्ति धारण करता है और वहाँ रागरूपी अंगारों से खेदखिन्न होता है। तथापि वहाँ अन्तर में चिदानन्दस्वभाव का भान पड़ा है। मुनि हो और स्वर्ग में जाये, वहाँ उसे बहुत लम्बा आयुष्य होता है, स्वर्ग में चौथा गुणस्थान होता है, वहाँ जो राग है, वह आत्मा की शान्ति में विघ्न करनेवाला है : एक

सागर का आयुष्य हो तो भी असंख्य वर्ष बीत जाते हैं। देखो, शुभराग के फल में स्वर्ग मिला, वहाँ भी विषय के प्रति राग अग्नि समान हैं। मुनिदशा में व्यवहाररत्नत्रय का राग हो, वह भी क्लेश है और उस व्यवहार के फल में स्वर्ग का संयोग हुआ, वहाँ भी राग से खेदखिन्न होता है। अहो! चिदानन्दस्वरूप ही शान्ति का धाम है, उसमें जितनी स्थिरता, उतनी शान्ति है। आत्मा स्वभावरूप परिणमो या विभावरूप परिणमो, परन्तु परद्रव्य का तो कुछ भी ग्रहण या त्याग वह कर सकता ही नहीं, ऐसा ही उसका स्वभाव है। आत्मा विकार करके जड़कर्म को ग्रहे या आत्मा शुद्धता करके जड़कर्म को छोड़े— ऐसा उसका स्वभाव नहीं। आत्मा विकार करे, परन्तु जड़कर्म को ग्रहण नहीं कर सकता। और स्वयं स्वभाव के आधीन परिणमने से शुद्धता को करे, परन्तु जड़कर्म को वह छोड़ नहीं सकता। जड़कर्म तो स्वयं उसके कारण से छूट जाते हैं। अरे! ज्ञानस्वभाव में परमार्थ से विकार का भी ग्रहण-त्याग नहीं है। ज्ञानस्वभाव को दृष्टि में लेकर उसमें एकाग्र हुआ, वहाँ विकार की उत्पत्ति ही नहीं होती, वहाँ 'आत्मा ने विकार छोड़ा' ऐसा कहा जाता है। ध्रुवस्वभाव का आश्रय, उतनी शान्ति है और पराश्रय से जितना रागभाव होता है, वह क्लेश का कारण है, राग वह आत्मा की शान्ति का कारण नहीं है। ●●

सिद्ध का साधर्मी या सिद्ध का मित्र कैसा?

मानो सिद्धभगवन्त और सन्त कहते हैं कि 'हे जीव! तू हमारा मित्र हो! हम चैतन्य स्वभाव के कारण एक जाति के हैं। राग की जाति, हमारी जाति नहीं है; इसीलिए राग से मित्रता छोड़ और हमसे मित्रता कर। शुद्धता को प्राप्त शुद्धात्मा की मित्रता करने से तू भी उस जैसा शुद्ध होगा।'

अहो! जब सिद्धभगवन्त और सन्त हमें मित्र कहकर बुलावें तो ऐसे सिद्धों की मित्रता किसे नहीं रुचेगी? ऐसे सन्तों की मित्रता किसे नहीं रुचेगी? - 'वाह! हे सिद्धभगवन्तों! हे सन्तों!! आपके जैसे उत्तम साधर्मी मित्र को पाकर मैं निहाल हुआ, प्रसन्न हुआ। प्रभो! आपने मुझे साधर्मी और मित्र कहकर बुलाया तो मैं भी आपका साधर्मी होकर, आपके जैसा होकर आपके पास आ रहा हूँ।'

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आत्मधर्म (गुजराती), अङ्क ३०३, पृष्ठ १

गाथा - १७२

तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदु मा किंचि।
सो तेण वीदरागो भविओ भवसायरं तरदि।।१७२।।

तस्मान्निर्वृत्तिकामो रागं सर्वत्र करोतु मा किञ्चित्।
स तेन वीतरागो भव्यो भवसागरं तरति।।१७२।।

साक्षान्मोक्षमार्गसारसूचनद्वारेण शास्त्रतात्पर्योपसंहारोऽयम् ।

साक्षान्मोक्षमार्गपुरस्सरो हि वीतरागत्वम् । ततः खल्वर्हदादिगतमपि रागं चन्दननगसङ्गतमग्निमिव सुरलोकादिक्लेशप्राप्त्याऽत्यन्तहमन्तर्दाहाय कल्पमानमाकलय्य साक्षान्मोक्षकामो महाजनः समस्तविषयमपि रागमुत्सृज्यात्यन्तवीतरागो भूत्वा समुच्छलज्जवलद्दुःखसौख्य-कल्लोलं कर्माग्नितप्तकलकलोदभारप्राग्भारभयमरं भवसागरमुत्तीर्य, शुद्धस्वरूपपरमामृतसमुद्र-मध्यास्य सद्यो निर्वाति ।।

अलं विस्तरेण । स्वस्ति साक्षान्मोक्षमार्गसारत्वेन शास्त्रतात्पर्यभूताय वीतरागत्वायेति । द्विविधं किल तात्पर्यम्-सूत्रतात्पर्यं शास्त्रतात्पर्यञ्चेति । तत्र सूत्रतात्पर्यं प्रतिसूत्रमेव प्रतिपादितम् । शास्त्रतात्पर्यं त्विदं प्रतिपाद्यते । अस्य खलु पारमेश्वरस्य शास्त्रस्य, सकलपुरुषार्थसारभूतमोक्ष-तत्त्वप्रतिपत्तिहेतोः पञ्चास्तिकायषड्द्रव्यस्वरूपप्रतिपादनेनोपदर्शितसमस्तवस्तुस्वभावस्य, नवपदार्थप्रपञ्चसूचनाविष्कृतबन्धमोक्षसम्बन्धिबन्धमोक्षायतन-बन्धमोक्षविकल्पस्य, सम्यगावेदित-निश्चयव्यवहाररूपमोक्षमार्गस्य, साक्षान्मोक्षकारणभूत-परमवीतरागत्वविश्रान्तसमस्तहृदयस्य, परमार्थतो वीतरागत्वमेव तात्पर्यमिति । तदिदं वीतरागत्वं व्यवहारनिश्चयाविरोधेनैवानुगम्यमानं भवति समीहितसिद्धये, न पुनरन्यथा । व्यवहारनयेन भिन्नसाध्यसाधनभावमवलम्ब्यानादिभेद-वासितबुद्धयः सुखेनैवावतरन्ति तीर्थं प्राथमिकाः । तथाहि-इदं श्रद्धयेमिदमश्रद्धेयमयं श्रद्धातेदं श्रद्धानमिदं ज्ञेयमिदमज्ञेयमयं ज्ञातेदं ज्ञानमिदं चरणीयमिदमचरणीयमयं चरितेदं चरणमिति कर्तव्या-कर्तव्यकर्तृकर्मविभागावलोकनोल्लसितपेशलोत्साहाः शनैःशनैर्मोहमल्लमुन्मूलयन्तः, कदाचिद-ज्ञानान्मदप्रमादतन्त्रतया शिथिलितात्माधिकारस्यात्मनो न्यायपथप्रवर्तनाय प्रयुक्तप्रचण्ड-दण्डनीतयः, पुनः पुनः दोषानुसारेण दत्तप्रायश्चित्ताः सन्ततोद्यताः सन्तोऽथ तस्यैवात्मनो भिन्नविषयश्रद्धान-ज्ञानचारित्रैरधिरोप्यमाणसंस्कारस्य भिन्नसाध्यसाधनभावस्य रजकशिलातलस्फाल्यमान-विमलसलिलाप्लुतविहितोषपरिष्वङ्गमलिनवासस इव मनाङ्मनाग्विशुद्धिमधिगम्य निश्चयनयस्य भिन्न-साध्यसाधनभावाभावाद्दर्शनज्ञानचारित्रसमाहितत्वरूपे विश्रान्तसकलक्रिया-काण्डाडम्बर-निस्तरङ्गपरमचैतन्यशालिनि निर्भरानन्दमालिनि भगवत्यात्मनि विश्रान्तिमासूत्रयन्तः क्रमेण

समुपजातसमरसीभावाः परमवीतरागभावमधिगम्य, साक्षान्मोक्षमनुभवन्तीति ।

अथ ये तु केवलव्यवहारावलम्बिनस्ते खलु भिन्नसाध्यसाधनभावावलोकनेनाऽनवरतं नितरां खिद्यमाना मुहुर्मुहुर्धर्मादिश्रद्धानरूपाध्यवसायानुस्यूतचेतसः, प्रभूतश्रुतसंस्काराधिरोपितविचित्र-विकल्पजालकल्माषितचैतन्यवृत्तयः, समस्तयतिवृत्तसमुदायरूपतपःप्रवृत्तिरूप-कर्मकाण्डोड्डमराचलिताः, कदाचित्किञ्चिद्रोचमानाः, कदाचित्किञ्चिद्विकल्पयन्तः, कदाचित्किञ्चिदाचरन्तः; दर्शनाचरणाय कदाचित्प्रशाम्यन्तः, कदाचित्संविजमानाः, कदाचिदनुकम्पमानाः, कदाचिदास्तिक्यमुद्वहन्तः, शमकाङ्क्षाविचिकित्सामूढदृष्टितानां व्युत्थापननिरोधाय नित्यबद्धपरिकराः, उपबृंहणस्थितिकरणवात्सल्यप्रभावनां भावयमाना वारंवारमभिवर्धितोत्साहा; ज्ञानाचरणाय स्वाध्यायकालमवलोकयन्तो, बहुधा विनयं प्रपञ्चयन्तः, प्रविहितदुर्धरोपधानाः, सुष्ठु बहुमानमातन्वन्तो, निह्नवापत्तिं नितरां निवारयन्तोऽर्थव्यञ्जनतदुभयशुद्धौ नितान्तसावधानाः, चारित्राचरणाय हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहसमस्तविरतिरूपेषु पञ्चमहाव्रतेषु तन्निष्ठवृत्तयः, सम्यग्योगनिग्रहलक्षणासु गुप्तिषु नितान्तं गृहीतोद्योगा, ईर्याभाषेषणादाननिक्षेपोत्सर्गरूपासु समितिष्वत्यन्तनिवेशितप्रयत्नाः; तपआचरणायानशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्याग-विविक्तशय्यासनकायक्लेशेष्वभीक्ष्णमुत्सहमानाः, प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यव्युत्सर्गस्वाध्याय-ध्यानपरिकराङ्कुशितस्वान्ता; वीर्याचरणाय कर्मकाण्डे सर्वशक्त्या व्याप्रियमाणाः; कर्मचेतना-प्रधानत्वाद्दूरनिवारिताऽशुभकर्मप्रवृत्तयोऽपि समुपात्तशुभकर्मप्रवृत्तयः, सकलक्रियाकाण्डा-डम्बरोत्तीर्णदर्शनज्ञानचारित्रैक्यपरिणतिरूपां ज्ञानचेतनां मनागप्यसम्भावयन्तः, प्रभूतपुण्य-भारमन्थरितचित्तवृत्तयः, सुरलोकादिक्लेशप्राप्तिपरम्परया सुचिरं संसारसागरे भ्रमन्तीति । उक्तञ्च-
''चरणकरणप्पहाणा ससमयपरमत्थमुक्कवावारा । चरणकरणस्स सारं णिच्छयसुद्धं ण जाणंति।।''

येऽत्र केवलनिश्चयावलम्बिनः सकलक्रियाकर्मकाण्डाडम्बरविरक्तबुद्धयोऽर्धमीलित-विलोचनपुटाः किमपि स्वबुद्ध्यावलोक्य यथासुखमासते, ते खल्ववधीरितभिन्नसाध्य-साधनभावा अभिन्नसाध्यसाधनभावमलभमाना अन्तराल एव प्रमादकादम्बरीमदभराल-सचेतसो मत्ता इव, मूर्च्छिता इव, सुषुप्ता इव, प्रभूतघृतसितोपलपायसासादितसौहित्या इव, समुल्बणबलसञ्जनितजाड्या इव, दारुणमनोभ्रंशविहितमोहा इव, मुद्रितविशिष्टचैतन्या वनस्पतय इव, मौनीन्द्रीं कर्मचेतनां पुण्यबन्धभयेनानवलम्बमाना अनासादितपरमनैष्कर्म्यरूप-ज्ञानचेतनाविश्रान्तयो व्यक्ताव्यक्तप्रमादतन्त्रा अरमागतकर्मफलचेतनाप्रधानप्रवृत्तयो वनस्पतय इव केवलं पापमेव बध्नन्ति । उक्तञ्च-''णिच्छयमालंबंता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणंता । णासंति चरणकरणं बाहरि-चरणालसा केई ।।''

ये तु पुनरपुनर्भवाय नित्यविहितोद्योगमहाभागा भगवन्तो निश्चयव्यवहारयोरन्यतरानव-लम्बनेनात्यन्तमध्यस्थीभूताः शुद्धचैतन्यरूपात्मतत्त्वविश्रान्तिविरचनोन्मुखाः प्रमादोदयानु-

वृत्तिनिवर्तिकां क्रियाकाण्डपरिणतिं माहात्म्यान्निवारयन्तोऽत्यन्तमुदासीना यथाशक्त्याऽऽत्मानमात्मनाऽऽत्मनि सञ्चेतयमाना नित्योपयुक्ता निवसन्ति, ते खलु स्वतत्त्वविश्रान्त्यनुसारेण क्रमेण कर्माणि सन्न्यसन्तोऽत्यन्तनिष्प्रमादा नितान्तनिष्कम्पमूर्तयो वनस्पतिभिरुपमीयमाना अपि दूरनिरस्तकर्मफलानुभूतयः कर्मानुभूतिनिरुत्सुकाः केवलज्ञानानुभूतिसमुपजाततात्त्विकानन्दनिर्भरतरास्तरसा संसारसमुद्रमुत्तीर्य शब्दब्रह्मफलस्य शाश्वतस्य भोक्तारो भवन्तीति।।१७२।।

यदि मुक्ति का है लक्ष्य तो फिर राग किंचित् ना करो।
वीतरागी बन सदा को भवजलधि से पार हो।।१७२।।

अन्वयार्थ :- [तस्मात्] इसलिए, [निर्वृत्तिकामः] मोक्षाभिलाषी, जीव [सर्वत्र] सर्वत्र [किञ्चित् रागं] किंचित् भी राग, [मा करोतु] न करो; [तेन] ऐसा करने से [सः भव्यः] वह भव्य जीव [वीतरागः] वीतराग होकर [भवसागरं तरति] भवसागर को तरता है।

टीका :- यह, साक्षात्मोक्षमार्ग के सार-सूचन द्वारा शास्त्रतात्पर्यरूप उपसंहार है (अर्थात् यहाँ साक्षात्मोक्षमार्ग का सार क्या है, उसके कथन द्वारा शास्त्र का तात्पर्य कहनेरूप उपसंहार किया है।)

साक्षात्मोक्षमार्ग में अग्रसर सचमुच वीतरागता है। इसलिए वास्तव में [१]अर्हंतादिगत राग को भी, चन्दनवृक्षसंगत अग्नि की भाँति, देवलोकादि के क्लेश की प्राप्ति द्वारा अत्यन्त अन्तर्दाह का कारण समझकर, साक्षात् मोक्ष का अभिलाषी महाजन सभी की ओर से राग को छोड़कर, अत्यन्त वीतराग होकर, जिसमें उबलती हुई दुःख-सुख की कल्लोलें उछलती हैं और जो कर्माग्नि द्वारा तप्त, खलबलाते हुए जलसमूह की अतिशयता से भयंकर है, ऐसे भवसागर को पार उतरकर, शुद्धस्वरूप परमामृतसमुद्र को अवगाह कर, शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करता है।

— विस्तार से बस हो। जयवन्त वर्ते वीतरागता जो कि साक्षात्मोक्षमार्ग का सार होने से शास्त्रतात्पर्यभूत है।

१. अर्हंतादिगत राग = अर्हंतादि की ओर का राग; अर्हंतादिविषयक राग; अर्हंतादि का राग।[जिस प्रकार चन्दनवृक्ष की अग्नि भी उग्ररूप से जलाती है, उसी प्रकार अर्हंतादि का राग भी देवलोकादि के क्लेश की प्राप्ति द्वारा अत्यन्त अन्तरंग जलन का कारण होता है।]

तात्पर्य द्विविध होता है : [१]सूत्रतात्पर्य और शास्त्रतात्पर्य। उसमें, सूत्रतात्पर्य प्रत्येक सूत्र में (प्रत्येक गाथा में) प्रतिपादित किया गया है; शास्त्रतात्पर्य अब प्रतिपादित किया जाता है :—

सर्व [२]पुरुषार्थों में सारभूत ऐसे मोक्षतत्त्व का प्रतिपादन करने के लिये जिसमें पंचास्तिकाय और षड्द्रव्य के स्वरूप के प्रतिपादन द्वारा समस्त वस्तु का स्वभाव दर्शाया गया है, नव पदार्थों के विस्तृत कथन द्वारा जिसमें बन्ध-मोक्ष के सम्बन्धी (स्वामी), बन्ध-मोक्ष के आयतन (स्थान) और बन्ध-मोक्ष के विकल्प (भेद) प्रगट किए गए हैं, निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग का जिसमें सम्यक् निरूपण किया गया है तथा साक्षात् मोक्ष के कारणभूत परमवीतरागपने में जिसका समस्त हृदय स्थित है—ऐसे इस यथार्थ [३]पारमेश्वर शास्त्र का, परमार्थ से वीतरागपना ही तात्पर्य है।

सो इस वीतरागपने का व्यवहार-निश्चय के [४]अविरोध द्वारा ही अनुसरण किया जाए तो इष्टसिद्धि होती है, परन्तु अन्यथा नहीं (अर्थात् व्यवहार और निश्चय की सुसंगतता रहे इस प्रकार वीतरागपने का अनुसरण किया जाए तभी इच्छित की सिद्धि होती है, अन्य प्रकार से नहीं होती)।

(उपरोक्त बात विशेष समझाई जाती है:—)

अनादि काल से भेदवासित बुद्धि होने के कारण प्राथमिक जीव व्यवहारनय

---

१. प्रत्येक गाथासूत्र का तात्पर्य, सो सूत्रतात्पर्य है और सम्पूर्ण शास्त्र का तात्पर्य, सो शास्त्रतात्पर्य है।

२. पुरुषार्थ=पुरुष-अर्थ; पुरुष-प्रयोजन। [पुरुषार्थ के चार विभाग किए जाते हैं : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; परन्तु सर्व पुरुष-अर्थों में मोक्ष ही सारभूत (तात्त्विक) पुरुष-अर्थ है।]

३. पारमेश्वर=परमेश्वर के; जिनभगवान के; भागवत; दैवी; पवित्र।

४. छठवें गुणस्थान में मुनियोग्य शुद्धपरिणति निरन्तर होना तथा महाव्रतादिसम्बन्धी शुभभावों का यथायोग्यरूप से होना, वह निश्चयव्यवहार के अविरोध का (सुमेल का) उदाहरण है। पाँचवें गुणस्थान में उस गुणस्थान के योग्य शुद्धपरिणति निरन्तर होना तथा देशव्रतादिसम्बन्धी शुभभावों का यथायोग्यरूप से होना, वह भी निश्चय-व्यवहार के अविरोध का उदाहरण है।

से [१]भिन्नसाध्यसाधनभाव का अवलम्बन लेकर [२]सुख से तीर्थ का प्रारम्भ करते हैं (अर्थात् सुगमता से मोक्षमार्ग की प्रारम्भभूमिका का सेवन करते हैं)। जैसे कि— '(१) यह श्रद्धेय (श्रद्धा करनेयोग्य) है, (२) यह अश्रद्धेय है, (३) यह श्रद्धा करनेवाला है और (४) यह श्रद्धान है; (१) यह ज्ञेय (जाननेयोग्य) है, (२) यह अज्ञेय है, (३) यह ज्ञाता है और (४) यह ज्ञान है; (१) यह आचरणीय (आचरण करनेयोग्य) है, (२) यह अनाचरणीय है, (३) यह आचरण करनेवाला है और (४) यह आचरण है;'—इस प्रकार (१) कर्तव्य (करनेयोग्य), (२) अकर्तव्य, (३) कर्ता और (४) कर्मरूप विभागों के अवलोकन द्वारा जिन्हें कोमल उत्साह उल्लसित होता है ऐसे वे (प्राथमिक जीव) धीरे-धीरे मोहमल्ल को (रागादि को) उखाड़ते जाते हैं; कदाचित् अज्ञान के कारण (-स्वसंवेदनज्ञान के अभाव के कारण) मद (कषाय) और प्रमाद के वश होने से अपना आत्म-अधिकार (आत्मा में अधिकार) शिथिल हो जाने पर अपने को न्यायमार्ग में प्रवर्तित करने के लिए वे प्रचण्ड दण्डनीति का प्रयोग करते हैं; पुनः पुनः (अपने आत्मा को) दोषानुसार प्रायश्चित्त देते हुए वे सतत उद्यमवन्त वर्तते हैं; और [३]भिन्नविषयवाले श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र के द्वारा (-आत्मा से

---

१. मोक्षमार्ग प्राप्त ज्ञानी जीवों को प्राथमिक भूमिका में, साध्य तो परिपूर्ण शुद्धतारूप से परिणत आत्मा है और उसका साधन व्यवहारनय से (आंशिक शुद्धि के साथ-साथ रहनेवाले) भेदरत्नत्रयरूप परावलम्बी विकल्प कहे जाते हैं। इस प्रकार उन जीवों को व्यवहारनय से साध्य और साधन भिन्न प्रकार के कहे गए हैं।(निश्चयनय से साध्य और साधन अभिन्न होते हैं।)

२. सुख से=सुगमता से, सहजरूप से, कठिनाई बिना।[जिन्होंने द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत शुद्धात्मस्वरूप के श्रद्धानादि किए हैं, ऐसे सम्यग्ज्ञानी जीवों को तीर्थसेवन की प्राथमिक दशा में (मोक्षमार्गसेवन की प्रारम्भिक भूमिका में) आंशिक शुद्धि के साथ-साथ श्रद्धानज्ञानचारित्र सम्बन्धी परावलम्बी विकल्प (भेदरत्नत्रय) होते हैं, क्योंकि अनादि काल से जीवों को जो भेदवासना से वासित परिणति चली आ रही है, उसका तुरन्त ही सर्वथा नाश होना कठिन है]।

३. व्यवहार-श्रद्धानज्ञानचारित्र के विषय आत्मा से भिन्न है; क्योंकि व्यवहारश्रद्धान का विषय नव पदार्थ हैं, व्यवहारज्ञान का विषय अंग-पूर्व हैं और व्यवहारचारित्र का विषय आचारादिसूत्रकथित मुनि-आचार हैं।

भिन्न जिसके विषय हैं ऐसे भेदरत्नत्रय द्वारा) जिसमें संस्कार आरोपित होते जाते हैं ऐसे भिन्नसाध्यसाधनभाववाले अपने आत्मा में—धोबी द्वारा शिला की सतह पर पछाड़े जानेवाले, निर्मल जल द्वारा भिगोए जानेवाले और क्षार (साबुन) लगाए जानेवाले मलिन वस्त्र की भाँति—थोड़ी-थोड़ी [१]विशुद्धि प्राप्त करके, उसी अपने आत्मा को निश्चयनय से भिन्नसाध्यसाधनभाव के अभाव के कारण, दर्शनज्ञानचारित्र का समाहितपना (अभेदपना) जिसका रूप है, सकल क्रियाकाण्ड के आडम्बर की निवृत्ति के कारण (-अभाव के कारण) जो निस्तरंग परमचैतन्यशाली है तथा जो निर्भर आनन्द से समृद्ध है, ऐसे भगवान आत्मा में विश्रान्ति रचते हुए (अर्थात् दर्शनज्ञान-चारित्र के ऐक्यस्वरूप, निर्विकल्प परमचैतन्यशाली तथा भरपूर-आनन्दयुक्त ऐसे भगवान आत्मा में अपने को स्थिर करते हुए), क्रमशः समरसीभाव समुत्पन्न होता जाता है, इसलिए परम वीतरागभाग को भाव को प्राप्त करके साक्षात् मोक्ष का अनुभव करते हैं।

[अब केवलीव्यवहारावलम्बी (अज्ञानी) जीवों का प्रवर्तन और उसका फल कहा जाता है :—]

परन्तु जो केवलव्यवहारावलम्बी (मात्र व्यवहार का अवलम्बन करनेवाले) हैं, वे वास्तव में [१]भिन्नसाध्यसाधनभाव के अवलोकन द्वारा निरन्तर अत्यन्त खेद पाते

---

१. जिस प्रकार धोबी पाषाणशिला, पानी और साबुन द्वारा मलिन वस्त्र की शुद्धि करता जाता है, उसी प्रकार प्राक्पदवीस्थित ज्ञानी जीव भेदरत्नत्रय द्वारा अपने आत्मा में संस्कार को आरोपण करके उसकी थोड़ी-थोड़ी शुद्धि करता जाता है, ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है। परमार्थ ऐसा है कि उस भेदरत्नत्रयवाले ज्ञानी जीव को शुभभावों के साथ जो शुद्धात्मस्वरूप का आंशिक आलम्बन वर्तता है, वही उग्र होते-होते विशेष शुद्धि करता जाता है। इसलिए वास्तव में तो, शुद्धात्मस्वरूप का आलम्बन करना ही शुद्धि प्रगट करने का साधन है और उस आलम्बन की उग्रता करना ही शुद्धि की वृद्धि करने का साधन है। साथ रहे हुए शुभभावों को शुद्धि की वृद्धि का साधन कहना, वह तो मात्र उपचार कथन है। शुद्धि की वृद्धि के उपचरितसाधनपने का आरोप भी उसी जीव के शुभभावों में आ सकता है कि जिस जीव ने शुद्धि की वृद्धि का यथार्थ साधन (—शुद्धात्मस्वरूप का यथोचित आलम्बन) प्रगट किया हो।

१. वास्तव में साध्य और साधन अभिन्न होते हैं। जहाँ साध्य और साधन भिन्न कहे जायें वहाँ

हुए, (१) पुनःपुनः धर्मादि के श्रद्धानरूप अध्यवासन में उनका चित्त लगता रहने से, (२) बहुत श्रुत के (द्रव्यश्रुत के) संस्कारों से उठनेवाले विचित्र (अनेक प्रकार के) विकल्पों के जाल द्वारा उनकी चैतन्यवृत्ति चित्त-विचित्र होती है, इसलिए और (३) समस्त यति-आचार के समुदायरूप तप में प्रवर्तनरूप कर्मकाण्ड की धमाल में वे अचलित रहते हैं इसलिए, (१) कभी किसी को (किसी विषय की) रुचि करते हैं, (२) कभी किसी के (किसी विषय के) विकल्प करते हैं और (३) कभी कुछ आचरण करते हैं; दर्शनाचरण के लिए—वे कदाचित् प्रशमित होते हैं, कदाचित् संवेग को प्राप्त होते हैं, कदाचित् अनुकम्पित होते हैं, कदाचित् आस्तिक्य को धारण करते हैं, शंका, कांक्षा, विचिकित्सा और मूढ़दृष्टिता के उत्थान को रोकने के लिये नित्य कटिबद्ध रहते हैं, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना को भाते हुए बारम्बार उत्साह को बढ़ाते हैं; ज्ञानाचरण के लिये—स्वाध्यायकाल का अवलोकन करते हैं, बहु प्रकार से विनय का विस्तार करते हैं, दुर्धर उपधान करते हैं, भलीभाँति बहुमान को प्रसारित करते हैं, निह्नवदोष को अत्यन्त निवारते हैं, अर्थ, व्यंजन और [१]तदुभय की शुद्धि में अत्यन्त सावधान रहते हैं; चारित्राचरण के लिये—हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह की सर्वविरतिरूप पंच महाव्रतों में तल्लीन वृत्तिवाले रहते हैं, सम्यक् योगनिग्रह जिनका लक्षण है (-योग का बराबर निरोध करना, जिनका लक्षण है), ऐसी गुप्तियों में अत्यन्त उद्योग रखते हैं; ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्गरूप समितियों में प्रयत्न को अत्यन्त जोड़ते हैं; तपाचरण के लिये—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश में सतत् उत्साहित रहते हैं, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, व्युत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यानरूप [२]परिकर द्वारा निज अन्तःकरण को अंकुशित रखते हैं; वीर्याचरण के लिये—

'यह सत्यार्थ निरूपण नहीं है किन्तु व्यवहारनय द्वारा उपचरित निरूपण किया है'—ऐसा समझना चाहिए। केवलव्यवहारावलम्बी जीव इस बात की गहराई से श्रद्धा न करते हुए अर्थात् 'वास्तव में शुभभावरूप साधन से ही शुद्धभावरूप साध्य प्राप्त होगा' ऐसी श्रद्धा का गहराई में सेवन करते हुए निरन्तर अत्यन्त खेद प्राप्त करते हैं।

१. तदुभय=उन दोनों (अर्थात् अर्थ तथा व्यंजन दोनों)

२. परिकर=समूह; सामग्री।

कर्मकाण्ड में सर्व शक्ति द्वारा [१]व्यापृत रहते हैं; ऐसा करते हुए कर्मचेतनाप्रधानपने के कारण—यद्यपि अशुभकर्मप्रवृत्ति का उन्होंने अत्यन्त निवारण किया है तथापि—शुभकर्मप्रवृत्ति को जिन्होंने बराबर ग्रहण किया है ऐसे वे, सकल क्रियाकाण्ड के आडम्बर से पार उतरी हुई दर्शनज्ञानचारित्र की ऐक्यपरिणतिरूप ज्ञानचेतना को किंचित् भी उत्पन्न न करते हुए, बहुत पुण्य के भार से [२]मंथर हुई चित्तवृत्तिवाले वर्तते हुए, देवलोकादि के क्लेश की प्राप्ति की परम्परा द्वारा अत्यन्त दीर्घ काल तक संसारसागर में भ्रमण करते हैं। कहा भी है कि—[३]चरणकरणप्पहाणा ससमयपरमत्थमुक्कावावारा। चरणकरणस्स सारं णिच्छयसुद्धं ण जाणंति॥ [अर्थात् तो चरणपरिणामप्रधान हैं और स्वसमयरूप परमार्थ में व्यापाररहित हैं, वे चरणपरिणाम का सार जो निश्चयशुद्ध (आत्मा) उसे नहीं जानते।][४]

---

१. व्यापृत=रुके; गुँथे; लगे; मशगूल; मग्न।

२. मंथर=मन्द; जड़; सुस्त।

३. इस गाथा की संस्कृत छाया इस प्रकार है:—चरणकरणप्रधानाः स्वसमयपरमार्थमुक्त-व्यापाराः। चरणकरणस्य सारं निश्चयशुद्धं न जानन्ति॥

४. श्री जयसेनाचार्यदेवकृत तात्पर्यवृत्ति-टीका में व्यवहार-एकान्त का निम्नानुसार स्पष्टीकरण किया गया है :—

जो कोई जीव विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाववाले शुद्धात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप निश्चयमोक्षमार्ग से निरपेक्ष केवलशुभानुष्ठानरूप व्यवहारनय को ही मोक्षमार्ग मानते हैं, वे उसके द्वारा देवलोकादि के क्लेश की परम्परा प्राप्त करते हुए संसार में परिभ्रमण करते हैं; किन्तु यदि शुद्धात्मानुभूतिलक्षण निश्चयमोक्षमार्ग को माने और निश्चयमोक्षमार्ग का अनुष्ठान करने की शक्ति के अभाव के कारण निश्चयसाधक शुभानुष्ठान करें, तो वे सराग सम्यग्दृष्टि हैं और परम्परा मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार व्यवहार-एकान्त के निराकरण की मुख्यता से दो वाक्य कहे गये।

[यहाँ जो 'सराग सम्यग्दृष्टि' जीव कहे, उन जीवों को सम्यग्दर्शन तो यथार्थ ही प्रगट हुआ है परन्तु चारित्र-अपेक्षा से उन्हें मुख्यतः राग का अस्तित्व होने से 'सराग सम्यग्दृष्टि' कहा है, ऐसा समझना। और उन्हें जो शुभ अनुष्ठान है, वह मात्र उपचार से ही 'निश्चयसाधक (-निश्चय के साधनभूत)' कहा गया है, ऐसा समझना।]

[अब केवलनिश्चयावलम्बी (अज्ञानी) जीवों का प्रवर्तन और उसका फल कहा जाता है:—]

अब, जो केवलनिश्चयावलम्बी हैं, सकल क्रियाकर्मकाण्ड के आडम्बर में विरक्त बुद्धिवाले वर्तते हुए, आँखों को अधमुँदा रखकर कुछ भी स्वबुद्धि से अवलोक कर [१]यथासुख रहते हैं (अर्थात् स्वमतिकल्पना से कुछ भी भास की कल्पना करके इच्छानुसार—जैसे सुख उत्पन्न हो वैसे-रहते हैं।), वे वास्तव में [२]भिन्नसाध्यसाधनभाव को तिरस्कारते हुए, अभिन्नसाध्यसाधनभाव को उपलब्ध न करते हुए, अन्तराल में ही (-शुभ तथा शुद्ध के अतिरिक्त शेष तीसरी अशुभदशा में ही), प्रमादमदिरा के मद से भरे हुए आलसी चित्तवाले वर्तते हुए, मत्त (उन्मत्त) जैसे, मूर्च्छित जैसे, सुषुप्त जैसे, बहुत घी-शक्कर खीर खाकर तृप्ति को प्राप्त हुए (-तृप्त हुए) हों ऐसे, मोटे शरीर के कारण जड़ता (-मन्दता, निष्क्रियता) उत्पन्न हुई हो ऐसे, दारुण बुद्धिभ्रंश से मूढ़ता हो गई हो ऐसे, जिसका विशिष्टचैतन्य मुँद गया है, ऐसी वनस्पति जैसे, मुनीन्द्र की कर्मचेतना को [३]पुण्यबन्ध के भय से न अवलम्बते हुए और परम नैष्कर्म्यरूप ज्ञानचेतना

---

१. यथासुख=इच्छानुसार; जैसे सुख उत्पन्न हो वैसे; यथेच्छरूप से।[जिन्हें द्रव्यार्थिकनय के (निश्चयनय के) विषयभूत शुद्धात्मद्रव्य का सम्यक् श्रद्धान या अनुभव नहीं है तथा उसके लिए उत्सुकता या प्रयत्न नहीं है, ऐसा होने पर भी जो निज कल्पना से अपने में किंचित् भास होने की कल्पना करके निश्चिंतरूप से स्वच्छन्दपूर्वक वर्तते हैं। 'ज्ञानी मोक्षमार्गी जीवों को प्राथमिक दशा में आंशिक शुद्धि के साथ-साथ भूमिकानुसार शुभभाव भी होते हैं'-इस बात की श्रद्धा नहीं करते, उन्हें यहाँ केवलनिश्चयावलम्बी कहा है।]

२. मोक्षमार्गी ज्ञानी जीवों को सविकल्प प्राथमिक दशा में (छठवें गुणस्थान तक) व्यवहारनय की अपेक्षा से भूमिकानुसार भिन्नसाध्यसाधनभाव होते हैं अर्थात् भूमिकानुसार नव पदार्थों सम्बन्धी, अंगपूर्व सम्बन्धी और श्रावक-मुनि के आचार सम्बन्धी शुभभाव होते हैं।—यह बात केवलनिश्चयावलम्बी जीव नहीं मानता अर्थात् (आंशिक शुद्धि के साथ की) शुभभाववाली प्राथमिक दशा को वे नहीं श्रद्धते और स्वयं अशुभ भावों में वर्तते होने पर भी अपने में उच्च शुद्ध दशा की कल्पना करते स्वच्छन्दी रहते हैं।

३. केवलनिश्चयावलम्बी जीव पुण्यबन्ध के भय से डरकर मन्दकषायरूप शुभभाव नहीं

में विश्रान्ति को प्राप्त नहीं होते हुए, (मात्र) व्यक्त-अव्यक्त प्रमाद के आधीन वर्तते हुए, प्राप्त हुए हलके (निकृष्ट) कर्मफल की चेतना के प्रधानपनेवाली प्रवृत्ति जिसे वर्तती है, ऐसी वनस्पति की भाँति, केवल पाप को ही बाँधते हैं। कहा भी है कि:— [१] णिच्छयमालम्बंता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणंता। णासंति चरणकरणं बाहरिचरणालसा केई॥ [अर्थात् निश्चय का अवलम्बन लेनेवाले परन्तु निश्चय से (वास्तव में) निश्चय को नहीं जाननेवाले कई जीव बाह्य चरण में आलसी वर्तते हुए चरणपरिणाम का नाश करते हैं।][२]

करते और पापबन्ध के कारणभूत अशुभभावों का सेवन तो करते रहते हैं। इस प्रकार वे पापबन्ध ही करते हैं।

१. इस गाथा की संस्कृत छाया इस प्रकार हैं:—निश्चयमालम्बन्तो निश्चयतो निश्चयमजानन्तः। नाशयन्ति चरणकरणं बाह्यचरणालसाः केऽपि॥

२. श्री जयेसनाचार्यदेवरचित टीका में (व्यवहार-एकान्त का स्पष्टीकरण करने के पश्चात् तुरन्त ही) निश्चयएकान्त का निम्नानुसार स्पष्टीकरण किया गया है:—

और जो केवलनिश्चयावलम्बी वर्तते हुए रागादिविकल्परहित परमसमाधिरूप शुद्ध आत्मा को उपलब्ध नहीं करते होने पर भी, मुनि को (व्यवहार से) आचरनेयोग्य षड्-आवश्यकादिरूप अनुष्ठान को तथा श्रावक को (व्यवहार से) आचरनेयोग्य दानपूजादिरूप अनुष्ठान को दूषण देते हैं, वे भी उभयभ्रष्ट वर्तते हुए, निश्चयव्यवहार-अनुष्ठानयोग्य अवस्थान्तर को न जानते हुए पाप को ही बाँधते हैं (अर्थात् केवल निश्चय-अनुष्ठानरूप शुद्ध अवस्था से भिन्न ऐसी जो निश्चय-अनुष्ठान और व्यवहारअनुष्ठानवाली मिश्र अवस्था उसे न जानते हुए पाप को ही बाँधते हैं); परन्तु यदि शुद्धात्मानुष्ठानरूप मोक्षमार्ग को और उसके साधकभूत (व्यवहारसाधनरूप) व्यवहाररमोक्षमार्ग को माने, तो भले चारित्रमोह के उदय के कारण शक्ति का अभाव होने से शुभ-अनुष्ठानरहित हों तथापि—यद्यपि वे शुद्धात्मभावनासापेक्ष शुभ-अनुष्ठानरत पुरुषों जैसे नहीं हैं तथापि—सराग सम्यक्त्वादि द्वारा व्यवहारसम्यग्दृष्टि हैं और परम्परा से मोक्ष प्राप्त करते हैं।—इस प्रकार निश्चय-एकान्त के निराकरण की मुख्यता से दो वाक्य कहे गये।

[यहाँ जिन जीवों को 'व्यवहारसम्यग्दृष्टि' कहा है, वे उपचार से सम्यग्दृष्टि हैं, ऐसा नहीं समझना। परन्तु वे वास्तव में सम्यग्दृष्टि हैं, ऐसा समझना। उन्हें चारित्र-अपेक्षा से मुख्यतः रागादि विद्यमान होने से सराग सम्यक्त्वाले कहकर 'व्यवहारसम्यग्दृष्टि' कहा है। श्री जयेसनाचार्यदेव ने स्वयं ही १५०-१५१वीं गाथा की टीका में कहा है कि—जब

[अब निश्चय-व्यवहार दोनों का [१]सुमेल रहे इस प्रकार भूमिकानुसार प्रवर्तन करनेवाले ज्ञानी जीवों को प्रवर्तन और उसका फल कहा जाता है :—]

परन्तु जो, अपुनर्भव के (मोक्ष के) लिये नित्य उद्योग करनेवाले [२]महाभाग भगवन्तों, निश्चय-व्यवहार में से किसी [३]एक का ही अवलम्बन न लेने से (-केवलनिश्चयावलम्बी या केवलव्यवहारावलम्बी न होने से) अत्यन्त मध्यस्थ वर्तते हुए, शुद्धचैतन्यरूप आत्मतत्त्व में विश्रान्ति के [४]विरचन की अभिमुख (उन्मुख) वर्तते हुए, प्रमाद के उदय का अनुसरण करती हुई वृत्तिका निवर्तन करेवाली (टालनेवाली) क्रियाकाण्डपरिणति को माहात्म्य में से वारते हुए (-शुभ क्रियाकाण्ड-परिणति हठरहित सहजरूप से भूमिकानुसार वर्तती होने पर भी अंतरंग में उसे माहात्म्य नहीं देते हुए), अत्यन्त उदासीन वर्तते हुए, यथाशक्ति आत्मा को आत्मा से आत्मा में संचेतते (अनुभवते) हुए नित्य उपयुक्त रहते हैं, वे (-वे महाभाग भगवन्तों), वास्तव में स्वतत्त्व में विश्रान्ति के अनुसार क्रमशः कर्म का संन्यास करते हुए (-स्वतत्त्व में स्थिरता होती जाये तद्नुसार शुभभावों को छोड़ते हुए), अत्यन्त निष्प्रमाद वर्तते हुए, अत्यन्त निष्कम्पमूर्ति होने से जिन्हें वनस्पति की उपमा दी जाती है तथापि जिन्होंने

यह जीव आगमभाषा से कालादिलब्धिरूप और अध्यात्मभाषा से शुद्धात्माभिमुख परिणामरूप स्वसंवेदनज्ञान को प्राप्त करता है, तब प्रथम तो वह मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों के उपशम और क्षयोपशम द्वारा सराग-सम्यग्दृष्टि होता है।]

१. निश्चय=व्यवहार के सुमेल की स्पष्टता के लिये पृष्ठ २५८ की द्वितीय, टिप्पणी देखें।

२. महाभाग=महापवित्र; महागुणवान; महाभाग्यशाली।

३. मोक्ष के लिये नित्य उद्यम करनेवाले महापवित्र भगवन्तों को (-मोक्षमार्गी ज्ञानी जीवों को) निरन्तर शुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषयभूत शुद्धात्मस्वरूप का सम्यक् अवलम्बन वर्तता होने से उन जीवों को उस अवलम्बन की तरतमतानुसार सविकल्प दशा में भूमिकानुसार शुद्धपरिणति तथा शुभपरिणति का यथोचित सुमेल (हठरहित) होता है, इसलिए वे जीव इस शास्त्र में (२५८वें पृष्ठ पर) जिन्हें केवलनिश्चयावलम्बी कहा है, ऐसे केवलनिश्चयावलम्बी नहीं हैं तथा (२५९वें पृष्ठ पर) जिन्हें केवलव्यवहारावलम्बी कहा है ऐसे केवलव्यवहारावलम्बी नहीं हैं।

४. विरचन=विशेषरूप से रचना; रचना।

कर्मफलानुभूति अत्यन्त निरस्त (नष्ट) की है ऐसे, कर्मानुभूति के प्रति निरुत्सुक वर्तते हुए, केवल (मात्र) ज्ञानानुभूति से उत्पन्न हुए तात्त्विक आनन्द से अत्यन्त भरपूर वर्तते हुए, शीघ्र संसारसमुद्र को पार उतरकर, शब्दब्रह्म के शाश्वत फल के (-निर्वाणसुख के) भोक्ता होते हैं ॥१७२॥

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ कृष्ण ८, रविवार

साक्षात् मोक्षमार्ग, वही शास्त्र का सार है; वीतरागभाव, वही मोक्षमार्ग है और वह वीतरागभाव ही शास्त्र का तात्पर्य है। इस प्रकार शास्त्र का तात्पर्य बतलाते हैं।

अहो! वीतरागभाव, वही सर्व शास्त्रों का तात्पर्य है। वीतरागभाव कहो या स्वभाव का आश्रय कहो! वीतरागभाव कैसे होता है? कि स्वभाव की दृष्टि और एकाग्रता से ही वीतरागभाव होता है; इसलिए स्वभाव की दृष्टि करके उसमें एकाग्रता करना, वही शास्त्रों का तात्पर्य है। परद्रव्य के अवलम्बन से राग है, वह मोक्षमार्ग नहीं। राग हो, वह अलग बात है, परन्तु राग, वह मोक्षमार्ग नहीं।

निमित्त का ज्ञान कराने के लिये ऐसा कहा कि 'इस निमित्त से राग हुआ', वहाँ भी तात्पर्य तो वीतरागभाव ही है—वह किस प्रकार से? कि यदि वास्तव में निमित्त राग कराता है, ऐसा माने, तब तो राग मिटने का अपने हाथ में रहता नहीं; इसलिए निमित्त से कथन हो, वहाँ ऐसा तात्पर्य समझना कि निमित्त के अवलम्बन से राग होता है, इसलिए निमित्त का अवलम्बन छुड़ाकर स्वभाव का अवलम्बन कर! स्वभाव के अवलम्बन से वीतरागभाव होता है, वही तात्पर्य है और वही मोक्षमार्ग है। निमित्त से कार्य होता है, ऐसा मानकर जो निमित्त की दृष्टि में ही अटके हैं, वे तो मिथ्यादृष्टि हैं। उन्हें शास्त्र के तात्पर्य की खबर नहीं। शास्त्र का तात्पर्य तो निमित्त की दृष्टि छुड़ाकर स्वभाव की दृष्टि और स्वभाव के अवलम्बन से वीतरागता कराने का ही है।

परद्रव्य के आश्रय से रागभाव होता है, उससे तो स्वर्ग के क्लेश की प्राप्ति होती है, परन्तु मोक्ष नहीं होता। इसलिए जो जीव निवृत्ति के कामी हों अर्थात् मोक्ष के

अभिलाषी हों, वे जीव किसी भी परद्रव्य में राग न करो। अर्थात् कि परद्रव्य की दृष्टि और अवलम्बन छोड़कर स्वभाव का आश्रय करो। स्वभाव के आश्रय से भव्य जीव अल्पकाल में संसार-समुद्र को तिर जाते हैं।

'समस्त पदार्थों में राग न करो' इसका अर्थ ऐसा है कि समस्त पदार्थों से भिन्न ऐसे चिदानन्दस्वभाव का ही आश्रय करो। स्वभाव का आश्रय करने से राग की उत्पत्ति नहीं होती। स्वभाव के अवलम्बन से वीतरागभाव प्रगट होता है। वह मोक्ष का साक्षात् कारण है और उससे भव्य जीव संसार-समुद्र से पार होकर मोक्ष को पाते हैं। निज कारणपरमात्मा के अवलम्बन से वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं, वही मोक्ष का कारण है। जिसे निज कारणपरमात्मा के अवलम्बन का भान नहीं, उसे व्यवहार की सब गड़बड़ उठती है। शास्त्र में कथन भले निमित्त से और व्यवहार से किया हो, परन्तु मोक्षमार्ग तो एक ही प्रकार का है, दो प्रकार के मोक्षमार्ग नहीं हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक में कहते हैं कि : 'अज्ञानी जीव अन्तरंग में स्वयं तो निर्धार करके यथावत् निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्ग को पहिचानते नहीं, परन्तु जिन-आज्ञा मानकर निश्चय-व्यवहाररूप दो प्रकार का मोक्षमार्ग मानते हैं। अब, मोक्षमार्ग तो कहीं दो नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपण किया है, वह निश्चयमोक्षमार्ग है तथा जहाँ जो मोक्षमार्ग तो नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाये, वह व्यवहारमोक्षमार्ग है। क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है अर्थात् सच्चा निरूपण, वह निश्चय तथा उपचार निरूपण, वह व्यवहार; इसलिए निरूपण की अपेक्षा से दो प्रकार मोक्षमार्ग जानना, परन्तु एक निश्चयमोक्षमार्ग है और एक व्यवहारमोक्षमार्ग है, ऐसे दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। और वह निश्चय-व्यवहार दोनों को उपादेय मानता है, वह भी भ्रम है, क्योंकि निश्चय-व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरोधता सहित है।' श्री समयसार में भी ऐसा कहा है। 'हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक की प्रस्तावना में लालबहादुर शास्त्री भी लिखते हैं कि : आपका कहना है कि जिस प्रकार निश्चय के बिना व्यवहार और व्यवहार के बिना निश्चय को लेकर चलना मिथ्यात्व हैं, उसी प्रकार निश्चय और व्यवहार दोनों को उपादेय मानना मिथ्यात्व है। इसके लिये हेतु दिया है कि व्यवहार

और निश्चय दोनों परस्पर विरोधी हैं क्योंकि समयसार में 'व्यवहारोऽभूयत्थो, भूयत्थो देसिउण सुद्धणओ, भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो' (गाथा ११) कहकर व्यवहार को अभूतार्थ (असत्य) और निश्चय को भूतार्थ (सत्य) कहा है। साथ ही भूतार्थ का आश्रय लेनेवाले को सम्यग्दृष्टि बतलाया है। अतः निश्चय को उपादेय मानकर व्यवहार की अनुपादेयता अपने आप सिद्ध हो जाती है, आपने इसका भी खण्डन किया है कि 'सिद्ध समान शुद्ध आत्मा का अनुभवन निश्चय है और व्रत, शील, संयमादिरूप प्रवृत्ति व्यवहार है। वे कहते हैं कि द्रव्य के किसी भाव का नाम निश्चय और किसी भाव का नाम व्यवहार नहीं है, बल्कि द्रव्य के एक ही भाव को उसरूप निरूपण करना निश्चय और उपचार से अन्य द्रव्य के भावरूप वर्णन करना व्यवहारनय है। जैसे मिट्टी के घड़े को मिट्टी का कहना निश्चय और घी के संयोग से घी का कहना व्यवहार है। दूसरे, समयसार में जहाँ शुद्ध आत्मा के अनुभवन को निश्चय कहा है, उसका मतलब यह है कि स्वभाव से अभिन्न और परभाव से भिन्न आत्मा का अनुभव करना शुद्धानुभव है। न कि संसारी को सिद्ध मानना। इसके अतिरिक्त जो ऐसा मानता है कि 'निश्चय का श्रद्धान करना चाहिए और प्रवृत्ति व्यवहार की रखना चाहिए' उन्हें भी वे मिथ्यादृष्टि ही बतलाते हैं।'

और उसमें लिखा है कि :—

'आपने इस बात का खण्डन किया है कि मोक्षमार्ग निश्चय-व्यवहाररूप दो प्रकार का है। वे लिखते हैं कि यह मान्यता निश्चय-व्यवहारालम्बी मिथ्यादृष्टियों की हैं, वास्तव में तो मोक्षमार्ग दो नहीं है, किन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार है।' पाठक देखेंगे कि जो लोग निश्चय सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्दर्शन, निश्चयरत्नत्रय, व्यवहार-रत्नत्रय, निश्चयमोक्षमार्ग, व्यवहारमोक्षमार्ग इत्यादि दो भेदों की रात-दिन चर्चा करते रहते हैं, उनके मन्तव्य से पण्डितजी का मन्तव्य कितना भिन्न है। इसी प्रकार आगे चलकर उन्होंने लिखा है कि निश्चय-व्यवहार दोनों को उपादेय मानना भी भ्रम हैं, क्योंकि दोनों नयों का स्वरूप परस्पर विरुद्ध है, इसलिए दोनों नयों का उपादेयपना नहीं बन सकता। अभी तक तो यही धारणा थी कि न केवल निश्चय उपादेय है और न केवल व्यवहार, किन्तु दोनों ही उपादेय है, किन्तु पण्डितजी ने इसे मिथ्यादृष्टियों की प्रवृत्ति बतलाई है।'

स्वभाव की दृष्टि करे नहीं और व्यवहारिक धर्मराग को मोक्ष का कारण माने, वह जीव मिथ्यादृष्टि है। राग तो स्वभाव से विपरीत भाव है, वह धर्म का कारण नहीं; जीव पर के आधीन हो तो उसे राग की उत्पत्ति होती है और वह राग दु:खदायक ही है। जैसे चन्दन की लकड़ी का स्वभाव तो शीतल है, परन्तु उसमें अग्नि का प्रवेश होने पर वह अग्नि जलाती है; उसी प्रकार चैतन्यस्वभाव के आश्रय से वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो, वह तो शान्ति का ही कारण है। परन्तु बीच में परद्रव्य के आश्रय से राग होता है, वह जीव को दु:ख का कारण है; इसलिए धर्म राग भी हेय है, ऐसी श्रद्धा करनी चाहिए।

धर्मी को आचरण में (पूर्ण) वीतरागता न हो, वहाँ धर्मराग अवश्य होता है, परन्तु धर्मी जीव उसे हेय समझता है। जो जीव मोक्ष के अभिलाषी हो, ऐसे हे महाजनो! हे उत्तम पुरुषों! तुम चिदानन्दस्वभाव का आश्रय करके समस्त राग को छोड़ो और संसार-समुद्र का पार पाओ। संसार में बड़े व्यक्ति हो, उन्हें लोग महाजन कहते हैं, यहाँ वीतरागी मुनियों को महाजन कहा है। उन्हें सम्बोधन कर कहते हैं कि हे मोक्ष के अभिलाषी, महाजन! शुभाशुभ विषयों का राग छोड़कर, स्वभाव के आश्रय से वीतरागभाव प्रगट करके मोक्षदशा को पाओ। ऐसी वीतरागता न हो सके और राग रह जाये तो वह आदरणीय नहीं, ऐसी श्रद्धा करनी चाहिए।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ कृष्ण ९, सोमवार

सर्वज्ञ के सर्व शास्त्रों का सार क्या है? उसकी इसमें बात है।

वीतराग के मुख में से निकले हुए दिव्यध्वनि का और सर्व शास्त्रों का तात्पर्य तो वीतरागभाव है। चारों अनुयोग के शास्त्रों का सार यह है कि ज्ञानानन्द निज स्वभाव को जानकर उसमें स्थिर होना। बीच में पर के अवलम्बन से राग होता है, वह हेय है। चिदानन्दस्वभाव के आश्रय से वीतरागभाव होता है, वही आदरणीय है। जो जीव मोक्ष का अभिलाषी है, उसे क्या करना? चिदानन्दस्वभाव में से पूर्ण आनन्द मोक्षदशा प्रगट करने के जो कामी हैं, ऐसे जीवों को यहाँ 'महाजन' कहा गया है। हे विरल महापुरुष!

यदि तुझे इस संसार के परिभ्रमण से छूटना हो और आत्मा की पूर्णानन्ददशा प्राप्त करनी हो तो विषयराग का त्यागी हो! अन्दर में प्रथम चिदानन्दस्वभाव का भान तो हुआ है। पश्चात् मुनि होने की यह बात है। चिदानन्द ज्ञाता-दृष्टा आत्मा का भान तो प्रथम ही करना चाहिए। पश्चात् पूर्ण पवित्र मोक्षदशा प्रगट करने के लिये यह उपदेश है कि हे महाजनो! समस्त विषय-कषाय के परिणाम को छोड़कर चैतन्य में लीनता करो। पुण्य-पाप की रुचि धर्मी को होती नहीं, परन्तु अभी निर्बलता से राग होता है, उस राग को भी छोड़ने का यहाँ उपदेश है। अहो! मेरा स्वरूप तो ज्ञान है, मुझे अनाकुल शान्ति चाहिए है। इस प्रकार जिसे मोक्ष की अभिलाषा हुई है, ऐसे जीव को स्वभाव का भान होने पर भी अभी अस्थिरता से राग होता है। उसे कहते हैं कि हे भव्य! पहले तो तू विषय-कषाय के पापराग को छोड़; पहले धर्मराग नहीं छूटेगा। सच्चे देव-गुरु तथा साधर्मी के प्रति वात्सल्यवृत्ति इत्यादि का धर्मराग पहले हुए बिना नहीं रहेगा। इसलिए कहा कि पहले अशुभराग को छोड़। वास्तव में तो राग छोड़ने की ओर का भी प्रयत्न नहीं, परन्तु स्वभाव-सन्मुख का प्रयत्न है। स्वभाव की ओर का उद्यम होने से रागभाव छूट जाता है। स्वभाव की दृष्टि करके उसमें लीनता होने पर वीतरागभाव होता है, वह शास्त्र का सार है। जैसे छाछ का सार मक्खन और घी है, उसी प्रकार शास्त्र का सार वीतरागी दृष्टि और वीतरागी स्थिरता करना, वह है। शुद्धस्वभाव की ओर का उद्यम करने से रागादि टल जाते हैं। पहले सर्वथा वीतरागता एक साथ नहीं हो जाती, परन्तु अशुभ टलकर शुभराग होता है और स्वभाव-सन्मुख की एकाग्रता के जोर से अत्यन्त वीतरागता होने पर मोक्ष होता है। इसलिए कहा कि हे भव्यी जीवों! स्वभाव की स्थिरता द्वारा अत्यन्त वीतरागभाव प्रगट करके संसार-समुद्र का पार पाओ!! अहो! संसार में कहीं सुख नहीं—देवपद में या सेठाई में भी सुख नहीं; चिदानन्दस्वभाव का सुख बाहर में नहीं। बाहर में जितना झुकाव जाये, वह आकुलता है—दुःख है। संसार-समुद्र में हर्ष-शोक की कल्पना से जीव आकुल-व्याकुल है। अनुकूलता में सुख मानकर हर्ष करते हैं और प्रतिकूलता में दुःख मानकर शोक करते हैं। परन्तु वे दोनों कल्पनायें दुःखदायक ही हैं। चिदानन्द आत्मा शान्ति का समुद्र है—उसके बदले बाहर में सुख-दुःख की कल्पना से जीव आकुल होता है, उसमें कहीं भी जीव को शान्ति नहीं; शान्ति

तो ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में है। संसार में बड़े-बड़े राजा और देव भी हर्ष-शोक की कल्पना करके आकुल-व्याकुल हो रहे हैं, परसंयोग की ओर के झुकाववाला भाव ही दु:खदायक है, चिदानन्द स्वरूप को पहिचानकर उसके आश्रय से वीतरागभाव प्रगट करे तो जीव संसार का पार पाता है।

अहो, जीवो! एक बार पहिचान तो करो... प्रतीति तो करो कि सुख मेरे स्वरूप में है, बाहर में हर्ष-शोक की कल्पना होती है, उसमें मेरा सुख नहीं है। ऐसी पहिचान करके स्वरूप में स्थिर हो तो हर्ष-शोक की कल्पना छूटकर संसार से मुक्त होने का अवसर आता है। अज्ञानी बाहर में सुख मानता है, वह तो मिथ्या है और ज्ञानी को भी अस्थिरता से बाहर में हर्ष-शोक की कल्पना हो, उतना दु:ख है। अहो! इस संसार में हर्ष-शोक की कल्पनारूप लहरें उछल रही हैं और कर्म की ओर के झुकावरूप वडवाग्नि सुलग रही है। जिस प्रकार समुद्र में वडवाग्नि होती है, वह पानी को सूखा डालती है; उसी प्रकार चैतन्य भगवान शान्ति का समुद्र है, उसमें कर्म की ओर का झुकाव होने से आकुलतारूप वडवाग्नि उत्पन्न होती है। ऐसे संसार को तिरना बहुत कठिन है। वीतरागभाव से ऐसे दुस्तर संसार-समुद्र का पार पाकर, आत्मा अपने अमृतसागर में लीन होकर, मोक्षपद पाता है। चैतन्यसमुद्र में भगवान आत्मा विराज रहा है, उसकी दृष्टि करके उसमें लीन होने से आत्मा तत्काल मुक्तदशा को पाता है। देखो, यह शास्त्र का तात्पर्य है। मोक्षमार्ग का साक्षात् कारण और सर्व शास्त्रों का सार ऐसा वीतरागभाव ही है। आत्मा के स्वभाव का अवलम्बन लेने से ऐसा वीतरागभाव प्रगट होता है।

बहुत विस्तार कहाँ तक किया जाये, जो साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रधान कारण है, समस्त शास्त्रों का तात्पर्य है, ऐसा जो वीतरागभाव, सो ही जयवन्त होहु।

अहो! चिदानन्द भगवान में अन्तर्मुख होकर, स्वभाव सामर्थ्य के पिण्ड को उकेलने से वीतरागभाव से आत्मा मुक्ति पाता है। यही समस्त शास्त्रों का तात्पर्य है और यही मोक्ष का मार्ग है। ऐसा वीतरागभाव जयवन्त वर्तो! वह वीतरागभाव चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से ही प्रगट होता है। सर्वज्ञ भगवान ने कहे हुए समस्त शास्त्रों का सार क्या?—कि वीतरागता! पंच महाव्रत के भाव मुनि को आते हैं, परन्तु वह शास्त्र का

तात्पर्य नहीं; शास्त्र का तात्पर्य तो वीतरागभाव है। बीच में राग आवे, उसका ज्ञान कराने के लिये शास्त्र में उसका वर्णन भले हो, परन्तु तात्पर्य तो वीतरागभाव ही है। शुभराग को उपादेय कहा हो तो वह व्यवहार से कथन है, ऐसा समझना। राग हो, वह शास्त्र का तात्पर्य नहीं। ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की प्रतीति और उसमें लीनतारूप वीतरागभाव हो, वही शास्त्र का तात्पर्य है और वही मोक्षमार्ग है। अहो! ऐसा वीतरागभाव जयवन्त वर्तो!

सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि में से झेलकर कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने रचे हुए समयसारादि, तथा धरसेनाचार्यदेव इत्यादि सन्तों ने रचे हुए षट्खण्डागम इत्यादि समस्त शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागभाव है।

वीतरागभाव अर्थात् कि स्वद्रव्य की अपेक्षा और परद्रव्य की उपेक्षा, बीच में राग और निमित्त आवे, उसका ज्ञान कराते हैं, परन्तु वह शास्त्र का तात्पर्य नहीं है, निमित्त का अवलम्बन छोड़कर चिदानन्दस्वभाव के अवलम्बन से वीतरागभाव हो, वही तात्पर्य है। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! **'स्वस्ति साक्षान्मोक्षमार्गसारत्वेन शास्त्रतात्पर्यभूताय वीतरागत्वायेति'** साक्षात् मोक्षमार्ग के साररूप और शास्त्र के तात्पर्यभूत ऐसा यह वीतरागभाव जयवन्त वर्तो! देखो, अमृतचन्द्राचार्यदेव जब यह शब्द लिख रहे हैं, उस समय उनका शुभराग वर्तता था, परन्तु कहते हैं कि इस राग की जय न हो, परन्तु स्वभाव में लीनता द्वारा इस राग का नाश होओ और वीतरागभाव की जय होओ, स्वभावसन्मुख का वीतरागभाव जयवन्त हो और परसन्मुख के झुकाववाला रागभाव नाश पाओ।

स्वभाव के आश्रय में पहले वीतरागीदृष्टि प्रगट करना और पश्चात् वीतरागी स्थिरता प्रगट करना, वही मोक्षमार्ग है और वही शास्त्रों का तात्पर्य है।

सन्तों ने सिद्धान्त में दो प्रकार का तात्पर्य बतलाया है। एक तो सूत्रतात्पर्य और दूसरा शास्त्रतात्पर्य। सर्वज्ञ की परम्परा से जो सूत्र चले आये हैं, उन सूत्रों का भाव समझना, वह सूत्रतात्पर्य है। किसी सूत्र में द्रव्य का ज्ञान कराया, किसी जगह पर्याय का, राग का और निमित्त का ज्ञान कराया हो—इस प्रकार प्रत्येक सूत्र में सूत्रतात्पर्य भिन्न-भिन्न होता है। सूत्रतात्पर्य तो उस-उस गाथा में समझाया है और सम्पूर्ण शास्त्र का तात्पर्य वीतरागभाव है।

'ज्ञानावरणीय से ज्ञान रुकता है' ऐसा सूत्र में कहा हो, वहाँ उसका सूत्रतात्पर्य ऐसा है कि जीव का ज्ञान रुका, तब सामने कैसा निमित्त था, वह बतलाया है। नियमसार की ५३वीं गाथा में कहा है कि सम्यग्दर्शन पानेवाले जीव को जिनसूत्र, वह बाह्यनिमित्त है और ज्ञानीपुरुष, वे उपचार से अन्तरंग निमित्त हैं। वहाँ सूत्रतात्पर्य ऐसा है कि दो निमित्तों में से शास्त्र की अपेक्षा ज्ञानी की मुख्यता बतलानी है, इसलिए उसे अन्तरंग निमित्त कहा है।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में २११ वें सूत्र में कहा कि पुद्गल में कोई ऐसी अपूर्व शक्ति है कि जीव के केवलज्ञान को भी नाश करता है, अर्थात् कि केवलज्ञान होने नहीं देता। वहाँ पुद्गल में कैसा परिणमन होता है, यह बतलाने के लिये वह कथन है, परन्तु कर्म ज्ञान को रोकता है—ऐसा वहाँ नहीं बतलाना है; इस प्रकार सूत्रतात्पर्य समझना और सम्पूर्ण शास्त्र का सार तो वीतरागभाव है। संयोग और विकार की दृष्टि छोड़कर, चिदानन्द अखण्ड स्वभाव की दृष्टि करके उसमें स्थिरता करके वीतरागभाव प्रगट करना, वही शास्त्र का तात्पर्य है और वही मोक्ष का मार्ग है। ज्ञानावरणीय ने ज्ञान रोका, ऐसा कहकर तेरी ज्ञानपर्याय का हीन परिणमन है, ऐसा बतलाया और उसका भी तात्पर्य यह है कि वह अल्पज्ञता तेरा स्वरूप नहीं; इसलिए उसकी दृष्टि छोड़कर ज्ञानस्वभाव की दृष्टि कर और उसके आश्रय से सर्वज्ञता प्रगट कर! ऐसा सूत्रतात्पर्य है।

समयसार, गोम्मटसार, रत्नकरण्डश्रावकाचार और आदिपुराण—इत्यादि चारों अनुयोगों के शास्त्रों का सार यह है कि तू तेरे स्वभाव के सन्मुख हो! बीच में राग और निमित्त आवे, परन्तु उसकी ओर लक्ष्य कर, ऐसा कहने का शास्त्र का तात्पर्य नहीं है। मुनिदशा में पंच महाव्रत—अट्ठाईस मूलगुण इत्यादि कैसा राग होता है, उसका ज्ञान कराया, परन्तु वहाँ कहीं शास्त्र का तात्पर्य वह राग कराने का नहीं है। चाहे जिस शास्त्र के चाहे जिस कथन में से यदि वस्तुस्वभाव की ओर ढलने का तात्पर्य निकाले तो ही वह शास्त्र का आशय समझा है, परन्तु यदि कहीं भी परद्रव्य के आश्रय से लाभ होने का तात्पर्य निकाले तो वह जीव शास्त्र को समझा नहीं। उसकी युक्ति और तर्क वे सब कुतर्क और कुयुक्ति है। शास्त्र ने कहा कि 'देखकर चलना'—तो वहाँ तात्पर्य क्या है? क्या पर के सामने देखने का तात्पर्य है? या शुभराग का तात्पर्य है? वहाँ उसका तात्पर्य

ऐसा है कि राग होने नहीं देना, अर्थात् कि पर से उपेक्षा करके स्वभाव की सन्मुखता करना।—यह तात्पर्य है। स्वभाव की सन्मुखता और पर से विमुखता, ऐसा तात्पर्य है। बीच में व्यवहार आवे, उससे यदि लाभ माने तो स्वभाव-सन्मुख ढले नहीं। परद्रव्य के अवलम्बन से लाभ माने या व्यवहार के आश्रय से लाभ माने तो वह जीव शास्त्र के तात्पर्य को समझा नहीं। इसलिए हे मोक्ष के अभिलाषी भव्य! तू स्वभाव के अवलम्बन से वीतरागभाव प्रगट करके इस संसार से पार हो। देखो, जो जीव पुण्य का अभिलाषी हो, पैसे का अभिलाषी हो या विषय-भोग का अभिलाषी हो—ऐसे मूढ़ जीवों को यह बात नहीं कहते। चार प्रकार के पुरुषार्थ में मोक्षपुरुषार्थ की ही प्रधानता है। वही जिनेन्द्रप्रणीत शास्त्रों की उत्तमता है। धर्म अर्थात् कि पुण्य; अर्थ अर्थात् कि पैसा इत्यादि प्राप्त करना और काम अर्थात् विषयभोग—ये तीनों पुरुषार्थ तो संसार का कारण है। वीतरागशास्त्र में इनकी प्रधानता नहीं, वीतरागशास्त्र में तो मोक्ष के वीतरागी पुरुषार्थ की ही प्रधानता है। जिनेन्द्रदेव ने कहे हुए शास्त्र तो वीतरागभाव का ही पोषण करानेवाले हैं। विषय-कषाय के पापभाव का या राग का पोषण करावे—उसे शास्त्र नहीं कहा जाता। जिनेन्द्रप्रणीत शास्त्र में तो आत्मा की मोक्षदशा की सिद्धि जिससे हो—ऐसे पुरुषार्थ की ही मुख्यता है। स्वभाव के आश्रय से वीतरागभाव प्रगट हो, वही जिनेन्द्रदेव के शास्त्र का तात्पर्य है। बीच में मुनियों को भी धर्मराग आता है, परन्तु वह गौण है। उसकी प्रधानता नहीं, प्रधानता तो स्वभाव के अवलम्बन से वीतरागभाव प्रगट हो, उसकी ही है और वह वीतरागभाव ही शास्त्र का तात्पर्य है तथा वही मोक्षमार्ग है।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ कृष्ण १०, मंगलवार

समस्त शास्त्रों का सार वीतरागभाव है। कोई शास्त्र 'शुभराग भी करनेयोग्य है', ऐसा निश्चय से नहीं कहता।

अनन्त तीर्थंकरदेव हो गये। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं, उन्होंने सर्व प्रकार के राग से छूटकर त्रिकाली ध्रुव ज्ञानानन्दस्वभाव से ही हित और हित का मार्ग कहा है। उससे विरुद्ध कहे वे देव, शास्त्र और गुरु मिथ्या हैं। वीतरागप्रणीत शास्त्र से

ही वस्तुस्वरूप जानने में आता है। छहों द्रव्य त्रिकाल भिन्न-भिन्न हैं, जो 'है' वह स्वयं से है, अनन्त परपदार्थों से भिन्न, स्वतन्त्र टिककर बदलनेवाले हैं। परवस्तु मुझमें नहीं, मैं पर में नहीं, ऐसा स्वतन्त्रपना निश्चित करे तो क्षणिक विकार, त्रिकालस्वरूप में नहीं—ऐसे स्वसन्मुखतारूप धर्म शुरु हो।

छहों द्रव्य त्रिकाल भिन्न हैं—ऐसा जानने से स्वतन्त्रता, वीतरागता ही आती है। पंचास्तिकाय का ज्ञान करने से चाहे जिस पहलू से एक वीतरागता ही उपादेय है, ऐसा आता है, छहों द्रव्य स्वतन्त्र हैं, ऐसा निर्णय करनेवाले को निर्मल भेदज्ञान अर्थात् कि वीतरागता हुए बिना नहीं रहती। कोई संयोग, काल-कर्म-क्षेत्र अवरोधक अथवा सहायता करे, ऐसी पराधीनता भासित नहीं होती और ऐसा भेदज्ञान होने से पर में कर्ताबुद्धि छूटकर त्रिकाल ज्ञाता ही हूँ—ऐसा अन्दर स्वरूप में ज्ञातापना, वीतरागपना, स्वतन्त्रपना हुए बिना नहीं रहता।

वीतराग देव छह द्रव्य पृथक्-पृथक् कहकर सर्वत्र वीतरागता ही बतलाते हैं, आत्मा की ओर का अन्तर झुकावभाव बतलाते हैं। क्षणिक विकार की बुद्धि छुड़ाकर त्रिकाल अविकारी ज्ञायकस्वरूप में ढलने का बतलाते हैं।

पंचास्तिकाय बतलाकर तेरा चिदानन्दमय जीवास्तिकायस्वरूप पर से भिन्न ही है, ऐसा बतलाते हैं। परलक्ष्य से होनेवाला क्षणिक विकार है, वह पर के कारण से नहीं और विकार के कारण से त्रिकाल जीवास्तिकायपना नहीं। कर्म का उदय जड़ है, वह भिन्न है और तेरा जीवतत्त्व भिन्न है। आठ कर्म से जीव रुका नहीं है क्योंकि दोनों की सत्ता भिन्न-भिन्न है।

मैं रोटी इत्यादि खा सकता हूँ, ऐसा जो मानता है, वह स्वतन्त्र जीवास्तिकाय को नहीं मानता। करोड़ों रुपये पाँच भाईयों के पास हों, परन्तु ज्ञानी उसमें अपना भाग नहीं मानता। वह जानता है कि मेरा भाग तो अनन्त गुणमूर्ति जीवास्तिकाय में ही है।

छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय हैं। प्रत्येक की सत्ता त्रिकाल अपनेरूप से है और पर से भिन्न है और अपने-अपने गुण-पर्याय से अभिन्न है। ऐसा भेदज्ञान करे तो पराश्रयबुद्धि टलकर स्वतन्त्र स्वाश्रयपना हुए बिना रहे नहीं। संसार भाग में देखो तो क्षणिक विकार—

पुण्य-पाप की वृत्ति, वह जड़कर्म से नहीं, परन्तु उस पर्याय में तेरा जीवास्तिकाय का भाग—(अंश) है और उस क्षणिक विकार से दृष्टि उठाकर त्रिकाल अविकारी ज्ञातामात्र में अभेददृष्टि करना, वह वीतरागी धर्मदृष्टि है।

निश्चय-व्यवहार का कथन वीतरागमार्ग में ही है। निश्चय हुआ, परन्तु पूर्ण वीतरागता न हो, तब तक सच्चे देवादि की ओर का राग आये बिना रहता नहीं। ज्ञानी उसे जानता है, परन्तु उससे धर्म नहीं मानता। यथार्थ वस्तुस्वभाव जानने से सहज मोक्ष सधता है। छह द्रव्य न माने तो पूर्ण निर्मल पर्याय प्रगट करने का उपाय नहीं बन सकता।

कोई काल तुझे रोकनेवाला नहीं है। पर से भिन्न अन्दर स्वरूप में वीतरागीदृष्टि की, वही स्वकाललब्धि है। मोक्ष का साधन भी भेदज्ञानरूप होता हुआ ऐसा यह आत्मा ही है। तू भिन्न है, फिर तुझसे भिन्न का क्या करेगा? पुद्गलास्तिकाय बतलाते हुए उससे मैं भिन्न ही हूँ और उससे मेरा सम्बन्ध नहीं, ऐसी अन्दर वीतरागी दृष्टि न करे तो वह शास्त्रतात्पर्य मानता नहीं।

भरतेशवैभव इत्यादि पुराणशास्त्रों में आत्मवैभव तथा पुण्यवैभव का वर्णन आता है, उसे सुनकर जो पुण्य की मिठास वेदता है, उसने शास्त्र का हेतु पर से—विकार से भिन्न और स्व से अभिन्न—अरागी ज्ञातापना बतलाने का है, उसे जाना नहीं। पुण्य, वह पुद्गलास्तिकाय है और पुण्य-पापरूप विकार, वह जीवास्तिकाय का अंश है, उसकी रुचि छोड़कर अन्दर अभेददृष्टि—वीतरागी दृष्टि करना, वह प्रयोजन शास्त्र ने कहा है, उसे नहीं माना तो उसने नौ तत्त्व भिन्न-भिन्न है, ऐसा नहीं माना।

पुण्य, पाप वह विकारीभाव है, वह संवर-निर्जरा नहीं तथा उससे धर्म नहीं, दया, दान, व्रतादि भाव, वह पुण्यतत्त्व है। वह जीवतत्त्व नहीं। पुण्य से संवर-निर्जरारूप धर्म नहीं होता, उससे धर्म हो तो पुण्यतत्त्व और संवर-निर्जरातत्त्व भिन्न नहीं रहते। संवर-निर्जरा आंशिक शुद्धभाव जीव का क्षणिक अंश है, परन्तु उतना ही जीव नहीं है। नौ तत्त्व का स्वरूप वीतरागता के लिये है।

अजीव से जीव की पर्याय में आस्रव होता हो तो अजीव और जीव दोनों एक हो जायें। शरीर सूखे तो निर्जरा होती है, ऐसा (जिसने) माना, उसने अजीव से जीव की

शुद्धि की उत्पत्ति मानी। इस प्रकार नौ तत्त्व को विपरीतरूप से मानने पर नौ पृथक् नहीं रहते। नौ तत्त्व, छह द्रव्य, पंचास्तिकाय को यथार्थरूप से जानने का सार क्या? कि वीतरागी दृष्टि, वीतरागी ज्ञानानन्दस्वभाव सन्मुख ज्ञान और लीनता, वह उसका सार है।

नौ तत्त्व को जानने से पर से भेदज्ञान होकर तथा क्षणिक पर्याय जितनी बुद्धि छूटकर, त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि और वीतरागता का अवसर आता है, वही सार है। ओहोहो! टीका में अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अमृत की रेलमछेल कर रखी है। ऐसी अद्‌भुत टीका भरतक्षेत्र में अजोड़ है। भाई! तू वीतराग ने कहे हुए छह द्रव्यों का निर्णय कर तो उसमें भी स्वभावसन्मुख होकर वीतरागभाव ही करने का आता है। नौ तत्त्वों को जानने से उसमें से भी वीतरागी तात्पर्य ही निकलता है।

नौ तत्त्वों में जीव का स्वभाव क्या? अजीव क्या? पुण्य-पाप क्या? आस्रव क्या? संवर क्या? किस गुणस्थान में कितना संवर होता है? और कितना आस्रव होता है—इत्यादि सब समझने पर उसमें देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप भी आ जाता है। जिसने ऐसा मनाया कि मुनिदशा में भी वस्त्र का राग होता है, उसने मुनिदशा के संवर को नहीं जाना, उसकी नौ तत्त्व में भूल है। स्त्री का देह हो और मुनिदशा आ जाये।—ऐसा माने तो उसे नौ तत्त्व की भूल है। सर्वज्ञदशा प्रगट हुई, वहाँ आहारादि नहीं होते, तथापि वहाँ आहार मनवावे तो मोक्ष इत्यादि नौ तत्त्व की भूल है। अहो! छठवें-सातवें गुणस्थान में स्वरूप में झूलनेवाले मुनियों को प्रचुर संवरदशा प्रगट हो गयी है और संज्वलन का बहुत पतला राग होता है, वहाँ वस्त्रादि का संयोग नहीं होता—ऐसा न जाने, वह जीव आस्रव-संवर इत्यादि नौ तत्त्वों को नहीं समझता। केवलज्ञानदशा हो, वहाँ अजीवकर्म में भी असाता का रस ऐसा होता ही नहीं कि शरीर में रोगादि हो। जीव में केवलज्ञान हो, वहाँ अजीव में परमौदारिक देह हो जाती है। ऐसा न समझे और केवली को रोग मनावे, तो उस जीव को आत्मा की मोक्षदशा का, संवर-निर्जरा का, पुण्य-पाप का और अजीवतत्त्व का भान नहीं है। लड्डू खाया, उसमें से सुख आया, ऐसा माने तो उसने अजीव और जीवतत्त्व को जाना नहीं। लड्डू तो अजीव है। उसमें जीव का सुख नहीं रहता।

देखो, यह वीतरागीशास्त्र का रहस्य! कोई भी बात लो, उसमें से वीतरागी

तात्पर्य ही निकलता है। नौ तत्त्व जानने पर भी अजीव से मैं भिन्न और पर्यायरूप छह तत्त्व जितना भी मैं नहीं। ऐसा समझकर ध्रुव जीवस्वभाव के सन्मुख होकर वीतरागता करने का ही आया। जीव में पुण्य-पाप इत्यादि भाव हैं, वह जीव का विकार है और उस समय अजीव कर्मों में उसके योग्य पुण्य-पापरूप पर्याय होती है और उसके फलरूप स्वर्ग-नरक इत्यादि विधविध स्थान भी जगत में हैं। निश्चय से जीव विकार को उसी समय अनुभव करता है और व्यवहार से उसके बाह्य फलरूप स्वर्ग-नरक के भोग्यस्थान हैं। जीव उन स्वर्ग-नरकादि बाह्य स्थानों से भिन्न है, अजीव कर्म से भिन्न है और उसके कारणरूप जो पुण्य-पाप, उनसे भी परमार्थ से भिन्न, शुद्ध चैतन्यस्वभावी है—ऐसा समझकर स्वसन्मुख होने से वीतरागभाव प्रगट होता है। ऐसा शास्त्र का तात्पर्य है। मोक्षदशा हुई, उसका निश्चयस्थान तो जीव की पर्याय है और व्यवहार से उसका क्षेत्र लोक के अग्र में, सिद्धशिला के ऊपर है।

बन्ध-मोक्ष का भाव और उसके बाह्यस्थान—इनका ज्ञान कराकर भी वीतरागभाव ही बतलाया है। बन्ध का भाव, बन्ध और बन्ध के फलरूप बाह्यस्थान तथा मोक्ष और मोक्ष का बाह्यस्थान—इन सबका ज्ञान सर्वज्ञदेव ने कराया है। बन्ध-मोक्ष क्या? उनके निमित्त कैसे हैं? इन सबका वर्णन जिनवाणी में आया है, परन्तु उसका तात्पर्य वीतरागभाव है। बन्ध-मोक्ष क्या, उसके निमित्त स्थान क्या—यह सब समझे तो स्वसन्मुख होकर वीतरागभाव हुए बिना रहता नहीं।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ कृष्ण ११, बुधवार

शास्त्र का तात्पर्य वीतरागभाव है।

आत्मा पर की अपेक्षा छोड़कर स्वस्वभाव की अपेक्षा करना और पर की उपेक्षा करना—यह वीतरागभाव का कारण है और वही शास्त्र का सार है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव जाननेवाला है, दर्शनस्वभाव देखनेवाला है। चारित्रस्वभाव स्वरूप में आचरण करनेवाला है—ऐसे गुणों के वर्णन में भी वीतरागता ही आती है।

छह द्रव्य हैं, अनन्त जीव हैं, स्वर्ग-नरकादि है, मोक्ष है—इत्यादि जितना वर्णन

शास्त्रों में किया है, उन सबका सार तो आत्मा के स्वभाव-सन्मुख झुककर वीतरागभाव प्रगट करना, वह ही है।

आत्मा को राग-द्वेष-मोहभाव हो, वह भावबन्ध है और उसके निमित्त से पुद्गलकर्म बँधे, वह द्रव्यबन्ध है। भावबन्ध भी मिथ्यात्वादि पाँच प्रकार से है। इस प्रकार बन्धतत्त्व की पहिचान करायी है, उसे पहिचानकर भी अबन्धस्वभाव सन्मुख झुकना, यह तात्पर्य है। ज्ञानावरणीयादि कर्म का बन्धन है। उसका वर्णन करके शास्त्र ऐसा बतलाते हैं कि तेरी ज्ञानादि पर्याय अटकी है, उससे भावबन्ध है और उसके निमित्त से द्रव्यबन्ध होता है, परन्तु वह बन्धभाव तेरा स्वरूप नहीं, ऐसी पहिचान कराई है। बन्ध और बन्ध की ओर का भाव, इन दोनों से पार चिदानन्द अबन्धस्वभाव को लक्ष्य में लेना, वही शास्त्रों का हेतु है, परन्तु ज्ञानावरणीयादि कर्म का वर्णन करने में ऐसा हेतु नहीं है कि कर्म जीव को भटकाते हैं। बन्ध है, वह तेरा स्वरूप नहीं—ऐसा जानकर स्वभावसन्मुख का पुरुषार्थ कर। निद्धत और निकाचित कर्म का वर्णन करके भी यही बात बतलायी है कि तेरे उल्टे पुरुषार्थ से कर्म बँधा है, वह तेरे स्वभावसन्मुख के पुरुषार्थ से टूट जाता है।

श्री धवल में कहते हैं कि : इस चैतन्यबिम्ब आत्मा के भानसहित जिनेन्द्रबिम्ब के दर्शन से निद्धत और निकाचित कर्म का भी टूटकर चूरा हो जाता है।

मोक्ष के दो भेद हैं : द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष। तेरहवें गुणस्थान में केवली भगवान को भावमोक्ष है और सर्वकर्मरहित सिद्धदशा प्रगट हुई, वह द्रव्यमुक्ति है। मिथ्यात्वादि भावों से जितने अंश छूटा, उतने अंश में मुक्ति है। चौथे गुणस्थान में धर्मी को वस्तुदृष्टि हुई है, उस वस्तुदृष्टि अपेक्षा से तो मुक्त ही है, द्रव्य तो मुक्त ही है, उसके आश्रय से पर्याय में मुक्तदशा प्रगट होती है। इस प्रकार बन्ध-मोक्ष के प्रकार वर्णन करने में भी शास्त्रों का हेतु वीतरागता ही कराने का है।

और, सर्वज्ञदेव ने कहे हुए शास्त्रों में निश्चय और व्यवहार ऐसे दो प्रकार से मोक्षमार्ग का कथन है। वस्तु नित्य रहकर पलटती हो, पर से भिन्न स्वाधीन हो—तो ही वह अपने मोक्षकार्य को साध सकती है। शुद्ध आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता, वही मोक्षमार्ग है। परन्तु पूर्ण वीतरागता न हो, वहाँ बीच में जिनेन्द्रदेव की भक्ति इत्यादि

का धर्मराग आता है, परन्तु मोक्ष का कारण तो वीतरागभाव ही है। वहाँ राग को उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाता है।

जगत में द्रव्य-गुण-पर्याय सब सत् है। उन्हें जैसा है, वैसा समझने का आत्मा का स्वभाव है। परन्तु उसमें किसी को निकाल सके या नया कर सके—ऐसा उसका सामर्थ्य नहीं। जड़ की क्रिया को जड़रूप से जान, राग को रागरूप से जान, स्वभाव आश्रित वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो, उसे निश्चयमोक्षमार्ग जान। परन्तु शरीर की क्रिया को मोक्ष का कारण न मान, राग को मोक्ष का कारण वास्तव में न मान; स्वभाव की रुचि रखकर राग हो, उसे जान। निश्चयमोक्षमार्ग के साथ बीच में राग आता है, उसे आरोप से व्यवहारमोक्षमार्ग कहकर उसका ज्ञान कराया है, परन्तु निश्चयमोक्षमार्ग तो वीतरागभाव ही है। वह वीतरागभाव ही शास्त्रों का तात्पर्य है।

स्वभाव के सन्मुख होने से शान्त चित्त होता है, आत्मा स्वयं अपने में स्थिर हो जाता है और वीतरागभाव होता है, ऐसा वीतरागभाव मोक्ष का कारण है। बाहर के अवलम्बन से तो आकुलता होती है, वह मोक्ष का कारण नहीं। स्वभावसन्मुख होने से जो सहज शान्ति का वेदन हो, वह मोक्षमार्ग है, भाई! तू शान्त हो... शान्त हो! स्वभाव के सन्मुख होकर वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता की, उतनी शान्ति है, वह निश्चय से मोक्ष का कारण है। बीच में भक्ति इत्यादि का शुभराग आवे, वह वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं, परन्तु उसे आरोप से मोक्षमार्ग कहा है। देखो! वीतरागभाव, वही आत्मा का सच्चा जीवन है। परमवीतरागभाव एक ही मोक्ष का कारण है। देखो, निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग—ऐसे दो प्रकार से उसका वर्णन किया है, परन्तु मोक्ष का वास्तविकार कारण तो एक ही है। दुनिया को चाहे जैसी खलबलाहट हो परन्तु चैतन्य के आश्रय से जो परम शान्तभाव प्रगट हुआ, वह हटता नहीं। देखो! स्वभावसन्मुख होकर वीतरागभाव प्रगटे, उसमें ही शान्ति है, इसके अतिरिक्त पैसे में, स्त्री इत्यादि में शान्ति नहीं और शुभराग में भी वास्तव में शान्ति नहीं। पराश्रयभाव में कहीं शान्ति नहीं। स्वभावसन्मुख ढलकर वीतरागभाव हो, वही समस्त जैन शास्त्रों का हार्द है; इसलिए सर्वज्ञकथित परमागम का तात्पर्य तो सदा वीतरागभाव ही जानो।

व्यवहार-निश्चयनय के अविरोधपने द्वारा जब यथार्थरूप से जानने में आता है,

तब ही वीतरागभाव प्रगट होता है। नीचे कमजोरी से राग होता है, तथापि उससे धर्म नहीं होता और आंशिक राग है, उससे वीतरागी दृष्टि और आंशिक वीतरागी स्थिरतारूप धर्म जाता नहीं।

लोग शरीरादि की क्रिया में व्यवहार मानते हैं। उन्होंने आत्मा और जड़ दो द्रव्यों की भिन्नता भी नहीं जानी। शुभराग से धर्म नहीं, नित्यानन्द द्रव्यस्वभाव के आश्रय से ही धर्म है। वस्त्र रखकर मुनिपना मनावे, वह मिथ्यादृष्टि है। मुनिदशा में परवस्तु अवरोधक नहीं, परन्तु अन्दर वीतरागता का उग्र आलम्बन बढ़ने पर राग इतना अधिक घट जाता है कि वस्त्रादि रखने का राग कभी नहीं हो सकता।

प्रश्न : शुभराग से धर्म नहीं तो ज्ञानी राग क्यों करते हैं ?

उत्तर : ज्ञानी राग को करता नहीं, वह तो उसका ज्ञाता ही है। नीचे निर्बलता की भूमिका में राग हो आता है, परन्तु उससे धर्म नहीं। राग से धर्म माने और निमित्त के कारण से राग होता है, ऐसा माने, वह मिथ्यादृष्टि है।

ज्ञानी हो, मुनि हो, फिर चाहे जो वेश, क्रिया या संयोग में रहे, कुदेवादि को माने, सुदेवादि का विनय न करे, ऐसा नहीं है। जैसे रेशमी कपड़े के साथ सड़े हुए टाट को जोड़कर कोट सिलावे तो वह शोभता नहीं, उसी प्रकार निश्चय आत्मा में और व्यवहार में वीतरागमार्ग से विपरीत देव-गुरु-शास्त्र को मानता हो, नौ तत्त्व, छह द्रव्य का ज्ञान न हो तो वह निन्द्य है। उसे निश्चय-व्यवहार का मेल नहीं है।

सत्तास्वरूप में लिखा है कि :—

सर्वज्ञ के मार्ग में आकर सत् देव-गुरु-शास्त्र, जिनप्रतिमा की पूजा, भक्ति इत्यादि में प्रेम न आवे तो वह कुलटा स्त्री जैसा है। निश्चय स्वभाव के भानसहित बीच में जिस भूमिका में जैसा व्यवहार हो, वैसा समझना चाहिए। कोई कहे कि हमको निश्चयस्वभाव का भान है, परन्तु वीतरागी सन्त-मुनियों को देखकर उनके प्रति बहुमान-भक्ति-विनय का विकल्प नहीं आता! तो उसे निश्चय-व्यवहार का भान नहीं है। अरे भाई! घर के स्त्री-पुत्र की चिन्ता का भाव आता है, और वीतरागी सन्त-मुनियों को देखने पर तुझे भक्ति का उल्लास नहीं आता, तो तुझे व्यवहार का या निश्चय का एक का भी भान नहीं है।

देखो, स्वभाव के भानसहित की भूमिका में बीच में देव-गुरु का प्रेम, भक्ति इत्यादि शुभराग आता है। राग आता है, इसलिए कहीं निश्चयश्रद्धा-ज्ञान का नाश नहीं हो जाता, तथा राग आता है, वह स्वयं कहीं धर्म नहीं है। वीतरागभाव, वही धर्म है और बीच में भूमिकाप्रमाण शुभरागरूप व्यवहार भी होता है। निश्चय और व्यवहार दोनों को जैसा है, वैसा जाने तो ही मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है। निश्चय-व्यवहार के भान बिना वांछित सिद्धि नहीं होती।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ कृष्ण १२, गुरुवार

व्यवहारसाधन किसे होता है ?

—कि जिसे स्वभाव के आश्रय से निश्चयसाध्यभाव आंशिक प्रगट हुआ हो उसे।

मोक्षमार्ग में निश्चय और व्यवहार का अविरुद्धपना बतलाते हैं। यहाँ प्रमाणज्ञान कराने की बात है। जो जीव अनादिकाल से अज्ञानी है, ज्ञायकमूर्ति अभेद आत्मा का जिसे भान नहीं और अकेले भेद से और राग से ही लाभ मानता है, ऐसा जीव सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र अंगीकार करता है, तब उसे बीच में भेदरूप व्यवहार भी कहते हैं। पूर्ण अभेदभाव प्रगट हो जाये तो व्यवहार न रहे, परन्तु अभी जिसे पूर्ण वीतरागी अभेदभाव प्रगट नहीं हुआ, ऐसे जीव को बीच में विकल्परूप व्यवहार भी होता है। शुद्ध चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें एकाग्रता प्रगट हुई, वह निश्चय है और छठवें गुणस्थान तक शुभराग होता है, उतना व्यवहार का अवलम्बन है। दृष्टि में तो निश्चय की ही प्रधानता है और वैसी दृष्टि चौथे गुणस्थान से ही प्रगट हो गयी है। द्रव्य के आश्रय से प्रगट होनेवाली पूर्ण वीतरागी पर्याय, वह साध्य है और बीच में भेद का विकल्प रहे, उसे उपचार से साधन कहते हैं, वास्तव में तो द्रव्य के अवलम्बन से जो आंशिक शुद्धता प्रगटी है, वही साधन है। व्यवहार के अवलम्बन से लाभ माने, ऐसे जीव की यहाँ बात नहीं है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो मोक्षमार्ग जिसे प्रगट हुआ है, ऐसे जीव की बात है। छठवें गुणस्थान में शुभविकल्प उठता है, उसे यहाँ व्यवहार

अवलम्बी कहा है। परन्तु उस समय अभेद स्वभाव का अवलम्बन भी साथ ही वर्तता है। यहाँ व्यवहार को साधन कहा, उसका अर्थ ऐसा नहीं कि व्यवहार के आश्रय से निश्चय प्रगटे! परन्तु यहाँ निश्चय-व्यवहार दोनों का ज्ञान कराना है। साधक को छठवें गुणस्थान में द्रव्य के अवलम्बन से जितना वीतरागभाव हुआ है, उतना निश्चय है और वहाँ अभी शुभराग है, वह व्यवहार है। उस राग के समय साथ ही निश्चय श्रद्धा-ज्ञान तथा आंशिक चारित्र भी वर्तता है, इसलिए राग में उसका उपचार करके उसे साधन कहा है, परन्तु वास्तव में राग हो, वह कहीं शास्त्र का तात्पर्य नहीं है।

सर्व शास्त्रों का सार तो वीतरागभाव है, चिदानन्द द्रव्य का अवलम्बन लेकर निश्चय श्रद्धा-स्वसंवेदन ज्ञान और स्वरूप में ज्ञान और स्वरूप में लीनता प्रगट हो, वही शास्त्रों का तात्पर्य है। परन्तु पूर्ण वीतरागता न हो, वहाँ साधक को राग भी होता है। धर्मी को दृष्टि में तो वीतरागता ही है, 'मैं शुद्ध चैतन्यवस्तु हूँ, राग का अंश भी मेरा नहीं'—ऐसे शुद्धस्वभाव की ही प्रधानता धर्मी की दृष्टि में वर्तती है। परन्तु अभी उसमें पूरी लीनता नहीं होती, वहाँ साधक को राग भी आता है।

निश्चयस्वभाव के भानपूर्वक चौथे गुणस्थान में देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, पूजा इत्यादि का भाव आता है। पाँचवें गुणस्थान में बारह व्रत और छठवें गुणस्थान में पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण इत्यादि का शुभराग आता है, उस राग का अवलम्बन दृष्टि में तो है ही नहीं, दृष्टि में तो समकिती को एक समय भी निश्चयस्वभाव की मुख्यता छूटती नहीं, परन्तु वीतरागभाव प्रगट नहीं हुआ, वहाँ शुभराग आता है, उसे व्यवहार का अवलम्बन कहा है। शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागभाव है और वीतरागभाव अखण्ड द्रव्य के आश्रय से ही होता है—ऐसा धर्मी को भान हुआ है और पर्यायबुद्धि छूट गयी है। व्यवहार के अवलम्बन से लाभ होता है, ऐसी मान्यता छूट गयी है, उसकी दृष्टि अखण्ड द्रव्य पर है।—ऐसी दृष्टि की मुख्यता रखकर यह सब बात समझने की है।

यदि स्वभावदृष्टि की मुख्यता छूटकर राग की-पर्याय की और व्यवहार की रुचि की प्रधानता हो जाये—तो ऐसा जीव मिथ्यादृष्टि है, ऐसे शुभराग को तो व्यवहार भी नहीं कहते। जिसे निश्चयस्वभाव की दृष्टि है, उसे व्यवहार होता है। निश्चय के बिना राग में व्यवहार का आरोप भी किस प्रकार आवे?

सम्यग्दृष्टि को रागरहित स्वभाव का भान होने पर भी राग क्यों होता है? कि चारित्रगुण की उस पर्याय में वैसे परिणमन की योग्यता है। कर्म के उदय से राग होता है—ऐसी तो बात ही यहाँ नहीं। परन्तु जो राग अपनी निर्बलता से हुआ है, उस राग की भी प्रधानता धर्मी की दृष्टि में नहीं है। धर्मी की दृष्टि का विषय अखण्ड शुद्ध चिदानन्दस्वभाव है। उस दृष्टि में राग की प्रधानता नहीं। परन्तु प्रमाणज्ञान स्वभाव और राग दोनों को जानता है। जिसे अभ्यन्तर स्वभाव की दृष्टि हुई है, परन्तु अभी पर्याय में पूर्ण वीतरागभाव प्रगट नहीं हुआ, उसे राग होता है, उस राग को यहाँ व्यवहारसाधन कहा है, वह आरोप से कहा है। राग को व्यवहारसाधन कहा, इसलिए उसके आश्रय से कुछ लाभ होता है—ऐसा नहीं समझना। श्रद्धा में जिसे व्यवहार का अवलम्बन है अर्थात् कि व्यवहार के आश्रय से लाभ होगा, ऐसा जो मानता है, वह व्यवहारालम्बी नहीं, वह तो मिथ्यात्वअवलम्बी है। यहाँ जिसे दृष्टि में तो निश्चय चिदानन्दस्वभाव का ही अवलम्बन वर्तता है, और चारित्रदशा में अभी राग का अंश भी वर्तता है—ऐसे जीव को राग के समय व्यवहारालम्बी कहा है। चिदानन्दस्वभाव के आश्रय से छठवें गुणस्थान की वीतरागदशा प्रगटी हो, वहाँ ऐसा राग होता ही नहीं कि वस्त्रादि अंगीकार करने की वृत्ति आवे! वहाँ पंच महाव्रत तथा अट्ठाईस मूलगुण का शुभविकल्प होता है—ऐसा ही उस भूमिका का व्यवहार है, परन्तु कोई ऐसा माने कि यह पंच महाव्रत इत्यादि शुभराग के अवलम्बन से छठवाँ गुणस्थान टिकेगा। तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। छठवें गुणस्थान का वीतरागभाव तो द्रव्य के अवलम्बन से ही टिकता है। अनादिकाल से पूर्ण अभेद वीतरागभाव तो द्रव्य के अवलम्बन से ही टिकता है। अनादिकाल से पूर्ण अभेद वीतरागभाव कभी हुआ नहीं, इसलिए छठवें गुणस्थान में अभी शुभराग आता है। शुद्ध चिदानन्दस्वभाव के आश्रय से वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र पर्याय प्रगट हो, वह साध्य है और वहाँ व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का शुभभाव आवे, उसे साधन कहा है—यह साध्य और साधन भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु उस व्यवहारसाधन का आरोप भी कब आवे? कि चिदानन्द ज्ञायकमूर्ति द्रव्य के आश्रय से जिसे निश्चय साध्यदशा प्रगटी हो, उसे शुभराग में व्यवहार साधन का आरोप आता है। परन्तु जहाँ साध्य ही प्रगट नहीं हुआ हो, वहाँ आरोप से भी साधन किसका कहना? देखो, व्यवहार का अवलम्बन करते-

करते निश्चय प्रगट हो जायेगा—यह बात इसमें नहीं रहती। व्यवहार के अवलम्बन से जो लाभ मानता है, ऐसे जीव के शुभराग को तो व्यवहारसाधन में भी नहीं गिना है। जिसे निश्चय का भान हो, ऐसे जीव को ही व्यवहार होता है। श्रद्धा में से जिसे व्यवहार का अवलम्बन छूट गया है, ऐसे जीव को देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति इत्यादि का भाव आवे, उसे व्यवहारसाधन कहा जाता है। जिसे श्रद्धा में से भी राग का अवलम्बन छूटा नहीं और स्वभाव की दृष्टि प्रगटी नहीं, वह तो मिथ्यादृष्टि है।

साध्य वीतरागभाव है, बीच में राग आता है, वह वास्तविक साधन नहीं, ऐसा जाने तो उपचार से शुभ को साधन कहा जाता है। इस प्रकार निश्चय-व्यवहार का यथार्थ ज्ञान अंगीकार करता है, वह सुख से पारगामी होता है अर्थात् कि विकल्प तोड़कर पूर्ण होता है। देव-गुरु-शास्त्र, नौ तत्त्वादि के विकल्प साधक को राग की भूमिका में नहीं आते, ऐसा नहीं बनता। परन्तु वह शुभविकल्प आवे, उसे धर्म माने, उसे दो नयों की अविरोधता नहीं है।

नय है, वह सम्यक्श्रुतज्ञान के भेद हैं। वे मिथ्यादृष्टि को नहीं होते तथा केवलज्ञानी को नहीं होते, परन्तु साधक को नय होते हैं।

निमित्त, राग, निर्मल पर्याय का और पर्यायवान ऐसे द्रव्य का ज्ञान करता है, परन्तु द्रव्य के आश्रय से जितने अंश में वीतरागता होती है, उतने अंश में धर्म है। व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग, वह उपचार से साधन कहा जाता है।

देवादि से शुभराग हुआ नहीं, निमित्त से राग हुआ नहीं। यदि निमित्त से राग होता हो तो सबको समान राग होना चाहिए। शुभराग करे तो सामने की चीज़ को निमित्त कहा जाता है। शरीर की क्रिया, वह व्यवहार नहीं। पूजा, भक्ति के समय देह की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। शरीर की योग्यता से शरीर की क्रिया हुई तो जीव की इच्छा को निमित्त कहा जाता है।

अनन्त आत्मायें पृथक्-पृथक् हैं, एक-एक परमाणु स्वतन्त्र पृथक्-पृथक् है। एक-एक आत्मा में अनन्त गुण, एक-एक गुण की त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायें, ज्ञानगुण की एक पर्याय की पूर्णता होने पर तीन काल-तीन लोक को जाने, ऐसी सर्वज्ञशक्ति

आत्मा में त्रिकाल है, ऐसी स्वतन्त्रता जैनधर्मरूप वस्तुस्वभाव में ही है।

अल्पज्ञता, विकार, निमित्त की रुचि गयी और सर्वज्ञस्वभावी पूर्ण द्रव्य की दृष्टि स्वसन्मुखता से हुई, वह साध्य और स्वाश्रय वीतरागभाव, वह साधन है। व्यवहार-रत्नत्रयरूप शुभराग, वह उपचार साधन है। धर्मी को राग आता है, परन्तु राग वह धर्म नहीं है। स्वभाव के आश्रय से राग होता नहीं। शुद्धस्वभाव की बात करे, परन्तु बीच में भूमिकानुसार राग आवे, उसे यदि न जाने तो उसे भी निश्चय-व्यवहार का भान नहीं और राग को धर्म माने, उसे भी निश्चय-व्यवहार का भान नहीं। शुद्ध आत्मस्वभाव की दृष्टि हुई है, उसमें तो धर्मी को राग का अवलम्बन छूट ही गया है। परन्तु अभी वीतरागी स्थिरता प्रगटी नहीं, वहाँ सर्वज्ञदेव का बहुमान इत्यादि का भाव आता है, उसका नाम व्यवहार है। देखो, सर्वज्ञ को स्वीकार करे तो उसमें अल्पज्ञता-विकार और निमित्त के आश्रय की बुद्धि छूटकर ज्ञानस्वभाव में बुद्धि घुस जाती है। जगत में भिन्न-भिन्न अनन्त आत्मा, एक-एक आत्मा में अनन्त गुण और उनमें समय-समय में परिणमन—ऐसी बात सर्वज्ञशासन के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ है? जो जीव ऐसे सर्वज्ञ को न माने, उसकी तो यहाँ बात ही नहीं। और सच्चे देव-गुरु की ओर का जो शुभराग है, उससे ही जो धर्म मानता है, उसकी भी यह बात नहीं है। यहाँ तो जिसे निश्चय स्वभाव के आश्रय से शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप साध्यभाव प्रगट हुआ है, उसे बीच में शुभराग आवे, उसे व्यवहार से साधन कहा है। तीर्थ अर्थात् साधनभाव और तीर्थफल वह शुद्ध सिद्धदशा—परन्तु किसे? कि जिसे अखण्ड द्रव्यस्वभाव का अवलम्बन है उसे; निश्चय साधन तो अखण्ड द्रव्य का अवलम्बन करना, वह ही है, परन्तु वहाँ राग है, उसे उपचार से साधन कहा जाता है।

पहले जिसे भान तो हुआ है कि मैं अखण्ड चिदानन्दमूर्ति हूँ, राग का अंश भी मेरा नहीं—ऐसे भान के पश्चात् बीच में विकल्प उठता है कि अहो! जगत में सर्वज्ञ वीतरागदेव श्रद्धा करनेयोग्य है, अन्य कुदेवादि श्रद्धा करनेयोग्य नहीं। निश्चयश्रद्धासहित ऐसी व्यवहारश्रद्धा का विकल्प धर्मी को आता है। वह विकल्प स्वयं धर्म नहीं है, तथापि धर्मी को नीचे की भूमिका में वैसा व्यवहार आये बिना नहीं रहता। बस! इस भूमिका का ज्ञान कराने के लिये उसे व्यवहारसाधन कहा है। परन्तु अन्दर में उस समय

द्रव्यस्वभाव की दृष्टि वर्तती है, वह स्वभाव की दृष्टि तो एक समय भी छूटती नहीं।

देखो, मुनिदशा में अन्तरस्वरूप में लीनता से ऐसा सहज पुरुषार्थ होता है कि वहाँ अपने लिये बनाये हुए आहार की वृत्ति ही नहीं उठती, निर्दोष आहार की वृत्ति उठती है और वहाँ शरीरस्थिति टिकने की हो तो वैसे निर्दोष आहार का योग सहज बन जाता है। अन्तर की पवित्रता के साथ ऐसे पुण्य का योग सहज बन जाता है और यदि वैसा योग न बने तो आहार की वृत्ति ही टूट जाती है। ऐसा सहज पुरुषार्थ मुनिदशा में अन्तरस्वभाव के अवलम्बन से वर्तता है। आहार की व्यवस्था का क्या होगा—ऐसा विकल्प मुनि को नहीं होता। निर्दोष आहार का योग बन जाये, ऐसा सहजपुण्य मुनिदशा में होता है। निर्दोष आहार का सहज योग न बनता हो और खास स्वयं के लिये बनाये हुए आहार लेने का परिणाम होता हो तो भी ऐसा माने कि हमको मुनिदशा है—तो उसे मुनिदशा का भान नहीं है। अहो! अन्तर में स्वभाव की रमणता में झूलते-झूलते वीतरागी मुनिदशा प्रगटी हो और देह की स्थिति टिकने की हो तो वहाँ निर्दोष आहार का योग सहज बन जाये, ऐसा पुण्य भी होता है। अन्दर की पवित्रता और पुण्य का जिसे विवेक नहीं और चाहे जैसा आहार लेने का भाव होता हो, तो भी अपने को मुनिदशा इत्यादि मनावे—वह यथार्थ मुनिदशा नहीं है।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ कृष्ण १३, शुक्रवार

निश्चय-व्यवहार का अविरोधपना किस प्रकार से है, यह जाने तो वीतरागता प्रगट हो। जिस जीव को स्वभाव का भान तो हुआ है। आत्मा अखण्ड ज्ञायकस्वरूप है—ऐसी निश्चयदृष्टि तो प्रगटी है, उसे कैसा व्यवहार होता है, वह यहाँ बताते हैं। मैं ज्ञायक बिम्ब हूँ, पर में एक रजकण का भी बदलनेवाला मैं नहीं, और मैं वास्तव में राग का भी बदलनेवाला नहीं। पर्याय को भी बदलने की बुद्धि नहीं, त्रिकाली ज्ञायक द्रव्य के सन्मुख होकर पर्याय परिणमती है, ऐसी दशा में अभी पूर्ण वीतरागता न हुई हो, वहाँ सर्वज्ञदेव की भक्ति-बहुमान का विकल्प आता है। उसे व्यवहार कहते हैं। निश्चयस्वभाव की श्रद्धा तथा व्यवहार में सर्वज्ञदेव की श्रद्धा—ये दोनों एक साथ हैं। दृष्टि में तो

निर्विकल्प स्वभाव का ही अवलम्बन है, परन्तु अभी उस स्वभाव में निर्विकल्परूप से लीनता हुई नहीं, वहाँ ऐसे विचार आते हैं कि मैं जीवतत्त्व परिपूर्ण शुद्ध चैतन्यमय हूँ, शरीरादि अजीवतत्त्व मुझसे भिन्न है, सर्वज्ञदेव की श्रद्धा करनेयोग्य है। अन्य कुदेवादि श्रद्धा करनेयोग्य नहीं। दया, पूजा इत्यादि का शुभभाव, वह पुण्यतत्त्व है—ऐसी श्रद्धा करनेयोग्य है, परन्तु पूजा इत्यादि का शुभराग धर्म का कारण है, ऐसी श्रद्धा करनेयोग्य नहीं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न तत्त्वों के विचार आते हैं—उसे यहाँ व्यवहार कहा है। नौ तत्त्व हैं, उनका स्वरूप भिन्न-भिन्न है, शरीरादि अजीव है, उसके कारण पुण्य-पाप नहीं होते। यदि अजीव से पुण्य-पाप होते हों तो नौ तत्त्व भिन्न-भिन्न नहीं रहते। इसी प्रकार दया-पूजा-व्रत इत्यादि के पुण्यभाव हैं, वे आस्रव हैं, उनसे संवर नहीं होता। यदि पुण्य से संवर होना माने तो नौ तत्त्व भिन्न-भिन्न नहीं रहते, इसलिए जीव को जीव, अजीव को अजीव, पुण्य को पुण्य, संवर को संवर इत्यादि नौ तत्त्वों को जैसा है, वैसा जानना चाएिह। धर्मी जीव ज्ञायकस्वभाव की निर्विकल्प प्रतीतिपूर्वक नौ तत्त्व—छह द्रव्य, पंचास्तिकाय इत्यादि की जैसा है, वैसी श्रद्धा करता है—यह व्यवहार है। छठवें गुणस्थान में भावलिंगी सन्त को भी नौ तत्त्व की श्रद्धा का विकल्प आता है। पंच परमेष्ठी की भक्ति का विकल्प आता है—ऐसा राग आता है, उसे उपचार से तीर्थ कहा जाता है। निश्चय से तो स्वभाव के अवलम्बन से ही वीतरागता होती है और वही तीर्थ है।

आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्दस्वभाव है। उस स्वभाव में जिसे लीनता हुई है, उसे तो 'यह करनेयोग्य है और यह करनेयोग्य नहीं', ऐसा विकल्प भी नहीं होता। सम्यग्दृष्टि को राग के समय वैसा विकल्प आता है, परन्तु उस विकल्प की भावना ही नहीं, उस विकल्प को दूसरे क्षण में लम्बाऊँ—ऐसी उसकी भावना नहीं। छह द्रव्यों में किसी भी द्रव्य को कम माने तो वह मिथ्याश्रद्धा है, छह द्रव्यों में कालद्रव्य को न माने तो उस जीव को वीतराग की वाणी की श्रद्धा नहीं, नौ तत्त्व को यथार्थरूप से जो मानते न हों, वह व्यक्ति श्रद्धा करनेयोग्य नहीं है, जिन शास्त्रों में छह द्रव्य और नौ तत्त्व का यथार्थस्वरूप न कहा हो, वे शास्त्र श्रद्धा करनेयोग्य नहीं। ऐसा विचार शुभराग के समय चौथे-पाँचवें-छठवें गुणस्थान में आता है, वह व्यवहार है। बाहर की क्रिया तो उसके कारण से होती है, उसका कर्ता आत्मा नहीं। अन्तर में चिदानन्दस्वभाव का भान करना,

वह अनन्त काल में नहीं किया हुआ ऐसा अपूर्व पुरुषार्थ है। मिथ्यादृष्टि-कुलिंगी जीव श्रद्धा करनेयोग्य नहीं और सर्वज्ञदेव तथा भावलिंगी सन्त श्रद्धा करनेयोग्य हैं तथा श्रद्धा करनेवाला पुरुष ऐसा होता है कि तीन लोक बदल जाये तो भी उसकी श्रद्धा नहीं बदलती! एक-एक आत्मा स्वतन्त्र, एक-एक आत्मा में अनन्त गुण, एक-एक गुण की अनन्त पर्याय और एक-एक पर्याय में अनन्त अविभागप्रतिच्छेद—ऐसा वस्तुस्वरूप जैनशासन के अतिरिक्त कहीं होता ही नहीं। ऐसे वस्तुस्वरूप की श्रद्धा करनेवाला जीव ऐसा होता है कि पूरा जगत न माने तो भी उसकी श्रद्धा नहीं बदलती, वह यथार्थ वस्तुस्वरूप की श्रद्धा करता है, उसका नाम श्रद्धान है। इससे विरुद्ध माने, उसका नाम अश्रद्धान है। इस प्रकार श्रद्धा सम्बन्धी विचार करता है, उसका नाम व्यवहार है और अभेदस्वभाव की श्रद्धा हुई है, वह निश्चय है। इस प्रकार निश्चय-व्यवहार दोनों एकसाथ हैं।

निश्चयसम्यग्दर्शन तो अभेद-निर्विकल्प वीतराग पर्याय है और व्यवहार सम्यग्दर्शन है, वह तो ज्ञान की पर्याय है, उसमें साथ में विकल्प है, वह राग है। व्यवहारसम्यग्दर्शन में नौ तत्त्व की श्रद्धा है, वह श्रद्धागुण की पर्याय नहीं, परन्तु ज्ञान की पर्याय है। चौथे गुणस्थान में शुद्धस्वभाव की निर्विकल्प श्रद्धा हुई, वह निश्चय-सम्यग्दर्शन है और श्रद्धा करनेयोग्य तत्त्वों का विचार, वह व्यवहारसम्यग्दर्शन है। निश्चयसहित का ऐसा व्यवहार होता है। उस व्यवहार को न माने तो मिथ्यादृष्टि है, और व्यवहार को ही धर्म मान ले तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। निश्चयस्वभाव के आश्रय से धर्म है। व्यवहार से निश्चय प्रगट होता है, ऐसा माने तो उसकी मान्यता में निश्चय और व्यवहार भिन्न नहीं रहते; इसलिए एकान्त हो जाता है। पहले वस्तुस्वभाव का भान होने के पश्चात् उस वस्तु के अवलम्बन से जैसे-जैसे शुद्धता बढ़ती है, वैसे-वैसे उस शुद्धता के अनुसार प्रतिमा होती है और वहाँ भूमिका अनुसार प्रतिमा का विकल्प आता है, वह व्यवहार है।

और श्रद्धा की भाँति ज्ञान का व्यवहार भी कहते हैं—अन्दर में ज्ञान को स्वसन्मुख करके आत्मा को तो स्वसंवेदन से जाना है और राग के समय धर्मी जीव ऐसा विचारता है कि 'मैं ज्ञाता हूँ और तीन काल-तीन लोक मेरे ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य हैं। ज्ञान मेरा गुण है, ज्ञान का कार्य राग नहीं, राग का कार्य ज्ञान नहीं, राग भी वास्तव में मेरे ज्ञान का

ज्ञेय है, अपनी शक्ति थोड़ी हो तो अमुक प्रयोजनभूत तत्त्व ही जाने, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र कैसे होते हैं, कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र कैसे होते हैं—यह जाननेयोग्य है, इस प्रकार ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के भेद से विचार करना, वह व्यवहार है।

जिस भाव से तीर्थंकरनामकर्म बँधता है, वह भाव बन्ध का कारण होने से आस्रव है, उसे मोक्ष का कारण माने, वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी को किसी शुभास्रव की भावना नहीं परन्तु निषेध वर्तता है। अपनी निर्बलता है, तब तक शुभराग होता है, परन्तु यदि उसकी रुचि करे तो रागरहित स्वभाव का अनादर हो जाता है, अर्थात् मिथ्यात्व हो जाता है।

ज्ञानी विचारता है कि यह आचरनेयोग्य है। सम्यग्दर्शन होने पर, निःशंकित आदि आठ आचार हैं, उनके शुभविकल्प आते हैं। चौथे-पाँचवें-छठवें गुणस्थान में भूमिका प्रमाण शुभराग के विकल्प होते हैं, वह व्यवहार है।

छठवें गुणस्थान में वस्त्रादि तथा अधःकर्मी उद्देशिक आहार लेने का विकल्प नहीं होता, परन्तु निर्दोष आहार का ही विकल्प होता है तथा दर्शनाचार-ज्ञानाचार-चारित्राचार-वीर्याचार, अट्ठाईस मूलगुण के शुभविकल्प आते हैं, वह व्यवहार आचरण है, ऐसा मुनि जानते हैं, वे सहज आते हैं। क्रमबद्ध अवस्था बदलती नहीं, परन्तु भूमिका अनुसार राग की मर्यादा होती है।

चौथे गुणस्थान में मद्य, माँस, मदिरा नहीं लेने की इच्छा सहज होती है, क्योंकि तीव्र राग का आचरण नहीं चाहिए, ऐसी दृढ़ता वहाँ होती है। मुनियों को पंच महाव्रतादि आचरण की वृत्ति होती है, वह छठवें गुणस्थान के योग्य है। भाव में निर्ग्रन्थ मुनिदशा होती है और बाहर में चाहे जैसा विरुद्ध आचरण हो, ऐसा नहीं होता। निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध ऐसा होता ही है कि वस्त्र की मूर्च्छा और आसक्ति गयी है, वहाँ वस्त्र होता ही नहीं। वस्त्रादि के त्याग के कारण से मुनिपद नहीं परन्तु वीतरागदशा की भूमिका का अभेदचारित्र हो, उसके योग्य निमित्त और राग होता है, विरुद्ध नहीं होता।

लोगों को बाह्यचीज़ों का ग्रहण-त्याग दिखता है, परन्तु किस अपेक्षा से ?—पर का ग्रहण-त्याग आत्मा में है ही नहीं। राग के लक्ष्य से भी राग नहीं छूटता, क्योंकि

जिस समय राग उत्पन्न हुआ, उस समय में उसे छोड़ा नहीं जा सकता और मानता है कि छोड़ता हूँ तो मिथ्यादृष्टिपना होता है।

शास्त्र में कथन आवे कि राग-कषाय छोड़ो। परन्तु राग हुआ नहीं, उसे छोड़ना क्या? वह तो दूसरे समय में व्यय होता ही है और जिस समय राग है, उस समय में उसे छोड़ना क्या? नहीं हुआ, उसे छोड़ना क्या? इसलिए राग को छोड़ना नहीं, परन्तु स्वभावदृष्टि करने से राग उत्पन्न नहीं होता, उसे राग छोड़ा, ऐसा कहा जाता है। मैं राग छोड़ूँ, ऐसा निश्चय से माने तो राग का करनेवाला हूँ, ऐसी मिथ्याबुद्धि होती है। ज्ञानी को पूर्ण स्वभाव की मुख्यता है, तथापि निर्बलता से विकल्प आवे कि यह कर्तव्य है और यह कर्तव्य नहीं। जहाँ जिस अपेक्षा से कथन है, वहाँ उतना न समझे तो विपरीतता होती है।

जैनदर्शन ऐसा है कि अकेले स्वच्छन्द से समझ ले, ऐसा नहीं और गुरुकृपा से मिल जाये, ऐसा नहीं, परन्तु जो सत्य समझ लेता है, वह विनय से उपचार से कहता है कि अहो! मेरे गुरु ने मुझे अनुग्रहपूर्वक शुद्धात्मा का उपदेश दिया। मेरा अन्तरवैभव गुरुगम से गुरु के अनुग्रह से प्रगट हुआ (समयसार गाथा ५) परन्तु इसका अर्थ यह है कि मेरी पात्रता से ही निजवैभव प्रगट हुआ है।

मेरी योग्यता हो और सुगुरु न मिले, ऐसा नहीं होता। देशनालब्धि में ज्ञानी ही निमित्त होते हैं, परन्तु निमित्त से और विकल्प से समझ में नहीं आता।

मेरा आचार मुझसे दूर नहीं। जड़ देहादि की पर्याय का आचार मैं कर सकता हूँ, ऐसा ज्ञानी मानते ही नहीं।

श्रद्धा करनेवाला, ज्ञान करनेवाला और आचरण करनेवाला आत्मा ही है। मन, वाणी, देह, विकल्प, वह मोक्षमार्ग का आचरण नहीं है। ऐसे विकल्प ज्ञानी को अवश्य आते हैं। ऐसा न आवे, वह निश्चयाभासी है। वीतरागभाव, वह चारित्र है और जितना राग, वह अचारित्र है, ऐसा ज्ञानी जानते हैं।

वस्त्र से चारित्र नहीं और वस्त्र के त्याग से चारित्र नहीं और वस्त्र का सम्बन्ध हो और मुनिपना हो, ऐसा होता नहीं। वस्त्र तथा शरीर की क्रिया, वह व्यवहार नहीं

परन्तु वीतरागतासहित अट्ठाईस मूलगुण के शुभविकल्प वर्तते हैं, वह व्यवहार है।

भगवान महावीर को भी छठवें गुणस्थान में अट्ठाईस मूलगुण इत्यादि के शुभविकल्प आये हैं, यद्यपि वे निश्चय से अचारित्र हैं, परन्तु उस भूमिकानुसार होते हैं।

जैनधर्म की ऐसी आम्नाय है कि जिसकी जो भूमिका हो, उससे विरुद्ध राग हो तो दण्ड है, दोष है, परन्तु नीचा गुणस्थान हो और व्रतादि का शुभराग न हो तो वह भूमिका से विरुद्ध नहीं है। मुनिदशा में मुनियोग्य विकल्प-राग होता है, परन्तु वह धर्म नहीं है, ऐसा जानना, वह निश्चय-व्यवहार की सन्धि है। वह प्रमाणज्ञान का विषय है।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ कृष्ण १४, शनिवार

इस १७२वीं गाथा में निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्ग की सन्धि का कथन है। आत्मा ज्ञायकस्वरूप त्रिकाल ध्रुववस्तु है, वह भूतार्थ वस्तु है और उस भूतार्थ स्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से क्षणिक रागादि भावों को अभूतार्थ कहा है और एक समय की पर्याय का भेद भी अभूतार्थ है। वर्तमान पर्याय त्रिकाली स्वभाव में अभेद होने पर व्यवहारनय का विषय पृथक् नहीं रहता, इसलिए भूतार्थ स्वभाव की दृष्टि से व्यवहार को अभूतार्थ गिना है। समयसार की १३वीं गाथा में भी कहते हैं कि —

भूतार्थ से जाने अजीव जीव, पुण्य, पाप रु, निर्जरा
आस्त्रव, संवर, बन्ध, मुक्ति, ये हि समकित जानना ॥१३॥

अर्थ : भूतार्थनय से जाने हुए जीव, अजीव और पुण्य, पाप तथा आस्त्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, ये नौ तत्त्व सम्यक्त्व हैं।

त्रिकाली ज्ञानानन्दस्वभाव है, वह शुद्धनय का विषय है और वही भूतार्थ है। उसकी अन्तर्दृष्टि करना, वह सम्यग्दर्शन है और उस सम्यग्दर्शन के विषय में व्यवहार अभूतार्थ है, परन्तु प्रमाणज्ञान के विषय में निश्चय और व्यवहार दोनों आते हैं। सम्यग्दृष्टि को भूतार्थस्वभाव की दृष्टि होने पर भी पर्याय में राग होता है, उसे भी वह जानता है। दृष्टि में राग का निषेध होने पर भी, ज्ञान उसे जानता है। यदि उस व्यवहार को न जाने

तो ज्ञान प्रमाण नहीं होता तथा यदि व्यवहार के आश्रय से निश्चय माने तो भी प्रमाणज्ञान या सम्यग्दर्शन नहीं होता। निश्चय से उपयोगस्वरूप ही आत्मा है, उसमें कर्ता-कर्म इत्यादि भेद के विकल्प भी नहीं, परन्तु पर्याय में ज्ञानी को भूमिकानुसार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के विकल्परूप व्यवहार आ जाता है। सम्यग्दृष्टि को भान तो है कि मैं उपयोगस्वरूप हूँ, उपयोग में उपयोग है, उपयोग में क्रोधादि नहीं, और क्रोधादि में उपयोग नहीं। चिदानन्दस्वभाव भूतार्थ है—उस स्वभाव की अरुचि करके जिसने विकार का आदर किया, उस जीव को स्वभाव के ऊपर क्रोध है, वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि उपयोग में उपयोग है। उपयोग में क्रोधादि नहीं अर्थात् जहाँ ध्रुव उपयोगरूप स्वभाव का भान करके उसमें पर्याय उन्मुख हुई, वहाँ आत्मा में क्रोधादि नहीं, अर्थात् कि वहाँ आत्मा की अरुचि नहीं होती और विकार का आदर नहीं होता। जिसे विकार की रुचि है, उस जीव को स्वभाव की अरुचि है। स्वभाव की अरुचि का नाम अनन्तानुबन्धी क्रोध है। उस क्रोध में उपयोग का अभाव है। धर्मी को भेदज्ञान हुआ कि अहो! मैं अभेद ज्ञानस्वरूप हूँ, भेद का विकल्प मेरे स्वरूप में नहीं... ऐसा भान होने पर भी जब तक सर्वथा अभेद वीतरागदशा प्रगट न हो, तब तक चौथे-पाँचवें-छठवें गुणस्थान में भेद का विकल्प आता है। उस विकल्प के समय तीर्थंकर-सन्त-मुनि-सम्यग्ज्ञानी धर्मात्मा इत्यादि तीर्थ को देखकर उनके प्रति बहुमान-भक्ति का उल्लास आता है। मुनि-आर्यिका इत्यादि चार तीर्थ हैं, तथा सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा के प्रति प्रीतिभाव आता है, उस समय, स्वयं को अन्तरस्वभाव की सुदृष्टि के कारण वीतरागभाव बढ़ता जाता है, मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका इत्यादि धर्मात्माओं को देखकर धर्मी को उनके प्रति प्रमोदभाव आये बिना नहीं रहता। पूर्ण वीतरागभाव प्रगट न हुआ हो, वहाँ व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग आता है। वह आत्मा की पर्याय को जैसा है, वैसा प्रमाणज्ञान से जानना चाहिए। द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से समयसार में तो ऐसा कहते हैं कि जितने व्यवहार के परिणाम हैं, वे पुद्गल के परिणाम हैं। वहाँ तो शुद्ध द्रव्यस्वभाव की दृष्टि कराकर पर्यायबुद्धि छुड़ाने के लिये यह कथन है। परन्तु पर्याय में रागादि है, उन्हें जानना चाहिए। यहाँ तो कहा : भूमिकानुसार चार तीर्थ की भक्ति इत्यादि का भाव आता है, वह उत्साह बढ़ने का कारण है, उस समय अन्दर स्वभाव की दृष्टि तो पड़ी है;

इसलिए स्वभाव के आश्रय से वीतरागभाव होता जाता है, इसलिए उपचार से देव-गुरु-शास्त्र के प्रति शुभराग को भी उत्साह बढ़ने का कारण कहा है। जो जीव राग के आश्रय से लाभ मान लेता है और स्वभाव का भान नहीं, उसके राग को व्यवहार नहीं कहते। यहाँ तो निश्चय-व्यवहार की सन्धि का कथन है।

निश्चयस्वभाव की दृष्टि पड़ी है और चौथे-पाँचवें-छठवें गुणस्थान में राग की मन्दतारूप व्यवहार आता है। जैसे दूज के चन्द्रमा की कला क्रम-क्रम से बढ़ती जाती है, परन्तु तवे के टुकड़े में से पूर्णिमा नहीं होती। उसी प्रकार जिसे चिदानन्दस्वरूप की दृष्टि हुई है, उसे स्वभाव के अवलम्बन से क्रम-क्रम से गुणस्थान बढ़ता जाता है। बीच में शुभराग है, उसके कारण से गुणस्थान बढ़ता है, ऐसा कहना वह तो उपचार से कथन है। शुद्ध कारणपरमात्मा है, उसके ही आश्रय से सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रगट होते हैं, टिकते हैं और बढ़कर पूर्ण होते हैं, परन्तु बीच में पर्याय की हीनाधिकता के भेद पड़ते हैं—उन भेदों को लक्ष्य में लेना, वह व्यवहारनय का विषय है। गुणस्थान अनुसार व्रत-भक्ति इत्यादि के भाव आते हैं, वह व्यवहारनय का विषय है। पहले की अपेक्षा शुद्धता के अंश दूसरी पर्याय में बढ़ते जाते हैं, इसलिए पर्याय की अनेकता है। वह अनेकता व्यवहारनय का विषय है। उस व्यवहार का ज्ञान कराने की बात समयसार की १२वीं गाथा में की है। दृष्टि तो अभेदस्वभाव के ऊपर ही पड़ी है, परन्तु स्वभाव के आश्रय से पर्याय में शुद्धता बढ़ती जाती है, उस पर्याय को जानना चाहिए। धर्मी जीव पर्याय का आश्रय नहीं करते, परन्तु पर्याय का ज्ञान करते हैं। चौथे गुणस्थान में ऐसा न माने कि मैं पर्याय में वीतरागी केवली हो गया हूँ! स्वभाव से प्रभु हूँ परन्तु पर्याय में पामरता है! अहो! पर्याय में अभी बहुत अल्पता है, अभी राग होता है, कहाँ सन्तों की और केवली की दशा!! और कहाँ मेरी दशा!! सन्तों की दशा के समक्ष तो मेरी पामरता है! अहो! धन्य उस स्वरूप में झूलते सन्तों की दशा!—ऐसा धर्मी जीव अपनी पर्याय की हद को जानता है और स्वभाव के आश्रय से पुरुषार्थ बढ़ाता है। स्वभाव से मुझमें त्रिकाल प्रभुता है, परन्तु पर्याय में जब तक केवलज्ञान न प्रगटे, तब तक पामरता है—इस प्रकार धर्मी जीव द्रव्य-पर्याय दोनों को जानता है और स्वभाव की ओर का उत्साह बढ़ाता है। द्रव्य का आश्रय रखकर पर्याय का ज्ञान करता है, इसलिए पर्याय में क्षण-

क्षण में शुद्धता बढ़ती जाती है।

द्रव्य का आश्रय छोड़े तो भी मूढ़ता है और पर्याय का विवेक भूले तो भी मूढ़ता है। अभेद स्वभाव का आश्रय रखकर द्रव्य-पर्याय दोनों का ज्ञान करना, वह सम्यग्ज्ञान है। धर्मी जीव को भूमिका प्रमाण शुभराग आता है, परन्तु दृष्टि तो स्वभाव के ऊपर है, इसलिए स्वभाव के अवलम्बन से क्रम-क्रम से चारित्रमोह का नाश होता जाता है। बाहर में परवस्तु के ग्रहण और त्याग का कर्ता तो आत्मा नहीं, इसलिए बाहर में वस्तु छोड़ूँ तो राग छूटे—ऐसा धर्मी मानता नहीं। परन्तु स्वभाव का उद्यम करने से राग छूट जाता है। जिसे स्वभाव की दृष्टि प्रगट हो, उसे विकल्प की भावना नहीं होती। जहाँ मुनिदशा प्रगट हुई, वहाँ सहज ऐसा उग्र पुरुषार्थ होता है कि सदोष आहार की वृत्ति ही उत्पन्न नहीं होती और वहाँ पुण्य का योग सहज ऐसा होता है कि निर्दोष आहार का योग बन जाता है। 'कल कहाँ आहार मिलेगा'—ऐसे विकल्प मुनि को नहीं होते। जैसे-जैसे स्वभाव का अवलम्बन बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे पर्याय की शुद्धता बढ़ती जाती है और राग टूटता जाता है। छठवें-सातवें गुणस्थान में प्रचुर वीतरागभाव प्रगट हो जाता है। छठवें गुणस्थान में जरा सा प्रमाद होता है; मोह का अत्यधिक नाश हो गया है, परन्तु अजानपने से किसी समय प्रमादभाव हो जाता है, तब फिर वापस दण्ड-प्रायश्चित करके शुद्धता करते हैं। मुनिदशा में अज्ञान और मिथ्यात्व तो होता ही नहीं, परन्तु किसी समय सहज प्रमादभाव आ जाता है, उतनी शिथिलता है। परन्तु कहीं कर्म के उदय के कारण से उस जीव को अपराध हुआ—ऐसा नहीं। ग्यारहवें गुणस्थान से कर्म के उदय के कारण से नहीं गिरता, परन्तु अपनी पर्याय की मर्यादा ही इतनी है। ग्यारहवें गुणस्थान में तो कहीं मोह का उदय नहीं, उसकी उपशान्त मोहदशा का काल पूरा होने पर वह दसवें इत्यादि गुणस्थान में वापस आ जाता है। क्षपकश्रेणी क्यों नहीं माँडी ? उपशमश्रेणी माँडी, उस जीव की योग्यता ही ग्यारहवें गुणस्थान तक जाने की है।

इसी प्रमाण छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान भी अपनी पर्याय की योग्यता से आता है। संज्वलन के मन्द उदय से सातवाँ और तीव्र से छठवाँ—ऐसा कहना, वह तो निमित्त का कथन है। समय-समय की पर्याय की योग्यता स्वतन्त्र है। ज्ञानावरणीय कर्म की व्याख्या करे, तब ऐसा कहे कि 'आत्मा के ज्ञान को रोके, वह ज्ञानावरणीय कर्म है'—वहाँ

इसका अर्थ क्या? कि आत्मा अपने ज्ञान की हीन दशारूप से परिणमा, तब सामने निमित्तरूप से ज्ञानावरणीयकर्म का उदय होता है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, परन्तु कोई किसी के कर्ता नहीं, यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय को करे, ऐसा माने तो वह 'ईश्वर ने दुनिया बनायी'—इसके जैसी मिथ्या मान्यता है। जैसे त्रिकाली द्रव्य सत् है, उसका कर्ता कोई ईश्वर नहीं; उसी प्रकार द्रव्य की पर्याय का भी कोई दूसरा कर्ता नहीं। जैसे अन्यमति कहते हैं कि ईश्वर ने जगत को बनाया, उसी प्रकार जैन में भी यदि कोई ऐसा कहे कि 'मेरी पर्याय को निमित्त ने बनायी, अथवा देह की क्रिया मुझसे होती है'—तो वे दोनों जीव मिथ्यादृष्टि हैं। यदि निमित्त से आत्मा की पर्याय हो तो स्वयं ने क्या किया? अपनी पर्याय में पराश्रयभाव से विकार हुआ, वह स्वाश्रय से टल जाता है। 'निमित्त से विकार होता है, इसलिए निमित्त को दूर हटाओ'—ऐसा जो मानता है, उसे स्व-पर की भिन्नता का भान नहीं, वह मिथ्यादृष्टि है।

तिन्नाणं तारयाणं—अर्थात् कि हे भगवान! आप तिरे और हमको तिरानेवाले हो—ऐसा कहना, वह निमित्त से उपचारकथन है। स्वयं स्वाश्रय से तिरे, तब भगवान ने तिराया—ऐसा विनय से कहा जाता है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, अमृतचन्द्राचार्यदेव इत्यादि एक-एक दिगम्बर सन्त आकाश के स्तम्भ जैसे महासमर्थ थे, छठवें-सातवें गुणस्थान में आत्मा के शान्त आनन्दरस में झूलते थे। वे कहते हैं कि द्रव्यस्वभाव के आश्रय से ही शुद्धि होती है। चिदानन्द द्रव्य का आलम्बन, वही मोक्षमार्ग है। पर्याय में निर्बलता से प्रमाद है, उसे जानना, वह व्यवहार है। जिस समय में राग हुआ, उस समय में तो वह उत्पादरूप है, उत्पाद पर्याय का उस समय में व्यय नहीं होता और दूसरे समय में वह टल ही जाती है, इसलिए वास्तव में राग को छोड़ना नहीं पड़ता, परन्तु अन्दर स्वभाव की दृष्टि करके उसका उग्र अवलम्बन लेने से वीतरागता बढ़ती है और राग उत्पन्न ही नहीं होता। पदार्थ का ऐसा स्वरूप यथार्थरूप से जाने बिना बाहर में जितने उपाय करे, वे सब वृथा है।

जीवों ने अनादि से वस्तुस्वरूप क्या है, यह जाने बिना बाहर में सब उपाय कर-करके, उसे धर्म माना है, जैनदर्शन अगम्य है और वह गम्य हो तो अल्पकाल में मुक्ति हो जाये, ऐसा है। गुरुगम बिना वह समझ में आये, ऐसा नहीं। धर्मी को स्वद्रव्य के

आश्रय की दृष्टि तो छूटती नहीं, परन्तु पर्याय में भूमिका के योग्य कोई दोष लग जाये तो गुरु के निकट होकर विनय से सरलतापूर्वक उसका प्रायश्चित लेकर शुद्धता बढ़ाते हैं। अपराध हुआ, वह पर्याय तो टल गयी, परन्तु व्यवहार से उसका प्रायश्चित लिया, ऐसा कहा जाता है। स्वभाव के आश्रय से निर्मलता बढ़ती जाती है और राग टूटता जाता है—इसका नाम मोक्षमार्ग है। बीच में राग रहे, उसका ज्ञान करना, उसे व्यवहार कहते हैं।

वीर संवत् २४७८, ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या, रविवार

यह आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वभाव से भरपूर पदार्थ है, उसके ज्ञान-दर्शन-चारित्र कहीं बाहर से, राग से और निमित्त से प्रगट नहीं होते। अपने स्वभाव के अवलम्बन से ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र की पर्याय प्रगट होती है। इस प्रकार अपने आत्मा का जिसे ज्ञान हुआ है तथा उसमें स्थिरता हुई है, ऐसे जीव को निश्चय-व्यवहार कैसे होते हैं, उसका यह वर्णन है। धर्मी जीव को स्वरूप की श्रद्धा तो एक क्षण भी हटती नहीं। परन्तु अभी पूर्ण वीतरागी स्थिरता प्रगट न हुई हो—वहाँ बारह व्रत, पंच महाव्रत इत्यादि शुभभाव होते हैं और उन व्रतादि में कोई दोष लगे तो उसका प्रायश्चित लेते हैं। वास्तव में तो त्रिकाल ज्ञानस्वरूप आत्मा, वही प्रायश्चितस्वरूप है। उसमें लीनता करना, वह प्रायश्चित है। परन्तु दोष लगे, उनका प्रायश्चित लिया—ऐसा उपचार से कहा जाता है। दोष लगे, वह तो प्रायश्चित के समय व्यय हो गये हैं, परन्तु स्वभाव के अवलम्बनपूर्वक शुभराग है और अशुभराग नहीं होता—इस अपेक्षा से प्रायश्चित कहा जाता है। गुरु के निकट जाकर सरलता से कहे कि प्रभो! मुझे अमुक विकल्प आ गया और अमुक दोष लगा! ऐसा सरलभाव से कहता है, उसमें वाणी तो जड़ के कारण से निकलती है, उस समय शुभविकल्प आया है और ध्रुवस्वभाव का अवलम्बन भी वर्तता है, इसलिए शुद्धता का अंश बढ़ता जाता है।

शुभराग आया, वह साधन और आत्मा की शुद्ध वीतरागदशा, वह साध्य—ऐसा कहना, उसमें भिन्न साधन-साध्य है। राग है, वह आत्मस्वरूप से भिन्न है। व्यवहाररत्नत्रय को निश्चयरत्नत्रय का साधन कहना, उसमें भी साधन-साध्य भिन्न-भिन्न हैं। निश्चय से

तो ध्रुव कारणपरमात्मा के अवलम्बन से ही निश्चयरत्नत्रय प्रगट होता है, परन्तु बीच में भूमिकानुसार व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग होता है। बाहर में देह की क्रिया होती है, वह तो आत्मा की नहीं, शरीर की क्रिया तो आत्मा से भिन्न है ही, और यहाँ तो कहते हैं कि व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प, वे भी शुद्धात्मस्वरूप से भिन्न हैं। उन्हें उपचार से साधन कहा जाता है, क्योंकि उस समय स्वभाव के निश्चयश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र साथ में वर्तते हैं। जैसे धोबी मलिन वस्त्र को पत्थर के ऊपर पछाड़कर धोता है, वहाँ उसे वस्त्र की स्वच्छता का ख्याल है, उसी प्रकार अन्दर में शुद्ध द्रव्यस्वभाव का जिसे भान वर्तता है और उसका अवलम्बन वर्तता है—ऐसे जीव को बीच में व्यवहाररत्नत्रय आता है, उस व्यवहाररत्नत्रय से शुद्धता प्रगट होती है, ऐसा उपचार से कहा जाता है। ज्ञायकस्वरूप से भरपूर आत्मा है। उसमें राग क्या करे? स्वभाव की प्रतीति होकर फिर उसमें एकाग्रता से शान्ति बढ़ती जाती है और व्रतादि का भाव भूमिका अनुसार आता है; वहाँ राग और स्वभाव भिन्न है। दृष्टि में तो सम्यग्दृष्टि को सदा ही अभेदस्वभाव की ही मुख्यता है और भेद की गौणता है। यदि दृष्टि में निश्चय की मुख्यता हटे तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

यहाँ तो चारित्र की अपेक्षा से मुख्यता और गौणता की बात है। चौथे, पाँचवें गुणस्थान में शुभराग होता है, इससे वहाँ व्यवहार की मुख्यता कहलाती है। और सातवें गुणस्थान से निर्विकल्प अनुभव में स्थिर हुआ—वहाँ निश्चय की मुख्यता है। दृष्टि में तो चौथे गुणस्थान से भी अभेद की मुख्यता है; अभेद के आश्रय बिना मोक्षमार्ग कैसा?

छठवें गुणस्थान तक जिनआज्ञा इत्यादि का लक्ष्य होता है, वह शुभराग है परन्तु सातवें गुणसथान में स्वरूप में उपयोग स्थिर होने से जिनआज्ञा का लक्ष्य छूट गया, भिन्न साध्य-साधन छूटकर अभिन्न साध्य-साधन प्रगट हो गये। स्वरूप में सावधान होकर अन्तरंग गुप्तदशा प्रगट हुई, वहाँ बाह्य क्रियाकाण्ड के विकल्प नहीं होते, देव-गुरु-शास्त्र का लक्ष्य भी छूट गया है, पंच महाव्रत के विकल्प भी बहिरंगभाव है। अन्तरंगस्वरूप में गुप्त होने पर वे पंच महाव्रत के विकल्प भी छूट जाते हैं। वहाँ तो परम चैतन्यस्वभाव द्वारा सुन्दर परिपूर्ण परमानन्दस्वरूप भगवान आत्मा में स्थिरता करता है—ऐसा जीव, निश्चयमोक्षमार्ग को अवलम्बन करनेवाला है। श्रद्धा में तो चौथे गुणस्थान से ही

निश्चय का अवलम्बन है, चौथे गुणस्थान में भी निश्चयसम्यग्दर्शन है, उससे अनन्त संसार का नाश होता है। व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग, वह तो उदयभाव है, अकेले व्यवहार से संसार का नाश नहीं होता। क्योंकि व्यवहाररत्नत्रय स्वयं संसार है। निश्चयरत्नत्रयसहित का व्यवहाररत्नत्रय का भाव, वह भी वास्तव में संसार है, उससे रहित चिदानन्दस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-लीनता, वही मोक्ष का उपाय है। सम्यग्दर्शन वास्तव में सराग नहीं होता, राग तो चारित्र का दोष है। सम्यग्दर्शन में राग नहीं होता। राग कहीं सम्यग्दर्शन को नुकसान नहीं करता। राग होने पर भी क्षायिक सम्यग्दर्शन भी होता है। यह चौथे गुणस्थान की बात है। वहाँ अभी स्वरूप में स्थिरता का वीतरागभाव नहीं है और शुभराग वर्तता है, इस अपेक्षा से चारित्र में व्यवहार का अवलम्बन है। पश्चात् स्वरूप के अवलम्बन द्वारा स्थिर होने से राग छूट गया—वहाँ निश्चय का अवलम्बन है। स्वभाव के अवलम्बन से इस प्रकार से मोक्षमार्ग में निश्चय-व्यवहार का वर्णन किया। अब, जिसे अन्तर में स्वभाव का भान नहीं और निश्चय बिना अकेले व्यवहार को मोक्षमार्ग मान लेता है, ऐसे व्यवहाराभासी अज्ञानी की बात करते हैं।

नौवें ग्रैवेयक तक जानेयोग्य शुभराग द्रव्यलिंगी मुनि ने किये, परन्तु उसने कभी स्वसन्मुखता नहीं की। भगवान की आज्ञा प्रमाण व्यवहार करो तो निश्चयमोक्षमार्ग और मोक्ष हो जायेगा, यह बात खोटी है।

बादाम या ब्राह्मी आदि से ज्ञान का विकास होता है, यह मान्यता मूढ़ की है। जिनप्रतिमा के दर्शन, वन्दन इत्यादि से सम्यग्दर्शन होता है, गुरु-शास्त्र से लाभ होता है—इत्यादि पराश्रय की बुद्धि है। परद्रव्य-परक्षेत्र-परकाल-परभाव से लाभ-हानि होती है, ऐसा माननेवाले की दृष्टि निमित्ताधीन है।

शुद्ध आहार मिले तो शरीर और मन शुद्ध होता है, ऐसा मानता है, उसे स्वद्रव्यात्मक अभेद साध्य-साधन नहीं है। मैं ही ज्ञानानन्द वीतरागस्वभाव से पूर्ण हूँ, वही साध्य और स्वाश्रय वीतरागता, वही साधन है, ऐसा जिसे भान नहीं, वह एकान्त व्यवहार से अकेला खेदखिन्न होता है, वह तो निमित्त से लाभ-नुकसान मानकर अटका है। शुभभाव करे तो भी धर्म नहीं, शक्ति अनुसार व्रत-त्याग होता है। परन्तु परिणाम की सामर्थ्य देखे बिना हठ करे, उसे खेद ही होता है।

(मैं) मुक्तस्वरूप हूँ, ऐसी दृष्टि नहीं, इसलिए बारम्बार परद्रव्यस्वरूप धर्मास्तिकाय आदि की श्रद्धादिक करता है। बहुत शास्त्र पढ़ लूँ—ऐसे परसन्मुखता में उसे उत्साह वर्तता है। शास्त्रअभ्यास का निषेध नहीं है, परन्तु वहाँ शास्त्रज्ञान में आत्मज्ञान मानता है, पर लक्ष्य से और पर से ज्ञान मानता है, इसलिए उसे खेदखिन्न कहा है।

अज्ञानी का आत्मा भी अनादि से सहजानन्द मूर्ति ज्ञायक है, परन्तु वह स्वसन्मुख बुद्धि नहीं करता, मिथ्याबुद्धि द्वारा अन्यथा मानता है। एक समय में निमित्त है, राग है, अधूरी पर्याय है और त्रिकाली ध्रुवस्वभाव है। उसमें त्रिकाली स्वभाव की रुचि छोड़कर निमित्त, राग और पर्याय की रुचि करके अज्ञानी उसमें रुक जाता है।

बहुत शास्त्र जानकर उनकी धारण करके अनेक प्रकार के विकल्प के जाल से कलंकित अन्तरंगवृत्ति को धारण करता है, परन्तु ज्ञान आत्मा में से आता है, इसका उसे भान नहीं। जिसे अभी भव्य-अभव्य सम्बन्ध में भी शंका वर्तती है, वैसा जीव वीतराग की वाणी पढ़ने का पात्र नहीं है। भवरहित ऐसे वीतराग की वाणी जिसे बैठे, उसे भव नहीं होते। जिसे अनन्तभव की शंका का वेदन होता हो, वैसा जीव भवरहित पुरुष की वाणी का निर्णय कहाँ से कर सकेगा? 'भव्य हूँ या अभव्य, यह केवली जाने' अर्थात् कि अभी अनन्त भव करने का होगा तो! ऐसी शंका भी जिसे टली नहीं, वह जीव सर्वज्ञ की वाणी का निर्णय करने का पुरुषार्थ किसके जोर से उठायेगा? चिदानन्दस्वभाव की निःशंकता बिना अकेले शास्त्र के पठन से लाभ माने—तो वह जीव व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। चिदानन्दस्वभाव का जिसे भान हुआ है, उसे सर्वज्ञदेव की निःशंकता है और वह व्यवहार को तुच्छ गिनता है। अज्ञानी को अकेला व्यवहार आया, परन्तु अन्तर में चैतन्य का तो पता मिलता नहीं। तो अकेले शास्त्र के पठन से उसे क्या लाभ है? स्वभाव की निःशंकता प्रगट नहीं हुई और अकेले शास्त्र के अवलम्बन से शुभविकल्प में रुका है, तो उसकी अन्तरंगवृत्ति कलंकित है, उसे सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान का लाभ नहीं होता, बहुत तो पुण्य बाँधकर स्वर्ग में जाये और चार गति में भटकता है, परन्तु स्वभाव के अवलम्बन बिना कल्याण नहीं होता।

वीर संवत् २४७८, आषाढ़ शुक्ल १, सोमवार

निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग का वर्णन किया। चिदानन्दस्वभाव के आश्रय से जो निश्चय श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए, वह निश्चयमोक्षमार्ग है और वहाँ साथ में पंच महाव्रत इत्यादि की वृत्ति उठे, उसे उपचार से व्यवहारमोक्षमार्ग कहा है। परन्तु जो जीव ऐसे मोक्षमार्ग को नहीं जानता और अकेले व्यवहार के अवलम्बन से ही धर्म मानता है—ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव की बात अब करते हैं। निमित्त से विकार होता है और विकार हो, उतना मेरा स्वरूप है—ऐसा अज्ञानी जीव मानता है, उसे अन्तर में ज्ञायक चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि नहीं है। ऐसा जीव धर्मास्तिकाय इत्यादि परपदार्थों को श्रद्धा करता है तथा शास्त्रों का वाँचन-मनन करता है, उसमें शुभराग है। उसे ही वह मोक्षमार्ग मानकर कलंकितवृत्तिवाला हो रहा है। और अनेक प्रकार के द्रव्यलिंग का अवलम्बन करके पंच महाव्रत के विकल्प को धर्म मानता है, परन्तु ज्ञानस्वभाव की दृष्टि बिना व्रत होते ही नहीं। बहिरंग व्रत-तप इत्यादि क्रियाकाण्ड के शुभविकल्प में अज्ञानी धर्म मानता है, परन्तु ध्रुवस्वभाव के आश्रय की लीनता में राग नहीं होता और राग के निमित्तरूप पदार्थों का संयोग भी छूट जाता है, इसका उसे भान नहीं है। शरीर की क्रिया तो जड़ के कारण से होती है। आहार की क्रिया जड़ के कारण से होती है; आत्मा आहार को लाता नहीं और शुद्ध आहार के कारण से आत्मा को कुछ लाभ होता है, ऐसा नहीं है। अज्ञानी तो शुद्ध आहार में ही मानो कि धर्म आ जाता हो, ऐसा मानता है और वहाँ ही बहुत समय रुकता है। परन्तु आहार और आहार की ओर का विकल्प—दोनों मैं नहीं; मैं तो ज्ञाननन्दस्वभाव हूँ, ऐसा वह नहीं जानता, वह जीव एकान्त व्यवहारमूढ़ मिथ्यादृष्टि है।

और मिथ्यात्वभाव के कारण वह जीव धर्मराग से पुण्यक्रिया की रुचि करता है, पुण्य करते-करते धर्म हो जायेगा, इस प्रकार वह जीव राग को धर्म का साधन मानता है, परन्तु स्वभावसाधन को नहीं जानता। स्वभाव को जानकर उसके आश्रय से धर्म प्रगट किया हो तो शुभराग में साधन का आरोप आता है, परन्तु अज्ञानी तो शुभराग में ही धर्म मानता है, इसलिए उसे तो शुभराग में धर्म का आरोप भी नहीं आता। किसी

काल में व्रत के परिणाम करके उसे धर्म मानता है, किसी समय शास्त्र के अभ्यास में, किसी समय दया इत्यादि में धर्म मानता है।

सम्यग्दर्शन के चार व्यवहारलक्षण—आस्तिक्य-अनुकम्पा इत्यादि है, वह शुभभाव है, उस शुभभाव का आचरण करके अज्ञानी उसे धर्म मानता है। पर को देखकर उसके ऊपर अनुकम्पा आती है। वहाँ अज्ञानी पर के कारण से अनुकम्पा मानता है, उस अनुकम्पा को प्रवचनसार में दर्शनमोह का लक्षण कहा है। परजीव उसके अपने मोहभाव से दुःखी होता है। किसी संयोग के कारण से वह जीव दुःखी नहीं होता, इसलिए दूसरा जीव उसका दुःख नहीं मिटा सकता। वह जीव स्वयं अपना भान करके मोह टाले तो उसका दुःख मिटे। पर का दुःख मिटाने की किसी की शक्ति तीन काल-तीन लोक में नहीं है।—ऐसा न जानकर अज्ञानी जीव यह मानता है कि मैं परजीव की अनुकम्पा करके उसका दुःख मिटा दूँ। अर्थात् कि पर की दुःखपर्याय को मैं बदल दूँ—ऐसा वह पर का कर्तापना मानता है। ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी आत्मा का उसे भान नहीं है, इसलिए उसकी दया, वह मिथ्यात्वसहित है, वह व्यवहाराभास है। ज्ञायकस्वरूप की रुचि होनी चाहिए, उसके बदले पर को देखकर अनुकम्पा का भाव होना मानता है और उस अनुकम्पा को धर्म मानता है, वह जीव मूढ़ व्यवहाराभासी है।

जगत के पदार्थ स्वतन्त्र हैं और उनका वर्तमान उनके कारण से है, वहाँ दूसरा जीव ऐसा माने कि मैं परपदार्थ की पर्याय को बदल दूँ, यह उसकी विपरीत मान्यता है। वैसी विपरीत मान्यतावाला जीव भले व्रती नाम धरावे या मुनि नाम धरावे, तथापि उसे धर्म नहीं होता। परजीव की दया पालकर मैं उसका दुःख मिटाऊँ—ऐसी मान्यता में स्वयं अपने आत्मा की बड़ी हिंसा कर रहा है, इसका उसे भान नहीं है। छहों द्रव्य पृथक्-पृथक् स्वभाव से अपना कार्य कर रहे हैं, उसके बदले पर के कारण से मैं और मेरे कारण से पर—ऐसा अज्ञानी मानता है, उसे वस्तु की स्वतन्त्रता की खबर नहीं, इसलिए अनुकम्पा के बहाने भी वह मिथ्यात्व को सेवन करता है। अनुकम्पा में किंचित् शुभभाव करे, परन्तु साथ में मिथ्यात्व का जहर इकट्ठा है। चिदानन्दस्वरूप आत्मा के भान बिना अकेली पर की अनुकम्पा करना मानता है, उसे निमित्त की और व्यवहार की भी खबर नहीं है, क्योंकि परजीवों को जो दुःख है, वह निमित्त के कारण से नहीं होता,

परन्तु अपनी पर्याय में अज्ञान के कारण से दु:ख है, तथा अपने को अनुकम्पा हुई है, वह परनिमित्त के कारण से नहीं हुई, परन्तु अपने राग के कारण से हुई है।—इस प्रकार उपादान-निमित्त को भी जो स्वतन्त्र नहीं जानता, उसे चिदानन्दस्वभाव राग से भी भिन्न है, उसका भान नहीं होता और उसके भान बिना धर्म किंचित् नहीं होता। यहाँ अनुकम्पा का राग हुआ, वह भी अपराध है, तो उस अपराध द्वारा पर का कल्याण हो—यह मान्यता तो मिथ्यात्व है। तुझमें राग हुआ, वह भी कलंक है, तो उस कलंकभाव के आधार से परजीव सुखी हो जाये—यह कैसे बने? परजीव तो उसके स्वयं के परिणाम से बँधता है और मुक्त होता है, सुखी-दु:खी उसकी अपनी पर्याय की योग्यतानुसार होता है। इस जीव के अध्यवसान के आधीन परजीव की पर्याय नहीं होती। इसी प्रकार आहार की शुद्धि के आश्रय से आत्मा की पर्याय नहीं होती। शुद्ध आहार हो तो मेरी पर्याय सुधरे—ऐसा माननेवाला भी मूढ़ है। शुद्धता तो ज्ञानानन्दस्वभाव के आश्रय से होती है, ऐसा वह नहीं जानता।

अभव्य जीव भी व्यवहार का पक्ष करता है। स्वभाव की दृष्टि बिना व्रत, तप पालन करे, शास्त्र पढ़े, क्षमा रखे, परन्तु अन्तर में स्वभाव क्या है—उसकी रुचि नहीं करता। धर्मी जीव को चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि कभी भी हटती नहीं। चैतन्यस्वभाव की दृष्टि और अवलम्बन से ही राग छूटता है, इसके अतिरिक्त पर के अवलम्बन से राग वास्तव में नहीं छूटता। अज्ञानी राग की मन्दता करके उसे धर्म मानता है। अभी तो पर के कारण से मुझे विकार होता है, ऐसी जिसकी बुद्धि है—उसे राग की मन्दता भी यथार्थ नहीं होती। अज्ञानी पर के लक्ष्य से क्षमा रखे, ब्रह्मचर्य का शुभभाव रखे, इत्यादि शुभपरिणाम करके उसे वह धर्म मानता है, परन्तु अन्तर में राग से पार शुद्ध कारणपरमात्मा मैं हूँ—इसका उसे भान नहीं है, ब्रह्मानन्द चैतन्य प्रभु की दृष्टि बिना ब्रह्मचर्य कहाँ से आयेगा? और राग का अभाव कहाँ से होगा? और अज्ञानी कभी वैराग्य का विचार करता है कि बस! अपने को तो मोक्षदशा ही चाहिए है! और कभी वह आस्तिक्यभाव को धारण करता है, कि भगवान ने देखा है, वैसा ही वस्तुस्वरूप है, ऐसे पराश्रय से आस्तिक्यभाव करता है, परन्तु ज्ञानस्वभाव की प्रतीतिपूर्वक स्वयं जानता नहीं, इसलिए आस्तिक्यता इत्यादि का अकेला शुभराग है, वह एकान्त व्यवहारालम्बी है। भगवान के

वचन में शंका नहीं करना, ऐसा वह कहता है, परन्तु निश्चयस्वाश्रय बिना निःशंक आदि समकित के आठ अंग यथार्थ नहीं होते।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में अंजनचोर के निःशंकअंग की कथा आती है कि उसने मात्र शंका नहीं की तो भी उसे धर्मी जीवरूप से गिनने में आया और दोषरहित व्यवहार समकित के अंग पाले, द्रव्यलिंगी मुनि होकर अट्ठाईस मूलगुण पाले, ग्यारह अंग पढ़े, शुक्ललेश्या करके अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक तक गया हो तो भी उसे आराधक नहीं गिना। उसका कारण क्या?

जो जीव भविष्य में स्वानुभव से निश्चयसम्यक्त्वादि पाकर मोक्ष में गये, उनके पूर्व के किसी एक प्रकार में बाद के सत्यार्थ धर्म का आरोप करके धर्मी कहा है। कथानुयोग में उसे निःशंकता इत्यादि कहा गया है, परन्तु भविष्य में जो जीव सम्यग्दर्शन न पाया हो, ऐसे जीव के शुभभाव में निःशंकता इत्यादि का आरोप भी नहीं आता। सहज स्वभाव के अवलम्बन बिना चाहे जितने दोष टालकर व्यवहाररत्नत्रय पालन करे, नौ तत्त्व में शंका न करे तो भी उसे धर्मी नहीं गिना है। क्योंकि अपने शुद्धात्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शनादि होते हैं, इसका उसे भान नहीं है। जो धर्म पा गया, उसके पूर्व के निःशंकितादि एक बात का आरोप करके कारण कहा जाता है। परन्तु धर्म पाता है, वह तो निर्विकल्प निश्चय स्वाश्रय से ही पाता है, यही अकाट्य नियम है।

कोई स्वद्रव्य के आश्रय से सम्यक्त्व पावे और कोई चरणानुयोग अपेक्षा से व्यवहार शुभराग से सम्यक्त्वादि धर्म पावे, ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। वर्तमान राग के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं पाता, परन्तु स्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन पाता है। यह तीन काल का अबाधित सिद्धान्त है कि जब-जब कोई भी जीव सम्यग्दर्शनादि पाता है, तब-तब चिदानन्द द्रव्यस्वभाव के आश्रय से ही वह पाता है। राग के आश्रय से कभी कोई जीव सम्यग्दर्शन नहीं पाता, स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन पाया, उस जीव को पूर्व के शुभविकल्प में निःशंकता इत्यादि का आरोप किया जाता है। स्वभाव के भान बिना का अकेला शुभराग तो अनन्त बार जीव ने किया है, तथापि सम्यग्दर्शन क्यों नहीं पाया? क्योंकि शुभविकल्प के कारण से सम्यग्दर्शनादि नहीं होते। ज्ञानानन्दस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शनादि होते हैं।

मुनि का उपदेश सुनकर कौवे का माँस नहीं खाया, ऐसे भील को कथानुयोग में लिया है और अज्ञानी अनन्त बार माँसादि त्यागी द्रव्यलिंगी मुनि हुआ, उसे गिना नहीं। इसका कारण यह है कि उसे व्यवहार की रुचि थी, इसलिए उसे शुभ में आरोप भी नहीं आया। जिसने स्वभाव की दृष्टि प्रगट की, उसके पूर्व के राग में आरोप करके धर्म का कारण कह दिया।

निश्चय वीतरागदृष्टि बिना व्यवहारनय भी लागू नहीं पड़ता। अज्ञानी को स्वभाव के भान बिना अकेले शुभराग का उफान आता है और व्रत-प्रतिमा इत्यादि ले लेता है, परन्तु स्वभाव का तो भान नहीं, तो उसके व्रतादि को उपचार से भी धर्म नहीं कहते।

धर्म प्रभावना, स्थितिकरण, वात्सल्य इत्यादि का शुभराग हो, उसे ही अज्ञानी धर्म मानता है। जिसने अपने स्वभाव का भान करके अपने में स्थितिकरण नहीं किया, वह पर को स्थितिकरण में निमित्त भी नहीं होता और उसके शुभभाव को तो एकान्त व्यवहाराभास कहा जाता है।

वीर संवत् २४७८, आषाढ़ शुक्ल २, मंगलवार

एकान्त व्यवहार माननेवाला मिथ्यादृष्टि कैसा होता है, उसकी यह बात है। शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता है। गुरु भी मोक्षमार्ग का ही उपदेश देनेवाले होते हैं; आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसके अवलम्बन बिना जितने शुभाशुभभाव हैं, उनसे धर्म माने तो वह जैनधर्म का उपदेश ही नहीं। राग से धर्म होता है, ऐसा उपदेश दे तो वह जैनदर्शन का उपदेश ही नहीं, और वैसा उपदेश देनेवाला, वह गुरु नहीं परन्तु कुगुरु है। गुरु कैसे होते हैं, यह आत्मावलोकन में कहते हैं कि :—

वीतरागं वीतरागीं जीवस्य निजस्वरूपो वीतराग
मुहुर्मुहुर्गृणनाति वीतरागं स गुरुपदं भासति सदा'

जीव का निजस्वरूप वीतराग है, ऐसे वीतरागस्वरूप को जो बारम्बार चिन्तवन करते हैं और बारम्बार वही कहते हैं—ऐसे जीव गुरुपदवी में शोभते हैं। जो जीव राग को उपादेय मनावे, राग करते-करते धर्म होना मनावे—तो वह जीव गुरु नहीं, परन्तु कुगुरु है।

बीच में राग आवे, परन्तु उस राग से धर्म होता है—ऐसा जैनदर्शन में तीन काल में नहीं है। चिदानन्दस्वभाव को चूककर एकान्त राग से और व्यवहार से जो लाभ मानता है, उस जीव को जैनदर्शन की खबर नहीं। वास्तविक वात्सल्यभाव भी किसे होता है? चिदानन्दस्वभाव के भानपूर्वक बीच में देव-गुरु-शास्त्र का प्रेम और साधर्मी का वात्सल्य आवे, वह व्यवहार से वात्सल्य है। परन्तु जो जीव चैतन्य का प्रेम चूककर अकेले पर के राग से मुक्ति होने का मानता है—वह तो व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। राग से मोक्ष कैसे होगा? राग तो अंगारा समान है और मोक्ष तो शान्तिमय है। अग्नि से शान्ति कैसे होगी? चैतन्य ज्ञायकस्वभाव का भान करके स्वयं अपने में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना, वह परमार्थ प्रभावना है और वहाँ बीच में धर्मप्रभावना का भाव होता है। परन्तु अज्ञानी जीव तो निश्चयस्वभाव के भान बिना अकेले शुभराग की ही भावना भाता है। धर्मी को तीर्थंकर नामकर्म जिस भाव से बँधे, उस भाव की भी भावना नहीं होती। अज्ञानी राग की भावना भाता है। उसे तीर्थंकरनामकर्म कभी नहीं बँधता। दर्शनशुद्धिपूर्वक सोलह (कारण) भावना होती है, वहाँ तीर्थंकरनामकर्म बँध जाता है। अज्ञानी अकेले शुभराग से धर्म मनवा कर उस राग में बारम्बार उत्साह करता है। परन्तु दर्शनशुद्धि का तो उसे भान नहीं—ऐसा जीव एकान्त व्यवहारावलम्बी मिथ्यादृष्टि है।

और शास्त्रस्वाध्याय करे, पठन-पाठन करे और उससे सम्यग्ज्ञान होना मानता है, वह भी मूढ़ है। शास्त्र की ओर के झुकाव के भाव से ऐसा मानता है कि मैं ज्ञानभावना करता हूँ। परन्तु ज्ञान तो ज्ञायक में है—ऐसा उसे भान नहीं है। ज्ञान का विनय करे, शास्त्र-गुरु का बहुमान करे—इस प्रकार के शुभराग से ज्ञान खिलेगा, ऐसा एकान्त मानता है, परन्तु ज्ञानस्वभाव में से ज्ञान खिलता है—ऐसे निश्चयस्वभाव को मानता नहीं और अकेला व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट हो जायेगा, ऐसा मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। शास्त्रभक्ति के लिये लाखों रुपये खर्च करे, परन्तु कहीं पैसे के आधार से धर्म नहीं है। शास्त्र में कुछ ज्ञान नहीं। शास्त्र में कहा हुआ अपना स्वभाव क्या है? उसे समझकर उसके अवलम्बन से ज्ञान प्रगट होता है। अज्ञानी ऐसी दलील करते हैं कि समयसार पढ़ने से एकान्त निश्चय हो जाता है, इसलिए समयसार नहीं

वाँचना चाहिए। और इसके लिये बनारसीदासजी का दृष्टान्त देते हैं। परन्तु वह दृष्टान्त सबको लागू नहीं पड़ता। वे तो पहले एकान्त निश्चयाभास में उतर गये थे। परन्तु इससे कहीं समयसार के अभ्यास का निषेध नहीं हो सकता। निश्चयस्वभाव समझे बिना अकेले व्यवहार क्रियाकाण्ड चाहे जितना करे तो भी उससे किंचित् कल्याण नहीं है। शास्त्र का बहुमान करे, गुरु इत्यादि का उपकार समझकर उनका बहुमान, भक्ति करे, परन्तु गुरु तो कहते हैं कि तेरी प्रभुता तेरे आत्मा में भरी है। उसकी प्रतीति कर!—ऐसी प्रतीति स्वयं स्वसन्मुख होकर करता नहीं और अकेले विनय इत्यादि राग को ही धर्म मानता है तो वह विनय मिथ्यादृष्टि है। भाई! तेरा सम्यग्दर्शन तेरे द्रव्य के अवलम्बन से है। कहीं गुरु के पास तेरा सम्यग्दर्शन पड़ा नहीं है, तथापि सच्चे ज्ञानी गुरु मिले बिना कोई जीव अपने आप स्वच्छन्द से सम्यक्त्व पा जाये, ऐसा भी नहीं होता। धर्म प्राप्त करनेवाले जीव को निमित्तरूप से सद्गुरु अवश्य होते हैं, फिर इस भव में मिले हों या पूर्व भव में मिले हों, परन्तु गुरु होते अवश्य हैं, तथापि गुरु से ज्ञान पा जाये, ऐसा भी नहीं है।

शास्त्र के अर्थ, अक्षर और अर्थअक्षर दोनों—ऐसे तीन प्रकार की शुद्धता रखने का विचार करता है, वह भी शुभराग है। वैसा शुभराग बीच में आता अवश्य है, परन्तु स्वभाव को चूककर अकेले उस राग में ही धर्म मानकर जो प्रवर्तता है, वह मिथ्यादृष्टि व्यवहारमूढ़ है। गणधरदेव को भी चिदानन्दस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान और रमणता प्रगट हुए होने पर भी पूर्ण वीतरागी स्थिरता न प्रगटी हो, वहाँ ज्ञानाचार इत्यादि का शुभविकल्प आता है। विकल्प आवे, वह अलग बात है, परन्तु उसे ही धर्म मानकर वहाँ रुक जाना, वह मिथ्यात्व है।

अहिंसा पालन करूँ, सत्य बोलूँ, चोरी न करूँ, ब्रह्मचर्य पालन करूँ और परिग्रह छोड़ूँ—ऐसे पंच महाव्रत के विकल्प, वह भी शुभराग है, आस्रव है। अज्ञानी उस राग को ही सर्वस्व मान लेता है, परन्तु राग तो अध्यवसाय है, सर्वज्ञदेव ने अध्यवसानो को त्याज्य कहकर व्यवहारनय का ही त्याग कराया है। अमृतचन्द्राचार्य समयसार (कलश १७३) में कहते हैं कि :

सर्व वस्तुओं जो अध्यवसान होता है, वह समस्त ही (अध्यवसान) जिन भगवानों

ने पूर्वोक्त रीति से त्यागनेयोग्य कहे हैं, इसलिए हम ऐसा मानते हैं कि 'पर जिसका आश्रय है, ऐसा समस्त व्यवहार ही छुड़ाया है।' तो फिर, यह सत्पुरुष एक सम्यक् निश्चय को ही निष्कम्परूप से अंगीकार करके शुद्धज्ञानघनस्वरूप निज महिमा में अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थिरता क्यों नहीं धरते?

इस श्लोक की टीका करते हुए बनारसीदासजी नाटक समयसार में कहते हैं कि:—

असंख्यात लोक परवांन जे मिथ्यात्वभाव,
तेई विवहार भाव केवली-उक्त हैं।
जिन्हकौ मिथ्यात गयौ सम्यक दरस भयौ,
ते नियत-लीन व्यवहारसौ मुक्त हैं॥

अहो सन्तों! भगवान ने तो निश्चयस्वभाव का ही अवलम्बन कराकर समस्त व्यवहार को छोड़ने का उपदेश किया है। जो जीव शुद्धस्वभाव का अवलम्बन करता है, वह जीव समस्त व्यवहार के विकल्पों को छोड़कर मुक्ति प्राप्त करता है। व्यवहारनय के अवलम्बन से लाभ माने, उसे भगवान ने मिथ्यादृष्टि कहा है।

छठवें गुणस्थान में सन्तों को पंच महाव्रत का शुभविकल्प आवे, वह भी आस्रव है, वह बहिर्धर्म है अर्थात् कि वास्तव में वह धर्म नहीं। राग, वह धर्म कैसे होगा? शास्त्रों का तात्पर्य तो वीतरागभाव है, और वही धर्म है। पंच महाव्रत का रागभाव भी निश्चय से अचारित्र है। वह कहीं मोक्ष का कारण नहीं। मोक्ष का कारण तो वीतरागी स्वरूप आचरण है और वही वास्तविक चारित्र है। निश्चय स्वभाव की स्थिरतापूर्वक बीच में पंच महाव्रत इत्यादि का भाव आता अवश्य है, परन्तु ज्ञानी उसे धर्म नहीं मानते। अज्ञानी उस स्वभाव को चूककर राग को ही धर्म मानते हैं, इसलिए उन्हें तो शुभराग के साथ मिथ्यात्व का सेवन होता है। इसलिए उसके शुभराग की क्या गिनती? उसके शुभराग को तो मिथ्यात्वरूपी बड़ा भैंसा चबा जाता है।

पहले राग सर्वथा नहीं टलता, परन्तु राग की रुचि छूटकर स्वभाव की रुचि होनी चाहिए। जिसे जैसी रुचि हो, वैसी बात का वह चौबीस घण्टे अनुमोदन दिया करता है।

और वैसे भाव को घोंटा करता है। जिसे स्वभाव की रुचि हुई, वह क्षण-क्षण में स्वभाव का ही आदर करता है, राग होने पर भी उसे उसका आदर या रुचि नहीं है। अज्ञानी स्वभाव की रुचि छोड़कर, राग की रुचि से पाँच समिति इत्यादि के शुभभाव करता है, वह एकान्त व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। परजीव की रक्षा करना, उसे अज्ञानी धर्म कहते हैं। परन्तु परजीव की रक्षा तो कोई जीव कर सकता ही नहीं; इसलिए वह कहीं जैनधर्म नहीं है। और परजीव की रक्षा का शुभराग होता है, वह भी जैनधर्म नहीं। जैनधर्म तो वीतरागभाव है और वह वीतरागभाव चिदानन्दस्वभाव के अवलम्बन से है। अज्ञानी जीव राग में धर्म मानता है, इसलिए पाँच समिति, गुप्ति इत्यादि के राग में ही वह अपने उद्यम को सर्वथा जोड़ देता है। स्वभाव की ओर का किंचित् उद्यम वह नहीं करता, इसलिए वह एकान्त व्यवहारी मिथ्यादृष्टि है।

और, बाहर में अनशन करे, कम खाये, अमुक वस्तु छोड़ दे, रस छोड़कर रूखा खाये, एकान्तवास में रहे, कायक्लेश करे, इस प्रकार दम्भ से नहीं, परन्तु मन्द कषाय से करे और उसमें धर्म मानकर सदा ही वहाँ ही उत्साह किया करे, इस प्रकार शुभ में प्रवर्तकर उसे ही धर्म मानता है। उसे धर्म किंचित् नहीं है।

अज्ञानी मानता है कि बाहर की वस्तु का त्याग करूँ तो धर्म होगा। परन्तु भाई! बाहर की वस्तु तो तुझसे छूटी हुई ही पड़ी है, उसका त्याग करने का मानकर उसका अहंकार करता है, उसने 'स्वधर्म का त्याग' किया है; स्वभाव के आश्रय से शुद्धता होने पर राग टूटता है, उसका भान नहीं और बाहर में त्याग करूँ तो राग छूटे—ऐसा अज्ञानी मानता है। तू तेरे ज्ञायकस्वरूप को सम्हाल और उसमें एकाग्र रहे, इसका नाम वास्तविक विविक्तशय्यासन इत्यादि तप है। परद्रव्य लाभ-नुकसान नहीं करता—ऐसा जो समझे, उसे परद्रव्य के संग की भावना छूटकर स्वभाव की भावना हो और उसका राग बहुत टूट जाये। परद्रव्य से नुकसान नहीं, इसलिए चाहे जैसा स्वच्छन्दभाव सेवन करना—ऐसा इसका अर्थ नहीं है। स्वच्छन्दभाव सेवन करे, वह तो अकेले पाप को सेवन करता है, उसकी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो जो जीव अशुभभाव छोड़कर व्रत-तप इत्यादि के शुभभाव करता है और उस शुभराग को ही धर्म मानता है, परन्तु स्वभाव का भान नहीं करता, वह जीव भी मिथ्यादृष्टि है। स्वभाव का अवलम्बन करता नहीं और राग में ही

सर्वस्व मान लेता है—उस जीव को धर्म बिल्कुल नहीं होता।

सहज पाप लगे, वहाँ सरलता से प्रायश्चित ले, देव-गुरु की सेवा करे, विनय करे, शरीर से उदासीनता रखे, स्वाध्याय करे और शुभविकल्पोंरूप ध्यान करे—ऐसे शुभभाव करे और उस राग को ही मोक्ष का कारण माने—परन्तु चैतन्यस्वभाव को जाने नहीं—तो वह व्यवहारमूढ़ मिथ्यादृष्टि है। स्वभाव की दृष्टि बिना अकेली शास्त्र के ओर की बुद्धि, वह भी कलंकित बुद्धि है। स्वभाव को तो पढ़ता नहीं और अकेले शास्त्र को पढ़कर उससे कल्याण मानता है तो वह जीव बहिर्मुख बुद्धिवाला है। चैतन्यस्वभाव की रुचि करे नहीं और राग की रुचि करके, उसे धर्म माने, उस जीव को चैतन्य का ध्यान नहीं होता। शुभविकल्प करके उसे वह ध्यान मानता है, परन्तु वह वास्तविक ध्यान नहीं है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी कहा है कि :—

- गम पड़े बिना आगम अनर्थकारक हो जाते हैं।
- सत्संग बिना ध्यान, वह तरंगरूप हो जाता है।
- सन्त बिना अन्त की बात में अन्त पाता नहीं।
- लोकसंज्ञा से लोकाग्र में नहीं जाया जाता।

ज्ञानार्णव इत्यादि में व्यवहार धर्मध्यान के अनेक प्रकारों का वर्णन आता है, परन्तु वह तो शुभराग है। चैतन्य के ध्यानपूर्वक ऐसा शुभविकल्प हो, उसे व्यवहार से धर्मध्यान कह दिया, परन्तु जिसे अभी चैतन्य का भान नहीं और बाहर के क्रियाकाण्ड के राग से धर्म मानता है, उसे तो निश्चयध्यान होता नहीं और निश्चयधर्मध्यान बिना शुभराग को व्यवहारध्यान भी नहीं कहा जाता। आत्मस्वभाव की ओर आंशिक भी वीर्य झुकाता नहीं। जहाँ स्वभाव के आश्रय की बात आवे, वहाँ उसका तो नकार आता है और शुभरागरूप व्यवहार के अवलम्बन में ही सर्वशक्ति को रोक दिया है, ऐसा जीव एकान्त व्यवहारावलम्बी मिथ्यादृष्टि है। कर्मचेतना की प्रधानता से अशुभकर्म की प्रवृत्ति को तो दूर किया है और शुभकर्म की प्रवृत्ति को अंगीकार करके उसमें प्रवर्तता है, परन्तु कर्मचेतनारहित शुद्ध ज्ञानचेतना क्या है, उसे जानता नहीं। वह जीव क्रियाकाण्ड के आडम्बर में गर्वित है। परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से गर्भित ऐसी शुद्धज्ञानचेतना को

वह किसी काल में पाता नहीं। ऐसे जीव को क्या होता है ? कि बहुत पुण्यआचरण के भार से गर्भित चित्तवृत्ति को वह धारण करता है, शुभभाव में वह खेदखिन्न-आकुल-व्याकुल रहता है। ऐसे जीवों के लिये कहा है कि :—

सब साधन बन्धन हुए, रहा न कोई उपाय,
सत् साधन समझा नहीं, वहाँ बन्धन क्या जाये ?

चिदानन्दस्वभाव का भान नहीं और केवल व्यवहारनय के अवलम्बन से लाभ मानता है, ऐसे केवल व्यवहारावलम्बी मिथ्यादृष्टि जीव शुभभाव से स्वर्ग इत्यादि के क्लेश की परम्परा को पाते हैं। अज्ञानी को स्वर्ग में भी क्लेश है। 'अभी पुण्य करके स्वर्ग में जाऊँगा और वहाँ से भगवान के पास जाकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करूँगा'—ऐसे वर्तमान में जो जीव राग की रुचि करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। अज्ञानी को ज्ञानकला का भान नहीं, परमज्ञानकला के अभाव से अज्ञानी जीव बहुत कालपर्यन्त संसार में परिभ्रमण करता है। देखो, ज्ञानी को ज्ञानकला जागृत है, उसे राग की रुचि नहीं होती। वह सहज वैरागी है। बनारसीदासजी कहते हैं कि :—

ज्ञानकला जिनके घट जागी, वे जगमांही सहज वैरागी;
ज्ञानी मगन विषयसुखमांही, यह विपरीत संभवे नांही।

ज्ञानी को स्वभाव का भान हुआ, इसलिए वह सहज वैरागी होता है, उसे विषय में सुखबुद्धि हो, ऐसा कभी नहीं होता—ऐसे ज्ञानी तो अल्पकाल में मोक्ष पाते हैं, और व्यवहार की रुचिवाला जीव अनन्त काल संसार में परिभ्रमण करता है।

इस प्रकार एकान्त व्यवहारावलम्बी मिथ्यादृष्टि का वर्णन किया। अब, एकान्त निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि का वर्णन करेंगे।

वीर संवत् २४७८, आषाढ़ शुक्ल ३, बुधवार

सर्व शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता है, चारों अनुयोग के शास्त्रों का सार तो चिदानन्दस्वभाव की वीतरागी श्रद्धा—वीतरागी ज्ञान और वीतरागी आचरण करना, वही

है। बीच में राग आता अवश्य है, परन्तु वह मोक्षमार्ग नहीं है।

आत्मा अनन्त परद्रव्यों से भिन्न है और वास्तव में एक समय के विकार से भी भिन्न उसका स्वभाव है, आत्मा 'ज्ञ' स्वभावी वस्तु है, उसके सन्मुख दृष्टि और एकाग्रता करके वीतरागभाव हो, वही शास्त्रों का सार है। स्वभाव के अवलम्बन से ही मोक्षमार्ग है और वहाँ निश्चयपूर्वक बीच में राग आवे, वह व्यवहार है। ऐसे मोक्ष को जो जीव नहीं मानता और अकेले शुभाचरण में ही मोक्षमार्ग मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। उसके लिये गाथा कहते हैं कि :—

चरणकरणप्पहाणा सुसमयपरमत्थमुक्कवावारा।
चरणकरणस्स सारं णिच्चयसुद्धं ण जाणंति॥

चैतन्यस्वभाव की दृष्टि और अवलम्बन चूककर बाह्य के आचरण में और राग में ही जिसे प्रधानता हो गयी है, ऐसा जीव स्वसमयरूप परमार्थ के व्यापार से रहित है और चरण-करण के साररूप जो शुद्ध निश्चय है, उसे वह जानता नहीं, चैतन्य की प्रधानता चूककर जो अकेले राग की ही प्रधानता से मोक्षमार्ग मान रहा है, वह मिथ्यादृष्टि है। शास्त्रों में जो व्यवहार के आचरण कहे हैं, उन्हें वह मोक्ष साधन मानता है, परन्तु उस व्यवहार कथन का सार तो शुद्ध आत्मा है। उसे वह नहीं जानता। ऐसे जीव को मोक्षमार्ग नहीं होता, वह जीव एकान्त व्यवहारालम्बी मिथ्यादृष्टि है।

अब, जिस जीव को शुद्धनिश्चयस्वभाव का भान तो नहीं परन्तु शुद्धनिश्चय की मात्र बातें करता है और व्यवहार के शुभभाव को छोड़कर स्वच्छन्द को सेवन करता है, ऐसे एकान्त निश्चयाभासी जीव की बात करते हैं। शुद्धस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान होने के पश्चात्, उसमें पूर्ण लीनता न हो, वहाँ बीच में गणधरदेव को भी शुभराग आता है, उस व्यवहार को जो जीव नहीं मानता, भूमिका अनुसार कैसा राग घटता है, उसका विवेक नहीं करता और मात्र निश्चय की बातें करता है, तो वह भी स्वच्छन्दी है।

देखो, निश्चयस्वभाव तो आदरणीय ही है, परन्तु जिसे निश्चयस्वभाव की दृष्टि प्रगटी हो, उसके ज्ञान में पर्याय का विवेक बराबर होता है। परद्रव्य से आत्मा को पाप नहीं लगता—ऐसा कहकर रात्रि में खाने के भाव करे, स्त्री के संग का भाव करे, ऐसे

स्वच्छन्द परिणाम सेवन करे तो वह जीव भ्रष्ट है, उसे निश्चय का भी भान नहीं और व्यवहार का भी भान नहीं। भगवान की पूजा, देव-गुरु का विनय, साधर्मी का प्रेम, धर्म की प्रभावना इत्यादि का उल्लासभाव चौथे-पाँचवें गुणस्थान में धर्मी को आये बिना नहीं रहता, ऐसे शुभभाव को आडम्बर कहकर उसे छोड़ दे और अशुभभाव को ही सेवन करे तो वह जीव तो स्वच्छन्दी और भ्रष्ट है, वह जीव वस्तुस्वरूप को जानता नहीं। निश्चय की दृष्टि हो, उसे पर्याय में कितना वैराग्यभाव होता है ? 'सम्यग्दृष्टि को भोग निर्जरा का हेतु है'—ऐसा समयसार में कहा है, तो वह शुद्धस्वभाव की दृष्टिअपेक्षा से कहा है, भोग के भाव के समय भी सम्यग्दृष्टि को शुद्धस्वभाव की दृष्टि अपेक्षा से कहा है। भोग के भाव के समय भी सम्यग्दृष्टि को शुद्धस्वभाव की दृष्टि हटती नहीं। इस अपेक्षा से उसे दृष्टि के जोर से निर्जरा कही है, परन्तु जो रागभाव है, वह तो उसे भी बन्ध का कारण है। रागभाव के कारण कहीं निर्जरा नहीं होती, परिणाम का विवेक न करे और स्वच्छन्दी होकर चाहे जैसे भावों में वर्ते—तो वह मूढ़ है, जिस भूमिका में जो जो योग्य हो, वह समझना चाहिए। अन्दर में जिसे चिदानन्द ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि हुई हो, उसे राग बहुत छूट जाता है और राग के निमित्तों की ओर का झुकाव भी छूट जाता है। अज्ञानी तो स्वभाव का भान करता नहीं, और पर्याय का विवेक भी करता नहीं और 'जैसी पर्याय होनेवाली होगी, वैसी पर्याय क्रमबद्ध होगी', ऐसा कहकर व्रतादि के परिणाम से उदासीन होकर, तीव्र विषय-कषायभाव को सेवन करे, कुदेवादि को माने और सच्चे देव-गुरु के प्रति प्रेम आवे नहीं—ऐसे जीव तो मिथ्यादृष्टि हैं, अपने परिवार की अपेक्षा भी साधर्मी जीवों के प्रति धर्मी जीव को अधिक प्रेम आता है। जिसे देव-गुरु के ऊपर प्रेम नहीं आता, साधर्मी के प्रति प्रेम नहीं आता और विषय-कषाय के पाप परिणाम को सेवन करता है—ऐसे जीव तो भ्रष्ट हैं। देखो, बीच में शुभराग, पूजा-भक्ति इत्यादि व्यवहार आता है, परन्तु मोक्षमार्ग तो निश्चय स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान और चारित्ररूप वीतरागभाव ही है। देखो, बीच में भूमिका अनुसार शुभरागरूप व्यवहार आता है, उसे ज्ञानी जानता है, परन्तु उस राग को मोक्षमार्ग नहीं मानता। 'बीच में व्यवहार आवे, उसे यदि मोक्ष का कारण माने तो ही व्यवहार को माना कहलाये' ऐसा नहीं है। यदि व्यवहार से निश्चय होना माने तो वह भी एकान्त व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि

है और शुभराग, वह मोक्षमार्ग नहीं, इसलिए शुभ का विकल्प छोड़कर अशुभराग करे, मद्य-माँसादि खाने के भाव करे और निश्चय की दृष्टि है, ऐसा कहे तो वह एकान्त निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है। मद्य-माँस को खाने की वृत्ति महापाप है, वैसी वृत्ति धर्मी को नहीं होती।

पुरुषार्थसिद्धिउपाय में तो कहते हैं कि :—

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धविधः ॥७४॥

जो पुरुष दु:खदायक दुस्तर और पापों के स्थानरूप इन आठ पदार्थों को छोड़कर (मद्य, माँस, मदिरा, पाँच उदुम्बर फल) निर्मल बुद्धिवाला होता है, वही जिनधर्म का उपदेश सुनने को पात्र बनता है।

जिसे माँस भक्षण इत्यादि का भाव है, वह जीव उपदेश का श्रवण करने को भी पात्र नहीं, तो फिर सम्यग्दृष्टि जीव को तो माँस का भक्षण होगा ही कैसे? जैन नाम धरानेवाले को भी माँसादिक की खुराक नहीं होती। स्वभाव की रुचि हो, ऐसे जीव को माँसादि खाने का तीव्र पापभाव होता ही नहीं। इस प्रकार का तीव्र रागभाव तो सहज छूट जाता है। कोई कहे कि स्वभाव की दृष्टि रखना, माँसादि खाने में कोई बाधा नहीं। तो वह जीव निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग को जाने बिना बक रहा है। सम्यग्ज्ञानी को भूमिका का सब प्रकार का विवेक सहज होता है। निश्चय-व्यवहार दोनों का यथार्थ ज्ञान होना चाहिए। अपनी कल्पना से अभेद निश्चय साध्य-साधन अपने में मानता है और अशुभसहित मिथ्यात्वरूप प्रमाद में मूर्च्छित वर्तता है 'अतो भ्रष्ट ततो भ्रष्ट' होकर न तो निश्चय को पाता है और न तो व्यवहार शुभभाव को पाता है, मोक्षमार्ग की पर्याय का तथा राग का विवेक नहीं, सत्शास्त्र का स्वाध्याय नहीं, समागम नहीं, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का विनय नहीं, स्वच्छन्द में मूढ़ होकर रहता है। प्रमादरूपी मदिरा से मस्त रहता है और कहता है कि 'शुद्ध उपयोग में हैं। परन्तु गणधरदेव को भी निर्विकल्पता अधिक काल तक नहीं रहती तो तुझे कहाँ से होगी?' जैसे कोई बहुत घी-शक्कर, दूध इत्यादि गरिष्ट पदार्थ खाकर मूर्च्छित आलसी जड़ जैसा होकर रहता है, उसी प्रकार शुष्क ज्ञानी ज्ञायक की जागृति बिना मूढ़ता में आनन्द मानकर, सत्साधन का निषेध

करके, प्रमाद में मूढ़ होकर रहता है। सत्तास्वरूप में आता है कि जैसे किसी स्त्री का पति बहुत काल से परदेश गया हो तथा उसके कुछ समाचार नहीं मिलने से किसी पुरुष की सेवा करे और उसका सन्मान करे, उसकी तन-मन, धन, द्रव्य, क्षेत्र, काल, कषाय द्वारा सेवा करती है, कभी भाग्य योग से उसे सच्चा पति मिले और वह पूर्व के पुरुष की अपेक्षा अधिकरूप से न वर्ते तो वह कुलटा स्त्री है, उसी प्रकार सच्चे देवादि के सम्बन्ध में धर्मी को होना चाहिए, निचली भूमिका में शुभ होता है, परन्तु उसमें धर्म माने तो निश्चय से भ्रष्ट है, वह तथा निश्चय वीतराग दृष्टि और स्वरूप स्थिरता बिना कथन मात्र निश्चयवाला पुरुष प्रमाद में सन्तोष मानता है, वे दोनों निगोद वनस्पति होनेवाले हैं।

मिथ्यात्व अवस्था में त्रसपर्याय का अधिक में अधिक काल दो हजार सागर का है। अज्ञानी कभी पुण्य करे तो सातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति १५ क्रोड़ीक्रोड़ी सागर की बाँधता है, परन्तु उसे भोग नहीं सकता, क्योंकि मिथ्यात्व का जोर है, इसलिए वह स्थिति तोड़कर अशुभ के बल से निगोद में ही जायेगा, तब समकिती को कर्म की स्थिति अन्त:क्रोड़ा क्रोड़ी से अधिक बँधती नहीं। ज्ञानी को शुभ का रस (अनुभाग) अधिक होता है परन्तु कर्म की स्थिति जो संसार है, वह ज्ञानी को लम्बी नहीं होती, किसी समय बाँधे तो भी उतनी स्थिति भोगेगा नहीं परन्तु स्वभाव के जोर से उस कर्म की स्थिति को तोड़कर मोक्ष में ही जायेगा।

जिसे निश्चय-व्यवहार का भान नहीं, वह व्रतादि को शुभास्रव जानकर, पुण्यबन्ध के भय से छोड़ देता है और मुनिपद में होनेयोग्य अट्ठाईस मूलगुण इत्यादि शुभरागरूप कर्मचेतना का एकान्त निषेध करता है। पुण्य चाहिए नहीं, ऐसा कहकर व्यवहार शुभ का आलम्बन छोड़ देता है तथा नि:कर्मदशारूप निर्मल ज्ञानचेतना को तो किसी प्रकार से अंगीकार किया ही नहीं। इस कारण से पराश्रय में ही सावधान है, अतिशय चंचलभाव को धारण करता है, देह-संसार-भोग की वृत्ति है, निश्चय-व्यवहार का कुछ विवेक नहीं, व्यवहाररत्नत्रय में भी प्रेम नहीं। इसलिए वह प्रगट-अप्रगट प्रमाद के आधीन है। महा अशुभभाव से भावि काल में एकेन्द्रियदशा कि जिसमें कर्मफलचेतना मुख्य है, उसे पानेवाला होने से वनस्पति समान जड़ है।

समयसार में कहा है कि अज्ञानी शास्त्र पढ़-पढ़कर भी पराश्रयसंसार की पुष्टि

करता है। 'विद्वानजन भूतार्थ तज व्यवहार में वर्तन करे।' विद्वान नाम धराकर तत्त्वज्ञान का स्वाश्रय छोड़कर, पराश्रय व्यवहार का पक्ष करके वर्तता है। परन्तु कर्मक्षय का विधान तो निश्चयपरमार्थस्वरूप ज्ञायक के आश्रय से ही है, उसे वे जानते नहीं। और भगवान ने व्यवहार का फल तो संसार कहा है, इसकी उसे खबर नहीं। तथा जो निश्चय का नाम लेकर, शुभपरिणाम का विवेक छोड़कर, प्रमाद में ही वर्तता है, भूमिका अनुसार व्यवहार क्या होता है, उसे जानता नहीं, वह स्वच्छन्दी होकर अन्याय करके, अभक्ष्य सेवन करके, महा अशुभभाव करके शीघ्र नरक-निगोद में जायेगा। सच्चे देव-गुरु-धर्म साधर्मी के प्रति प्रेम, पूजा, भक्ति, अनुमोदना करता नहीं, वह केवल पाप ही बाँधता है।

जो कोई निश्चय की रुचि और ज्ञान नहीं करता, निश्चय का विषय क्या, निश्चय का विषय करनेवाला कैसा है—त्रिकाल है या वर्तमान है—यह भी नहीं जानता, निश्चयनय, वह श्रुतज्ञान की पर्याय होने से वर्तमान है तथा उसका विषय त्रिकाल है। उसका अन्तरंग साधन त्रिकाल शुद्ध कारणपरमात्मस्वभाव है, उसका फल वीतरागी अविनाशी शान्ति है, उसका भान नहीं, सच्चे देवादि का विनय, नौ तत्त्व—छह द्रव्य का ज्ञान करे नहीं। सच्चे गुरु का विनय करने की पात्रता लावे नहीं और कहे कि आत्मा आत्मा का गुरु है। अन्दर से ज्ञान हो जायेगा परन्तु सच्चे ज्ञान में कौन ज्ञानी निमित्तरूप थे, उसका विवेक नहीं तो वह मूढ़ है। स्व-परप्रकाशक सम्यग्ज्ञान हो तो सत् का सत् निमित्त कौन होता है, यह जाने ही और स्वसन्मुख वीतरागी दृष्टि की मुख्यता हो ही। इस प्रकार निश्चय-व्यवहार की सन्धि होती है। उसे मोक्षमार्ग होता है।

वीर संवत् २४७८, आषाढ़ शुक्ल ४, गुरुवार

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव मूल गाथा में तो ऐसा कहते हैं कि :—

तम्हा णिव्वुदिकामो रागं स्वत्थ कुणदु मा किंचि।
सो तेण वीदरागो भवियो भवसायरं तरदि॥

इस सूत्र में से अमृतचन्द्राचार्यदेव ने सब टीका निकाली है। जो जीव आत्मा की

मुक्ति का अभिलाषी है, उस जीव को समस्त परद्रव्यों के प्रति राग छोड़कर निवृत्तस्वरूप में एकाग्रता करना चाहिए। जो जीव राग का कामी है, वह जीव निवृत्ति का कामी नहीं और जो जीव निवृत्ति का कामी है, वह जीव राग का कामी नहीं। बीच में राग होने पर भी धर्मी जीव, उसका कामी नहीं। राग के अवलम्बन से लाभ माने, वह जीव भवसागर को नहीं तिर सकता। ज्ञायकस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रतारूप वीतरागभाव से ही भवसागर का पार पाया जाता है। इसलिए कहा कि जो जीव निवृत्ति का कामी हो, वह जीव किंचित्मात्र भी राग न करो। पहले राग की रुचि टले और फिर स्वरूप में स्थिरता होने से राग सर्वथा टलकर मुक्ति होती है।

देखो, यहाँ ऐसा कहा कि 'राग किंचित्मात्र न करो' यह उपदेश किसे देते हैं? जीव को यह उपदेश देते हैं। क्योंकि राग कर्म नहीं कराता, परन्तु जीव अपनी पर्याय में राग करता है और स्वयं ही स्वभाव के आश्रय से उसे टालता है। यदि कर्म राग कराता हो, तब तो उस कर्म को उपदेश करना चाहिए कि 'हे निमित्तो! तुम दूर हो जाओ, तुम विकार न कराओ!' परन्तु ऐसा नहीं है। यहाँ तो जीव को उपदेश दिया है। अपनी पर्याय की स्वतन्त्रता का भी जिसे भान नहीं, वह तो मूढ़ है। हे भगवान! तू तेरे चिदानन्दस्वभाव का भान करके उसके आश्रय से रागभाव छोड़ और भवसागर को तिर जा! साधक को बीच में राग आता है, परन्तु अन्दर में स्वभाव की दृष्टि और अवलम्बन पड़ा है। ऐसी दशा में निश्चय-व्यवहार की सन्धि है। साधक जीव स्वभाव की दृष्टि रखकर बीच में रागरूप व्यवहार को जानता है, और स्वभाव के अवलम्बन से उसे टालने का उद्यम भी करता है।

जो कोई पुरुष मोक्ष के निमित्त सदाकाल उद्यमी हो रहे हैं, वे महा भाग्यवान हैं। निश्चय-व्यवहार इन दोनों नयों में किसी एक का पक्ष नहीं करते, सर्वथा मध्यस्थभाव रखते हैं। शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व में स्थिरता करने के लिये सावधान रहते हैं।

देखो, यह साधकजीव की बात है। मैं चिदानन्दस्वरूप कारणशुद्धजीव हूँ—ऐसा जिसे भान हुआ है और स्वभाव का उद्यम भी वर्तता है, ऐसे धर्मी सन्त-मुनि महाभाग्यवान हैं, उन्हें यहाँ टीका में भगवान कहा है, वे मोक्ष का उद्यम करते हैं और गर्भित में सम्यग्दृष्टि तथा श्रावक भी आ जाते हैं। देखो, अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं कि '**ये तु**

पुनरपुनर्भवाय नित्यविहितोद्योगमहाभागा भगवन्तो निश्चयव्यवहारयोरन्यतरानवलम्बनेनात्यन्तमध्यस्थीभूताः शुद्धचैतन्यरूपात्मतत्त्व-विश्रान्तिविरचनोन्मुखाः' अहो! मोक्षमार्ग के साधनेवाले महाभाग्यवान मुनि भगवन्तों की क्या बात करें! वे छठवीं-सातवीं भूमिका में झूलते सन्त तो पंच परमेष्ठी पद में सम्मिलित भगवान हैं, गणधरदेव भी **'णमो लोए सव्वसाहूणं'** ऐसा कहकर उनके चरण में नमस्कार करते हैं, व्यवहार में बाहर में नमस्कार नहीं करते। वे मुनिवर कैसे हैं? निश्चय और व्यवहार दोनों नयों को जैसा है, वैसा जानते हैं; किसी नय का एकान्त पक्ष नहीं करते। चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन पर्याय के भेद को भी जानता है। यदि पर्याय की शुद्धता के भेदों को न माने तो तीर्थ का नाश होता है और यदि ध्रुव चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि चूके तो किसके आश्रय से तीर्थ रहेगा? इसलिए निश्चय और व्यवहार दोनों को जैसा है, वैसा जानना चाहिए। शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व में स्थिरता करने के लिये मुनिवर सावधानी रखते हैं। बीच में राग हो, उसका ज्ञान कराया, परन्तु सावधानी कहाँ रखनी? कि **'शुद्धचैतन्यरूपात्मतत्त्वविश्रान्तिविरचनोन्मुखाः'** अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व में लीन होने के लिये मुनिवर उद्यम करते हैं। क्षणिक रागादिभावों में उनको सावधानी नहीं है, पंच महाव्रत की वृत्ति उठे, उसकी भी भावना नहीं है। भावना तो स्वरूप में लीनता की ही है। नौ तत्त्वों में शुद्धचैतन्यस्वरूप जीवतत्त्व है—उसमें ही एकाग्र होने का मुनिवरों का पुरुषार्थ है। अजीवतत्त्व तो भिन्न है, उसमें पुरुषार्थ करने का नहीं, पुण्य-पाप, आस्रव और बन्धभाव तो विकार है, उनमें भी मुनिवरों की सावधानी नहीं, और संवर-निर्जरा तो क्षणिक पर्याय है, उसमें स्थिरता नहीं हो सकती तथा मोक्षपर्याय तो वर्तमान है नहीं, इसलिए ध्रुव चिदानन्दस्वरूप में ही स्थिर होने का प्रयत्न वर्तता है। **'स्थिरता' स्वयं संवर-निर्जरारूप पर्याय है, परन्तु स्थिररूप ध्रुव कारणपरमात्मा के अवलम्बन से स्थिरता प्रगट होती है, पर्याय के अवलम्बन से स्थिरता नहीं रहती।** नौ तत्त्वों को जानना, वह व्यवहार है और शुद्धजीवतत्त्व का आश्रय करना, वह निश्चय है। देखो, यहाँ मोक्ष के पुरुषार्थ की बात की। उसमें कोई **पूछे** कि अभी तो मोक्ष होता नहीं, तो मोक्ष के पुरुषार्थ की बात क्यों करते हो? **उसका उत्तर**—अरे भाई! वस्तु त्रिकाल मुक्तस्वरूप है, उसकी प्रतीति तो कर, उस वस्तु की दृष्टि करने से 'दृष्टिमोक्ष' तो यहीं

हो जाता है। उस द्रव्य के आश्रय से पर्याय में भी अल्पकाल में मुक्ति हो जाती है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा की दृष्टि करके उसमें एकाग्रता का प्रयत्न करना, वही मोक्ष का कारण है। पर्याय में एक समय का संसार है, परन्तु वह त्रिकाली द्रव्य में नहीं, ऐसे त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि से सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ मुक्तद्रव्य प्रतीति में आ गया और उस द्रव्य के आश्रय से पर्याय में मुक्ति का पुरुषार्थ प्रगट होता है। इसलिए स्वभाव में सावधान रहने का कहा है, परन्तु शास्त्रादि तथा देहादि पर में सावधानी करने का नहीं कहा। यह बन्ध से छूटने का मार्ग है। आगम, युक्ति, अनुभव से मोक्ष की पद्धति प्रथम जानना चाहिए।

मुनि शुद्धस्वरूप में स्थिरता के लिये सावधान रहते हैं, आंशिक निर्बलता से असावधानी रहती है परन्तु वह मुख्य नहीं है। वस्त्र छोड़कर नग्न होने में साधुपद नहीं है। मुनिपद, वह मोक्षमार्ग है। परमेष्ठीपद में जिनका निवास है, ऐसे और शुद्धचैतन्य के ध्यान में वर्तते भावलिंगी मुनि, वे साधक हैं। साधकदशा है, वहाँ तक आंशिक प्रमाद—बाधकभाव की प्रवृत्ति हो जाती है। प्रमाद में शरीर की क्रिया की बात नहीं। प्रमादवृत्ति हो, उसे दूर करने के लिये शास्त्रानुसार क्रियाकाण्ड परिणतिरूप प्रायश्चित्त—स्वभावसन्मुखतारूप विशेष उग्रता करते हैं। गुरु के समक्ष विनय से दोष कहकर बताते हैं। मानो व्यवहार विधि का माहात्म्य करते हों, ऐसा लगता है परन्तु शुभराग करने की बात नहीं, किन्तु वीतरागमार्ग की महिमा की बात है।

छठवीं भूमिका में शरीर से कुछ प्रमाद चेष्टा हुई हो। यद्यपि भाव में दोष नहीं है, तथापि शरीर सम्बन्ध दोष गिनकर गुरु के निकट जाकर व्यवहार आलोचना करते हैं। जड़ की क्रिया का कर्ता नहीं, परजीव मरने का पाप नहीं, पर्याय बदलने की कर्ताबुद्धि नहीं, द्रव्यदृष्टि मुख्य है, वह छूटी नहीं।

छठवें गुणस्थान में किसी समय अल्प आर्तध्यान-अशुभराग हो जाता है, परन्तु भूमिका से विरुद्ध राग नहीं होता। दृष्टि में वीतरागता है, परन्तु चारित्र में शिथिलता नहीं चाहिए। इसलिए ज्ञान में उग्रता करने के लिये प्रायश्चित्त का विचार करते हैं। प्रमाद तो क्रमबद्ध में है, परन्तु मुनिपद में छठवें गुणस्थान में अधिक काल रहना नहीं। विकल्प में अल्पप्रमाद हो जाता है। कभी छठवें गुणस्थान के अयोग्य प्रमाद आ जाये तो

शास्त्रानुसार गुरु के निकट जाकर प्रायश्चित्त लेते हैं और स्वसन्मुख होकर राग से, निमित्त से अत्यन्त उदासीनभाव धारण करते हैं। मुनि को परमेश्वरपद है, इसलिए जरा भी दोष छिपाते नहीं। वीतरागभाव से निरन्तर जागृत रहकर अल्प काल में केवलज्ञान लेते हैं, मुनि यथाशक्ति अपने को निजचैतन्य द्वारा अपने में ही वेदते हैं। चारित्र की शान्ति का वेदन करते हैं। बीच में व्यवहार राग को ज्ञेयरूप से जानते हैं, परन्तु उसे मोक्षमार्गरूप से नहीं मानते।

ज्ञान तो यथार्थ करना चाहिए न! इसके बिना गड़बड़ करने से कुछ चलता नहीं। व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग आता है, उसका दृष्टि में निषेध है।

वीतरागीमार्ग है, उसकी अन्दर से रुचि न करे तो वस्तु अन्दर से जवाब नहीं देती—चेतना की जागृति नहीं होती। जैसे राजा को योग्य पद्धति से, योग्य नाम से अर्जी करे तो जवाब दे, उसी प्रकार चिदानन्द आत्मा को पूर्वापर विरोधरहित यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान द्वारा जानकर, पश्चात् अन्तर्मुख हो तो सारी शान्ति का अनुभव हो। मुनि को अखण्ड निजानन्दस्वभाव की ही मुख्यता है। इसलिए वे सदा निज स्वरूप के उपयोगी होते हैं। दृष्टि में नित्य स्थिर रहना चाहते हैं और क्षण में सातवें गुणस्थान में निर्विकल्प वीतराग आनन्द को वेदते हैं।

राग आता है, उसे न जाने तो भी ज्ञान खोटा है। कर्म के उदय अनुसार राग हुआ माने तो भी भूल है और त्रिकाल स्वभाव में राग माने तो भी भूल है। इन सर्व मिथ्याभावोंरहित निर्मल श्रद्धापूर्वक अनेकान्तवादी साधकदशावन्त जीव है, वह निजस्वरूप स्थिरतानुसार क्रम-क्रम से कर्ममल का नाश करता है।

'कर्म का नाश करता है', यह व्यवहार कथन है। राग का त्याग कहना, वह भी नाममात्र है। ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता करने से राग छूट जाता है। परमार्थ से देखा जाये तो राग के त्याग के कर्तापने का नाम आत्मा को नहीं, क्योंकि ज्ञानस्वभावी आत्मा स्वयं कभी स्वभाव से छूटा नहीं। निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध बतलाने के लिये कर्म को और राग को छोड़ने का कथन उपचार से है। वास्तव में राग और कर्म को छोड़नेवाला आत्मा को मानो तो राग और जड़कर्म का आत्मा कर्ता हो जाता है। ज्ञान में स्थिरता करे, वहाँ स्वयं कर्म और राग का अभाव हो जाता है।

वीर संवत् २४७८, आषाढ़ शुक्ल ५, शुक्रवार

सर्व शास्त्रों का सार वीतरागता है। कथन व्यवहार-निश्चय के चाहे जितने आवें, परन्तु शुद्ध आत्मद्रव्य के आश्रय से वीतरागता करना, वही तात्पर्य है।

स्वभाव का आश्रय पूर्णरूप से नहीं, वहाँ साधकदशा में अल्पराग है। अपने ही आश्रय से क्रम-क्रम से कर्म का नाश करता है। जड़कर्म का नाश कर नहीं सकता, परन्तु निमित्त से ऐसा कथन है। चैतन्य के आश्रय से स्थिरता बढ़ने से शुभाशुभराग का नाश हो जाता है।

यह छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते मुनि की बात है। शान्त ज्ञानानन्दस्वरूप में स्थिर-अडोल हो गये हैं। मानो वनस्पति हो गये हैं। अज्ञानी जो कि पाप में लीन है, उसे तथा अकेले शुभराग में लीन है, उसे भी जड़ जैसा वनस्पति कहा था। यहाँ ज्ञानानन्द में जागृत है, उन्हें वनस्पति जैसे स्थिर कहा है।

मुनि कैसे हैं? कि जिन्होंने कर्मफलचेतना का अनुभव अर्थात् हर्ष-शोकादि कलुषता का वेदन दूर किया है, चैतन्य आनन्द में उग्र स्थिरता के अवलम्बन द्वारा उन्हें पर की ओर का झुकाव ही नहीं होता। और कर्मचेतना अर्थात् शुभाशुभराग—व्यवहार-रत्नत्रय, पंच महाव्रत का राग, उसका अनुभव भी जिन्हें नहीं, परन्तु केवल ज्ञानचेतनामय शुद्धात्मानुभव द्वारा आत्मिक सुख से भरपूर हैं, वे शीघ्र ही स्वभाव का उग्र आलम्बन लेकर संसारसमुद्र से पार होकर, सर्व जिनशास्त्रों के साररूप मूल शाश्वत् आत्मिक मोक्षपद के भोक्ता होते हैं।

निश्चय बिना का अकेला व्यवहार खोटा और निश्चयपूर्वक व्यवहार न हो तो पूर्ण वीतराग हो, साधक न रहे।

अब अन्तिम गाथा में आचार्यदेव अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करते हुए कहते हैं कि प्रवचन के प्रति भक्ति से प्रेरित होकर मार्ग की प्रभावना के लिये मैंने यह शास्त्र रचा है।

●●

गाथा - १७३

मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं।।१७३।।

मार्गप्रभावनार्थं प्रवचनभक्तिप्रचोदितेन मया।
भणितं प्रवचनसारं पञ्चास्तिकसङ्ग्रहं सूत्रम्।।१७३।।

कर्तुः प्रतिज्ञानिर्व्यूढिसूचिका समापनेयम् ।

मार्गो हि परमवैराग्यकरणप्रवणा पारमेश्वरी परमाज्ञा; तस्याः प्रभावनं प्रख्यापनद्वारेण प्रकृष्टपरिणतिद्वारेण वा समुद्योतनम्; तदर्थमेव परमागमानुरागवेगप्रचलितमनसा संक्षेपतः समस्तवस्तुतत्त्वसूचकत्वादतिविस्तृतस्यापि प्रवचनस्य सारभूतं पञ्चास्तिकायसंग्रहाभिधानं भगवत्सर्वज्ञोपज्ञत्वात् सूत्रमिदमभिहितं मयेति । अथैवं शास्त्रकारः प्रारब्धस्यान्तमुपगम्यात्यन्तं कृतकृत्यो भूत्वा परमनैष्कर्म्यरूपे शुद्धस्वरूपे विश्रान्त इति श्रद्धीयते ।। १७३ ।।

इति समयव्याख्यां नवपदार्थपुरस्सरमोक्षमार्गप्रपञ्चवर्णनो द्वितीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ।।

प्रवचनभक्ति से प्रेरित सदा यह हेतु मार्ग प्रभावना।
दिव्यध्वनि का सारमय यह ग्रन्थ मुझसे है बना।।१७३।।

अन्वयार्थ :- [प्रवचनभक्तिप्रचोदितेन मया] प्रवचन की भक्ति से प्रेरित ऐसे मैंने, [मार्गप्रभावनार्थं] मार्ग की प्रभावना के हेतु, [प्रवचनसारं] प्रवचन के सारभूत [पञ्चास्तिकसंग्रहं सूत्रम्] 'पंचास्तिकायसंग्रह' सूत्र [भणितम्] कहा।

टीका :- यह, कर्ता की प्रतिज्ञा की पूर्णता सूचित करनेवाली समाप्ति है (अर्थात् यहाँ शास्त्रकर्ता श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव अपनी प्रतिज्ञा की पूर्णता सूचित करते हुए शास्त्र समाप्ति करते हैं।)

मार्ग अर्थात् परम वैराग्य करने की ओर ढ़लती हुई पारमेश्वरी परम आज्ञा (अर्थात् परम वैराग्य करने की परमेश्वर की परम आज्ञा); उसकी प्रभावना अर्थात् प्रख्यापन द्वारा अथवा प्रकृष्ट परिणति द्वारा उसका समुद्योत करना; [परम वैराग्य करने की जिनभगवान की परम आज्ञा की प्रभावना अर्थात् (१) उसकी प्रख्याति—विज्ञापन—करने द्वारा अथवा (२) परमवैराग्यमय प्रकृष्ट परिणमन द्वारा, उसका सम्यक् प्रकार से उद्योत करना;] उसके हेतु ही (-मार्ग की प्रभावना के लिये ही),

परमागम की ओर के अनुराग के वेग से जिसका मन अति चलित होता था, ऐसे मैंने यह 'पंचास्तिकायसंग्रह' नाम का सूत्र कहा—जो कि भगवान सर्वज्ञ द्वारा उपज्ञ होने से (-वीतराग सर्वज्ञ जिनभगवान ने स्वयं जानकर प्रणीत किया होने से) 'सूत्र' है, और जो संक्षेप से समस्तवस्तुतत्त्व का (सर्व वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का) प्रतिपादन करता होने से, अति विस्तृत ऐसे भी प्रवचन के सारभूत हैं (-द्वादशांगरूप से विस्तीर्ण ऐसे भी जिनप्रवचन के सारभूत है)।

इस प्रकार शास्त्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव) प्रारम्भ किये हुए कार्य के अन्त को पाकर, अत्यन्त कृतकृत्य होकर, परमनैष्कर्म्यरूप शुद्धस्वरूप में विश्रान्त हुए (परम निष्कर्मपनेरूप शुद्धस्वरूप में स्थिर हुए) -ऐसे श्रद्धे जाते हैं (अर्थात् ऐसी हम श्रद्धा करते हैं)॥१७३॥

इस प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री पंचास्तिकायसंग्रहशास्त्र की श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य देवविरचित) समयव्याख्या नाम की टीका में नवपदार्थपूर्वक मोक्षमार्गप्रपंचवर्णन नाम का द्वितीय श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

[अब, 'यह टीका शब्दों ने की है, अमृतचन्द्रसूरि ने नहीं' ऐसे अर्थ का एक अन्तिम श्लोक कहकर श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव टीका की पूर्णाहुति करते हैं।]

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वै-
र्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति
कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः।।८।।

[श्लोकार्थ :— अपनी शक्ति से जिन्होंने वस्तु का तत्त्व (-यथार्थस्वरूप) भलीभाँति कहा है, ऐसे शब्दों ने यह समय की व्याख्या (अर्थसमय का व्याख्यान अथवा पंचास्तिकायसंग्रह शास्त्र की टीका) की है; स्वरूपगुप्त (-अमूर्तिक ज्ञानमात्र स्वरूप में गुप्त) अमृतचन्द्रसूरि का (उसमें) किंचित् भी कर्तव्य नहीं है॥८॥

इस प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत) श्री पंचास्तिकायसंग्रह नामक समय की अर्थात् शास्त्र की (श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित समयव्याख्या नाम की) टीका के (श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह) कृत गुजराती अनुवाद का हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ।

प्रवचन :
वीर संवत् २४७८, आषाढ़ शुक्ल ५, शुक्रवार

मैंने—कुन्दकुन्दाचार्य ने इस पंचास्तिकाय की रचना की है, उसमें पूर्वाचार्यों की परम्परा से शब्दब्रह्म अनुसार कहा है, उसमें पाँच द्रव्यों का मुख्यरूप से वर्णन है तथा कालद्रव्य का वर्णन गौण है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने इस शास्त्र के संक्षिप्त अर्थ लिखे हैं। उसमें इस गाथा का अर्थ लिखा है कि :—

'मार्ग का प्रभाव होने के लिये, प्रवचन की भक्ति से उत्पन्न हुई प्रेरणा से प्रवचन के रहस्यभूत पंचास्तिकाय के संग्रहरूप यह शास्त्र मैंने कहा है।'

यहाँ मैंने अर्थात् श्रीमद् राजचन्द्र नहीं समझना, परन्तु कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने रचा है। जगत में छहों द्रव्य स्वतन्त्र स्वयंसिद्ध अस्तित्ववाले हैं, जीव का अस्तित्व भिन्न ओर पुद्गल का अस्तित्व भिन्न, कर्म वह पुद्गलास्तिकाय है, वह जीव में कुछ करता नहीं, और जीव उसमें कुछ करता नहीं। इस पंचास्तिकाय में द्वादशांगरूपी जिनवाणी का रहस्य है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव कैसे हैं ? वे स्वयं कहते हैं कि जिनवाणी के प्रति भक्ति से प्रेरित होकर जिनमार्ग की प्रभावना के लिये यह शास्त्र रचा है। अहो ! वीतरागी मोक्षमार्ग जगत में बना रहे और उसकी प्रभावना हो—तदर्थ यह शास्त्र रचा है। आत्मा के आश्रय से जो परम निरपेक्ष वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो, वह मार्ग है, उस मार्ग की प्रभावना के लिये यह शास्त्र रचा है, अर्थात् कि राग से धर्म मनावे या कर्म विकार करावे—ऐसा मनावे, वह मार्ग नहीं है परन्तु कुमार्ग है। मार्ग की प्रभावना कब होगी ? कि यदि स्वयं अपने पुरुषार्थ में स्वतन्त्र हो तो। स्वयं अपने स्वभाव के आश्रय से वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना, इसका नाम मार्ग है और यही जिनेश्वरदेव की आज्ञा है। उसकी प्रभावना के लिये इस शास्त्र की रचना की है; इसलिए शास्त्र में से राग का तात्पर्य निकाले, तो वह जीव शास्त्र को समझा नहीं।

सम्यग्दृष्टि को चारित्रमोह का राग होता है, वह राग कहीं चारित्रमोहकर्म के उदय के कारण नहीं होता, परन्तु अपनी पर्याय की निर्बलता से होता है—ऐसा धर्मी जानता है। यदि राग को स्वभाव माने तो पर्यायबुद्धि कहलाती है। परन्तु पर्याय में राग

को जानना, वह कहीं पर्यायबुद्धि नहीं है और पर्याय में राग होता है, वह कर्म कराता है, ऐसा माने तो वह भी मूढ़-मिथ्यादृष्टि है। कोई ऐसा कहता है कि 'राग कर्म ही कराता है, ऐसा माने तो ही राग से भेदज्ञान होता है'—तो ऐसा कहनेवाले को भेदज्ञान की खबर नहीं है। अपनी पर्याय की निर्बलता से राग होता है—ऐसा अपनी पर्याय को भी जो स्वतन्त्र न जाने तो उसे राग से भेदज्ञान करना नहीं रहता, वह मिथ्यादृष्टि है; उसे तो कर्म से भिन्नता का भी भान नहीं, तो फिर राग से भेदज्ञान कहाँ से करेगा?

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वही वास्तव में मार्ग है। उस मार्ग की प्रभावना आत्मा कब कर सकता है? कि यदि वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों में स्वतन्त्र होवे तो (कर सकता है)। चारित्रमोहकर्म हटे, तब चारित्र होगा—ऐसा यदि कर्म के आधीन हो तो जीव के हाथ में मार्ग की प्रभावना नहीं रही।

जगत में अनन्त जीवास्तिकाय है। वे प्रत्येक भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र हैं, अनन्त पुद्गलास्तिकाय हैं, वे जीव से भिन्न हैं। किसी की कृपा से जीव का कल्याण या अहित नहीं हो जाता, क्योंकि प्रत्येक जीव भिन्न-भिन्न है। 'मार्ग प्रभावना' ऐसा कहने में आचार्यदेव ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों को आत्मस्वभाव के आश्रय से बतलाया है।

संसार-विषय-भोग से परमवैराग्य करानेवाली सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा का नाम वैराग्य है। '**मार्गो हि परमवैराग्यकरणप्रवणा पारमेश्वरी परमाज्ञा**' स्वभाव में रमणता से संसार-शरीर-भोग के प्रति परम वैराग्य हो जाये, इसका नाम परमेश्वर की परम आज्ञा है और वही मोक्षमार्ग है। यदि परपदार्थ आत्मा के ऊपर बलजोरी करके विकार कराता हो तो आत्मा उनसे परम वैराग्य नहीं कर सकता। चिदानन्दस्वरूप में अपेक्षा और समस्त परद्रव्य से उपेक्षा—ऐसा मार्ग है। अहो! पूरी दुनिया का मेरे स्वरूप में बिल्कुल प्रवेश नहीं, ऐसा जगत से उदास होकर चिदानन्दस्वरूप की श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें लीनता करना, उसका नाम मोक्षमार्ग है।

यदि पर के आश्रय से कल्याण होता हो तो पर से वैराग्य करके स्व में झुकने का रहा नहीं तथा दया, व्रतादि के राग से यदि कल्याण होता हो, तो राग से विरक्त होकर स्वरूप में झुकने का नहीं रहता; इसलिए संसार अर्थात् रागादि उदयभाव, उनसे उदासीन होकर स्वस्वरूप में आना, इसका नाम वीतराग की आज्ञा है। देखो, बीच में व्यवहार

आवे, वह वास्तव में भगवान की आज्ञा नहीं। निमित्त, विकार और पर्याय की ओर की रुचि तजकर, स्वाश्रय श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दरूप स्वभाव में स्थिर होना, यही आज्ञा है। जो जीव चैतन्य में झुकाव करता है और पर से उपेक्षित होता है, उसे भगवान की आज्ञा निमित्त कही जाती है।

त्रिकाल शुद्धस्वरूप में परिपूर्ण भगवानपना है और वर्तमान कमजोरी में पर्याय अपेक्षा से पामरपना है, ऐसा जो जाने, उसे प्रमाणज्ञान है। मोक्षमार्ग की श्रद्धा होने में प्रथम कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु का तथा उनके माननेवाले का आदर छोड़कर यथार्थ पहिचानपूर्वक सुदेवादि को माने, पच्चीस दोषरहित सम्यक्त्व पालन करे, वह व्यवहार से आज्ञा है और निर्विकल्प निश्चय ज्ञायकस्वभाव आत्मा के अवलम्बन में रहना, वह निश्चय आज्ञा है। पर से और शुभराग से भी परम उदासीनता होने पर निश्चयरत्नत्रयरूप रमणता हो, वह भगवान कथित आज्ञा है।

भगवान की आज्ञा किसने मानी कहलाये ? कि राग को धर्म न माने; यदि राग को धर्म माने तो उसने भगवान की आज्ञा नहीं मानी। भगवान की आज्ञा तो परम वैराग्य करानेवाली है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र, वे तीनों ही पर से अत्यन्त निरपेक्ष, ऐसे स्वभाव के आश्रय से है और वही मोक्षमार्ग है। बीच में राग आवे, वह मोक्षमार्ग नहीं। ऐसे वीतरागी मोक्षमार्ग का मैंने इस पंचास्तिकाय में उद्योत किया है। यह पंचास्तिकाय शास्त्र भगवान सर्वज्ञदेव ने कहे हुए सिद्धान्त अनुसार मैंने कहा है, वह जिनप्रवचन के प्रति भक्ति से और वीतरागमार्ग के उद्योत के लिये कहा है।

इस प्रकार सूत्रकर्ता भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की और कृतकृत्य होकर कर्मरहित शुद्ध स्वरूप में वे स्थिर हुए—ऐसी हमको श्रद्धा उत्पन्न हुई है—ऐसा टीकाकार अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं। अहो! आचार्यदेव ने चिदानन्दस्वरूप के अवलम्बन से वीतरागभाव करने को कहा है, तो हमको भी उसकी भावना हुई है, चिदानन्दस्वरूप में स्थिर होने का हमारे में उत्साह हुआ है। राग में रहने की भावना नहीं परन्तु स्वरूप में स्थिर होने की ही भावना है।

इस प्रकार पंचास्तिकाय पूर्ण हुआ। अब अन्त में टीकाकार अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि :—

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः॥

इस शास्त्र के शब्दों की रचना मैंने नहीं की : शब्द तो परमाणु की पर्याय के काल में रच गये हैं, आत्मा तो उसका ज्ञाता है। विकल्प उठा, उसकी भी भावना नहीं। इच्छा के कारण से शास्त्र की भाषा हुई नहीं। शब्दों ने अपनी स्वशक्ति से यह कथन किया है। आचार्यदेव ने स्वयं अपने में वीतरागभाव को घूंटा है। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है, वह अपने स्वरूप में गुप्त है, वह जड़ में जाकर कुछ करता नहीं। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने ऐसा कहा कि 'मैंने यह शास्त्र रचा है' वह तो स्वयं को कैसा विकल्प उठा, उसका निमित्तपना बतलाने के लिये कथन है और अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि आत्मा शब्दों का कर्ता नहीं। आत्मा तो ज्ञायक है।

इस प्रकार श्री पंचास्तिकाय शास्त्र पूर्ण हुआ।

❀ ❀ ❀

अहो! श्री समयसार, श्री नियमसार, श्री प्रवचनसार और श्री पंचास्तिकाय— यह श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव की रचना है, अन्तिम दो वर्ष में तो चारों परमागमों पर अलौकिक प्रवचन करके पूज्य गुरुदेवश्री ने वीतरागी अमृत की वर्षा बरसायी है। सर्व शास्त्रों का परम वीतरागी तात्पर्य दर्शाकर परिणति को अन्तर स्वभाव में ले जानेवाले परम कृपालु गुरुदेवश्री को शास्त्रपूर्णता के मंगल प्रसंग पर वन्दन हो! वन्दन हो!!

वीतरागी मार्ग की प्रभावना हो!!

પ્રવચન પ્રભાવ

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
मुंबई